संक्षेप और संकेत

अ. साधारण

अ० = अध्याय ।
अनु० = अनुवाद ।
ई० = ईसवी ।
ई० पू० = ईसा से पूर्व ।
उ०, उ = उत्तर, उत्तरी ।
जि० = जिल्द ।
ज़ि० = ज़िला ।
टि० = टिप्पणी ।
द = दक्खिन, दक्खिनी ।
दे० = देखिये ।
प०, प = पच्छिम ।

पं० = पंक्ति ।
पू०, पू = पूरब, पूरबी ।
पृ० = पृष्ठ ।
प्र०, प्रका० = प्रकाशित, प्रकाशक ।
प्र = प्रभृति ।
लग० = लगभग ।
वि० = विक्रमी ।
श्लो० = श्लोक ।
सं० = संख्या, संवत्, संस्कृत ।
सम्पा० = सम्पादित ।
संस्क० = संस्करण ।

इ. ग्रन्थनिर्देशपरक

अथ०—अथर्ववेद ।

अर्थ०—कौटिलीय अर्थशास्त्र; शामशास्त्री सम्पा० २य संस्क०; मैसूर १९१९ ।

अ० हि०—विन्सेंट स्मिथ की अर्ली हिस्टरी आव इंडिया, ४थ संस्क० औक्सफ़र्ड, १९२४ ।

अ० हि० द०—ज़्होवो दुब्रिउल कृत पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद अर्ली हिस्टरी आव दि दक्खिन, मद्रास १९२१ ।

आप०—आपस्तम्ब धर्मसूत्र ।

आ० स० इं०—आर्कियोलौजिकल सर्वे आव इंडिया (भारतीय पुरातत्त्व-पड़ताल) के वार्षिक विवरण। भारत-सरकार के पुरातत्त्व-विभाग द्वारा प्रका० ।

आ० स० प० भा०—आर्कियोलौजिकल सर्वे आव वेस्टर्न इंडिया (पच्छिम भारत की पुरातत्त्व-पड़ताल) ।

आ० स० रि०—कनिंगहाम की आर्कियोलोजिकल सर्वे आव इंडिया की रिपोर्टें। वे पुरातत्त्व विभाग की स्थापना से पहले की हैं ।

आ० क्ष० सि० या आ० क्ष०सि० सू०—ए कैटेलौग आव दि इंडियन कौइन्स इन दि ब्रिटिश म्यूजियम (ब्रिटिश संग्रहालय के भारतीय सिक्कों की सूची) के अन्तर्गत रैप्सन-कृत कैटेलौग आव दि कौइन्स आव दि आन्ध्र डिनैस्टी, दि वेस्टर्न क्षत्रपज़, दि त्रैकूटक डिनैस्टी ऐंड दि "बोधि" डिनैस्टी (आन्ध्र वंश, पच्छिमी क्षत्रपों, त्रैकूटक वंश और "बोधि" वंश के सिक्कों की सूची); लंडन १९०८ ।

इं० आ०—इंडियन ऐंटिक्वेरी (भारतीय पुरातत्त्व-खोज); बम्बई से प्रकाशित होने वाला मासिक ।

इंडियन शिपिंग—राधाकुमुद मुखर्जी कृत ए हिस्टरी आव इंडियन शिपिंग् ऐंड मैरिटाइम ऐक्टिविटी (भारतीय नौचालन और समुद्र-चर्या का इतिहास); लंडन, १९१२ ।

इं० हि० क्वा०—इंडियन हिस्टौरिकल क्वार्टर्ली (भारतीय-इतिहास-त्रैमासिक) नरेन्द्रनाथ लाहा सम्पा०, कलकत्ते से प्रकाशित ।

ऋ०—ऋग्वेद ।

ए० इं०—एपिग्राफ़िया इंडिका (भारतीय अभिलेख-माला); भारत सरकार द्वारा प्रकाशित मासिक, कलकत्ता ।

ऐ० ओ०—ऐक्टा ओरियंटेलिया (प्राच्य निबन्ध); स्टेन कोनौ सम्पा० त्रैमासिक, ओस्लो (नोर्वे) से प्रका० ।

क० सं० सि० सू०—वि० स्मिथ कृत कैटेलौग आव दि कौइन्स इन इंडियन म्यूज़ियम्, कैलकटा (कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय के सिक्कों की सूची), भाग १; औक्सफ़र्ड, १९०७ ।

का० मी०—राजशेखर-कृत काव्यमीमांसा, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़ (गायकवाड़ प्राच्य-ग्रन्थ-माला), बड़ोदा में प्रका० ।

कैं० इ०—रैप्सन-सम्पा० कैम्ब्रिज हिस्टरी आव इंडिया, (कैम्ब्रिज विद्यापीठ द्वारा प्रस्तुत भारतवर्ष का इतिहास), जि० १ ।

गौत०—गौतम धर्मसूत्र । आनन्दाश्रम पूना का संस्क० ।

ज० अ० ओ० सो०—जर्नल आव दि अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी (अमेरिकन प्राच्य परिषद् की पत्रिका), येल विद्यापीठ, न्यू हैवन ।

ज० ए० सो० बं०—जर्नल आव दि एशियाटिक सोसाइटी आव बङ्गाल (ए० सो० बं० की पत्रिका), कलकत्ता ।

ज० बं० रा० ए० सो०—जर्नल आव दि बौम्बे ब्रांच आव दि रौयल एशियाटिक सोसाइटी (रौ० ए० सो० की बम्बई शाखा की पत्रिका) ।

ज० बि० ओ० रि० सो०—जर्नल आव दि बिहार ऐंड ओरिस्सा रिसर्च सोसाइटी (बिहार-उड़ीसा अनुसन्धान-परिषद् की पत्रिका) पटना ।

ज० र० ए० सो०—जर्नल आव दि रौयल एशियाटिक सोसाइटी (रौ० ए० सो० की पत्रिका), लंडन ।

ज़ाइट ज़ाइटश्रिफ़्ट—ज़ाइटश्रिफ्ट डर ड्यूशन मौर्गनलांडिशन गेस्सल-शाफ्ट (जर्मन प्राच्य परिषद् की पत्रिका), लाइपज़िग।

तै० आ०—तैत्तिरीय आरण्यक।

दि० या दिव्या०—दिव्यावदान, कौवेल और नील सम्पा०, रोमन लिपि में, कैम्ब्रिज, १८८६।

ना० प्र० प०—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी; नया संस्क०।

परिक्रमा, दे० पेरिप्लस।

पु०—पुराण।

पुराणपाठ—पार्जीटर-सम्पा० पुराण टेक्स्ट आव दि डिनैस्टीज़ आव दि कलिएज (कलियुग के वंशों विषयक पुराणपाठ), लंडन, १९१३।

पेरिप्लस—शौफ़ अनु० पेरिप्लस आव दि इरिथ्रियन सी (एरुथ् सागर की परिक्रमा); न्यू यौर्क १९१२।

प्र० शि० या प्र० शिला०—प्रधान शिलाभिलेख, अशोक के।

प्रा० अ०—पार्ज़ीटर का एन्श्येंट इंडियन हिस्टौरिकल ट्रैडीशन (प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति); लंडन, १९२२।

प्रा० ध० ग्र०—सैक्रेड बुक्स आव दि ईस्ट (प्राच्य-धर्म-ग्रन्थ-माला), मैक्स मुइलर द्वारा प्रवर्त्तित; ५० जिल्दों में पूर्ण, औक्सफ़र्ड, १८७९—१९१०।

प्रा० भा० मु०—कनिंगहाम-कृत कौइन्स आव एन्श्येंट इंडिया (प्राचीन भारतीय मुद्रायें), लंडन, १८९१।

प्रा० लि० मा०—गौ० ही० ओझा की भारतीय प्राचीन लिपिमाला, २य संस्क०, अजमेर १९१८।

बिगिनिंग्स—कृष्णस्वामी ऐयंगर कृत बिगिनिंग्स् आव साउथ इंडियन हिस्टरी (दक्खिन भारतीय इतिहास का आरम्भ); मद्रास १९१८।

बु० इं०—ह्राइज़ डेविड्स कृत बुधिस्ट इंडिया, लंडन से प्रका० स्टोरी आव दि नेशन्स (जातियों की कहानी) सीरीज़ में ।

बौ०—बौधायन धर्मसूत्र ।

भं० स्मा० या भण्डारकर-स्मारक—सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर कोमेमोरेशन वौल्यूम (भं० स्मारक ग्रन्थ), पूना, १६१७ ।

भा० अ० स०—कौर्पस् इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम् (भारतीय अभिलेख समुच्चय); भारत सरकार प्रका० । इस की पहली जिल्द में अशोक के अभिलेख हैं, हुल्स सम्पा० । दूसरी के भाग १ में अशोक के बाद के खरोष्टी अभिलेख, स्टेन कोनौ सम्पा० । २, भाग २ में जो अभी नहीं निकला, उसी युग के ब्राह्मी अभिलेख होंगे । तीसरी जिल्द में गुप्त-युग के अभिलेख हैं, फ्लीट सम्पा०; उन का पुनःसंस्करण भंडारकर तैयार कर चुके हैं, पर छपा नहीं है ।

भा० भा० प०—ग्रियर्सन-सम्पा० लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया (भारतीय भाषा-पड़ताल), कलकत्ता १६०३—२८ ।

भा० मु०—रैप्सन कृत इंडियन कौइन्स (भारतीय मुद्रायें); स्ट्रासबुर्ग के भारतीय-खोज-विश्वकोश में; १८६८ ।

भारतभूमि—जयचन्द्र विद्यालंकार कृत भारतभूमि और उस के निवासी, आगरा १६८८

मनु०—मनुस्मृति या उस का लेखक ।

मनु और याज्ञ०—जायसवाल कृत मनु ऐंड याज्ञवल्क्य (कलकत्ता युनिवर्सिटी में टागोर-गद्दी से दिये उन के कानून पर व्याख्यान १६१७); कलकत्ता १६३० ।

म० भा०—महाभारत, कुम्भघोणम्-संस्क० ।

म० सं० सू०—फ़ोखल-कृत कैटेलौग आव दि आर्कियोलौजिकल म्यूज़ियम ऐट मथुरा (मथुरा के पुरातत्त्व-संग्रहालय की सूची); प्रयाग, १९१० ।

मा० पु०—मार्कण्डेय पुराण, प्रका० जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता ।

माल०—कालिदास-कृत मालविकाग्निमित्र, ज्ञानप्रकाश प्रेस, पूना १८९६ ।

य्वान या य्वान च्वाङ—वैटर्स-कृत ऑन य्वान च्वाङ्स ट्रैवल्स (य्वान च्वाङ की यात्रायें), लंडन, १९०४ ।

य्वान-जीवनी—शमन ह्वुई-ली कृत य्वान च्वाङ की जीवनी, बील का अंग्रेज़ी अनुवाद; लंडन १९११ ।

याज्ञ० या याज्ञवल्क्य—याज्ञवल्क्य-स्मृति या उस का लेखक ।

रा० इ०—हेमचन्द्र रायचौधुरी कृत पोलिटिकल हिस्टरी आव एन्श्यॅट इंडिया (प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास), २य संस्क०, कलकत्ता, १९२८ ।

रा० त०—कल्हण की राजतरंगिणी ।

रौकहिल-बुद्ध—रौकहिल-कृत लाइफ़ आव दि बुद्ध (बुद्ध की जीवनी); लंडन १८८४ ।

लु० सू०—लुइर्ड्स द्वारा संकलित ४०० ई० से पहले के ब्राह्मी अभिलेखों की सूची, ए० इं० १० का परिशिष्ट ।

लैनमन-अभिनन्दन-ग्रन्थ—इंडियन स्टडीज़ इन औनर आव चार्ल्स रौकवेल लैनमन (चार्ल्स रौकवेल लैनमन के अभिनन्दनार्थ प्रस्तुत भारतीय विमर्श); हार्वर्ड (अमरीका), १९२९ ।

वा० पु०—वायु पुराण; प्रका० आनन्दाश्रम, पूना ।

वि० पु०—विष्णुपुराण; जीवानन्द विद्यासागर प्रका० ।

वै० शै०—रा० गो० भण्डारकर कृत वैष्णविज्म शैविज़्म एंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स (वैष्णव शैव और गौण धर्म-पद्धतियाँ), स्ट्रासबुर्ग (जर्मनी) से प्रका० भारतीय खोज के विश्वकोष का एक ग्रन्थ; द्वितीय संस्क०, १९१३।

शत०—शतपथ ब्राह्मण।

शि० या शिलाभि०—शिलाभिलेख।

स्तम्भ०—स्तम्भाभिलेख।

सं० व्या० प०—श्रीपद कृष्ण बेलवलकर-कृत सिस्टम्स आव संस्कृत ग्रामर (संस्कृत व्याकरण की पद्धतियाँ); पूना, १९१४।

सा० जी०—रमेशचन्द्र मजूमदार कृत कौर्पोरेट लाइफ़ इन एन्श्येंट इंडिया (प्राचीन भारत में सामूहिक जीवन); २य संस्क०, कलकत्ता, १९२२।

सी यू की—सी यू की आर दि बुधिस्ट रिकार्ड्स आव दि वेस्टर्न वर्ल्ड (सी यू की अथवा पच्छिमी जगत् के बौद्ध वृत्त—चीनी ग्रन्थ सी यू की का अनु०)। बील-कृत; लंडन, १८८४।

ह० च०—बाणभट्ट-कृत हर्षचरित, निर्णयसागर प्रका०।

हिं० रा०—जायसवाल कृत हिन्दू पौलिटी (हिन्दू राज्यसंस्था), कलकत्ता, १९२४।

—०—

उ. नये संकेत

संस्कृत पूर्वरूप का यह चिन्ह अकारान्त संज्ञा के अन्त में लगे होने का यह अर्थ है कि उस के अन्तिम अ का उच्चारण पूरा है, जैसे संस्कृत शब्दों में या हिन्दी क्रियाविशेषण न में ।

एकार के ऊपर यह चिन्ह ह्रस्व एकार को सूचित करता है । ह्रस्व एकार के लिए एक बिलकुल नया चिन्ह बना लेना अभीष्ट था; किन्तु वैसा नहीं हो सका । यह चिन्ह टाइप में लगाना असुविधा-जनक है; इस लिए केवल यूनानी नामों में लगाया गया है ।

च का स में ढलता हुआ उच्चारण । जैसे मराठी चांगला नेपाली चांसा (ठंडा), कश्मीरी पीरपंचाल (पहाड़ का नाम), तिब्बती चाङपो (ब्रह्मपुत्र नदी), चीनी याङ्चे क्याङ, च्वाङ च्वाङ आदि में । पश्तो में भी यही उच्चारण है । इस उच्चारण का भी टाइप ढलाना अभीष्ट था, पर वैसा न हो सकने से अब केवल वहीं इस का प्रयोग किया गया है, जहाँ न करने से अर्थ की क्षति होती ।

—o—

ग्रन्थ का ढाँचा

चौथा खण्ड

नन्द-मौर्य-साम्राज्य

(लग० ३७४ ई० पू०—१६० ई० पू०)

चौदहवाँ प्रकरण

नन्द-साम्राज्य और सिकन्दर की चढ़ाई

(३७४—३२३ ई० पू०)

पन्द्रहवाँ प्रकरण

मौर्य साम्राज्य का उदय—सम्राट् चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार

(३२५—२७३ ई० पू०)

सोलहवाँ प्रकरण

मौर्य साम्राज्य का उत्कर्ष और ह्रास—प्रियदर्शी अशोक और उस के उत्तराधिकारी

(२७७—१८८ ई० पू०

सत्रहवाँ प्रकरण

मौर्य भारत की राज्यसंस्था सभ्यता और संस्कृति

टिप्पणियाँ

पाँचवाँ खण्ड

अश्वमेध-पुनरुद्धार-युग

(८५ ई० पू०—५३३ ई०)

अठारहवाँ प्रकरण

शुँग चेदि सातवाहन और यवन राज्य

(लग० २१० ई० पू०—लग० १०० ई० पू०)

उन्नीसवाँ प्रकरण

सातवाहन और शक-पह्लव

(मध्य एशिया लग० १७५ ई० पू० से, भारत

लग० ११० ई० पू० से लग० ५० ई०)

वीसवाँ प्रकरण

सातवाहन और ऋषिक-तुखार—पैठन और पेशावर के साम्राज्य

(लग० २५ ई० पू०—लग० २२५ ई०)

पृष्ठ

परिशिष्ट ऋ

सातवाहन राजाओं की वंशतालिका

पृष्ठ

इक्कीसवाँ प्रकरण

सातवाहन समृद्धि सभ्यता और संस्कृति

टिप्पणियां



चौथा खण्ड

नन्द-मौर्य-साम्राज्य

[लगभग ३७४ ई० पू०—१९० ई० पू०]

चौदहवाँ प्रकरण

नन्द-साम्राज्य और सिकन्दर की चढ़ाई

(३७४—३२३ ई० पू०)

§ ११४. नव-नन्द साम्राज्य और पुराने राज-वंशों का उन्मूलन

मगध जनपद ने छठी शताब्दी ई० पू० से धीरे धीरे बढ़ते हुए किस प्रकार लगभग समूचे भारत में एक साम्राज्य स्थापित कर लिया था, सो देख चुके हैं। चौथी शताब्दी ई० पू० में उस साम्राज्य की सीमायें और भी दूर तक फैल गईं, और बहुत अंशों में वह एकराज्य बन गया। उस का गौरव दूसरी शताब्दी ई० पू० के आरम्भ तक भी ज्यों का त्यों बना रहा। किन्तु इस बीच दो बार मगध में राजक्रान्ति हो गई। शैशुनाक वंश से साम्राज्य की बागडोर नव नन्द वंश ने ली, और बाद में उस से मौर्य वंश ने।

अन्तिम शैशुनाक राजा का उत्तराधिकारी महापद्म नन्द था। पुराणों के अनुसार वह महानन्दी का ही शूद्रा से पैदा हुआ बेटा था; जैन अनुश्रुति यह है कि वह एक नाई का बेटा था। एक यूनानी लेखक ने लिखा है कि वह एक नाई था, किन्तु रानी उस पर आसक्त हो गई थी, और धीरे धीरे वह राजकुमारों का अभिभावक बन कर अन्त में उन्हें मार कर स्वयं राजा बन बैठा था। उस का दूसरा नाम उग्रसेन भी था।

पुराणों में महापद्म को सर्वक्षत्रान्तक, सब क्षत्रियों का उत्पाटक या उत्सादक भी कहा है। उन के अनुसार वह भारतवर्ष का एकच्छत्र एक-राट् था। भारत-युद्ध के बाद से भारतवर्ष के भिन्न भिन्न जनपदों में जो राजवंश चले आते थे (§ ७५) उन में से कुछ तो शैशुनाकों के समय समाप्त हो चुके थे, जो बचे थे वे सब अब समाप्त हो गये। उन के नाम इस प्रकार हैं—पौरव, ऐक्ष्वाकु, पंचाल, हैहय, कलिंग, अश्मक, कौरव, मैथिल, शूरसेन और वीतिहोत्र। इन में से मैथिल अथवा विदेह वंश एक राज्यक्रान्ति में मिट चुका था (§ ८१), और काशी कोशल से जीता गया था (§ ८३)। वीतिहोत्र वंश के स्थान में प्रद्योत का वंश स्थापित हो कर मिट चुका था (§§ ८३, १०२)। हैहय वंश का राज्य उसी के पड़ोस में कहीं—शायद माहिष्मती में—रहा हो; उसे भी सम्भवतः प्रद्योत ने ही समाप्त कर दिया होगा। कलिंग पहले अश्मक राज्य द्वारा जीता गया प्रतीत होता है (§ ८३), उस के बाद नन्दि-वर्धन के समय वह मगध के अधीन हो गया था (§ १०७)। इसी प्रकार शूरसेन या मथुरा पहले प्रद्योत के (§ ९९) और फिर मगध-सम्राटों के अधीन हो चुका प्रतीत होता है[1]। अश्मक के राजवंश को सम्भवतः नव नन्दों ने ही समाप्त किया; गोदावरी के तट पर अब तक नान्दड़ या नौ-नन्द-देहरा नाम की बस्ती है।

उस के दक्खिन कुन्तल प्रदेश अर्थात् उत्तरी कर्णाटक के भी नन्दों के राज्य में रहने की अनुश्रुति मध्यकालीन अभिलेखों में विद्यमान है।

---

[1] दे० ॐ २२ ए। अजातशत्रु की प्रतिमा मथुरा से पाई गई है। यदि उस प्रतिमा के विषय में विवाद न रहे तो कहना होगा कि अजात-शत्रु का प्रद्योत की मृत्यु के बाद मथुरा पर अधिकार हो गया था। मगध-साम्राज्य के विकास की धुंधली प्रक्रिया पर छोटी सी बात कुछ प्रकाश डालती है।

कौशाम्बी का पौरव या भारत वंश भी नन्दिवर्धन के या महापद्म के समय समाप्त हुआ पंचाल देश की स्वतंत्रता काशी के पहले साम्राज्य में ही लुप्त हो गई प्रतीत होती है (§ ८१); यदि तब न भी हुई हो तो कोशल और काशी की अथवा मगध और कोशल की कशमकश में उस का बचे रहना सम्भव नहीं दीखता। कोशल और कुरु के राजवंशों का निश्चय से मगध के साम्राज्य ने ही अन्त किया होगा। यह भी सम्भव है कि अजातशत्रु से नन्दिवर्धन तक पहले मगध-साम्राज्य के समय में कुछ राज्य साम्राज्य में सम्मिलित हो गये हों तो भी उन के अपने राजवंश अधीन रूप में बने रहे हों, और महापद्म ने उन राजवंशों की अन्तिम सफ़ाई कर के उन के प्रदेशों को अपने सीधे अधिकार में ले लिया हो, इसी लिये वह सर्वक्षत्रान्तक कहलाया हो। जो भी हो महापद्म- उग्रसेन अपने विशाल साम्राज्य का एकच्छत्र एकराट् था।

महापद्म और उग्रसेन दोनों ही शायद उस के नाम के विशेषण मात्र थे; पहला विशेषण उस के असीम धन की याद दिलाता है, और दूसरा उस की प्रबल सेना की। यूनानी लेखकों के अनुसार उस के बेटे की सेना में २ लाख पैदल, २० हज़ार सवार, २ हज़ार रथ और ३, ४ या ६ हज़ार युद्ध के लिए सधे हुए डरावने हाथी थे। उस के कोष में असंख्य और असीम धन माना जाता था, जिस की स्मृति संस्कृत पालि और तामिल के अनेक प्राचीन ग्रन्थों में सुरक्षित है।

ऐसा कोष और इतनी बड़ी सेना एक सुव्यवस्थित और सम्पन्न साम्राज्य की ही हो सकती थी। यदि वह सेना साम्राज्य की बुनियाद थी, और कोष सेना का, तो देश की समृद्धि और सुसंगठित एकराज्य उस कोष की बुनियादें थीं। कम से कम पिछली तीन शताब्दियों से भारतवर्ष के जनपद शिल्प व्यवसाय और व्यापार से सम्पत्ति का संचय कर रहे थे; और मगध के सम्राटों ने दूर दूर तक के प्रदेशों को अपने व्यवस्थित एकराज्य की सीमा में लाने की और समूचे देश को एक

बनाने की ज़ो चेष्टायें इस बीच लगातार जारी रक्खीं, उन के कारण प्रतीत होता है, व्यापार-व्यवसाय को चमकने का खूब अवसर मिला। उस समूची प्रक्रिया का परिणाम हम नन्दों के कोष और सेना के रूप में देखते हैं। देश को एक करने की वे चेष्टायें नन्दों के समय भी जारी रहीं, सब पुराने राज्यों की समाप्ति उन में से मुख्य थी। बाद के संस्कृत व्याकरण के ग्रन्थों में एक उदाहरण है[1] जिस से प्रतीत होता है कि माप-तोल के निश्चत मान शायद पहले-पहल नन्दों ने बाक़ायदा चलाये थे, और इस से यह झलक मिलती है कि देश के आर्थिक जीवन में और साधारण व्यवहार में भी एक राष्ट्र बनाने की चेष्टायें चल रहीं थीं। राष्ट्र की अर्थनीति में नन्दों ने कई नई बातें शुरू की थीं। यह प्रसिद्ध है कि उन्हों ने पहले-पहल पत्थर पेड़ चमड़े और गोंद आदि के व्यापार पर चुंगी लगाई थी।

किन्तु नन्द राजा प्रजापीडक थे, और इसी कारण उन के वंश में राज्यलक्ष्मी अधिक समय तक न टिकने पाई। महापद्म नन्द के बेटों में से सामल्य नन्द या धन नन्द मुख्य था। उस ने केवल १२ वर्ष राज्य किया था जब चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक घोर युद्ध के बाद नन्दों से राज्य छीन लिया। नव नन्द वंश का राज्य इस प्रकार केवल दो पीढ़ी ही चल पाया।

सामल्य नन्द के ही समय में मकदूनिया के राजा अलक्सान्दर (सिकन्दर) ने भारतवर्ष पर चढ़ाई की। ब्यास नदी तक का प्रदेश जीत कर जब वह उस गंगा-काँठे के करीब पहुँचा जो भारतवर्ष का सब से मुख्य और उपजाऊ प्रदेश था और जिस के लिए वह देर से ललचा रहा था, तब नन्द की सैनिक शक्ति देख उसकी सेना घबड़ा उठी, और उसे उलटे पाँव लौटना पड़ा। उस चढ़ाई का वृत्तान्त अब हम संक्षेप में कहेंगे।

---

[1] नन्दोपक्रमाणि मानानि—काशिका २. ४. २१; ६. २. १४।

§११८. मकदूनिया का उत्थान, पारसी साम्राज्य का अधःपात

पार्श (फ़ारिस) के सम्राट् कुरु के समय से आयिया (लघु ऐशिया) के यूनानी राज्य तो हखामनी साम्राज्य के अधीन थे ही, बाद में दारयवहु के बेटे सम्राट् ख्शयार्श[1] ने एक भारी सेना ले कर बोस्फ़रस खाड़ी के उस पार पच्छिमी हेलस (यूनान) पर भी चढ़ाई की थी। उस में उसे सफलता न हुई। पच्छिमी हेलस में प्राचीन पंजाब की तरह छोटे छोटे राष्ट्र थे। सातवीं शताब्दी ई० पू० से वे विशेष उन्नति करने लगे थे। तभी से उनका प्रामाणिक इतिहास मिलता है। वे सभ्य और स्वाधीनता-प्रेमी थे। उन छोटे छोटे राष्ट्रों में से किन्हीं में राजा राज्य करते थे, तो किन्हीं में सरदारों की सभा का शासन था, और किन्हीं में बिलकुल प्रजातन्त्र ही था। किन्तु चौथी शताब्दी ई० पू० में इन स्वाधीन यवन जातियों की अवनति होने लगी। उन के देश के उत्तर पूर्वी सीमान्त पर मकदूनिया का पहाड़ी राज्य था। वहाँ के लोग थे तो यूनानियों से मिलते जुलते, पर उन के मुकाबले में असभ्य थे, और यूनानी उन्हें बर्बर कहते थे। मकदूनिया का राजा उन दिनों फ़िलिप था। उस ने यूनान पर चढ़ाई की। छोटे छोटे यूनानी राष्ट्र उस का मुकाबला करने को इकट्ठे न हो सके, और अपनी स्वाधीनता खो बैठे। फ़िलिप का बेटा अलक्सान्दर या सिकन्दर बड़ा महत्वाकांक्षी था। बचपन में ही वह संसार भर का दिग्विजय करने और उसका एकच्छत्र सम्राट् बनने के सपने देखता था। उस के सामने ईजियन सागर और नील नदी से ले कर बाख्त्री और हिन्दूकुश तक विस्तृत पारसी साम्राज्य था, जिस में अनेक सभ्य देश सम्मिलित थे। उस के परे भारतवर्ष को

---

[1]यूनानी रूप Xerxes, नवीन फ़ारसी—ख्शयंश।

भूमि है यह भी उस ने सुन रक्खा था। भारतवर्ष का पूरा पता यूनानी लोगों को न था; वे उसे छोटा सा देश समझते थे। यूनान और मकदूनिया के उत्तर और पच्छिम के देशों से भी वे कुछ परिचित थे, पर उन में रहने वाली जातियाँ ईरान के उत्तर के दाहों की तरह उस समय तक असभ्य और जंगली थीं, और उन पर शासन करने का सिकन्दर को कोई प्रलोभन न था। यूनान, पारसी साम्राज्य और भारतवर्ष, यही उस समय के मकदूनी लोगों की दृष्टि में सभ्य जगत् था, और इस जगत् का एक-सम्राट् बनने का सङ्कल्प अलक्सान्दर ने किया था।

राज्य पाने के बाद अलक्सान्दर अपने संकल्प को सिद्ध करने चला। मकदूनी सैनिकों की तथा अपने अधीनस्थ यूनान के भाड़े के सिपाहियों की एक बड़ी सेना ले कर उस ने पारसी साम्राज्य पर चढ़ाई की। वह साम्राज्य तब बोदा हो चुका था। दो ही बरस (३३४—३३२ ई० पू०) के अन्दर मिस्र और पच्छिमी एशिया के प्रदेश सिकन्दर ने छीन लिये, और फिर अगले दो बरस में पारसी साम्राज्य के ठीक केन्द्र को जीत लिया। सम्राट् खशयार्श का बेटा दूसरा दारयवहु जो इस समय गद्दी पर था, उत्तर-पूरब तरफ़ बाख्त्री को भाग निकला। अलक्सान्दर ने पारस की राजधानी को, जिसे पारसी लोग पार्स और यूनानी लोग पार्सिपोलिस[1] (पार्सों की पुरी) कहते थे, फूँक डाला।

जीते हुये देशों में रास्तों के नाकों पर किले बनाते और छावनियाँ डालते हुए पारसी साम्राज्य को पार कर सिकन्दर अपनी सेना के साथ ३३० ई० पू० के अन्त में भारतवर्ष की सीमा पर ज़रंक या शकस्थान में आ पहुँचा। वसन्त ऋतु आते ही अफ़ग़ानिस्तान के दक्खिनी पहाड़ चढ़ कर वह हरउवती (आधुनिक कन्दहार) प्रदेश में आ निकला, जहाँ

[1]आधुनिक शीराज़ से ४० मील उ० पू०।

अलक्सान्द्रिया नाम का किला बना कर और कुछ फ़ौज छोड़ कर अगली सर्दियों में फिर पहाड़ों को पार कर वह काबुल नदी की उत्तरी दून में आ गया। यहाँ आधुनिक चरीकर पर, जो चारों तरफ़ के रास्तों का नाका है, एक और अलक्सान्द्रिया की स्थापना हुई, और थोड़े से साथियों को इस किले में छोड़ कर शेष सब मकदूनी सेना पंजशीर नदी की धारा के रास्ते हिन्दूकुश पार बाख्त्री पहुँची। पारसी साम्राज्य की रही सही शक्ति यहाँ सिकन्दर के मुकाबले में कुचली गई, और बाख्त्री के परे सीर नदी तक सुग्ध[1] (आधुनिक बोखारा-समरकन्द) का प्रदेश विजेता के हाथ लगा।

§ ११६. भारत में सिकन्दर; कपिश प्रदेश और पुष्करावती का घोर मुकाबला, तक्षशिला का विश्वासघात

अब यह सेना का प्रवाह फिर भारत की ओर उमड़ चला। सिकन्दर के अपने मकदूनियों के सिवाय यूनान मिस्र पारस आदि जीते हुए देशों के भाड़े के सिपाही इस सेना में सम्मिलित थे। और उन में मध्य एशिया के फ़ुर्तीले शक सवार भी थे, जो घोड़े पर चढ़े चढ़े बाण चला सकते थे। बाख्त्री के युद्ध में जो ईरानी सेना सिकन्दर से हारी थी, उन के साथ हिन्दूकुश के उत्तर तरफ़ के एक छोटे पहाड़ी राज्य का सरदार एक भारतवासी भी था जिस का नाम था शशिगुप्त। हारने के बाद अब शशिगुप्त भी अपनी सेना-सहित सिकन्दर की सेना में जा मिला। पर तक्षशिला के राजकुमार आम्भि ने बिना लड़े ही सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली थी। उस के दूत सुग्ध में ही सिकन्दर के पास अधीनता का संदेसा ले कर आये थे। खावक या काओशाँ जोत से हिन्दूकुश को पार कर सिकन्दर की सेना सन् ३२७ ई० पू० के

[1] यूनानी रूप Sogdiana.

वसन्त में फिर भारतवर्ष के दरवाजे पर अपने बनाये किले अलक्सान्द्रिया पर आ पहुँची। यहाँ से उन की भारत की चढ़ाई शुरू होती है।

तक्षशिला का सीधा रास्ता काबुल नदी के साथ साथ[1] जाता था। किन्तु उत्तर के पहाड़ों या कपिश प्रदेश में जो वीर और लड़ाकू जातियाँ रहती थीं उन्हें दबाये बिना आगे बढ़ जाने का अर्थ होता अपने रास्ते को पीछे से कटवा डालना। इसी लिए सिकन्दर ने अपने दो सेनापतियों को तो सीधे रास्ते आगे भेजा, और स्वयं एक बड़ी सेना के साथ उत्तरी पहाड़ों में घुसा।

इन पहाड़ों में अलीशांग, कुनार, पंजकोरा (गौरी) और स्वात (सुवास्तु) नदियों की दूनों में छः महीने तक भयंकर लड़ाइयाँ हुईं। इस प्रदेश में जो जातियाँ रहती थीं, उन्हें यूनानियों ने स्पष्ट रूप से भारतीय लिखा है। रहन-सहन शिक्षा-दीक्षा सभ्यता और आचार-विचार में वे निश्चय से आर्यावर्ती थीं। अलीशांग और कुनार की दूनों में रहने वाली जाति का नाम यूनानियों ने अपने उच्चारण के अनुसार अस्पस (Aspasioi) तथा गौरी और सुवास्तु की दूनों में रहने वाली का नाम अस्सकेन (Assakenoi) या अष्टकेन (Astakenoi) लिखा है। उन के मूल नाम अभी तक पहचाने नहीं गये। शायद वे अश्वक और आष्टक या अश्वाटक या ऐसे कुछ रहे हों। इन वीर जातियों ने एक एक चप्पा ज़मीन छोड़ने से पहले बहादुरी के साथ सिकन्दर का मुकाबला किया। गौरी नदी के पच्छिम शायद आजकल के कोह-ए-मोर के नीचे नुसा नाम की एक बस्ती थी। सिकन्दर ने उन्हें घेरा, पर थोड़े ही मुकाबले के बाद उन्हों ने अधीनता का सन्देश भेजा और कहा कि हम लोग भी

---

[1]पुरुषपुर (पेशावर) की स्थापना से पहले प्राचीन रास्ता खैबर हो कर नहीं प्रत्युत काबुल नदी के साथ साथ पुष्करावती (चारसद्दा) होता हुआ जाता था।

पुराने यूनानी हैं। वे लोग शायद पारसी साम्राज्य के ज़माने में इधर ला कर बसाये गये थे।

गौरी के पूरब 'अस्सकेनों' की राजधानी का नाम यूनानियों ने लिखा है मस्सग। मस्सग ने बड़ा सख्त मुकाबला किया। गढ़ के अन्दर वाहीक देश के ७००० सधे हुये वेतनभोगी सैनिक भी थे। इन लोगों ने जब देखा मस्सग अब अधिक देर तक ठहर नहीं सकता, तब अपने देश को खिसक जाने की सोची। सिकन्दर ने उन्हें गढ़ से निकल आने की इजाज़त दे दी, किन्तु इस शर्त पर कि वे उस की तरफ़ से लड़ें। किले से निकल वे सात मील की दूरी पर डेरा डाले पड़े थे। सिकन्दर को पता लग गया कि उन का इरादा विदेशी की तरफ से लड़ने का नहीं, पर देश पहुँच कर उस के विरुद्ध आग सुलगाने का है। रात के समय वे पड़े सोते थे जब सिकन्दर की सेना ने चारों तरफ़ से घेर कर हमला कर दिया। वीर सैनिकों ने अपनी स्त्रियों को बीच में रख कर चक्कर बना लिया, और लड़ाई शुरू कर दी। स्त्रियाँ तक भी उस लड़ाई में जी तोड़ कर लड़ीं। जब तक उनमें से एक भी जीता रहा, उन्हों ने हथियार नहीं रक्खे।

'मस्सग' के पतन के बाद 'अस्सकेनों' के दो और गढ़ सिकन्दर ने उसी प्रकार लड़ाइयों के बाद लिए। यूनानियों ने उन के नाम बज़िर[१] और ओर[२] लिखे हैं। हाल में डा० स्टाइन ने खोज कर निश्चय किया है कि स्वात नदी के बायें तट पर आधुनिक बीरकोट और ऊडेग्राम उन के ठीक स्थान को सूचित करते हैं। ऊडेग्राम बीरकोट से १० मील ऊपर है।

उधर जो सेनापति निचले रास्ते से जाते थे, उन्हें भी पग पग पर

---

[१] Bazira.

[२] Ora.

लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। तक्षशिला का युवराज आम्भि[1] इन यूनानी सेनापतियों के साथ था। पुष्करावती (पश्चिमी गान्धार) के राजा ने जिस का नाम शायद हस्ती[2] था एक महीने तक घोर युद्ध किया। ऊडेग्राम को लेने के बाद सिकन्दर भी पुष्करावती आया, और उसे जीतने पर उस ने वह किला आम्भि के एक पिछलग्गू सञ्जय को दिया।

मस्सग बीरकोट और ऊडेग्राम के पतन के बाद 'अस्सकेन' लोग सिन्धु के किनारे एक दुर्भेद्य पहाड़ी गढ़ में घुस कर अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करते थे। उस गढ़ का नाम यूनानियों ने अओर्न (Aornos=अवर्ण?) लिखा है, और डा० स्टाइन ने उस की ठीक स्थिति अब खोज निकाली है। वह सिन्ध नदी के पच्छिम पीर-सर नामक पहाड़ पर था, जिस की पच्छिमी ढाँग अब भी ऊणा-सर कहलाती है; ऊणा 'अओर्न' के पुराने नाम का स्पष्ट रूपान्तर है। सिकन्दर पुष्करावती से सिन्धु नदी के तट पर अम्बुलिम[3] नामक घाट पर, जिसे शायद आधुनिक अम्ब सूचित करता है, पहुँचा; किन्तु सिन्ध नदी पार करने से पहले 'अवर्ण' को लेना आवश्यक था। इस लिए वह सेनापति प्तोलमाय[4] को आगे भेज स्वयं पीछे उसी तरफ़ बढ़ा। घोर युद्ध के बाद वह पहाड़ी गढ़ भी लिया गया। जीतने के बाद सिकन्दर ने शशिगुप्त को वहाँ का सेनापति बनाया।

---

[1] यूनानी रूप ओम्फ़ि (Omphis)। इस के मूल रूप का उद्धार डा० सिल्व्याँ लेवी ने किया है।

[2] यूनानी रूप अस्त (Astes)।

[3] यूनानी रूप एँम्बोलिम (Embolima)। अम्बुलिम नाम बौद्ध लेखों में मिलता है।

[4] Ptolemaios.

§ १२०. अभिसार और केकय; वीर राजा 'पोरु'

वितस्ता[1] (जेहलम) और असिन्की[2] (चिनाब) नदियों के बीच हिमालय की उपत्यका के प्रदेशों को, जहाँ आजकल भिम्भर और राजौरी की रियासतें हैं, प्राचीन काल में अभिसार कहते थे। सिन्ध और जेहलम के बीच का पहाड़ी प्रदेश जिसे आजकल हम हज़ारा कहते हैं उरशा कहलाता था। सिकन्दर के समय अभिसार[3] के राजा के राज्य में शायद उरशा भी सम्मिलित था। काबुल के उत्तरी पहाड़ों में सिकन्दर की छावनियाँ पड़ जाने के कारण 'अस्पसों' और 'अस्सकेनों' के वे योद्धा जिन्हें अधीनता पसन्द न थी अभिसार में आ आ कर इकट्ठे होने लगे।

सिन्धु नदी के इस ओर वितस्ता तक तक्षशिला (पूर्वी गान्धार देश) का राज्य था जहाँ का राजा सिकन्दर को देर से निमन्त्रण दे रहा था। उस की सहायता से सिकन्दर की सेना ने सिन्ध पार की, और तक्षशिला पहुँच कर अपनी थकान उतारी।

किन्तु वितस्ता के इस पार केकय देश (आजकल के जेहलम शाहपुर और गुजरात जिलों) का जो राजा था, वह कुछ और किस्म का था। सिकन्दर के दूत जब उस के पास अपने सम्राट् की शरण में उपस्थित होने का निमन्त्रण ले कर आये तब उस ने बेरुखी से उत्तर दिया कि वह लड़ाई के मैदान में उन के राजा का स्वागत करेगा। इस वीर राजा का नाम यूनानियों ने पोरु (Porus) लिखा है। इधर अभिसार का राजा भी 'पोरु' के साथ मिलने की तैयारी कर रहा था।

---

[1] यूनानी रूप Hydaspes।

[2] यूनानी रूप Akesines।

[3] यूनानी रूप अबिसार (Abisares)।

सिकन्दर ने देखा, दोनों के मिलने से पहले ही चोट करना ठीक है। इस लिए सख्त गर्मी[1] की परवा न कर वह आगे बढ़ा। वितस्ता के दोनों तरफ दोनों सेनायें आमने सामने हुईं। 'पोरु' नदी के सब घाट रोके हुए था। वह यदि वीर था, तो सिकन्दर अपने युग का सब से चतुर सेनापति था। महीने तक दोनो सेनायें वितस्ता की क्षीण धारा के दोनों ओर पड़ी रहीं।

सिकन्दर अपनी सेना में हर समय ऐसी चहल-पहल रखता जिस से शत्रु को पता न चले कि कब वह युद्ध की असल तैयारी करता है। फिर उस ने इस प्रकार रसद जुटाना शुरू किया मानों सर्दियों तक वहीं ठहरना हो। 'पोरु' फिर भी असावधान न था, पर उसकी सब सावधानी के बावजूद एक रात वर्षा में सिकन्दर अपनी सेना के बड़े अंश को २० मील ऊपर या नीचे[2] खसका ले गया और चोरी चोरी नदी पार हो गया। जम कर लड़ाई करने में 'पोरु' के हाथियों और धनुर्धरों का मुकाबला सिकन्दर की सेना न कर सकती, पर सिकन्दर के फ़ुर्तीले सवार ही उस की शक्ति थे। पारस के सम्राट् की तरह 'पोरु' भागा नहीं। जब तक उस की सेना में ज़रा भी व्यवस्था रही वह ऊँचे हाथी पर चढ़ा लड़ता रहा। उस के नंगे कन्धे पर शत्रु का एक बर्छा लगा। जब अन्त में उसे पीछे हटना पड़ा, आम्भि ने घोड़ा दौड़ाते हुए उस के हाथी का पीछा किया और उसे सिकन्दर का सन्देश दिया। घायल हाथ से 'पोरु' ने घृणित देशद्रोही पर बर्छा चलाया पर आम्भि बच निकला। 'पोरु' को फिर सवारों ने घेर लिया, जिन में

---

[1] वि० स्मिथ के अनुसार यह बात बरसात में हुई, पर कैं० इ० में गर्मी में होना सिद्ध किया गया है।

[2] स्मिथ ने यह निश्चित मान लिया था कि वह ऊपर ही ले गया पर कैं० इ० के अनुसार यह अभी तक अनिश्चित है।

एक उस का मित्र भी था। घायल और थका-मांदा जब वह सिकन्दर के सामने लाया गया, सिकन्दर ने आगे दौड़ कर उसका स्वागत किया, और दुभाषिये द्वारा पूछा कि उस के साथ कैसा बर्ताव किया जाय। "जैसा राजा राजाओं के साथ करते हैं"—पोरु ने गौरव के साथ उत्तर दिया। शशिगुप्त की तरह पोरु को भी सिकन्दर ने अपनी सेना में ऊँचा पद दिया।

सिकन्दर जब इधर युद्ध कर रहा था, तब पिछले प्रदेश के लोग बिलकुल चुप न बैठे थे। हरउवती और सुवास्तु में इस बीच दो बलवे हो चुके थे, जिन में एक भारतीय राजा भी सम्मिलित था। उन्हें दबाने के लिये सिकन्दर को शशिगुप्त के पास कुमुक भेजनी पड़ी।

§ १२१. ग्लुचुकायन और कठ, साङ्कल नगर का विध्वंस

आगे बढ़ने पर सिकन्दर को ग्लुचुकायन[1] नाम के एक छोटे से संघ राज्य से वास्ता पड़ा। उन के तैंतीस नगर जीत कर 'पोरु' के अधीन कर दिये गये। असिन्की के उस पार मद्रक देश में 'पोरु' का एक भतीजा छोटा 'पोरु' राज्य करता था। उस ने बिना लड़े अधीनता मान ली। किन्तु इरावती[2] के पूरब जिस प्रदेश को आज कल हम माझा कहते हैं वहाँ वीर और स्वाधीन कठ[3] जाति रहती थी। इन

[1] Glauganikai; यह शिनाख्त पहले-पहल जायसवाल ने हिं० रा० में की है। ग्लुचुकायन नाम अष्टाध्यायी के एक गण में है।

[2] यूनानी रूप Hydraotes.

[3] Kathaioi और Xathroi दोनों को कैं० इ० में क्षत्रिय का रूपान्तर माना गया है। वह निश्चय से ग़लत है। Kathaioi को डा० हेमचन्द्र रायचौधुरी संस्कृत वाङ्मय के क्रथ, क्रन्थ या कठ से मिलाने का प्रस्ताव करते हैं; जौली और जायसवाल के मत में वे कठ हैं। अन्तिम

लोगों का संघ-राज्य था, और ये सिकन्दर का युद्ध में स्वागत करने की तैयारी कर रहे थे। इन के पड़ोस में विपाशा[1] नदी पर क्षुद्रकों, और इरावती की निचली धारा पर मालवों के संघ-राज्य थे, और वे भी इन से मिलने की सोच रहे थे। इस से पहले कि ये लड़ाकू स्वाधीन जातियाँ आपस में मिल पाँय, सिकन्दर उन पर टूट पड़ा। कठों ने अपनी राजधानी साङ्कल[2] के चौगिर्द रथों के तीन चक्कर डाल कर शकटव्यूह बना लिया। वे खूब डट कर लड़े। घोर युद्ध के बाद, और पीछे से बड़े 'पोरु' की कुमुक आने पर सिकन्दर उन का नगर छीन सका। एक छोटी सी जाति विश्व-विजयी सिकन्दर के विशाल दल के सामने आख़िर कब तक ठहर सकती ? किन्तु कठों के मुकाबले से सिकन्दर ऐसा खीझ उठा कि उस ने साङ्कल नगर को जीतने के बाद मिट्टी में मिला दिया।

कठों के संघ-राज्य में एक विचित्र रिवाज था। उन के देश में प्रत्येक बच्चा संघ का होता, माता पिता केवल सन्तान को पालते थे। संघ की ओर से गृहस्थों की सन्तान के निरीक्षक नियत थे, और एक

मत स्पष्ट ही ठीक है। काठी नाम की जाति पंजाब में अब भी है, पर कोट कमालिया के चौगिर्द, जहाँ सिकन्दर के समय मालव लोग थे।

[1]यूनानी रूप Hyphasis.

[2]यूनानियों ने उसे सांगल लिखा है, और यह सिद्ध हो चुका है कि उस का आधुनिक ज़ि० शेखूपुरा के सांगला से कोई सम्बन्ध नहीं है। सांगल Kathaioi की राजधानी थी, और उन का प्रदेश यूनानी वर्णन के अनुसार आधुनिक माझा में पड़ता है, न कि शेखूपुरा में। पूरी विवेचना के प्रतीक अ० हि० में मिलेंगे। साङ्कल पाणिनीय व्याकरण के अनुसार वाहीकों की एक बस्ती थी, उस की यूनानी सांगल से शिनाख़्त हि० रा० में की गई है।

महीने की आयु में जिस बच्चे को वे कमज़ोर और कुरूप पाते उसे मरवा देते थे। युवक और युवती बड़े होने पर विवाह भी अपनी पसंद से करते थे। माँ-बाप का उस में कुछ दख़ल न होता। सौभूत नाम का एक और राज्य वाहीकों में था, और वहाँ भी ऐसी ही प्रथायें थीं।

§ १२२. सेना का हिम्मत हारना, वापसी

सिकन्दर अब विपाशा के किनारे आ पहुँचा। परले पार द्वावे में एक और जाति का संघ-राज्य था; और इस जाति का स्वाधीनता-प्रेम यदि कठों जैसा था तो सैनिक शक्ति उन से कहीं अधिक थी। सिकन्दर यदि उन पर और वाहीकों की अन्य पूरबी जातियों पर भी विजय पा सकता तो आगे उसे मगध-साम्राज्य से वास्ता पड़ता। वह आगे बढ़ना चाहता था, पर उस की सेना को भारतवर्ष में घुसने के बाद मे जो तजरबा हो रहा था, वह कुछ उत्साहजनक न था। सेना के दिल टूट चुके थे, और अब उन्हों ने आगे बढ़ने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। सिकन्दर ने बड़े बड़े बढ़ावे दिये, पर वे बहरे कानों पर पड़े। घोर निराशा में वह तीन दिन तक अपने तम्बू में बन्द रहा। तीन दिन बाद निकल कर देवताओं को बलि दी, और यात्रा के शकुन देखे। उस की लाज बचाने के लिए पूरब जाने को शकुन अनुकूल न निकले! कई स्थानों पर अपनी छावनियाँ छोड़ कर उलटे पाँव सारी सेना वितस्ता नदी पर वापिस आई। वहाँ भारी तैयारी के बाद जल और स्थल-मार्ग से उन्हों ने दक्खिन मुँह फेरा। जिस दिन यात्रा का आरम्भ था, सिकन्दर ने नदी के बीच खड़े हो सुनहले बर्त्तन से भारतीय नदियों और अन्य देवताओं को अर्घ्य दिया, और फिर एक इशारे पर उस की भारी सेना ने प्रयाण किया।

§ १२३. शिवि मालव और क्षुद्रक; सिकन्दर घायल

पहले (अर्थात् वितस्ता और असिक्नी में) संगम के बायें तरफ़ शिवि[1] और "अगलस्स"[1] जातियों के संघ-राज्य थे। शिवि ने बिना लड़े ही अधीनता मान ली; "अगलस्स" वीरता से लड़े। असिक्नी की धारा में कुछ और नीचे जाने पर बायें तरफ़ मरुभूमि के किनारे इरावती के दोनों तटों पर वीर मालव[2] जाति का गणतन्त्र राज्य था। वे लोग लड़ाई की तैयारी कर रहे थे। उन के पड़ोस में विपाशा[3] के तट पर क्षुद्रकों का गणराज्य था; और वे लोग भी मालवों के साथ मिलने को आ रहे थे। एक अनुभवी क्षुद्रक क्षत्रिय को दोनों सेनाओं का मुख्य सेनापति चुना गया था। सिकन्दर की सेना यह जान कर बहुत घबड़ाई कि भारतवर्ष की एक सब से वीर जाति से अभी उसे मुकाबला करना बाकी है। वह फिर से विद्रोह किया चाहती थी; सिकन्दर ने उसे मुश्किल से सँभाला।

किन्तु मालावों और क्षुद्रकों की कोई स्थिर सेना तो नहीं थी। उन के सभी जवानों के इकट्ठा होने से सेना बनती। वे लोग सिकन्दर की तेज़ चाल का अन्दाज़ न कर सके। क्षुद्रक सेना तो आई ही न थी। मालव लोगों को

---

[1] यूनानी रूप Siboi और Agalassoi.

[2] Oxydrakai और Malloi का मूल रूप क्षुद्रक और मालव है सो० स्व० सर रा० गो० भण्डारकर ने सिद्ध किया था। कमालिया के पड़ोस में अब भी काठी और माली लोग रहते हैं।

[3] व्यास तब शायद सतलज में मिलने के बजाय रावी-संगम के नीचे चिनाब में मिलती रही हो। मध्य युग में भी वैसा ही होता था। पर ऋग्वेद के युग में वह आजकल की तरह सतलज में ही मिलती थी, और यास्क के समय भी। दे० भारतभूमि पृ० २२-२३।

भी यह ख्याल न था कि वार[1] की मरुभूमि को सिकन्दर केवल दो दिनों में पार कर लेगा और उस की सेना उन के गाँवों और नगरों पर एका-एक टूट पड़ेगी। अनेक मालव कृषक अपने खेतों पर ही काटे गये। किन्तु उन्हों ने उस दशा में भी सिकन्दर का सख्त मुकाबला किया। आधुनिक कोट कमालिया के पास कहीं उन का एक नगर था, जहाँ सिकन्दर की छाती में घाव लगा, और वह बेहोश होकर गिर पड़ा। उस समय तो वह बच गया, पर आगे चल कर वही घाव उस की शीघ्र मृत्यु का कारण हुआ। मकदूनी सेना अब घबड़ा उठी और नृशंस कामों पर उतारू हो गई थी। उस नगर में उन्हों ने स्त्रियों और बच्चों तक को कतल कर डाला।

अच्छे होने पर सिकन्दर ने मालव-क्षुद्रक-संघ से समझौता करना उचित समझा। वह उन की वीरता देख चुका था, और वे भी सिकन्दर की असाधारण शक्ति का तजरबा कर चुके थे। मालव-क्षुद्रकों के सौ मुखिया सिकन्दर के पास आये। उस ने उन के स्वागत के लिए एक बड़ा भोज किया। संघ के मुखियों के लिए सौ सुनहली कुर्सियाँ रक्खी गईं, जिन के चारों तरफ़ जरी के कामदार चित्रित सुनहले पर्दे लटकते थे। भोज में खूब शराब ढली। मालव-क्षुद्रकों ने कहा कि उन्हों ने आज तक किसी की अधीनता नहीं मानी थी, पर सिकन्दर एक असा-धारण मनुष्य है।

---

[1]दक्खिनपच्छिमी पंजाब में नदियों के कांठे कच्छ कहलाते हैं। कच्छों के बीच बीच बाँगर भूमियाँ हैं जो सिन्धसागर दोआब में थल और अन्यत्र वार कहलाती हैं। शोरकोट-कमालिया के उत्तर तरफ़ सन्दल वार है जिस में अब लायलपुर आदि बस्तियाँ बस गईं हैं। उन के दक्खिन तरफ़ गंजी वार है जिसे साहीवाल (मंटगुमरी) सूचित करता है। सतलज की निचली धारा नीली कहलाती है, और उस का कांठा नीली वार या जोहिया वार।

§ १२४. छोटे छोटे संघ, मुचिकर्ण और ब्राह्मणक देश

इस वीर जाति से मैत्री स्थापित कर सिकन्दर आगे बढ़ा। दूसरा तथा तीसरा संगम लाँघने तक कोई विशेष घटना नहीं हुई। अन्तिम संगम पर अम्बष्ठ, क्षत्त्ृ और वसाति[1] के गण-राज्य थे, और उन के पड़ोस में ही शौद्र[2] लोगों का छोटा सा राज्य। इन में से किसी ने लड़ाई नहीं की। अन्तिम संगम पर एक और अलक्सान्द्रिया बसा कर सिकन्दर का दल आधुनिक सिन्ध प्रान्त की ओर बढ़ा।

उत्तरी सिन्ध में मुचिकर्ण[3] नाम का राष्ट्र था, जिस की राजधानी शायद प्राचीन रोरुक नगरी (=आधुनिक रोरी, या ठीक ठीक कहें तो उस के पाँच मील पूरब की ऊजड़ बस्ती अरोर सिंध की पुरानी धारा के तट पर थी) वहाँ के लोग भी लड़ाई की तैयारी कर रहे थे; परन्तु सिकन्दर के मुकाबले में वे न ठहर सके। मौचिकर्णिक[3] लोगों में कई

---

[1] Abastanoi या Sambastai=अम्बष्ठ, Ossadioi=वसाति। Xathroi को जायसवाल क्षत्रिय समझते हैं, और मैक्रिंडल क्षत्तृ; रा० इ० में क्षत्तृ माना गया है, और मुझे भी वही ठीक जान पड़ता है।

[2] पाणिनि के युग में संस्थापक या नेता के नाम से किसी राष्ट्र का —विशेष कर संघ-राष्ट्रों का—नाम पड़ने का रिवाज था, सो जायसवाल ने दिखलाया है; और शूद्र या शूद्रक भी वैसा एक राष्ट्र-संस्थापक था, सो भी। उस प्रकार के शौद्र लोगों का नाम ही यूनानी Sodrai में रूपान्तरित हुआ है।

[3] मुचिकर्ण नाम का उद्धार जायसवाल ने हिं० रा० में अष्टाध्यायी के एक गण से किया है। Mousikanoi=मौचिकर्णिक उसी से सिद्ध हुआ है। पहले उस के लिए मूषिक आदि कई मूल शब्द प्रस्तावित किये गये थे, पर कोई निर्विवाद प्रमाणित न हुआ था।

विशेषतायें थीं। वे इकट्ठे बैठ कर समूहों में भोजन करते थे। सात्विक भोजन के कारण उन की आयु प्रायः १३० बरस की होती। उन के यहाँ दास न रक्खे जाते थे; धनी-निर्धन का भेद न होता था; सब लोग एक बराबर थे; और वे न्यायालयों की शरण बहुत कम लेते थे।

मुचिकर्ण के आगे दो और छोटे राज्यों को दबाने के बाद सिकन्दर को एक छोटे से राष्ट्र का मुकाबला करना पड़ा, जिस का नाम ब्राह्मणक जनपद[1] था। इस छोटे से राज्य की प्रजा ने उसे बड़ा कष्ट दिया। जिन राजाओं ने पहले अधीनता मान ली थी, वे उन की निन्दा करते, और स्वतंत्र जातियों को भी भड़काते। उत्तरी सिंध के राज्यों से उन्हों ने बलवा करा दिया, जिसे सिकन्दर ने निर्दयता से कुचल डाला। ब्राह्मण लोगों (अर्थात् ब्राह्मण जनपद के निवासियों) के अनेक मुखियों की लाशें खुले रास्तों टाँग दी गईं।

§ १२५. पातानप्रस्थ

अंत में सिकन्दर पातन या पातनप्रस्थ[2] नाम के स्थान में पहुँचा, जहाँ से सिंधु नदी दो धाराओं में फटती थी। आधुनिक हैदराबाद उस नगर के स्थान को सूचित करता है। वहाँ एक ही साथ दो वंशागत राजा और एक सभा राज्य करती थी। पातन के लोग अधीनता से बचने के लिए देश छोड़ कर भाग गये थे।

---

[1] सिन्ध के विद्रोही ब्राह्मण, ब्राह्मण जनपद के निवासी होने के कारण ब्राह्मण कहलाते थे, और उस जनपद का नाम संस्थापक के नाम से था, सो भी हिं० रा० की स्थापना है। वे ब्राह्मण एक जात न थे, उन का एक अलग राष्ट्र था, सो यूनानी वर्णन से प्रकट है।

[2] Patalene=पातन या पातानप्रस्थ, सो पहचान भी हिं० रा० की है, और वह नाम भी पाणिनीय व्याकरण में से मिला है।

पातन की बड़ी क़िलाबन्दी करने के बाद और सिन्ध में कई छावनियाँ छोड़ कर सिकन्दर पच्छिम फिरा, और मकरान के किनारे किनारे बढ़ते हुए हिंगोल नदी[1] को पार कर भारत की सीमा से निकल गया। सम्पूर्ण पारसी साम्राज्य को जीतने में जहाँ उसे चार बरस नहीं लगे थे, वहाँ भारतवर्ष के इस अञ्चल में साढ़े तीन बरस लग गये थे। वह अपने जलसेनापति नियार्क को समुद्र-मार्ग से आने के लिए पीछे छोड़ गया था। समुद्र तब पातानप्रस्थ से बहुत दूर न था। नियार्क अनुकूल हवा की प्रतीक्षा करता, पर पूरब की ओर भागे हुए पातन के लोगों ने उस का टिकना असम्भव कर दिया; और उसे मानसून चलने से पहले ही अपना बोरिया-बंधना उठाना पड़ा। मलान अन्तरीप पार कर वह भी भारत की सीमा से निकल गया।

§ १२६. सिकन्दर की मृत्यु; उस की योग्यता

सिकन्दर के मुँह मोड़ते ही वाहीकों में बलवे होने लगे। इधर दो बरस बाद घर पहुँचे बिना ही बावेरू में सिकन्दर का देहान्त हो गया (३२३ ई० पू०)। उस के विशाल साम्राज्य को एक छत्र के अधीन रखने वाली कोई शक्ति उस के पीछे न थी। वह उस के सेनापतियों में बँट गया, जो एक अरसे तक आपस में लड़ते रहे। मकदूनिया में एक वंश स्थापित हो गया, उस के उत्तर थ्रेस में तथा उस के साथ एशिया के एक अंश में दूसरा, तथा एशिया (आधुनिक पच्छिम एशिया) में एक

---

[1]जायसवाल का यह कथन (पृ० ७८) ठीक नहीं है कि पातन भारतवर्ष की अन्तिम पच्छिमी सीमा पर था। यूनानी लेखक हिंगोल (Tomeros) पार कर लेने पर सिकन्दर को और ओरेइत (Oreitar) जाति की पच्छिमी सीमा मलन (Malana=रास मलान) लांघने पर निआर्क को भारत से निकला बतलाते हैं।

तीसरा राजवंश स्थापित हुआ। उन के अतिरिक्त दो बड़े राज्य उस साम्राज्य के टुकड़ों में स्थापित हुए, और उन में हमें विशेष वास्ता पड़ेगा। एक मिस्र में, जहाँ की गद्दी उसी तोलमाय नामक सेनापति ने, जिसे अवर्ण की लड़ाई में आगे भेजा गया था, सँभाली, और जहाँ आगे तीन शताब्दी तक उस के वंशज तोलमाय बड़ी शान से राज्य करते रहे; दूसरे बाबुल और सीरिया में, जहाँ का राज्य सेनापति सेँ ले -उक (Seleucus)[1] को मिला, जिस ने कि भारत के सीमान्त तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

भारतवर्ष के उत्तरपच्छिम आंचल पर सिकन्दर एक आँधी की तरह आया, और बिगोले की तरह चला गया; उस के उस धावे का कुछ भी सीधा और स्थायी प्रभाव हुआ नहीं दीखता। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि नन्द-साम्राज्य को बाद में उखाड़ने वाले चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य सिकन्दर के धावे के समय पञ्जाब में ही थे, और उस के सेना-संचालन को देख कर उन्हें अनेक विचार मिले हों, और नन्दों के विरुद्ध युद्ध में तथा बाद के मौर्य साम्राज्य के सेना-संगठन में वे विचार काम आये हों, सो बहुत सम्भव है।

इस के अतिरिक्त अलक्सान्दर केवल एक विजयी सेनापति न था। वह संसार को जीतने के साथ साथ संसार की सभ्य जातियों को मिला कर एक कर देने के सपने भी देखता था। उस ने यूनानी पारसी और भारतीय आर्यों के सम्बन्ध को परस्पर विवाहों से पुष्ट किया, और जगह जगह ऐसे केन्द्र स्थापित किये जिन से इन जातियों में ज्ञान और व्यापार का सम्बन्ध बना रहे। और इस में कोई सन्देह नहीं कि उस की चढ़ाई

---

[1]यूनानी नामों के अन्त में जो अस् लगा रहता है, वह भी संस्कृत और प्राचीन पारसी की तरह प्रथमा एकवचन का प्रत्यय होता है, न कि मूल नाम का अंश।

के कारण प्राचीन सभ्य जातियों की कूपमण्डूकता बहुत कुछ कम हुई, उन का परस्पर-सम्पर्क बहुत बढ गया। आगे चल कर यह जातियों का सम्पर्क इतिहास की भारी घटनाओं और सभ्यता की उन्नति का एक बड़ा कारण हुआ।

—०—

ग्रन्थनिर्देश

मैक्रिंडल—इन्वेज़न् ऑव इंडिया बाइ अलक्सैंडर दि ग्रेट ऐज़ डिस्क्राइब्ड बाइ एरियन, कर्टियस, डायोडोरस, प्लूटार्क ऐन्ड जस्टिन (सिकन्दर महान् का भारत-आक्रमण एरियन, कुर्त्तियु, दियोदोर, प्लुतार्क और जस्तिन के वर्णनानुसार), लंडन १८९६।

अ० हि०, अ० ३-४।

रा० इ०, पृ० १४७-६३।

कैं० इ०, अ० १५।

हिं० रा० §§ ६०—८६।

सर आरेल स्टीन—भारत के वायव्य सीमान्त पर सिकन्दर की चढ़ाई इं० आ० १९२९, परिशिष्ट पृ० १ प्र।

—०—

पन्द्रहवाँ प्रकरण

मौर्य साम्राज्य का उदय—सम्राट् चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार

(३२५-२७३ ई० पू०)

§ १२७. चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य

सिकन्दर जिस समय तक्षशिला में था, उस के डेरे पर एक भारतीय युवक उपस्थित हुआ था, जिसने अपने रंग ढंग से सिकन्दर और उस के सेनापतियों को चकित कर दिया था। वह दुःसाहसी युवक नन्दों के विशाल साम्राज्य को हथियाने की धुन में था, और इस काम में सिकन्दर को अपना हथियार बनाना चाहता था। नन्द राजा से प्रजा असन्तुष्ट थी, और इसी लिए वह सोचता था कि उसे गद्दी से उतार देना कुछ असाध्य नहीं है। सिकन्दर से और उस युवक से कुछ सीधी सीधी बातें हो गई थीं, और सिकन्दर ने उस उद्धत युवक को फ़ौरन मार डालने का हुक्म दे दिया था। तब शायद उस ने यह देखा कि मगध का सम्राट् प्रजापीडक है तो मकदूनिया का सम्राट् भी वैसा ही स्वेच्छाचारी है, और वह जान बचा कर वहाँ से भाग निकला।

उस युवक का नाम था—चन्द्रगुप्त मौर्य। उस के पूर्व पुरुषों का पता नहीं मिलता, किन्तु मोरिय जाति का नाम हम पीछे (§ १५) भगवान् बुद्ध के समय सुन चुके हैं, और वह उसी मोरिय जाति का था[1]।

---

[1]मोरिय का ही संस्कृत रूप मौर्य है। पीछे यह कल्पना की गई कि

नन्द राजा के साथ चन्द्रगुप्त का आरम्भिक विरोध कैसे हुआ इसका ठीक ठीक पता नहीं मिलता, किन्तु कहा जाता है कि सम्राट् धन नन्द ने चन्द्रगुप्त को मार डालने की आज्ञा दे रक्खी थी। और वह फाँसी का परवाना सिर पर लिये चन्द्रगुप्त जब नन्दों का राज्य ले लेने की उधेड़-बुन में पंजाब में मारा मारा फिरता था, उस का एक अपने ही जैसा धुन का पक्का ब्राह्मण सहयोगी मिल गया था; और वे दोनों फिर उस धन्धे में इकट्ठे ही जुटे थे। उस ब्राह्मण का नाम था विष्णुगुप्त, पर वह अपने उपनाम चाणक्य या कौटिल्य से ही अधिक प्रसिद्ध है। वह तक्षशिला का रहने वाला था। चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनों ही असाधारण कर्तृत्व और बुद्धि के व्यक्ति थे। और वे दोनों अपनी धुन में सफल हुए।

§ १२८. वाहीकों की स्वतन्त्रता; मगध-साम्राज्य का विजय

सिकन्दर की मृत्यु के बाद ही वाहीकों में जो विद्रोह हो गया, उस का नेता चन्द्रगुप्त ही था। उन प्रदेशों को विदेशी के पंजे से छुड़ाने के बाद[1]

मौर्य का अर्थ है मुरा का बेटा, और कि मुरा नाम की राजा नन्द की एक दासी थी। मोरिय जाति कम से कम बुद्ध और महावीर के समय से विद्यमान थी। महावीर के १२ गणधरों अर्थात् मुख्य शिष्यों में एक मोरियपुत्त भी था, दे० समवायाङ्ग सुत्त, १६, हरगोविन्ददास सेठ-कृत पाइअसद्दमहण्णवो (प्राकृतशब्दमहार्णव = प्राकृत-कोष, कलकत्ता १९२३) में उद्धृत।

[1] स्मिथ का मत है कि चन्द्रगुप्त ने पहले मगध जीता, और तब पंजाब को स्वाधीन कराया—अशोक पृ० १४ टि०। किन्तु स्वाभाविक बात वही है जो ऊपर कही गई है, और भारतीय दन्तकथा उसे पुष्ट करती है। महावंस की टीका में एक बुढ़िया की कहानी है जिस के घर में चन्द्रगुप्त ने शरण ली थी, और जिस ने एक दिन गर्म रोटी के किनारे

उस ने उन्हीं से एक बड़ी सेना तैयार कर मगध पर चढ़ाई की, और एक महाघोर और भयानक युद्ध के बाद नन्दों को हराकर उन के वंश का मूल नाश कर दिया। पुरानी अनुश्रुति में यह बात दर्ज है कि चन्द्रगुप्त ने आरट्टों की सहायता से नन्दों से राज्य छीन लिया था। पंजाब-सिंध के कुछ विशेष अथवा सभी राष्ट्र आरट्ट कहलाते थे; शायद उस शब्द का अर्थ है—अराष्ट्र अर्थात् बिना राजा के राज्य। संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक मुद्राराक्षस के अनुसार चन्द्रगुप्त के मगध पर चढ़ाई करने वाले दल-बल में उसका मुख्य साथी राजा पर्वतक था। पर्वतक कौन था और किस देश का राजा था, सो कुछ पता नहीं। उस के अन्य साथियों में "कुलूत का राजा चित्रवर्मा, मलय का राजा सिंहनाद, कश्मीर का पुष्कराक्ष, सिन्धु का सिन्धुषेण और पारसीक राजा मेघ या मेघाक्ष"[1] थे। कुलूत माने कुल्लू, और मलय से मतलब पंजाब के उन्हीं मालव लोगों से है[2] जिन्हों ने सिकन्दर को घायल किया था। कश्मीर स्पष्ट ही है; और सिन्धु का अर्थ आधुनिक सिन्ध नहीं, प्रत्युत डेराजात और सिन्धसागर दोआब होता है सो पीछे (§§ ३४, ५४, ८२, ८४ उ, १०५) कह चुके हैं। पारसीक से ठीक क्या अभिप्राय है सो कहना कठिन है; किन्तु कुलूत

छोड़ बीच से खाना शुरू करने वाले अपने बेटे की चन्द्रगुप्त से तुलना की थी। बुढ़िया को बेटे से बात करते हुए चन्द्रगुप्त ने सुन लिया, और तब उसे यह सीख मिली कि पहले सीमान्तों को लेकर तब मगध पर चढ़ाई करनी चाहिए। दे०, बु० इ० पृ० २६६।

[1]मुद्राराक्षस १. २०।

[2]उपवनात शक (दे० नीचे § १६६) के अभिलेख में भी मालवों को मलय कहा गया है—ए० इं० ८ पृ० ४६ प्र। उस समय मालव लोग पंजाब से चल कर उत्तरी राजपूताना में पहुंच चुके थे।

कश्मीर सिन्धु और मालव एक दूसरे के पड़ोसी और शायद बिलकुल साथ साथ लगे हुए पंजाबी राज्य थे, इस में सन्देह नहीं।

मुद्राराक्षस की कहानी है कि नन्द सम्राट् का राक्षस नाम का एक मंत्री था, और वह चाणक्य की तरह ही बुद्धिमान् था। नन्दों के हार जाने पर भी उस ने उन की तरफ़ से लड़ाई जारी रक्खी, और पर्वतक को चन्द्रगुप्त ने फोड़ डालने का जतन किया। किन्तु चाणक्य को राक्षस के षड्यन्त्र का पता मिल गया, और उस ने उस अवसर पर पर्वतक का काम तमाम कर डाला, और कराया भी इस ढंग से कि जनता में यह प्रसिद्ध हो गया कि राक्षस ने पर्वतक को मरवाया है। पर्वतक का बेटा मलयकेतु इस पर भाग निकला, और उस के साथ उस के सहयोगी वाहीकों के राजा भी भाग निकले। राक्षस भी तब उन लोगों से जा मिला, और उस सारी टोली को चन्द्रगुप्त के साम्राज्य पर चढ़ाई करने के लिए तैयार करने लगा। किन्तु युद्ध की नौबत नहीं आई; चाणक्य की बुद्धिमत्ता से वह टोली जुट कर एक होने नहीं पाई, और उन में आपस में अविश्वास हो गया। यहाँ तक कि अन्त में चाणक्य ने राक्षस का भी चन्द्रगुप्त से समझौता करा दिया, और उसे उस का मंत्री बनवा दिया। इस कहानी में कितनी ऐतिहासिक सचाई है, सो कहा नहीं जा सकता।

§ १२९. सेँलेँउक निकातोर की चढ़ाई और हार

किन्तु एक और भयंकर शत्रु चन्द्रगुप्त के साम्राज्य पर चढ़ाई करने आ रहा था। पीछे कह चुके हैं कि सिकन्दर की मृत्यु के पीछे उस के मकदूनिया और मिस्र से बाख्त्री और वाहीक तक फैले हुये विशाल साम्राज्य को एक शासन में रख सकने वाली शक्ति न थी। उसके सेनापति आपस में लड़ने लगे, और यूनान मिस्र आदि देशों में अलग अलग सेनापति राज्य करने लगे। 'पोरु' वाले प्रसिद्ध युद्ध से पहली रात

जेहलम चोरी चोरी पार उतरते समय जिस नाव में सिकन्दर ने अपने भाग्य को बहने दिया था, उसी एक नाव में सिकन्दर के साथ इन भावी राजाओं में से कई पार उतरे थे। और उन्हीं में से एक सेनापति सें-लें‌उक (Seleucus) भी था। सेंलेंउक अपने प्रतिद्वन्द्वियों के विरुद्ध युद्ध में सफल होकर समूचे पच्छिमी और मध्य एशिया का स्वामी बन बैठा था। उस की राज़धानी सीरिया (शाम) में थी, इसी लिए उसे सीरिया का सम्राट् कहते हैं। वह यूनानी राजाओं में से सब से अधिक शक्तिशाली था, और निकातोर अर्थात् विजेता कहलाता था।

पच्छिमी और मध्य एशिया पर अपना कब्ज़ा पक्का कर के सेंलें-उक ने भारतवर्ष के खोये हुए प्रान्तों को फिर से यवन राज्य में मिलाना चाहा, और एक बड़ी सेना लेकर वह सिन्ध नदी के पार तक आ पहुँचा (अन्दाज़न ३०५ ई० पू०)। इधर चन्द्रगुप्त भी सावधान और जाग-रूक था, और उस ने सेंलेंउक को ऐसी करारी हार दी[1] कि उसे लेने के देने पड़ गये। खेद है कि उस युद्ध का पूरा हाल कहीं नहीं मिलता। किन्तु इतनी बात निश्चित है कि दोनों सम्राटों में जो सन्धि हुई, उस के अनुसार सेंलेंउक को अपने साम्राज्य के चार बड़े प्रान्त मौर्य राजा को देने पड़े।

---

[1]कैं० इ० के १७ वें अध्याय के विद्वान् लेखक और सम्पादक का यह कहना ठीक है कि प्राचीन यूनानी लेखकों ने सेंलेंउक-चंद्रगुप्त-युद्ध का वृत्तान्त नहीं लिखा। इस से वे यह परिणाम निकालते हैं कि या तो दोनों का युद्ध हुए बिना सन्धि हो गई, या युद्ध का फल अनि-श्चित रहा—दोनों पक्ष बराबर रहे। क्या वे अपने पाठकों को यह विश्-वास दिलाना चाहते हैं कि सेंलेंउक ने चार बड़े प्रान्त ५०० हाथियों के बदले में बेच दिये थे?

उन चार प्रान्तों में से पहले को यूनानी लोग कहते थे—परोपनिसदी, अर्थात् परोपनिस का देश। अफ़ग़ानिस्तान की केन्द्रिक पर्वत-शृङ्खला अर्थात् बन्दे-बाबा कोहि-बाबा और हिन्दू-कुश को मिला कर प्राचीन ईरानी उपरिशयन अर्थात् श्येन की उड़ान से भी ऊँचा पहाड़ कहते थे[1]; उसी नाम का यूनानी रूप था परोपनिस या परोपमिस, और उस के चौगिर्द प्रदेश का नाम परोपनिसदी। सेँलेँउक के हारे हुए दूसरे और तीसरे प्रान्त का नाम था क्रमशः आरिया और अर्खोसिय; अर्खोसिया अरखुती अथवा हरह्वैती (अरगन्दाव) नदी का प्रदेश अर्थात् आज-कल का कन्दहार इलाका था[2], और आरिया का मूल पारसी रूप था हरोइव या हरैव जो कि अधुनिक हेरात का पुराना नाम था। आरिया, अर्खोसिया को मिला कर यूनानी लोग अरियाना (Ariana) अर्थात् ऐर्यान भी कहते थे। चौथा प्रान्त जो सेँलेँउक ने हारा उसे यूनानी लोग गदरोसिया कहते थे, और उस में आधुनिक कलात और लासबेला के प्रदेश सम्मिलित होते थे। गदरोसिया नाम किसी जाति के नाम से, जो कि उस समय वहाँ प्रमुख थी, पड़ा था; स्वर्गीय डा० विन्सेंट स्मिथ का अन्दाज़ था कि उसी जाति का नाम लासबेला के आधुनिक लुमड़ी राजपूतों की एक शाखा गादूर के नाम में बचा है[3]। मरकान का पूरबी अंश भी गदरोसिया में सम्मिलित था। इस प्रकार लासबेला, कलात, कन्दहार, हेरात और काबुल के प्रदेश देकर यवन राजा ने मौर्य राजा से सन्धि की। हम देखेंगे कि इन के अलावा कम्बोज देश अर्थात् बदख्शां और पामीर भी मौर्यों के अधीन था।

इस के बाद दोनों सम्राटों में केवल राजनैतिक मैत्री और घनिष्ठता ही न बनी रही, प्रत्युत वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गया। यूनानी

---

[1]दे० ऊपर § ७ उ। [2]ऊपर § १०४ अ। [3]अ० हि०, पृ० ११२ नोट ३।

लेखकों ने स्पष्ट नहीं लिखा कि वह विवाह-सम्बन्ध किस रूप में था, किन्तु पौराणिक अनुश्रुति है कि सुलूव अर्थात् सेॅलेॅउक ने अपने विजेता को अपनी बेटी दी थी[1], और वही बात संगत प्रतीत होती है। चन्द्रगुप्त ने भी भेंट के तौर पर ५०० हाथी अपने श्वसुर को दिये थे। सेॅलेॅउक ने अपना एक दूत भी चन्द्रगुप्त की राजधानी में भेजा था; वह प्रसिद्ध मेॅगास्थेॅने था जिस के लिखे भारत-वर्णन के अनेक उद्धरण बाद के यूनानी ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

सेॅलेॅउक को अपने दामाद से जो हाथी मिले वे खाली देखने-दिखाने और सीरिया-सम्राट् की शान बढ़ाने को ही न थे; यूनानी लोग भी इस के बाद भारतवासियों की तरह अपने युद्धों में हाथियों का प्रयोग करने लगे। २८० ई० पू० में मकदूनिया के पुहु (Pyrhhus) ने सिसिली द्वीप पर चढ़ाई की, तब उस की सेना में जंगी हाथी भी थे।

§ १३०. मौर्य 'विजित,' उस के 'अन्त', अधीन राष्ट्र और 'चक्र'

चन्द्रगुप्त के स्थापित किये साम्राज्य की सीमाओं को उस के बेटे बिन्दुसार और उस के पोते अशोक ने और भी आगे तक बढ़ाया। उस साम्राज्य के अनुशासन और संगठन के विषय में मेगास्थेँने के भारत-वर्णन के उद्धरणों से, चन्द्रगुप्त के मंत्री चाणक्य या कौटिल्य के लिखे प्रसिद्ध-ग्रन्थ अर्थशास्त्र[2] से, अशोक के अभिलेखों से तथा पीछे की अनुश्रुति से जो अनेक फुटकर झलकें मिलती हैं, उन सब को जोड़

---

[1] चन्द्रगुप्तस्तस्य सुतः पौरसाधिपतेः सुताम्।
सुलूवस्य तथोद्वाह्य यावनीबौद्धतत्पर ॥
—भविष्य पु० ३. १. ६. ४३।

[2] दे० § २५।

कर और उन की संगति कर के एक सिलसिलेवार चित्र बनाने का जतन अनेक विद्वानों ने किया है। हम भी उस विषय का विचार मौर्य साम्राज्य के वृत्तान्त को पूरा करने के बाद एक अलग प्रकरण में करेंगे। किन्तु मौर्य साम्राज्य यद्यपि अशोक के समय अपने पूरे उत्कर्ष पर पहुँचा तो भी उस का पहला संगठन चन्द्रगुप्त ने ही किया था, और उस की शासन-प्रणाली की बुनियाद भी निश्चय से चन्द्रगुप्त ने ही रक्खी थी, जिस में बाद में थोड़ा बहुत परिवर्त्तन होता रहा। इसी लिए उस के संगठन और शासन-प्रणाली की उतनी चर्चा यहीं पर करना आवश्यक है जिस से चन्द्रगुप्त के साम्राज्य के विस्तार और बाहरी स्वरूप को समझा जा सके।

अपने पूरे उत्कर्ष के समय मौर्य साम्राज्य की सीमायें कहाँ तक पहुँचती थीं, सो अशोक के अभिलेखों के आधार पर हम प्रायः ठीक-ठीक जान पाते हैं। हम जिसे मौर्यों का साम्राज्य कहते हैं; उसे मौर्य राजा अपना विजित[1] कहते थे। उस विजित के साथ कुछ अंतों या प्रचंतों[2] (प्रयन्तों का उल्लेख किया जाता है, जो कि मौर्य विजित के पड़ोसी स्वतंत्र राज्य थे। दक्खिन के अंतों में द्राविड देश के चोड पाण्ड्य आदि राष्ट्रों की गिनती थी। कलिंग (उड़ीसा-तट) को स्वयं अशोक ने जीता था, और उस के अतिरिक्त नर्मदा से द्रविड देश की सीमा तक बाकी दक्खिन भारत को बहुत सम्भवतः उस के पिता बिन्दुसार ने। उत्तरपच्छिम तरफ़ मौर्य विजित का अन्त सेॅलेॅउक के उत्तराधिकारी अन्तियक या अन्तियोक नामक योन (यूनानी) राजा का राज्य था, जो फ़ारिस तक पहुँचता था।

---

[1] अशोक का दूसरा प्रधान शिलाभिलेख। उस शब्द के लिए दे० ऊपर § १०१, * २२।

[2] दूसरा तथा १३ वां प्रधान शिलाभिलेख, आदि।

मौर्य विजित की उक्त सीमाओं के अन्दर कुछ विशेष जनपद भी थे जिन का अलग नाम लिया जाता है, और जो मौर्य राजा के सीधे शासन में रहे नहीं प्रतीत होते। अशोक के पाँचवें शिलाभिलेख में उन में से कुछ के नामों का इस प्रकार उल्लेख है—योन, कम्बोज, गन्धार, रठिक, पितिनिक तथा जो अन्य अपरान्त हैं······। अपरान्त शब्द का सम्बन्ध केवल रठिक-पितिनिक के साथ लगाना चाहिये[1]; और इस से यह प्रतीत होता है कि उन के अतिरिक्त अपरान्त (पच्छिम देश) के कुछ और राष्ट्र भी उस गणना में थे। तेरहवें शिलाभिलेख में उस प्रकार के जनपदों का

[1]कम्बोज गान्धार आदि देश प्राचीन भारत के उत्तरापथ, में थे (दे० ऊपर § ६), उन्हें अपरान्त या पच्छिम में गिनना भारतीय वाङ्मय की शैली के सर्वथा प्रतिकूल है। जहाँ तक मुझे मालूम है, हमारी आजकल की परिभाषा के अनुसार उत्तरपच्छिम के किसी देश को पच्छिमी कहने का केवल एक दृष्टान्त संस्कृत वाङ्मय में दिखलाया गया है, और वह भी भ्रमवश। वह एक दृष्टान्त है पुराणों के उत्तरी देशों में एक अपरान्ताः की गिनती का। वा० पु० में जिस का पाठ और सब से अधिक शुद्ध होता है, उस के बजाय अपरीताः पाठ है (४५, ११५); पार्जीटर का कहना था कि अपरीताः पाठ ग़लत है (मा० पु० का अनुवाद पृ० ३१३); पर वास्तव में वही ठीक पाठ है, और अपरान्ताः ग़लत है। अपरीत वह प्रसिद्ध जाति है जो आज भी अपने को अपरीदी कहती है, और जिसे दूसरे लोग अफ़रीदी कहते हैं। पाँचवीं शताब्दी ई० पू० उत्तरार्ध के हखामनी-राज्य-प्रवासी यूनानी लेखक हिरोदोत ने भी उन का नाम अपरुत लिखा है। यदि अपरान्त शब्द को योन-कम्बोज आदि के साथ जोड़ना ही हो, तो उस का अर्थ मैं पच्छिमी अन्त के बजाय छोटे अन्त करूँगा। यदि यह अर्थ हो सके तो इन सब जनपदों को हम अधीन राष्ट्र के बजाय अपरान्त कह सकें।

फिर उल्लेख है। वहाँ उन का पूरा परिगणन प्रतीत होता है, और वहाँ उन का सामूहिक नाम शायद राजविषय है; किन्तु उस शब्द का पाठ सब प्रतियों में एक सा नहीं है; और उस के बजाय जो दूसरा पाठ है उसे कई विद्वान् दो जनपदों के विशेष नाम मानते हैं। इस प्रकार दुर्भाग्य से हम यह नहीं जान पाते कि इन सब जनपदों का प्राचीन जातिवाची नाम क्या था। अपनी आधुनिक परिभाषा में हम यह कह सकते हैं कि समूचे मौर्य विजित का बहुत सा अंश सीधा मौर्य राजा के शासन में था, किन्तु कुछ जनपद उस में ऐसे थे जो अधीन होते हुए भी अपने आन्तरिक शासन में स्वतंत्र थे, या जो संरक्षित राज्य थे।

इन अधीन संरक्षित जनपदों में से योन कम्बोज गान्धार[1] का एक वर्ग है जो उत्तरापथ में था। योन कोई यवन बस्ती होगी, उस का ठीक निश्चय करना कठिन है,—शायद वह नुसा थी (दे० ऊपर § १२९)। कम्बोज देश का अर्थ आज तक उलट-पुलट किया जाता रहा है, किन्तु अब हम उस की ठीक स्थिति जानते हैं; और उस के मौर्यों के अधीन होने का यह अर्थ है कि साम्राज्य की सीमा हिन्दूकुश और हिमालय के दूर उत्तर तक पहुँचती थी। कश्मीर दरद-देश और बोलौर कम्बोज के रास्ते के प्रदेश हैं, इस लिए उन का भी मौर्य साम्राज्य के अन्दर सम्मिलित रहना निश्चित है। कश्मीर का अशोक के साम्रज्य में रहना वहाँ की अनुश्रुति भी बतलाती है[2]। कश्मीर के पूरब हिमालय में मौर्य साम्राज्य की उत्तरी सीमा कहाँ तक जाती थी, यह एक मनोरंजक और

---

[1]गान्धार का नाम तेरहवें शिलाभिलेख में नहीं है, शायद वहाँ वह कम्बोज के अन्तर्गत है, या योन-कम्बोज के साथ उस की लक्षणा से याद की गई है। उसी तरह भोज-पितिनिकों के साथ वहाँ अन्य अपरान्तों की भी लक्षणा होगी।

[2]रा० त० १. १००—१०७।

महत्त्व-पूर्ण प्रश्न है, जो इस प्रसंग में हमारे सामने उपस्थित होता है।

कश्मीर से जमना नदी तक हिमालय में मौर्य साम्राज्य का कोई चिन्ह नहीं मिला। किन्तु उस प्रदेश के ठीक बीच कुलूत या कुल्लू की दून है, जहाँ के राजा ने अनुश्रुति के अनुसार नन्दों और चन्द्रगुप्त की मुठभेड़ में भाग लिया था; फिर जमना के ठीक पच्छिम जौनसार-बावर प्रदेश के कलसी नामक स्थान में अशोक के चौदह प्रधान शिलाभिलेखों की प्रति मिली है। इस से यह सम्भव जान पड़ता है कि कश्मीर से जौनसार तक कुल्लू-सहित सब पहाड़ी इलाका मौर्यों के अधीन था। उस के आगे गढ़वाल-कुमाऊँ से और आधुनिक नेपाल राज्य के पश्चिमार्ध अर्थात् वैसी और सप्तगण्डकी प्रदेशों से फिर मौर्यों का कोई चिन्ह नहीं मिला। किन्तु ठेठ नेपाल दून अशोक के अधीन थी। वहाँ उस की बसाई नगरी और स्तूप विद्यमान हैं। ये सब पहाड़ी प्रदेश प्रायः चन्द्रगुप्त के समय ही साम्राज्य में शामिल किये गये होंगे, या उन के कुछ अंशों को बिन्दुसार और अशोक ने अपने प्रभाव मात्र से दखल किया होगा[1]।

संरक्षित राष्ट्रों का दूसरा वर्ग नामक और नाभपंति का है। उन देशों की शिनाख्त भी आज तक नहीं हुई। अगले प्रकरण में हम देखेंगे कि वे सम्भवतः आधुनिक खोतन इलाके में थे, और अशोक के समय साम्राज्य में सम्मिलित हुए थे। तीसरे वर्ग में भोज-पितिनिक या रठिक-पतिनिक का नाम है। पितिनिक को डा० भण्डारकर भोज या रठिक का विशेषण मानते हैं। दूसरे विद्वान् उस का अर्थ करते हैं—प्रतिष्ठान (पैठन) के निवासी। भोज या रठिक सम्भवतः आधुनिक बराड़ या विदर्भ के लोग थे। वे सम्भवतः बिन्दुसार के समय साम्राज्य के अधीन

[1] दे० नीचे § १३७.

हुए होंगे। किन्तु सुराष्ट्र (काठियावाड़) चन्द्रगुप्त के ही अधीन था, सो दूसरी शताब्दी ई० के शक रुद्रदामा[1] के लेख से प्रकट होता है। चौथे वर्ग में अन्ध्र और पुलिन्दों का नाम है। अन्ध्र या आन्ध्र जनपद चन्द्रगुप्त के समय निश्चय से स्वतन्त्र था, और मेँगास्थेँने के अनुसार उस की सैनिक शक्ति केवल मगध से दूसरे दर्जे पर थी। उसे भी बिन्दुसार ने जीता होगा। पुलिन्दों या पालिन्दों का राष्ट्र उसी का पड़ोसी रहा होगा। इन जनपदों के सिवाय समूचा साम्राज्य मौर्य राजाओं के सीधे शासन में रहा प्रतीत होता है।

समूचे विजित की राजधानी तो पाटलिपुत्र थी ही; किन्तु कई गौण राजधानियाँ भी थीं, जैसे तक्षशिला, उज्जयिनी और सुवर्णगिरि। सुवर्णगिरि की शिनाख्त अभी तक नहीं हो पाई। उन छोटी राजधानियों के इलाकों को ठीक क्या कहते थे, सो जाना नहीं जा सकता। स्वर्गीय पं० रामावतार शर्मा के मत में उन्हें चक्र कहते थे[2]। तक्षशिला उत्तरापथ की राजधानी थी, उज्जैन पच्छिम खण्ड की, और सुवर्णगिरि दक्षिणापथ की। इस हिसाब से मध्यदेश तथा पूरब-खण्ड की, अथवा यदि मगध को मध्यदेश में गिना जाय तो केवल मध्यदेश की, राजधानी पाटलिपुत्र को कहना चाहिए। इस प्रकार के बँटवारे से यह भी स्पष्ट होता है कि मौर्यों के सूबे भारतवर्ष के प्राचीन स्थल-विभाग[3]—मध्यदेश,

---

[1] दे० नीचे § १८२।

[2] अशोक के चौथे स्तम्भाभिलेख में च का नि अक्षर हैं, जिन्हें प्रायः विद्वानों ने च और कानि दो शब्द माना है। पं० रामावतार शर्मा उन्हें एक ही शब्द चकानि पढ़ते थे, और उस का अर्थ करते थे भिन्न-भिन्न चक्र या सूबे। —प्रियदर्शिप्रशस्तयः पृ० ३३।

[3] दे० ऊपर § ३।

प्राची, दक्षिणापथ, पश्चिम देश और उत्तरापथ—का अनुसरण करते थे। इसी लिए यदि उन का वाचक मूल शब्द हमें न मिलें तो हम उन्हें मण्डल, खण्ड या स्थल कह सकते हैं। आधुनिक शब्द प्रान्त का खास तौर से परहेज़ करना चाहिए, क्योंकि अन्त और अपरान्त के मौर्य काल में दूसरे अर्थ थे।

अशोक के समय तक्षशिला उज्जैन और सुवर्णगिरि में तथा कलिंग को राजधानी तोसली (आधुनिक धौली, जि० पुरी) में राजा की तरफ़ से कुमार और महामात्य रहते थे। इस से यह परिणाम निकाला गया है कि कलिंग भी एक अलग मण्डल था। सम्भव है नया जीता होने के कारण उसे वैसा बना दिया गया हो, किन्तु अधिक सम्भव यही है कि वह पूरब खण्ड में अर्थात् पाटलिपुत्र के मण्डल में सम्मिलित था[1]। अथवा, यदि मगध को पूरब के बजाय मध्यदेश में गिना जाय, जैसी कि पहले प्रथा थी, तो कलिंग की राजधानी पूरब-खण्ड की राजधानी रही हो सकती है। उक्त चार या पाँच मण्डल-राजधानियों के नीचे फिर कई छोटे शासन-केन्द्र भी थे; नमूने के लिये तोसली के अधीन समापा में

[1] "इस प्रयोजन के लिये मैं प्रति पांचवें वर्ष उन्हें अनुसंयान के लिये निकालूँगा, उज्जैन से भी कुमार निकालेगा, और तक्षशिला से भी"—दूसरे कलिंगभिलेख के इस वाक्य से सूचित होता है कि उज्जैन और तक्षशिला का अनुसंयान जहाँ कुमार कराते थे, वहाँ तोसली के अनुसंयान का संचालन पाटलीपुत्र से होता था। मेरे विचार में तोसली और कौशाम्बी दोनों पाटलीपुत्र के मण्डल में छोटे शासन-केन्द्र थे, किन्तु नया जीता होने के कारण तोसलि में एक कुमार को बैठा दिया गया था। केवल इतने में यह परिणाम नहीं निकलता कि वह उज्जैन और तक्षशिला की तरह मण्डल-राजधानी थी। उस की हैसियत सम्भतः कौशाम्बी या गिरनार की सी थी।

महामात्य रहते थे, और सुवर्णगिरि के अधीन इसिला में। कौशाम्बी में भी महामात्य रहते थे; उस का प्रदेश पाटलिपुत्र के दायरे में रहा होगा। शायद वह अन्तर्वेद की राजधानी थी। शक रुद्रदामा (दे० नीचे § १८३) के १५० ई० के अभिलेख से पता चलता है कि सुराष्ट्र की राजधानी गिरिनगर में चन्द्रगुप्त का राष्ट्रिय (राष्ट्र या जनपद का शासक) पुष्यगुप्त शासन करता था, उस का प्रदेश सम्भवतः उज्जैन के मण्डल के अधीन रहा होगा।

जो भी हो यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि मौर्य विजित को शासन के लिए जिन हिस्सों में बाँटा गया था, वे पहले तो भारतवर्ष के पाँच मुख्य दिशाओं वाले विभाग थे, और फिर उन के अन्दर प्रायः प्राचीन परम्परागत जनपद अथवा जातीय भूमियाँ। जनपदों के अन्दर शासन की और भी छोटी इकाइयाँ आहाल (आहार) और कोट्टविषय थे[1]। आहार का अनुवाद हम ज़िला कर सकते हैं, वे ठीक ठीक बन्दोबस्त हुए प्रदेश थे। कोट्टविषय वे किलों के चौगिर्द प्रदेश थे जो पूरी तरह शान्त न हो पाये थे। शायद वे मुख्यतः अटवी[2] प्रदेशों के हिस्से थे।

§ १३१. बिन्दुसार अमित्रघात

जैन अनुश्रुति के अनुसार भारतवर्ष का वह एकच्छत्र दृढ़ शासक और प्रवल सेनानायक चन्द्रगुप्त जैन था; और चौबीस बरस राज्य करने के बाद जब उस के राज्य में एक बड़ा दुर्भिक्ष पड़ा जिस के कारण कि जैन साधुओं के एक बड़े दल ने भद्रबाहु आचार्य की नायकता में कर्णाटक को प्रवास किया, तब वह भी अपने पुत्र बिन्दुसार को तिलक दे कर उन के साथ तप करने को कर्णाटक के पर्वतों में चला गया (२९८

---

[1] दे० रूपनाथ और सारनाथ के अभिलेख।

[2] दे० १३वां प्रधान शिलाभिलेख।

या ३०२ ई० पू०) जहाँ बारह बरस पीछे अनशन करते हुए उस ने प्राण दिये।

बिन्दुसार मौर्य ने भी २५ या २८ वर्ष अपने पिता के समान योग्यता से शासन किया। उस के इतिहास की मुख्य घटनाओं का पता हमें तिब्बत के लामा तारानाथ के बौद्ध धर्म के इतिहास (अ० १८) से मिलता है। उस के अनुसार उस के पिता का प्रतिभाशाली प्रधान अमात्य चाणक्य उस के समय में भी विद्यमान था, और उस ने चन्द्रगुप्त के समय की चातुरन्त-राज्य-नीति को जारी रक्खा। "उस ने करीब सोलह राजधानियों के राजाओं और मन्त्रियों को उखाड़ डाला, और एक लम्बे युद्ध के बाद पूरबी और पच्छिमी समुद्रों के बीच समूची भूमि को राजा बिन्दुसार की अधीनता में ला दिया।" स्पष्ट है कि पूरबी और पच्छिमी समुद्र के बीच की वे सोलह राजधानियाँ सभी दक्खिन भारत में थीं। अशोक के समय आन्ध्र[1] और कर्णाटक

डा०[1] बार्नेट की दृष्टि में "इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि आन्ध्र जाति किसी प्रकार भी अशोक के अधीन थी" (कैं० इ० पृ० ५९९) । किन्तु तेरहवें शिलाभिलेख में अन्ध्र-पुलिन्द, भोज-पितिनिक, और योन-कम्बोज सब एक ही दर्जे में हैं, और वे चोड पाण्ड्य तथा अन्तियोक आदि के अन्त राज्यों से भिन्न हैं; और पाँचवें शिलाभिलेख के अनुसार उन सब राष्ट्रों में अशोक के धर्ममहामात्य काम करते थे। यदि आन्ध्र अशोक के अधीन न था, तो ये सब राष्ट्र भी न थे। सन् १९१६ में जायसवाल जी ने भी यह विचार प्रकट किया था कि ये सभी अधीन न थे। (ज० बि० ओ० रि० सो० १९१६ पृ० ८२)। किन्तु यदि वैसी बात होती तो आन्ध्र-पुलिन्द भोज-पितिनिक योन-कम्बोज-गान्धार को चोड पाण्ड्य ताम्रपर्णी और आन्तियोक के राज्य आदि से अशोक ने अलग क्यों गिनाया है? दूसरे, जब अफ़ग़ानिस्तान तक मौर्य शासन

तक का प्रदेश मौर्यों के राज्य में सम्मिलित था। स्वयं अशोक ने केवल कलिंग जीता था। चन्द्रगुप्त को दक्खिन की तरफ़ ध्यान देने की फ़ुरसत मिली हो यह लगभग असम्भव दीखता है। पञ्जाब और सिन्ध से यूनानियों को निकालना, मगध में से नन्दों के साम्राज्य को उखाड़ फेंकना, फिर समूचे उत्तर भारत में अपनी शक्ति स्थापित करना और नन्दों के पक्षपातियों के अनेक षड्यन्त्रों और उपद्रवों का शमन, सेॅलेॅउक जैसे प्रबल शत्रु को हराना और उस से छीने हुए सुदूर प्रदेशों में अपना शासन स्थापित करना, तथा नेपाल कश्मीर कम्बोज जैसे सुदूर पहाड़ी प्रदेशों को—जो कि अशोक के समय मौर्य राज्य में थे और जिन्हें अशोक ने प्रायः न जीता था—अधीन करना, ये सब काम चन्द्रगुप्त की शक्ति और समय को लगाये रखने को बहुत थे। दूसरे यह भी ध्यान रखना चाहिये कि दक्खिन भारत के पहाड़ों और जंगलों से घिरा होने के कारण तथा वहाँ आर्य उपनिवेश पीछे जमने के कारण वहाँ अनेक छोटे छोटे राज्य थे न कि दो एक बड़ी बड़ी रियासतें, और उन अनेक छोटे पहाड़ी राज्यों को जीतने के लिए काफ़ी समय की अपेक्षा थी, जो कि चन्द्रगुप्त के पास नहीं था। इस प्रकार यह निश्चित मानना चाहिये कि दक्खिन का विजय बिन्दुसार ने ही किया।

कलिंग देश को लिए बिना चाणक्य और बिन्दुसार ने आन्ध्र को अधीन कर लिया था, इस का यह अर्थ है कि उन की सेनायें १३वीं-१४वीं शताब्दी ई० की खिलजी और तुगलक सेनाओं की तरह अवन्ति और माहिष्मती से महाराष्ट्र हो कर आन्ध्र की तरफ़ पूरब फिरी थीं। तामिल

में था तब गान्धार देश तो निश्चय से ही था, और गान्धार जिस श्रेणी में है उसी में आन्ध्र भी। किन्तु अब इन युक्तियों की कोई ज़रूरत नहीं रही, क्योंकि इधर आन्ध्र के कुर्नूल ज़िले से अशोक के १४ प्रधान शिलाभिलेखों की पूरी प्रति मिल गई है।

अनुश्रुति ठीक यही बात कहती है। पहली-दूसरी शताब्दी ई० के तामिल ऐतिहासिक काव्यों के अनुसार वम्ब-मोरिया अर्थात् नवोत्थित मौर्यों की सेनायें कोंकण से कर्णाटक तट के साथ साथ उस के दक्खिनी अंश—तुलु प्रदेश—होते हुए दक्खिनपूरब कोंगु-देश (कोइम्बटूर) की तरफ़ बढ़ीं, और वहाँ से उन का एक अंश और दक्खिनपूरब चोल देश की तरफ़ झुका, तथा दूसरे ने पाळनी पहाड़ियाँ लाँघ कर मदुरा के दक्खिनपच्छिम पाण्ड्य देश के पोद्दियील पर्वत को ले लिया। वे अनेक पहाड़ों में से रास्ते काटते और पहाड़ों के ढेलों पर अपने रथ दौड़ाते हुये आये थे[1]।

अशोक के अभिलेखों (शिलाभि० २, १३) से सूचित होता है कि चोड पाण्ड्य केरलपुत्र और सतियपुत्र उसके अधीन न थे। चोल या चोड, पाण्ड्य और केरल परिचित नाम हैं; सतियपुत्र का प्रदेश शायद केरल-पुत्र से ठीक उत्तर का तुलु प्रदेश रहा होगा। इससे यह परिणाम निकलता है, कि बिन्दुसार के समय द्राविड देश पर मौर्यों ने चढ़ाई कर उस का बहुत सा हिस्सा ले लिया, किन्तु वे स्थायी रूप से उस पर अधिकार न रख सके। द्राविड देश की सीमा के पहाड़ी किलों में उन की सेना बनी रही। ऐसा जान पड़ता है कि मौर्य हमला होने पर तामिल देश के छोटे छोटे राष्ट्रों ने उस का मुकाबला करने के लिए अपना एक संघात बना लिया था। विन्दुसार के करीब सवा सौ बरस पीछे के खारवेल के अभिलेख में त्रमिरदेषसंघात (तामिल-देश-संघात) का उल्लेख है, और उसे ११३ बरस पुराना बतलाया है[2]। वह संघात ठीक मौर्यों के समय उन के मुकाबले को खड़ा हुआ जान पड़ता है।

---

[1] कृष्णस्वामी ऐयंगर—दि बिगिनिंग्स् ऑव सौथ इंडियन हिस्टरी (दक्खिन भारतीय इतिहास का आरम्भ), मद्रास १९१८, अ० २।

[2] नीचे § १५३।

चाणक्य का सामर्थ्य और प्रभाव चन्द्रगुप्त के समय में ही बहुत था, बिन्दुसार के समय तो वह और भी बढ़ गया। उस की उस अद्वितीय योग्यता का जो कम्बोज से कर्णाटक तक समूचे भारत को पहली बार एक छत्र के नीचे लाने में सफल हुई थी, उस के समय के भारतवासियों के मन पर अनुपम प्रभाव हुआ था, और उन के आज तक के वंशज उसे अचरज और आदर की दृष्टि से देखते हैं। तारानाथ के अनुसार बिन्दुसार के ही राज्य-काल में चाणक्य का देहान्त हुआ।

चाणक्य का उत्तराधिकारी शायद राधगुप्त था। बिन्दुसार के पिछले समय में निश्चय से वही अग्र-अमात्य था[1]। पच्छिम के यवन राजाओं के साथ मौर्य राजा का पहले का सा मैत्री-सम्बन्ध बना हुआ था। बिन्दुसार के दरबार में मेंगास्थेने का उत्तराधिकारी अब देइमख (Deimachos) था। उस के अतिरिक्त मिस्र के राजा प्तोलमाय का दूत दिओनुसिय (Dionysios) भी उस के या उस के पुत्र के दरबार में था। यूनानी लोग बिन्दुसार का जो नाम लिखते हैं वह उस के उपनाम अमित्रघात का रूपान्तर है। उस के निजी जीवन की एक मनोरञ्जक बात उन्हों ने लिखी है। सीरिया के राजा अन्तिओक सोतर (विजेता) से एक दर्शनिक, कुछ अंजीरें और कुछ अंगूरी मधु (मद्य) उस ने मंगा भेजा था। अंजीरें और मधु तो अन्तिओक ने भेज दीं, पर तीसरी जिन्स के बारे के लिखा कि यूनान का क़ानून दार्शनिक वेचने की इजाज़त नहीं देता!

बिन्दुसार के पिछले समय में उत्तरापथ की तक्षशिला नगरी उस के विरुद्ध उठ खड़ी हुई। सम्राट् ने अपने वेटे अशोक को विद्रोह के शमन के लिए पाटलीपुत्र से सेना के साथ भेजा। कुमार अशोक जब

---

[1] दि० पृ० ३७०।

तक्षशिला के करीब पहुँचा, "तक्षशिला के पौर नगरी से साढ़े तीन योजन आगे तक सारे रास्ते को सजा कर मंगलघट लिये हुए उस की सेवा में उपस्थित हुए, और कहने लगे—'न हम कुमार के विरुद्ध हैं' न राजा बिन्दुसार के; किन्तु दुष्ट अमात्य हमारा परिभव करते हैं'।"[1] इस प्रकार बिना रक्तपात के अशोक ने उस विद्रोह को शान्त किया। किन्तु एक बार फिर जब तक्षशिला में विद्रोह हुआ तब कुमार सुसीम को वहाँ भेजा गया। वह विद्रोह का शमन न कर सका, तब राजा ने फिर अशोक को भेजने को कहा[1]। पर उसी बीच राजा की मृत्यु हो गई।

—०—

[1]वहीं, पृ० ३७१-७२।

ग्रन्थनिर्देश

पुराण-पाठ—मौर्यों विषयक अंश।

अ० हि०—अ० ५, विशेषतः परिशिष्ट एफ़।

वि० स्मिथ—अशोक (रूलर्स ऑव इंडिया सीरीज़=भारत-शासक-चरित्रमाला में अक्सफ़र्ड १९२०), अ० १, २।

रा० इ०, पृ० १६३—२०१। पृ० १६४ पर गान्धार कबीले के प्रदेश (Tribal territory) की चर्चा है। किन्तु गान्धार लोग अशोक के समय तक एक कबीला थे, इस के लिए विद्वान् लेखक ने कोई प्रमाण देने की कृपा नहीं की।

कैं० इ०, अ० १८।

हि० रा०, अ० ७, १७।

जायसवाल—बिन्दुसार का साम्राज्य ज० बि० ओ० रि० सो० १६१६, ७६ प्र। मेगास्थेने का भारतवर्णन बहुत पहले गुम हो गया था। पिछले यूनानी लेखकों ने उससे जो उद्धरण दिये हैं, उन सब का संग्रह जर्मन विद्वान् श्वानबेक ने जर्मन अनुवाद के साथ १८४६ में प्रकाशित किया था। उसी का अंग्रेज़ी अनुवाद मैक्क्रिंडल ने १८७६-७७) में इं० अ० में किया, और फिर उसे अलग पुस्तकाकार प्रकाशित किया।

—०—

सोलहवां प्रकरण

मौर्य साम्राज्य का उत्कर्ष और ह्रास—प्रियदर्शी अशोक और उस के उत्तराधिकारी

(२७७—१८८ ई० पू०)

§ १३२. कलिंग और उत्तरापथ

बिन्दुसार का उत्तराधिकारी उस का बेटा अशोक था। बिन्दुसार की जिस रानी से अशोक हुआ वह एक अनुश्रुति के अनुसार चम्पा की एक परम सुन्दरी ब्राह्मण कन्या थी[1]। अशोक भारतवर्ष के और संसार के इतिहास में अपने नमूने का ही एक राजा हुआ है। बचपन में वह प्रचण्ड और उद्धत स्वभाव का था, और पिता के अधीन उज्जयिनी और तक्षशिला का शासन कर चुका था। युवराज की दशा में तक्षशिला के एक विद्रोह का दमन भी उस ने किया था।

राज पाने से चौथे बरस अशोक का अभिषेक हुआ[2]—शायद अपने

---

[1] दि० पृ० ३७०।

[2] सिंहली अनुश्रुति के अनुसार; किन्तु प्रो० भण्डारकर इस बात को नहीं मानते (अशोक, पृ० ६); क्योंकि वे किसी भी ऐसी बात को नहीं मानना चाहते जिस का आधार केवल अनुश्रुति में हो। सुसीम की मृत्यु के विषय में दे० दि० पृ० ३७३; इतनी बात सम्भव है कि अशोक ने अपने एक

बड़े भाई सुसीम को युद्ध में परास्त कर उस ने राज पाया था। अभिषेक के बाद आठवें बरस उस ने कलिंग पर चढ़ाई की। कलिंग उस समय एक प्रबल और शक्तिशाली राज्य था; उस की प्रबलता शायद उस के जंगी हाथियों और जहाजों से थी। उस की शक्ति का यही सबूत है कि एक बार नन्दों के अधीन हो कर भी वह स्वतन्त्र हो चुका था, और जहाँ दूर दूर के जनपद मगध साम्राज्य में सम्मिलित हो चुके थे वहाँ मगध के बगल में रहते हुए भी कलिंग स्वतन्त्र बना हुआ था। बिन्दु-सार ने अपनी दक्खिन की चढ़ाई में उसे छेड़ना उचित न समझा था, यद्यपि मगध से दक्खिन का सीधा रास्ता कलिंग हो कर ही है। किन्तु बिन्दुसार ने जो नीति अख्तियार की उस से कलिंग तीन तरफ़ से मौर्य विजित से घिर गया था, और चौथी अर्थात् समुद्र की तरफ़ से भी उसे मौर्य नौ-सेना घेर सकती थी। इस प्रकार घिर जाने पर कलिंग का आगे या पीछे मौर्य विजित में चला जाना प्रायः निश्चित ही था। किन्तु उस दशा में भी कलिंग वालों ने आसानी से अधीनता स्वीकार नहीं कर ली। मौर्य सेनाओं का उन्हों ने घोर मुकाबला किया। उस युद्ध में करीब डेढ़ लाख कलिंग वाले कैद किये गये, एक लाख खेत रहे, और उस से भी अधिक बाद में मरे[1]।

कलिंग-विजय के अतिरिक्त अशोक के राज्यकाल की एक और राजनैतिक घटना अनुश्रुति में प्रसिद्ध है। कहते हैं, उत्तरापथ में तक्ष-

---

भाई को परास्त किया हो। किन्तु सिंहली अनुश्रुति की यह बात कि उस ने अपने ९९ भाइयों का वध कर राज्य पाया, केवल बौद्ध होने से पहले अशोक का बुरा चरित्र दिखाने के लिए बनाई हुई गप्प है, क्योंकि ५वें प्रधान शिलाभिलेख में अशोक के जीवित भाइयों का उल्लेख है। दे० नीचे § १२४ ऌ।

[1] १३वाँ प्रधान शिलाभिलेख।

शिला नगर फिर मौर्य साम्राट् के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ था। अशोक यह सुन कर स्वयं तक्षशिला जाने को उद्यत हुआ, पर पीछे अमात्यों के कहने से उस ने कुमार कुनाल को भेजना तय किया। पाटलिपुत्र से बड़े सत्कार के साथ स्वयं अशोक ने उसे विदा किया। उस के तक्षशिला पहुँचने पर फिर वही बात हुई। तक्षशिला के पौर फिर मार्गशोभा कर के पूर्ण घट लिये हुए साढ़े तीन योजन आगे आये, और हाथ जोड़ कुनाल से कहने लगे—न हम कुमार के विरुद्ध हैं न राजा अशोक के, किन्तु दुष्टात्मा अमात्य आ कर हमारा अपमान करते हैं। और वे कुनाल को बड़े सन्मान के साथ तक्षशिला ले गये[1], जहाँ शासन करता हुआ वह पौर-जानपदों का बहुत अनुरक्त हो गया।

कुनाल के तक्षशिला-शासन के साथ एक हृदयस्पर्शी कहानी भी जुड़ी है। वह अशोक का बहुत ही प्रिय पुत्र था। वह जन्म से ही अत्यन्त सुरूप और सुकुमार था। उस की आँखें हिमालय के कुनाल पक्षी के समान सुन्दर थीं, इसी कारण उस का नाम कुनाल पड़ा था। बड़े होने पर काञ्चनमाला नाम की एक युवती से उस का विवाह हुआ। अशोक ने अपनी पहली रानी के मरने पर बुढ़ापे में तिष्यरक्षिता नाम की स्त्री से विवाह किया था। एक बार वह युवती अकेले में कुनाल से मिल कर उस के कान्त देह और उस की चमकीली आँखों पर मुग्ध हो गई। कुनाल ने अपनी विमाता के उस अभिगमन को अस्वीकृत किया, और उसे वह अधर्म-राग छोड़ देने को कहा। तिष्यरक्षिता इस से उस की जानी दुश्मन हो गई। यह घटना कुनाल के तक्षशिला जाने से पहले हुई थी। पीछे एक बार राजा अशोक को बड़ी व्याधि हुई। उस की चिकित्सा और उपचार तिष्यरक्षिता के हाथ में रहा तब उसे अपने वैरनिर्यातन का अवसर मिला। उस ने एक कपट-लेख तैयार कर तक्ष-

---

[1] दि० पृ० ४०७-८।

शिला के पौर-जानपदों के पास भेज दिया जिस में अशोक का हुक्म था कि कुनाल की आँखें निकाल दी जाँय ! तक्षशिला के पौर-जानपद कुनाल से इतने सन्तुष्ट थे कि वैसा करने को उद्यत न हुए। किन्तु उन्हें अशोक का डर भी था। उन्हों ने अशोक की आज्ञा कुनाल को दिखाई। कुनाल ने पिता और राजा की आज्ञा को पालना अपना कर्त्तव्य समझा, और उफ़ किये बिना अपनी आँखें निकलवा दीं। काञ्चनमाला के साथ तब वह पाटलिपुत्र लौटा। अशोक ने तिष्यरक्षिता को जीता जलवा दिया और तक्षशिला के उन पौरों और अपने उन अधिकारियों को जो इस षड्यन्त्र में शामिल थे, मरवा या निर्वासित कर दिया। तक्षशिला में जहाँ कुनाल ने खुशी खुशी अपनी आँखें निकलवायीं, उस ने एक स्तूप खड़ा करवाया, जो कि अशोक ने नौ शताब्दी पीछे चीनी यात्री य्वान च्वाङ के समय तक वहाँ मौजूद था[1]।

इस षड्यन्त्र के प्रधान षड्यन्त्रियों के निर्वासन की बात फिर मध्य एशिया के खोतन उपनिवेश की स्थापना की कहानी में भी गुथी है। खोतनी कहानियों के अनुसार अशोक ने अपने एक बेटे कुस्तन को पैदा होने पर फेंकवा दिया, और अपने एक मन्त्री यश को निर्वासित कर दिया था; और उन्हीं लोगों ने पहले-पहल मध्य एशिया में ख़ोतन के आर्यावर्त्ती उपनिवेश की नींव डाली थी[2]।

---

[1]वहीं, पृ० ४०७—१८; य्वान १, पृ० २४६; सी यू की १, पृ० १३९—४३।

[2]रौकहिल—बुद्ध, पृ० २३३—३६। य्वान-जीवनी में कहानी है कि कुनाल ही निर्वासित हो खोतन जा बसा था—पृ० २०३; यात्रा में कुस्तन वाली बात कुछ और रूप में,—२, पृ० २९५। कुस्तन के विषय में दे० राइट की हिस्टरी ऑव नेपाल (नेपाल के आनुश्रुतिक इतिहास का अनुवाद, कैम्ब्रिज १८७७), पृ० १११।

इस अनुश्रुति की तह में बहुत कुछ सचाई है, सो मानना पड़ता है। आधुनिक चीनी तुर्किस्तान या सिम् कियाङ से आर्यावर्त्ती सभ्यता के इतने अवशेष निकले हैं कि प्राचीन काल के लिए विद्वानों ने उस देश का नाम ही उपरला हिन्द (Serindia) रख दिया है। हम आगे देखेंगे[1] कि ईसवी सन् के आरम्भ से कुछ पहले ही वहाँ आर्यावर्त्ती प्रभाव रहने के प्रमाण मिले हैं। ईसवी सन् से पहले मौर्यों का राज्य-काल ही वह युग था जब कि भारतवर्ष का प्रभाव खोतन के बहुत नजदीक तक पहुँच गया था, और जब कि भारतवर्ष से विजय की लहर बाहर की तरफ बह रही थी। मौर्य युग के बाद तो उलटा मध्य एशिया से जातियों का प्रवाह भारत के अन्दर आता रहा। इस लिए ईसवी सन् से पहले यदि कभी खोतन में आर्यावर्त्ती सभ्यता का बीज बोया जा सकता था तो वह अशोक के समय ही।

दूसरे खोतन के उपनिवेश का उल्लेख सम्भवतः अशोक के १३ वें शिलाभिलेख में भी है। वहाँ अशोक के अधीन जनपदों की परिगणना में नाभक और नाभपंति के नाम हैं। स्व० डा० बुइलर का कहना था कि नाभक का अर्थ नाभिकपुर है जो कि ब्रह्मपुराण के अनुसार उत्तर कुरु में था[2]। उत्तर कुरु देश थियानशान पर्वत के ढाल पर माना जाता था[3]।

---

[1]नीचे § १७५।

[2]जाइटश्रिफ्ट ४०, पृ० १३८; हुल्श—भा० अ० स० १, भूमिका पृ० ३९ पर उद्धृत।

[3]लंडन के ब्रिटिश म्यूज़ियम में सेंट हिरोनिम (३७६—४२० ई०) का बनाया एक लैटिन नक्शा है, जिस में उस के शिष्य ओरोसिय के संशोधन भी हैं। उसी ओरोसिय के लिखे भूगोल का अंग्रेजी अनुवाद इंगलैंड के राजा आल्फ्रेड ने करवाया था। हिरोनिम का नक्शा पुरानी सामग्री पर निर्भर है; उस के समय में हूण लोग योरप में थे, पर वह

किन्तु पहले जहाँ यह केवल एक दूर की सम्भावना थी, वहाँ अब कम्बोज देश की ठीक पहचान होने के बाद[1] यह बहुत ही सम्भव दिखाई देता है कि नाभक और नाभपंति खोतन प्रदेश के कोई उपनिवेश ही थे। स्व० मोशिये सेनार का कहना था कि १३वें शिलाभिलेख में अधीन राष्ट्रों के नाम एक क्रम से गिनाये गये हैं। नाभक-नाभपंति का नाम वहाँ योन-कम्बोज के ठीक बाद है। कम्बोज और उपरला हिन्द एक दूसरे के साथ लगे हुए हैं। सीता नदी की उपरली दून कम्बोज देश की पूरबी सीमा है, और उसी के निचले काँठे के ज़रा पूरब खोतन प्रदेश है।

इस प्रकार खोतन प्रदेश में, जो भारतवर्ष के कम्बोज और चीन के कानसू प्रान्त के बीच था, अशोक के समय एक आर्यावर्त्ती उपनिवेश का बीज डाला गया जान पड़ता है। उस प्रदेश में उस समय फिरन्दर शक चरवाहे घूमा करते थे; तब तक वहाँ कोई जाति स्थिर हो कर बसी हुई न थी। वह मौर्य साम्राज्य की ठीक सीमा से लगा था, और ऐसा जान पड़ता है कि अशोक ने उसे अपने राज्य के उन

Hunniscite को चीन की सीमा पर—हूणों के मूल घर में—रखता है। ओरोसिय के संशोधन भी रोमन सम्राट् ऑगस्त के समय के ७ ई० पू० के रोमन नक्शे पर निर्भर हैं। ओरोसिय अपने भूगोल में Huniscythe को Ottarakorra के निकट रखता है (इ० आ० १९१९ पृ० ६४ प्र)। इस का यह अर्थ है कि ईसाब्द-आरम्भ-समय के लैटिन लेखक चीन और हूणों की सीमा पर उत्तर कुरु प्रदेश को जानते थे।

[1]कम्बोज की पहचान से पहले भी रूपरेखा की पहली प्रति में नाभक=खोतन की तथा अशोक के समय ही मध्य एशिया में पहला आर्यावर्त्ती उपनिवेश स्थापित होने की सम्भावना दिखाई गई थी।

अपराधियों के, जिन्हें वह मृत्युदण्ड न देना चाहता था, निर्वासन के लिए चुना था, और वहाँ की जंगली जातियों में धर्म का सन्देश ले जाने वाले अपने दूत भी भेजे थे। उस अपराधियों की बस्ती से बाद में एक आर्यावर्त्ती उपनिवेश का विकास हो गया।

इस बात को देखते हुए हमें यह कहना होगा कि अशोक ने शस्त्र-युद्ध से तो केवल एक देश—कलिंग—को ही साम्राज्य में मिलाया, पर उस ने अपने प्रभाव द्वारा साम्राज्य की पहाड़ी सीमाओं के आगे भी शान्तिपूर्वक अपना दखल बढ़ाया।

§ १३३. अशोक का अनुशोचन और क्षमा-नीति

कलिंग-विजय के बाद अशोक को अपने दिल में भारी अनुशोचन हुआ। उस ने अनुभव किया कि 'जहाँ लोगों का इस प्रकार वध मरण और देशनिकाला हो, ऐसा जीतना न जीतने के बराबर है।' उस के जीवन में इस से बड़ा परिवर्त्तन हुआ। उस ने निश्चय किया कि अब वह इस प्रकार के नये विजय न करेगा; उस ने 'अपने पुत्रों पौत्रों' के लिए भी यह शिक्षा दर्ज की कि 'वे नये विजय न करें, और जो विजय बाण खींचने द्वारा ही हो सके उस में भी शान्ति और लघुदण्डता से काम लें, और धर्म के द्वारा जो विजय हो उसी को असल विजय मानें।'[1]

उस के राज्य के पड़ोस में अब उत्तरपच्छिम का *योन (यूनानी)* राज्य और सुदूर दक्खिन के तामिल राज्य थे। उन अन्तों के विषय में उस ने अपने महामात्यों को अब नई आज्ञा दी। "शायद आप लोग जानना चाहें कि जो अन्त अभी तक जीते नहीं गये हैं, उन के विषय में राजा क्या चाहता है। मेरी अन्तों के विषय में यही इच्छा है कि वे

---

[1] **१३ वां प्रधान शिलाभिलेख।**

मुझ से डरें नहीं, और मुझ पर भरोसा रक्खें; वे मुझ से सुख ही पावेंगे, दुःख नहीं। वे यह विश्वास मानें कि जहाँ तक क्षमा का बर्ताव हो सकेगा राजा हम से क्षमा का बर्ताव करेगा।"[1]

"जितने मनुष्य कलिंग-विजय में मारे गये, मरे, या कैदी किये गये, उन का सौवाँ हज़ारवाँ भाग भी अब यदि मारा जाय······तो देवताओं के प्रिय को भारी दुःख होगा। देवताओं के प्रिय का मत है कि जो अपकार करता है वह भी क्षमा के योग्य है यदि वह क्षमा किया जा सके। जो अटवियाँ देवताओं के प्रिय के विजित में हैं, उनसे भी वह अनुनय करता है, उन्हें मनाता है। और चाहे देवताओं के प्रिय को अनुताप है, तो भी उस का बड़ा प्रभाव (शक्ति) है, इस लिए वह (आटविकों से) कहता है कि वे (बुरे कामों से) लज्जित हों, व्यर्थ में न मारे जाँय। देवताओं का प्रिय सब जीवों से अक्षति, संयम तथा समचर्या और प्रसन्नता चाहता है"[2]—एक राजा की महत्वाकाङ्क्षा की तृप्ति के लिए गरीब गृहस्थों का वध और देशनिकाला हो, यह उसे पसंद नहीं है।

उपर्युक्त से प्रतीत होता है कि मौर्य राजा को अपने दण्ड का प्रयोग विशेष कर अन्तों और अटवियों के लिए करना पड़ता था, किन्तु उन के प्रति अब अशोक ने जहाँ तक बन सके क्षमा करने की नीति शुरू की। वह नीति कहाँ तक उचित या अनुचित थी, इस का विचार हम एक अगले परिच्छेद में करेंगे।

§ १३४. उस के जीवन और अनुशासन में सुधार

किन्तु उस नई दृष्टि को ले कर अशोक ने अपने जीवन और शासन में जो सुधार किये, अथवा अपनी प्रजा के जीवन में जो सुधार करने का जतन किया, पहले हम उनका दिग्दर्शन करेंगे।

---

[1] दूसरा कलिंग-शिलाभिलेख। [2] प्र० शिला० १३।

अ. विहिंसा का त्याग

हम देख चुके हैं कि बौद्ध धर्म के उदय से पहले हमारे पुरखों के साधारण जीवन में हिंसा क्रूरता और कर्कशता बहुत थी। व्यर्थ अकारण हत्या बहुत होती थी। अशोक ने पहले अपने परिवार और महलों में वह भोंडी क्रूरता बन्द करवा दी।

"यह धर्म-लिपि देवताओं के प्रिय प्रिय-दर्शी राजा ने खुदवाई है। यहाँ किसी प्राणी की हत्या या होम न करना चाहिये, और न समाज करना चाहिए, क्योंकि देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बहुत दोष देखता है। किन्तु एक प्रकार के समाज हैं जिन्हें देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा अच्छा मानता है। पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के रसोई-घर में सूप (शोरवे) के लिए प्रति दिन सैकड़ों हज़ारों प्राणी मारे जाते थे, पर अब जब यह धर्मलिपि लिखी गई केवल तीन प्राणी—दो मोर और एक मृग—मारे जाते हैं, वह मृग भी सदा नहीं। आगे वे तीन प्राणी भी न मारे जायेंगे।"[1]

यहाँ का अर्थ साधारणतया अशोक के विजित में किया जाता और उस से यह परिणाम निकाला जाता रहा है कि अपने समूचे राज्य में अशोक ने प्राणि-वध रोक दिया था। किन्तु प्राणि-वध पूरी तरह से उस ने अपने घर में भी न रोका था यह इसी लेख से स्पष्ट है। यह और इस के साथ के लेख अधिकांश विद्वानों के मत में अशोक के अभिशेक के १४वें बरस के, किन्तु डा० भण्डारकर के मत में २८वें बरस के, हैं; इस लिए कलिंग-विजय के बरसों बाद तक अशोक ने सिद्धान्त-रूप से हिंसा को एकदम न त्याग दिया था; उस का अभिप्राय केवल भोंडी क्रूरता को—जिसे वह विहिंसा कहता है—बन्द करना था। डा०

---

[1]प्र० शि० ४।

भण्डारकर यहाँ का अर्थ करते हैं राजा के महल में, क्योंकि आगे भी राजकीय रसोई की ही बात है।

समाज शब्द पिछली शताब्दी से भारतीय भाषाओं में बहुत अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है, पर पुराने अभिलेखों और वाङ्मय में उस के दूसरे अर्थ होते थे। पहले-पहल जहाँ पशुओं या रथों की दौड़ (सम्-अज्=इकट्ठे हाँकना) और लड़ाई होती और उस पर बाजी लगाई जाती, उसे समाज कहते थे; फिर कोई भी रंग-भूमि या प्रेक्षागार जिस में दृश्य या नाटक दिखलाये जाते, समाज कहलाने लगे। उस के अतिरिक्त राजाओं आदि की तरफ से जो बड़ी दावतें दी जाती थीं, जिन में मांस खूब परोसा जाता था, वे भी समाज कहलाती थीं। अशोक ने समाजों द्वारा धार्मिक दृश्य दिखला कर प्रजा में धर्मवृद्धि करने का जतन किया[1]; उन के सिवाय अन्य प्रकार के समाजों को वह बुरा कहता है।

इस लेख से ज़हाँ यह स्पष्ट नहीं होता कि हिंसा की यह बन्दिश उस ने अपने समूचे राज्य में कर दी थी या केवल अपने घर में, और कि क्या इस सूचना का उद्देश्य केवल अपने घर का वह दृष्टान्त प्रजा के सामने रखना था, वहाँ एक दूसरे लेख[2] में यह स्पष्ट सूचना है कि अभिषेक के २६ वें बरस अशोक ने अपने राज्य में बहुत से पंछियों और चौपायों का—"जो कि न परिभोग में आते हैं न खाये जाते हैं"—मारना वर्जित करा दिया था। उन चौपायों में साँड का भी नाम है, जिस से यह पता चलता है कि तब तक भारतवर्ष में गोहत्या को पाप न माना जाता था। उस के अतिरिक्त अशोक ने उसी आज्ञा से कुछ जानवरों का वध खास तिथियों पर बन्द करा दिया, खास उत्सव की तिथियों पर जानवरों को वधिया करने और दागने की मनाही कर दी,

---

[1] प्र० शि० ४।

[2] स्तम्भाभिलेख ५।

और केवल अनर्थ या विहिंसा के लिए जंगलों को जलाने का निषेध कर दिया। उसी लेख में यह सूचना भी है कि तब तक अशोक २५ बार कैदियों की रिहाई करवा चुका था—अर्थात् प्रति बरस एक बार वह कुछ कैदियों की रिहाई करवाता था।

अशोक की अहिंसा-नीति क्या थी, सो इन बातों से प्रकट होता है। सिद्धान्त रूप से जन्तुओं का वध सर्वथा बन्द कर देना उस का अभिप्राय हर्गिज़ न था; व्यर्थ अकारण हत्या और भोंडी क्रूरता को रोकना ही उस का प्रयोजन था। यदि पहले प्रधान शिलाभिलेख का यह अभिप्राय हो कि समूचे राज्य में पशुओं के होम की सर्वथा बन्दिश कर दी गई थी, तो उस में भी कुछ अनुचित था—यदि वैसा करने से पुराने विचारों के लोगों की विश्वास-स्वतंत्रता में बाधा पड़ती थी तो वह बाधा भी उचित ही थी।

इ. विहार-यात्रा के बजाय धर्म्म-यात्रा

"बीते ज़मानों में राजा लोग विहार-यात्रा के लिए निकला करते थे। उस (यात्रा) में मृगया और वैसी ही अन्य मन बहलाने की बातें होतीं थीं। देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा अपने अभिषेक के दसवें बरस संबोधि (बोधिवृक्ष) को गया। तब से धर्म-यात्रा चली। इस में यह होता है—श्रमणों और ब्राह्मणों का दर्शन, दान, वृद्धों का दर्शन और (उन के लिए) सुवर्ण-दान, जानपद लोगों का दर्शन, धर्म का अनुशासन, और धर्म की परिपृच्छा, (जिज्ञासा)। तब से ले कर देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा को इस (धर्म-यात्रा) में बहुत ही आनन्द मिलता है।"[1]

---

[1]प्र० शि० ८।

उ. बड़े राज्याधिकारियों का 'अनुसंयान'

अशोक छोटे-बड़े सब की समचर्या चाहता था। वह छोटे गरीब आदमियों का अधिक आदर करता था। इसी लिए उसे इस बात का बड़ा ख्याल था कि उस के राजपुरुष गरीब प्रजा पर ज़ुल्म न करने पावें। जनपदों और मण्डलों का शासन करने वाले कुमारों और महामात्यों पर भी इस सम्बन्ध में उस की कड़ी निगरानी थी। उस निगरानी का अन्दाज़ उस की इस आज्ञा से होता है—

"देवताओं के प्रिय की तरफ़ से तोसली के महामात्य नगल-वियोहालकों (नगर के व्यावहारिकों=न्यायाधीशों) से यों कहना······ आप लोग हज़ारों प्राणियों के ऊपर इस लिए रक्खे गये हैं कि जिस में हम अच्छे मनुष्यों के स्नेहपात्र बनें।······आप लोग इस अर्थ को पूरी तरह नहीं समझते।···एक पुरुष भी यदि अकस्मात् (बिना कारण, बिना अपराध) बाँधा जाता है या परिक्लेश पाता है तो उस से बहुत लोगों को दुःख होता है। ऐसी दशा में आप को मध्य मार्ग से (अत्यन्त कठोरता और दया दोनों त्याग कर) चलना चाहिये। किन्तु ईर्ष्या निठुल्लेपन निठुरता त्वरा (जल्दबाज़ी) अनभ्यास आलस्य और तन्द्रा के रहते ऐसा नहीं हो सकता। इस लिये ऐसी चेष्टा करनी चाहिये कि ये न आवें। इस का भी मूल उपाय यह है कि सदा आलस्य से बचना और त्वरा न करना। इस लिए काम करते रहो, उठो, चलो, आगे बढ़ो।······नगलक-वियोहालक लगातार अपने समय (प्रतिज्ञा) पर जुटे रहें। नगरजन का अकारण बन्धन और अकारण परिक्लेश न हो। इस अर्थ के लिए मैं धर्मानुसार प्रति पाँचवें बरस अनुसंयान के लिए निकालूँगा······। उज्जयिनी से भी कुमार हर तीसरे बरस ऐसे ही वर्ग को निकालेगा। और तक्षशिला से भी···"[1]

---

[1] कलिंग शि० १।

इसी सम्बन्ध में दूसरी जगह वह कहता है—"अभिषेक के बारहवें बरस मैंने यह आज्ञा दी कि मेरे सारे विजित में युत राजुक और प्रादेशिक पाँचवें पाँचवें बरस अनुसंयान के लिए निकलें......।"[1]

अनुसंयान का अर्थ विवादग्रस्त है। अधिकांश विद्वान् उस का अर्थ 'दौरा' करते हैं; जायसवाल के मत में उस का अर्थ है 'बदली'। भण्डारकर ने 'दौरे' के पक्ष में बहुत पुष्ट प्रमाण दिये हैं। युत, राजुक और प्रादेशिक सब से बड़े राजपुरुष होते थे। यदि उन के दौरे का नियम किया गया था तो उस में अशोक का प्रयोजन यही था कि वे छोटे अधिकारियों का निरीक्षण करें कि वे प्रजा को सताते तो नहीं; यदि बदली का नियम था तो उस का भी यही प्रयोजन था कि वे स्वयं उच्छृंखल न होने पाँय। उस दशा में तक्षशिला के पौरों ने अमात्यों की 'दुष्टता' के कारण जो विद्रोह किया था, उस ने शायद अशोक को ऐसा नियम बनाने की प्रेरणा दी हो। जो भी हो, वह एक महत्व का नियम था, और प्रजा का सुशासन ही उस का अभिप्राय था।

ऋ. प्रतिवेदकों की नियुक्ति

उसी सुशासन के उद्देश से अशोक ने एक और सुधार भी किया। पहले राजा विशेष समयों में प्रजा की प्रतिवेदना सुना करते थे। अशोक ने "यह (प्रबन्ध) किया कि सब समय चाहे मैं खाता होऊँ चाहे जनाने में होउँ चाहे गर्भागार (शयनागार) में,......प्रतिवेदक प्रजा का कार्य मुझे बतलावें। मैं सब जगह प्रजा का कार्य करूँगा। जो कुछ आज्ञा मैं मुँहज़बानी दूँ ......या

---

[1]प्र० शि० ३। इस लेख का पिछला अंश अशोक के अभिलेखों में से सब से अधिक कठिन और स्पष्ट है; उस की कोई सन्तोपजनक निर्विवाद व्याख्या अभी तक नहीं हुई।

महामात्यों को जो आत्ययिक (आवश्यक) कार्य सौंपा जाय उस के सम्बन्ध में विवाद या निझति (निषेध) होने पर परिषद् को बिना विलम्ब मुझे सूचना देनी चाहिये।......कितना ही उद्योग करूँ, कार्य में लगा रहूँ, मुझे संतोष नहीं होता। सब लोगों का हित करना ही मैंने अपना कर्त्तव्य माना है, और उस का मूल है उद्योग और कार्य-तत्परता। सब लोगों का हित करने के अतिरिक्त मुझे कुछ काम नहीं है। जो कुछ पराक्रम मैं करता हूँ सो क्यों? इसी लिए कि जीवों के ऋण से मुक्त होऊँ।...बिना उत्कट पराक्रम (प्रयत्न चेष्टा) के यह दुष्कर है।"[1]

लृ. सब पन्थों के लिए समदृष्टि और धर्म-महामात्यों की नियुक्ति

स्वयं बौद्ध होते हुए भी अशोक सब पन्थों को समदृष्टि से देखता और सब का आदर करता था। "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा चाहता है कि सब पाषंड (पन्थ वाले) सब जगह आबाद हों। वे सभी संयम भावशुद्धि चाहते हैं। मनुष्यों के ऊँचनीच (विभिन्न) इच्छायें ऊँचनीच अनुराग होते ही हैं। वे (अपने अपने पंथ का) पूरी तरह पालन करेंगे अथवा कोई अंश पालन करेंगे। भले ही किसी का बहुत बड़ा दान हो, पर यदि उस में संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता, और दृढ़ भक्ति नहीं है तो वह निश्चय से नीच दर्जे का ही है।"[2]

अशोक की यह चेष्टा थी कि विभिन्न पन्थों के लोग परस्पर सहिष्णुता और आदर से रहें। 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब पाषण्ड (पन्थ) वालों का चाहे वे प्रव्रजित हों चाहे गृहस्थ दान और विविध पूजा से सत्कार करता है। दान या पूजा को देवताओं का प्रिय

---

[1]प्र० शि० ६। [2]प्र० शि० ७।

उतना नहीं मानता जितना इसे कि सब सम्प्रदाय वालों की सारवृद्धि हो।...उस का मूल है—वचोगुप्ति (वाणी का संयम) कि जिस में अपने पाषण्ड (पन्थ) का अति आदर और दूसरे पाषण्ड (पन्थ) की गर्हा न की जाय और...उन की हलकाई न की जाय। उस उस प्रकरण से दूसरे पन्थ का आदर करना ही चाहिए। वैसा करने वाला अपने पन्थ को भी बढ़ाता है, दूसरे पन्थों का भी उपकार करता है। इस से उलटा करने वाला अपने पन्थ को भी क्षीण करता है, दूसरे पन्थ का भी अपकार करता है।......समवाय ही अच्छा है—कि एक दूसरे के धर्म को सुनें और शुश्रूषा करें।......इसी प्रयोजन से बहुत से धर्ममहामात्य...(आदि) नियुक्त किये गये हैं।....."[1]

इन्हीं धर्ममहात्मायों की नियुक्ति के विषय में दूसरी जगह देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा यों कहता है—"बीते ज़मानों में धर्ममहामात्य कभी नहीं हुए। इस लिए मैंने अभिषेक के तेरहवें बरस धर्म-महामात्य (नियत) किये। वे सब पाषण्डों (पन्थों) के बीच नियुक्त हैं। वे धर्म के अधिष्ठान के लिए, धर्म की वृद्धि के लिये तथा धर्मयुक्तों के हित-सुख के लिए हैं—योन कम्बोज और गान्धारों के रिस्टिक-पेतेणिकों के तथा अन्य सब अपरान्तों के। वे भृत्यों ब्राह्मणों धनी गृहपतियों अनाथों बुड्ढों के बीच हित-सुख के लिए, धर्मयुक्त (प्रजा) की अपरिबाधा (बाधा से बचाने) के लिए व्यापृत हैं—बन्धन और वध को रोकने के लिए, बाधा से बचाने के लिए, कैद से छुड़ाने के लिए...जो बहुत सन्तान वाले हैं...बूढ़े हैं...(उन के बीच) वे व्यापृत हैं। वे यहाँ (पाटलीपुत्र में), बाहर के नगरों में, सब औवरोधनों (अन्तः-पुरों) में—(मेरे) भाइयों के बहनों के और अन्य ज्ञातियों के बीच सब

---

[1] प्र० शि० १२।

जगह व्यापृत हैं।......मेरे सारे विजित में, धर्मयुक्त में, वे धर्ममहामात्य व्यापृत हैं।"[१]

इस प्रकार इन धर्ममहामात्यों की नियुक्ति इस लिए हुई थी कि वे विभिन्न पन्थों में सहिष्णुता और उदारता बनाये रक्खें, कैद फाँसी आदि दण्डों की सख्ती को जहाँ तक बने कम करावें, बूढ़े सन्तान वाले नौकरी-पेशा ग़रीब लोगों को जब दण्ड मिले उन का विशेष ध्यान रक्खें। और ये धर्ममहामात्य बहुत से अधीन राष्ट्रों में भी लगाये गये थे।

अशोक जिस धर्म की वृद्धि चाहता था, वह कोई खास मज़हब या पन्थ न था। वह केवल सरल सीधा जीवन था। "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा यों कहता है कि धर्म अच्छा है। पर धर्म क्या है? पाप न करना, बहुत कल्याण करना, दया, दान, सचाई, शौच (पवित्रता)।"[२] "प्राणियों को न मारना, जन्तुओं की अविहिंसा, ज्ञातियों ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति आदरपूर्ण बर्त्ताव, माता पिता की शुश्रूषा"[३], "दासों और भृतकों से उचित बर्त्ताव, गुरु जनों की पूजा, प्राणियों के (प्रति बर्त्तने में) संयम, श्रमणों और ब्राह्मणों को दान"[४] यही अशोक का धर्म था; और यह धर्म "छोटे बड़े सब वर्गों के लिए उत्कट पराक्रम किये बिना दुष्कर है, बड़ों के लिए तो और भी दुष्कर है"[५], और यह "धर्माचरण शीलरहित (मनुष्य) से नहीं हो सकता।"[६]

ए. चिकित्सालय और रास्ते आदि

अशोक को जहाँ यह चिन्ता थी कि उस की प्रजा धर्माचरण द्वारा परलोक में सुखी हो; वहाँ उस के इस लोक के सुख का भी उसे कम ख़्याल न था।

---

[१] प्र० शि० ५। [२] स्तम्भ० २। [३] प्र० शि० ४। [४] प्र० शि० ६। [५] प्र० शि० १०। [६] प्र० शि० ४।

"देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा यों कहता है—मैंने मार्गों पर बरगद रोपवा दिये हैं कि पशुओं और मनुष्यों को छाँह देंगे, आमों की वाटिकायें रोपवाई हैं; आठ आठ कोस पर मैंने कुएँ खुदवाये हैं, और सरायें बनवाई हैं। जहाँ तहाँ पशुओं और मनुष्यों के प्रतिभोग के लिए बहुत से प्याऊ बैठा दिये हैं। किन्तु ये सब प्रतिभोग बहुत थोड़े हैं। पहले राजाओं ने और मैंने भी विविध सुखों से लोगों को सुखी किया है। पर मैंने यह सब इस लिये किया है कि वे धर्म का आचरण करें।"[1]

इस के अतिरिक्त, "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के विजित में सब जगह, और वैसे ही जो अन्त हैं—जैसे चोड, पाण्ड्य, सतियपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी, अन्तियोक नामक योन राजा और जो दूसरे उस अन्तियोक के समीप राजा हैं—सब जगह देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो चिकित्सायें चला दी हैं—मनुष्य-चिकित्सा और पशु-चिकित्सा। मनुष्यों और पशुओं की उपयोगी ओषधियाँ जहाँ जहाँ नहीं हैं वहाँ वहाँ लाई गईं, और रोपी गईं। जहाँ जहाँ फल और मूल नहीं हैं वहाँ वहाँ लाये और लगाये गये। मार्गों पर मनुष्यों और पशुओं के प्रतिभोग के लिए वृक्ष रोपे गये और कुएँ खुदवाये गये।"[2]

इस प्रकार जहाँ अशोक के धर्म-महामात्य उस के विजित के अधीन राष्ट्रों में भी कार्य करते थे, वहाँ उस के चिकित्सालयों और उस की पथिकों के आराम की सेवाओं का क्षेत्र एक तरफ़ सिंहल तथा दूसरी तरफ़ सुदूर यूनानी राज्यों तक था। उस की इस विचित्र विदेशी नीति की आलोचना हम अभी करेंगे।

ऐ. व्यवहार-समता और दण्ड-समता

अभिषेक के छब्बीसवें बरस के एक लेख[3] में अशोक कहता है—

---

[1]स्तम्भ० ७। [2]प्र० शि० २। [3]स्तम्भ० ४।

"यह अभीष्ट है कि व्यवहार-समता और दण्ड-समता हो।" व्यवहार का अर्थ पीछे स्पष्ट किया जा चुका है। मौर्य साम्राज्य ने समूचे भारत को राजनैतिक दृष्टि से एक कर दिया था; व्यवहार और दण्ड की इस समता ने उस के अन्दर एक आन्तरिक एकता भी पैदा करने का काम निश्चय से किया होगा। उस लेख के शुरू में "प्रियदर्शी राजा यों कहता है...मेरे रजूक (राजुक) सैकड़ों हज़ारों प्रणियों के ऊपर नियत हैं। उन्हें जो मैंने अभिहार और दण्ड में आत्म-निर्भरता (अतपतिये= आत्मपत्य) दी है, सो इस लिए कि वे भरोसे के साथ और निडर होकर काम करें, जानपद जन के हित-सुख का उपधान करें और अनुग्रह करें। जैसे जानी हुई धाय के हाथ में बच्चे को सौंप कर आदमी भरोसे से रहता है......वैसे ही मैंने जानपद के हित-सुख के लिए राजुक (नियुक्त) किये हैं। (और) जिस से वे निडर स्वस्थ और निश्चिन्त हो कर काम कर सकें, इस लिए मैंने राजुकों को अभिहार और दण्ड की स्वायत्तता दे दी है। किन्तु यह अभीष्ट है कि......।"

इस लेख की सन्तोषजनक सर्वसम्मत व्याख्या आज तक नहीं की गई। तो भी इस से इतना स्पष्ट होता है कि रज्जुक या राजुक बड़े राज्याधिकारी थे, जो जनपदों का शासन करते थे; और यद्यपि उन्हें यथेष्ट स्वायत्तता दी गई थी, तो भी समूचे विजित में व्यवहार और दण्ड की समता करने का जतन किया गया था।

§ १३५. 'धम्मविजय' की नई नीति

अपने राज्य में धर्म की वृद्धि[1] करने के लिए अशोक जितना सचेष्ट था, विदेशों का धर्मविजय करने को वह उस से भी अधिक सजग था। उस के अभिषेक के १८ वें बरस पाटलिपुत्र के पास के अशोकाराम में

---

[1] स्तम्भ० ६, ७; प्र० शि० ४।

बौद्ध भिक्षु-संघ की तीसरी संगीति मोग्गलिपुत्त तिस्स नामक विद्वान् थेर की प्रमुखता में नौ महीने तक जुटी। उत्तरी बौद्ध ग्रन्थों में अशोक के धर्मगुरु का नाम उपगुप्त है। वही शायद तिस्स था। संगीति पूरी होने पर तिस्स ने अनेक प्रत्यन्त देशों में बौद्ध शासन पहुँचाने को प्रचारक भिक्षुओं के वर्ग भेजे। अशोक का अपना बेटा या भाई महिन्द (महेन्द्र) भी उन में से एक वर्ग का नेता था।

कलिंग-विजय के बाद चौथे बरस अशोक ने अपनी पहली धम्म-लिपि (अभिलेख) प्रकाशित की। कैसे अटल आत्मविश्वास तथा दृढ़ संकल्प के साथ वह तथा उस के सहयोगी अपने काम में जुटे थे, सो उस लिपि के शब्दों से टपकता है। "अढ़ाई बरस से अधिक बीते कि मैं श्रावक (उपासक) हुआ हूँ। पर मैंने अच्छा प्रक्रम (उद्यम) नहीं किया; बरस से ऊपर हुआ जब मैं संघ के पास पहुँचा और खूब प्रक्रम करने लगा। इस बीच जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) के मनुष्यों को देवताओं से मिला दिया है। यह प्रक्रम का फल है। बड़े ही लोग यह फल पा सकते हों सो नहीं; छोटा आदमी भी प्रक्रम करे तो विपुल स्वर्ग पा सकता है। इसी लिए यह (आदेश) सुनाया गया कि छोटे बड़े सभी प्रक्रम करें। अन्त भी जान जायँ कि (हमारा) यह प्रक्रम है, और यह चिरस्थायी हो। यह कार्य बढ़ेगा, निश्चय से बढ़ेगा, खूब बढ़ेगा, दिन दूना रात चौगुना बढ़ेगा।"[1]

अन्तों को अपना कार्य जता देने की अशोक को कैसी चिन्ता थी! उस के अपने विजित और संरक्षित जनपदों में जैसे उस के सभी छोटे बड़े राजपुरुष और धर्म-महामात्य धर्म की वृद्धि के लिए जुटे हुए थे, वैसे ही विदेशों या अन्तों में जो उस के अन्त-महामात्य या राजदूत रहते थे वे भी अपने अपने अन्त का धर्मानुशासन करते थे[2]। दक्खिन तरफ़ द्रविड देश

---

[1]गौण शि० १। [2]स्तम्भ० १।

और ताम्रपर्णी के राष्ट्रों में तथा उत्तरपच्छिम तरफ़ यूनानी राज्यों में उस ने जो रास्तों पर पेड़ लगवाये तथा चिकित्सालय स्थापित कराये थे, उन से उस का प्रभाव उस समय के सभ्य जगत् की अन्तिम सीमाओं तक पहुँच गया होगा। उन चिकित्सालयों में जो भारतीय वैद्य मनुष्यों और पशुओं की मुफ़्त चिकित्सा के लिए रहते थे, वे निश्चय से उन उन राष्ट्रों की जनता में भारतीय सभ्यता के दूतों का काम करते होंगे।

इस प्रक्रम का जो फल हुआ, उसे भी हम अशोक के ही मुँह से सुन सकते हैं—"जो धर्म का विजय है उसे ही देवताओं का प्रिय मुख्य विजय मानता है। और वह देवताओं के प्रिय को यहाँ (अपने विजित में) और सभी अन्तों में—सैकड़ों योजन परे अषों (पश्चिमी एशिया)[1] में भी जहाँ अन्तियोक नामक योन राजा है, और उस अन्तियोक के परे चार राजा हैं, तुरमय नामक, अन्तिकिन नामक, मक नामक और अलिकसुंदर नामक, (तथा) नीचे (दक्खिन तरफ़) चोड पाण्ड्य (और) ताम्रपर्णी वालों तक, ऐसे ही इधर राजविषयों में (या राज-विषवज्रियों में), योन-कम्बोजों में, नाभक में, नाभपंक्तियों में, भोज-पितिनिकों में, अन्ध्र-पुलिन्दों में, (सभी जगह)—प्राप्त हुआ है। सभी जगह देवताओं के प्रिय के धर्मानुशासन का अनुसरण करते हैं। जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं भी जाते वे भी देवताओं के प्रिय के धर्मवृत्त को विधान को और धर्मानुशासन को सुन कर धर्म का अनुविधान

---

[1] अषषु पि योजन शतेषु का अर्थ किया जाता था—छः सौ योजन पर; किन्तु जायसवाल ने उस का दूसरा अर्थ सुझाया है जो स्पष्टतः ठीक और असल अर्थ है (इं० आ० १९१८, पृ० २९७)। सवेषु च अन्तेषु के दो विभाग हैं—एक अषषु, दूसरा निचं (नीचैः); अषषु निचं के मुकाबले में है, इस लिए स्पष्टतः वह दिशावाची या देशवाची शब्द होना चाहिए।

(आचरण) करते हैं और करेंगे। और इस प्रकार सब जगह जो विजय प्राप्त हुआ है, वह प्रीति-रसपूर्ण है।"[1]

सीरिया के अन्तियोक दूसरे (Antiochus II Theos, २६१—२४६ ई० पू०) का साम्राज्य मौर्य साम्राज्य के ठीक उत्तरपच्छिमी छोर से सुदूर पच्छिम एशिया तक था। उस का पड़ोसी तुरमय (=तोलमाय, Ptolemy II Philadelphos, २८५-२४७ ई० पू०) मिस्र में, मक (Magas, लग० ३००—लग० २५० ई० पू०) मिस्र के पच्छिम उत्तरी अफ़रीका में, और अन्तिकिन Antigonos Gonatas, २७६—२३९ ई० पू०) मकदूनिया में राज करता था। अलिकसुदर से अभिप्राय या तो यूनान के उत्तरपच्छिम और मकदूनिया के पच्छिम लगे हुए प्रदेश एपिरस के अलक्सान्दर (२७२—लग० २५५ ई० पू०) से या उत्तरी और दक्खिनी यूनान के बीच कौरिन्थ की स्थलग्रीवा के राजा अलक्सान्दर (२५२—लग० २४४ ई० पू०) से है।

भिक्षु-संघ ने अशोक के समय धर्म्मविजय की जो चेष्टा की वह भी निश्चय से अशोक की प्रोत्साहना से ही की गई होगी। उस का वृत्तान्त बौद्ध अनुश्रुति में इस प्रकार है—

थेर मोग्गलिपुत्र ने संगीति को पूरा कर के, अनागत (भविष्य) को देखते हुए प्रत्यन्तों में शासन (बौद्ध शासन, बौद्ध धर्म) को प्रतिष्ठापित करने का विचार किया; और कार्त्तिक मास में उन उन थेरों को उस उस देश में भेजा। कश्मीर और गान्धार की तरफ़ मज्झन्तिक थेर को भेजा, महिषमण्डल के लिये महादेव को रवाना किया, एवं रक्खित थेर को वनवास प्रदेश में, योन (यूनानी) थेर धम्मरक्खित को अपरान्त में, महाधम्मरक्खित को महाराष्ट्र में, महारक्खित को योन लोक (यूनानी जगत्) में, मज्झिम थेर को हिमालय के प्रदेशों में,

[1] प्र० शि० १३।

सोण और उत्तर थेरों को सुवर्णभूमि में, महामहिन्द (महेन्द्र) तथा... को लंका में शासन की स्थापना करने के लिए भेजा।[1]

भारतवर्ष के राजा कातिक के महीने में दिग्विजय के लिये निकला करते थे, इन थेरों ने भी उसी कातिक में अपनी यात्रायें आरम्भ की ! वे भी एक प्रकार के विजय का विचार ले कर चले थे। अशोक के अभिलेखों का और अनुश्रुति का धर्मविजय-विषयक उक्त वृत्तान्त किस प्रकार एक दूसरे की पुष्टि और व्याख्या करते हैं, तथा अनुश्रुति के उस वृत्तान्त की सत्यता दूसरे प्रमाणों से कैसे प्रकट हुई है, सो हम अभी देखेंगे।

§ १३६. विभिन्न देशों में धर्म्मविजय की योजना और सफलता

अभिलेखों में जिन भिन्न भिन्न अन्तों का धर्म्मविजय करने का और अनुश्रति में जिन प्रत्यन्तों में थेर भेजने का उल्लेख है, उन पर ध्यान देने से उन विजिगीषुओं की विजय करने की एक स्पष्ट और युक्ति-संगत योजना प्रकट होती है।

बुद्ध ने अपने जीवन में जिन जनपदों में धर्मोपदेश किया था, वे प्राचीन भारत के मध्यदेश और पूरब (प्राची) में सम्मिलित थे। बुद्ध से अशोक के समय तक उनमें बौद्ध धर्म की यथेष्ट वृद्धि हो चुकी थी। उन में प्रचारक भेजने या उनका धर्मविजय करने की अब ज़रूरत न थी—उलटा वही तो वे केन्द्रवर्ती देश थे जहाँ से चारों तरफ़ प्रचारक भेजे गये। इसी कारण अभिलेखों या अनुश्रुति में हम उन का उल्लेख नहीं पाते।

---

[1] महावंस १२. १—८ का सार।

अ. दक्खिन भारत और सिंहल

धर्म विजय का सबसे पहला क्षेत्र विन्ध्याचल के दक्खिन का भारतवर्ष था। अशोक के अभिलेख में रठिक-पेतेणिकों का, अन्ध्र-पुलिन्दों का, तामिल राष्ट्रों का और ताम्रपर्णी अर्थात् सिंहल का उल्लेख है। रठिक-पेतेणिकों का जनपद आधुनिक महाराष्ट्र माना जाता है, और कर्णाटक भी उस के तथा तामिल राष्ट्रों के बीच बँट जाता होगा; इस प्रकार समूचा दखिन भारत अशोक के धर्मविजय में आ गया था। अनुश्रुति के उक्त वृत्तान्त में महाराष्ट्र, अपरान्त, वनवास और महिषमण्डल आधुनिक महाराष्ट्र और कर्णाटक को सूचित करते हैं। अपरान्त से प्रायः कोंकण समझा जाता है; वनवास या वनवासी दक्खिनी मराठा देश या उत्तरी कर्णाटक का पुराना नाम है। महिषमण्डल के विषय में बड़ा विवाद रहा है; पर अब प्रो० कृष्ण-स्वामी एय्यंगर ने यह निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया है कि वह एक तामिल शब्द एरुमैयूरान् का, जो कि ईसाब्द की पहली दो तीन शताब्दियों में दक्खिन कर्णाटक और कोडगु का नाम था, संस्कृत अक्षरानुवाद है[1]। अनुश्रुति के उक्त वृत्तान्त में आन्ध्र देश और तामिल राष्ट्रों के नाम नहीं हैं, यद्यपि अशोक ने उन का स्पष्ट उल्लेख किया है। सातवीं शताब्दी ई० में चीनी यात्री य्वान च्वाङ के समय द्राविड देश में महेन्द्र के नाम का एक विहार था[2], जिस से महेन्द्र का तामिल राष्ट्रों में जाना सूचित होता है। अनुश्रुति की इस विषय की चुप्पी का सीधा कारण यह है कि सिंहल और तामिल राष्ट्रों में परस्पर सदा लड़ाई रही है, और इसी लिए सिंहली अनुश्रुति ने उनका उल्लेख करना भी उचित नहीं समझा।

किन्तु सिंहल में बौद्ध धर्म के आने के वृत्तान्त पर उसने खूब रंग

---

[1]बिगिनिंग्स् पृ० ६७। [2]य्वान २, पृ० २२८।

चढ़ाया है। सिंहल में उस समय विजय के ही वंश में देवताओं का प्रिय तिस्स राज करता था। कहानी है कि जिस दिन उसका अभिषेक हुआ उसी दिन लङ्का में अनेक रत्नों की निधियाँ प्रकट हुईं, अनर्घ रत्नों से लदी अनेक भग्न नौकायें सिंहल के तट पर आ लगीं। राजा तिस्स ने उन्हें अपने दूतों के हाथ अपने मित्र राजा अशोक के पास भेंट के तौर पर भेज दिया। उन सिंहली दूतों का मुखिया तिस्स का अपना भानजा महाऽरिट्ठ था। जहाज़ से सात दिन में वे लोग तीर्थ (=बन्दरगाह; ताम्रलिप्ति तीर्थ—मिदनापुर ज़िले में आधुनिक तामलूक—से अभिप्राय है) पहुँचे, वहाँ से सात दिन में पाटलिपुत्र। अशोक ने उन का बड़ा सत्कार किया और उन्हें छत्र, भृङ्गार, व्यजन, उष्णीष, खड्ग, गङ्गाजल, अनवतप्त सर का जल आदि अभिषेक की सब सामग्री दे कर भेजा कि मेरे सहाय तिस्स का इस सामान से फिर अभिषेक करो। साथ ही तिस्स के लिए यह संदेश भेजा कि मैं बुद्ध धम्म और संघ की शरण गया हूँ, तुम भी उन की शरण जाओ। वे लोग उसी रास्ते वापिस गये, और उन्हों ने सिंहल पहुँच कर फिर तिस्स का अभिषेक कराया[1]।

उधर भिक्खु-संघ की तरफ़ से महेन्द्र भी अपने चार साथियों के साथ सिंहल जाने को उद्यत था। उत्तरी बौद्ध अनुश्रुति महेन्द्र को अशोक का भाई कहती है, पर सिंहली वृत्तान्तों के अनुसार वह उस का पुत्र था। कुमार अशोक जब उज्जयिनी-मण्डल का शासक बनने को पाटलिपुत्र से जाता था, तब राह में विदिशा के एक सेट्ठी की बेटी असन्धिमित्रा से उसने विवाह किया था। उसी विवाह से महेन्द्र और संघमित्रा पैदा हुए थे। असन्धिमित्रा अब विदिशा में ही थी। महेन्द्र पाटलिपुत्र से पहले उसी के पास गया। वहाँ उसी के बनवाये विहार में, जो कि शायद साँची के विद्यमान बड़े स्तूप का विहार था, कुछ समय

---

[1]महावंस ११. ७—४१।

रहने के बाद वह वायु में उड़ कर सिंहल जा पहुँचा। अनुराधपुर के आठ मील पूरब जहाँ जाकर वह उतरा, उस पर्वत का नाम महिन्द-तल पड़ गया, और वह अब भी महिन्तले कहलाता है। राजा तिस्स तब शिकार पर था, उस ने वहीं महेन्द्र का स्वागत किया, और उस का उपदेश सुन कर चालीस हज़ार अनुयायियों सहित बौद्ध शासन स्वीकार किया। राजकुमारी अनुला भी ५०० सहेलियों सहित भिक्खुनी होना चाहती थी, पर भिक्खुनियों की दीक्षा किसी भिक्खुनी द्वारा ही हो सकती थी। इस लिये तिस्स ने फिर अपने दूतों को मगध भेज कर महिन्द की बहिन संघमित्ता को और बोधि वृक्ष की एक शाखा को लंका भेजने की प्रार्थना की। कहते हैं प्रियदर्शी अशोक ने स्वयं अपने हाथ से पवित्र वृक्ष की एक शाखा काटी, और जब उसे काटा गया, तथा गंगा द्वारा ताम्रलिप्ति पहूँचा कर जब जहाज़ पर चढ़ाया गया, तब अनेक चमत्कार हुए।

जम्बुकोल (सिंहल के जाफ़ना ज़िले में आधुनिक संबिलतुरई) बन्दर-गाह पर तिस्स ने उन का स्वागत किया। संघमित्ता ने सिंहल में अपने भाई की तरह काम किया। बोधि वृक्ष की शाखा अनुराधपुर के महाविहार में रोप दी गई, जहाँ उस से बना हुआ विशाल वृक्ष अब तक मौजूद है। संसार भर के जाने हुए पेड़ों में से वही सब से बूढ़ा है।

महिन्द ने एक ही साथ चालीस हज़ार पुरुषों को भले ही बौद्ध न बनाया हो, और उस की कहानी में और भी कई कल्पित बातें भले ही मिल गई हों, तो भी इस में सन्देह नहीं कि उस ने और उस की बहन ने सिंहल में आर्य अष्टांगिक मार्ग की वह शाखा रोप दी जो आगे चल कर बोधि वृक्ष की शाखा की तरह एक विशाल पेड़ बन गई। महिन्तले के निकट अम्बुस्ताल स्तूप में अब भी महिन्द की समाधि विद्यमान है।

विदिशा के पास साँची के प्रसिद्ध बड़े स्तूप के चौगिर्द की वेदिका (पत्थर की बाड़) तथा उस के तोरणों के थंभों और सूचियों (पाटियों)

पर अनेक घटनाओं के चित्र पत्थर में खुदे हुए विद्यमान हैं—वे अशोक के प्रायः डेढ़ दो शताब्दी पीछे के हैं[1]। उन में से पूरबी तोरण पर एक दृश्य है जिस के बीच में बोधि-वृक्ष के पीछे से अशोक का बनवाया चैत्य उठता दीखता है; दोनों तरफ़ जुलूस हैं; दहिनी ओर हाथी पर से एक राजा उतरता है; दृश्य के दोनों किनारों पर मोर—मोरिय वंश के निशान—तथा सिंह—सिंहल के संकेत—बने हैं। उस के ऊपर के दूसरे दृश्य में गमले में एक छोटा वृक्ष, उसी प्रकार का जुलूस, और बायीं ओर एक नगरी अंकित है। भारतीय कला के प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् ग्रुइनवेडल ने पहले-पहल यह सुझाया था कि वह अशोक के बोधिवृक्ष की शाखा काट कर भेजने का चित्र हो सकता है[2]। किन्तु अब यह माना जाता है कि उपरले चित्र में बुद्ध का कपिलवस्तु से प्रयाण तथा निचले में अशोक की बोधि-पूजा अंकित है।

इ. उत्तरापथ और हिमालय

अशोक के अभिलेख में योन-कम्बोज-गान्धार और नाभक-नाभपंति के धर्मविजय का उल्लेख है; अनुश्रुति भी गान्धार और कश्मीर में स्थविरों का एक वर्ग भेजे जाने की बात कहती है। कम्बोज का रास्ता गान्धार-कश्मीर द्वारा ही था। उस के अतिरिक्त अनुश्रुति में हिमालय का भी नाम है, जो कि अभिलेखों में नहीं है; इस अंश में दोनों में विसंवाद दीख पड़ता है। हिमालय से कश्मीर के दक्खिन-पूरब के हिमालय का ही अभिप्राय होना चाहिए, क्योंकि कश्मीर का तो अलग उल्लेख है। इस अंश में भी स्वतन्त्र प्रमाणों से अनुश्रुति की आश्चर्य-

---

[1]नीचे § १६१।

[2]बुधिस्ट आर्ट इन् इंडिया (भारत में बौद्ध कला, अंग्रेज़ी अनुवाद, लंडन १६०१) पृ० ७०—७२।

जनक पुष्टि हुई है। महावंश में केवल हिमालय वाले वर्ग के प्रमुख मज्झिम थेर का नाम दिया है, उस की टीका में उस के चारों साथियों —कस्सपगोत्त, दुन्दुभिसर, सहदेव और मूलकदेव—के भी नाम दर्ज हैं। साँची के दूसरे स्तूप के भीतर से पाये गये पत्थर के सन्दूक में एक धातु-मंजूषा मोग्गलिपुत्त की निकली, और दूसरी के तले पर तथा ढक्कन के ऊपर और अन्दर हारितीपुत, मझिम तथा सवहेमवताचरिय (समूचे हिमालय के आचार्य) कासपगोत के नाम खुदे हैं। उस सन्दूकची में उन पराक्रमी प्रचारकों के धातु (फूल) रक्खे गये थे, और वह स्तूप उन्हीं धातुओं पर बनाया गया था। साँची से ५ मील पर सोनारी के दूसरे स्तूप में से पाई गई एक मंजूषा पर फिर उसी कासपगोत का नाम खुदा है, और एक दूसरी मंजूषा पर हिमालय के दुदुभिसर के दायाद (उत्तराधिकारी) गोतीपुत का[1]। इन स्तूपों में से पाये गये अवशेषों से जहाँ अनुश्रुति की पूरी सत्यता सिद्ध हुई है, वहाँ यह भी प्रकट होता है कि इन प्रचारकों के कार्य को उन के समकालीन देश-भाइयों ने बड़े आदर और गौरव की दृष्टि से देखा था। महावंस में लिखा है कि मज्झिम और उस के चार साथियों ने हिमालय के पाँचों राष्ट्र में[2] प्रचार किया। प्रतीत होता है कि चम्बा से जौनसार तक तथा गढ़वाल-कुमाऊँ से पूरबी नेपाल तक प्रत्येक देश में उन्हों ने बुद्ध का और आर्य सभ्यता का सन्देश पहुँचाने का जतन किया। सोनारी के उक्त लेख से यह भी सिद्ध है कि उन थेरों का काम उन के साथ ही समाप्त न हो गया, प्रत्युत उन के उत्तरा-

---

[1]कनिंगहाम—भिलसा टोप्स (भिलसा के स्तूप), लंडन १८५४, पृ० ११६-२०, तथा प्लेट २०, २४; ज० रा० ए० सो० १६०६, पृ, ६८१ प्र० जहां फ्लीट ने गोतीपुत और दायाद को दुदुभिसर का विशेषण माना है।

[2]महावंस १२, ४२।

धिकारी उन के पीछे भी बाकायदा काम करते रहे। आर्यावर्त्त के सीमान्तों के धर्मविजय की वह एक सुसंगठित योजना थी।

और, हिमालय के धर्मविजय का उल्लेख अशोक के अभिलेखों में भले ही न हो, उस की दूसरी रचनाओं से वह सिद्ध है। नेपाल की पुरानी राजधानी पातन या ललितपत्तन जो काठमाँडू से २½ मील दक्खिनपूरब है, अशोक की ही बसाई हुई है। उस के मध्य में और चारों तरफ़ उस के बनवाये हुए पाँच थुबे[1] (स्तूप) अब तक विद्यमान हैं। अशोक की बेटी चारुमती स्वयं नेपाल जा बसी थी। अपने पति देवपाल के नाम से उस ने वहाँ देवपत्तन बसाया था, और एक विहार भी जो पशुपतिनाथ-मन्दिर के उत्तर तरफ़ अब भी उपस्थित है।

दीपवंस[2] में लिखा है कि थेर मज्झिम और उस के साथियों ने हिमालय में यक्षों के गणों में धर्म का प्रचार किया। हम पीछे देख चुके हैं कि पूरबी सागर के द्वीपों और सिंहल में भी यक्षों की सत्ता बताई गई है, और मैंने अपना यह मत प्रकट किया था कि वे कोई कल्पित अमानुष योनि नहीं प्रत्युत उन द्वीपों के आदिम निवासी उस मनुष्य-वंश के लोग थे जिसे अब हम आग्नेय कहते हैं[3]। यहाँ यक्ष हिमालय के निवासी बताये गये हैं। पौराणिक साहित्य में भी हिमालय को सदा उन का घर बताया जाता है। इन दोनों बातों में परस्पर-विरोध नहीं, उलटा अत्यन्त संगति है। हम देख चुके हैं कि भाषाविज्ञान की आधुनिक खोज से भी हिमालय की बोलियों में आग्नेय तलछट पाया गया है[4]। और उन बोलियों के जिस सर्वनामाख्यातिक वर्ग में वह तलछट सर्वथा स्पष्ट रूप से उपस्थित है, उस के एक किराँत या पूरबी उपवर्ग का उल्लेख भी

---

[1] नेपाल में स्तूप को थुब' कहते हैं, जो उसी शब्द का प्राकृतरूप है।
[2] ८. १० । [3] ऊपर §§ ८२, ८४ उ—पृ० ३१८, ३२६-३० ।
[4] ऊपर § १६—पृ० ७४ ।

ऊपर किया जा चुका है।[१] ठीक उसी उपवर्ग में याखा नाम की एक बोली आज भी विद्यमान है, जो यक्ष नाम की याद दिलाती है[२]। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि यक्ष शब्द प्राचीन काल में केवल आजकल के याखा लोगों के पूर्वजों के लिए नहीं, प्रत्युत एक व्यापक जातिवाचक शब्द के रूप में आग्नेय वंश की अनेक जातियों के लिए बर्त्ता जाता था। हिमालय की जो नेवारादि बोलियाँ आज असर्वनामाख्यातिक हैं—आग्नेय प्रभाव जिन में स्पष्ट नहीं दीख पड़ता, वे भी कुछ समय पहले सर्वनामाख्यातिक थीं—तब उन में वह प्रभाव स्पष्ट था[२]। इस लिए सम्भवतः तब नेवारों के पूर्वज भी यक्ष कहलाते थे। इस प्रकार नेपाल के प्राचीन मुख्य निवासी नेवारों में आर्यावर्त्ती संस्कृति का प्रवेश अशोक के समय ही शुरू हुआ।

अशोक ने अपने धर्मविजय की चर्चा के प्रसंग में हिमालय का उल्लेख क्यों नहीं किया, इस की व्याख्या अभी की जायगी।

उ. यूनानी जगत्

योनों के देश में प्रचारक भेजने का उल्लेख अनुश्रुति साधारण रूप से करती है, पर अभिलेख विस्तार के साथ उन सब राज्यों के नाम बतलाते हैं, और उन में चिकित्सालय खोले जाने और सड़कों पर पेड़ रोपे जाने की बात भी उन से निश्चित होती है। उन राज्यों की स्थिति पर ध्यान देने से यह प्रकट होता है कि अशोक ने अपने समय के समूचे सभ्य जगत् का अन्तिम सीमाओं तक धर्मविजय करने की चेष्टा की थी। उस समय के संसार में तीन ही बड़ी सभ्य स्वाधीन जातियाँ थीं—यूनानी, भारतीय और चीनी। चीन के धर्मविजय का जतन

[१]ऊपर § २२—पृ० ७१। [२]भारतभूमि पृ० ३०६-७। देखो नीचे २८ अ।

अशोक ने क्यों न किया, उस का कारण हम अभी देखेंगे। फ़ारिस और अन्य सब पच्छिमी जातियों पर तब यूनानी राज्य कर रहे थे; और उन के राज्य मौर्य साम्राज्य की सीमा से मिस्र यूनान और मकदूनिया तक फैले हुए थे। यूनान के पच्छिम और उत्तर जो देश थे, वे उस समय के सभ्य जगत् की सीमा के बाहर थे; उनमें से केवल रोमनों ने अशोक के समय के लगभग यूनानियों से सभ्यता सीखना शुरू किया था; किन्तु तब भी वे सभ्य जगत् के दायरे में न आये और दूसरे सभ्य देशों से परिचित न हुए थे।

पच्छिमी जगत् में अशोक के धर्मविजय के प्रक्रम का क्या कुछ प्रभाव भी हुआ? इस बात की पूरी सम्भावना है कि हुआ। अशोक के समकालीन मिस्र के यूनानी राजा तुरमय (Ptolemy Philadelphos) ने सिकन्दरिया के प्रसिद्ध पुस्तकालय की स्थापना या वृद्धि की थी, और यह विदित है कि वह भारतीय ग्रन्थों के अनुवाद कराने को उत्सुक था[1]। अशोक के कुछ समय बाद यहूदियों के देश (जूडिया, फ़िलिस्तीन) में धार्मिक जागृति की एक नई लहर चल पड़ी, और लगभग अढ़ाई सौ बरस बाद वहाँ भगवान् ईसा का आविर्भाव हुआ। न केवल ईसू मसीह की शिक्षा में बुद्ध की शिक्षा की पूरी छाप है, प्रत्युत दोनों धर्मों की गाथायें भी बहुत मिलती हैं, और उन के क्रियाकलाप और पूजा-पाठ आदि की पद्धति में भी इतनी समानता थी कि तिब्बत के बौद्ध विहारों को देख कर आधुनिक युरोपी यात्री पहले-पहल उन्हें रोमन कैथोलिक गिर्जे समझ बैठे थे! भगवान् ईसा के समय जूडिया में ईसीन तथा मिस्र में थेराप्यूत नाम के विरक्त लोग रहते थे, जिन की शिक्षा का ईसा पर बड़ा प्रभाव हुआ था। ये ईसीन और थेराप्यूत लोग कौन थे, इस की पूरी जाँच नहीं हुई; पर इतना मालूम है कि वे पूरब के

[1] भण्डाकर—अशोक, पृ० १२८।

रहने वाले थे और धर्मोपदेस के साथ साथ चिकित्सा भी करते थे। उन्हीं के नाम से पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र का एक अंग अब तक थेराप्यूतिक्स कहलाता है। इन थेराप्यूतों का जीवन भारतवर्ष के थेरों (स्थविरों, भिक्षुओं) से बहुत अधिक मिलता था। क्या वे अशोक के समय पच्छिम गये हुए भिक्षुओं और चिकित्सकों के उत्तराधिकारी न थे? यूनानी विचार और विज्ञान पर तथा ईसाई धर्म पर भारतीय प्रभाव कहाँ तक हुआ है, इस की बारीकी से खोज करने की ज़रूरत है। किन्तु जो भी हो, ईसाई धर्म पर बौद्ध छाप है सो साधारण रूप से सभी को मानना पड़ता है; और उस धर्म की जन्मभूमि में भगवान् ईसा के समय से कुछ ही पहले अशोक के प्रक्रम से बौद्ध प्रभाव पहुँचा था, यह देखते हुये उस प्रक्रम की सफलता स्वीकार करनी पड़ती है।

ऋ. चीन और सुवर्णभूमि

भारतवर्ष के पच्छिम तरफ़ जैसे यूनानी जगत् था वैसे ही पूरब तरफ़ चीनी जगत् जिस की सभ्यता मिस्र और बावेरु (कावुल) की तरह पुरानी थी। यह ध्यान देने की बात है कि अशोक अपने अभिलेखों में जहाँ यूनान और अफ़रीका तक के यूनानी राज्यों में धर्म-विजय पाने का उल्लेख करता है, वहाँ चीन का नाम भी नहीं लेता। उस का कारण यह है कि भारतवर्ष और पच्छिमी देश तब तक चीन को जानते ही न थे, और जानते भी तो किसी और नाम से जानते क्योंकि चीन नाम तब तक चला न था। चीनी सभ्यता की असल जन्मभूमि याङ्चें क्याङ और पीली नदी (होआंग हो) के काँठों में करीब आठवीं शताब्दी ई० पू० से तीसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य तक जो कई छोटे-छोटे राज्य थे, उन राज्यों में से एक का नाम था चीन, और वह आधुनिक चीन देश के उत्तरपच्छिमी भाग में था। उस चीन के एक राजा ने पहले-पहल २४६ ई० पू० में दूसरे सब छोटे राज्यों

को अपने अधीन किया, और अपना नाम शी-हुआंग-ती अर्थात् पहला सम्राट् रक्खा। उस ने बाद से उस के समूचे साम्राज्य को भारतवासी उसी तरह चीन कहने लगे जैसे भारतवर्ष को विदेशी लोग हिन्द। और भारतवासियों से चीन का पता पच्छिम के लोगों को मिला।

चीन और भारतवर्ष के लोगों को इतने समय तक एक दूसरे का स्पष्ट पता न था[1] उस का कारण यह था कि उन दोनों के बीच तिब्बत का पठार और परले हिन्द का प्रायद्वीप पड़ता है, और उस पठार तथा उस प्रायद्वीप में उस समय तक निरे जंगली लोग रहते थे। अशोक के तीन चार शताब्दी बाद परले हिन्द के किनारे किनारे घूम कर, तथा नौ शताब्दी बाद तिब्बत के अन्दर से, भारतवर्ष और चीन का परस्पर सम्बन्ध हो पाया। हमारा आसाम प्रान्त तथा चीन का दक्खिनपच्छिमी युइनान प्रान्त एक दूसरे के बहुत नज़दीक दीखते हैं। आसाम का नाम दूसरी शताब्दी ई० पू० से प्राग्ज्योतिष था[2]; किन्तु मौर्य काल तक प्राग्ज्योतिष राज्य की स्थापना शायद न हुई थी, और आसाम तक आर्य राज्यों का प्रभाव मुश्किल से पहुँचता था। अर्थ-शास्त्र में पारलौहित्यक अर्थात् ब्रह्मपुत्र पार से आने वाली किसी वस्तु का उल्लेख है[3]; किन्तु उन देशों से आर्य्यों का तब तक शायद केवल व्यापार सम्बन्ध ही था, और वही उन की पहुँच की अन्तिम सीमा थी। दूसरी तरफ़ अशोक के समय तक चीनी राज्यों की दक्खिनी सीमा भी नानलिंग्—अर्थात् दक्खिनी पर्वत—तक ही थी। उस के दक्खिन आधुनिक क्वाङ प्रान्तों में भी तब जंगली लोग रहते थे जिन्हें चीन वाले युई कहते थे, और युइनान तो चीन में तब तक था ही नहीं। इस प्रकार प्राचीन आर्यावर्त्त के उत्तर-पूरबी और प्राचीन चीन के

---

[1] किन्तु दे० ❀ २५।

[2] दे० नीचे ❀ २८।

[3] अर्थ० पृ० ७८, पं० २०।

दक्खिनपच्छिमी सीमान्तों में बड़ा अन्तर था। उस दशा में आजकल भारत और चीन के बीच जो सब से कठिन रास्ता दीखता है, प्राचीन काल में वही सब से सुगम था। चीन का उत्तरपच्छिमी प्रान्त कानसू और भारत का कम्बोज देश एक दूसरे के करीब थे। दूसरे चीन की राजधानी भी तब समुद्रतट पर नहीं, प्रत्युत उत्तरपच्छिम में, कानसू के नज़दीक ही थी; उस का नाम सिङान-फ़ू था; वह अब शेन-सी प्रान्त की मुख्य नगरी है। कानसू और कम्बोज के बीच शकों-तुखारों का देश था और वहीं पहले-पहल अशोक के समय से कुछ पीछे भारतीय और चीनी लोग परस्पर मिलने लगे[1]।

चीन के अतिरिक्त सुवर्णभूमि का नाम भी अशोक के अभिलेखों में नहीं है। अनुश्रुति कहती है कि सुवर्णभूमि में शोण और उत्तर थेर भेजे गये, वहाँ उन्हें राक्षसों से वास्ता पड़ा, और उस देश में चारों तरफ़ आरक्ख (रक्षा-प्रबन्ध) की स्थापना भी उन्हीं ने की[2]। सुवर्णभूमि से बाद में समूचा परला हिन्द या उस का मुख्य अंश समझा जाने लगा था, किन्तु अशोक के समय तक उस के केवल पच्छिमी छोर से ही भारतवासियों का सम्पर्क रहा होगा, और उक्त थेर सम्भवतः आधुनिक बरमा के पगू- मोलमीन ज़िलों में ही गये होंगे। पूरबी हिमालय और सुवर्णभूमि दोनों में उस समय किरात और आग्नेय जातियाँ अपनी आरम्भिक जंगली दशा में रहती थीं। सम्भवतः उन में धर्म का संदेश ले जाने की कोई राजकीय चेष्टा न हुई हो, वह शायद संघ का अपना प्रक्रम रहा हो। दूसरे, राज्य की तरफ़ से कोई चेष्टा हुई भी हो तो वह उन जातियों को आरम्भिक सभ्यता सिखाने की ही होगी, और योन और तामिल सभ्य राष्ट्रों के धर्मविजय के साथ उस का

---

[1]दे० नीचे §§ १६०, १६१, १७९ और ❀ २८।

[2]महावंस १२. ५१। आरक्खक शब्द के लिए दे० ऊपर § ८४ इ।

उल्लेख करना उचित और संगत न होता। अशोक के समय में कोई यह अन्दाज़ न कर सकता था कि सभ्यता का जो बीज तब सुवर्णभूमि में बोया जा रहा था, वह किसी दिन एक विशाल वृक्ष बन खड़ा होगा। किन्तु चौथी और छठी शताब्दी ई० के लेखकों ने जब परम्परागत अनुश्रुति का संकलन किया, तब तक वह वृक्ष समूचे परले हिन्द पर अपनी छाँह फैला चुका था; और इसी लिए तब उस के मूल बीज का महत्त्व पहचान कर उस का उल्लेख करना स्वाभाविक था। इस प्रकार धर्म-विजय-सम्बन्धी अभिलेखों और अनुश्रुति में परस्पर कोई विसंवाद नहीं है; उलटा वे एक दूसरे की व्याख्या और पुष्टि करते हैं।

महाजनपद-युग में पहले-पहल सुवर्णभूमि में भारतीय परिग्राहक (भौगोलिक खोजी) और व्यापारी जाने लगे थे[1], अशोक के समय अब वहाँ भारतीय धर्म-प्रचारक पहुँचने लगे जिन्होंने उस देश में आरक्ख की स्थापना की। उस के बाद वे देश किस प्रकार भारतवर्ष के उप-निवेश बन गये, सो हम आगे देखेंगे।

§ १३७. अशोक की नीति और कृति की आलोचना

अपने पड़ोसियों से बर्त्तने की एक बिलकुल नई और अनोखी नीति अशोक ने जारी की थी। हम ने उसी के शब्दों में उस का तत्त्व समझने का जतन किया है। वह नीति अच्छी थी या बुरी ? अब तक अनेक दृष्टियों से उस की अनेक प्रकार की आलोचना की जा चुकी है। हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि भारतवर्ष के राष्ट्रीय जीवन और इतिहास पर उस नीति का क्या प्रभाव हुआ।

बिन्दुसार का साम्राज्य शीर्षक एक लेख के अन्त में श्रीयुत काशी-प्रसाद जायसवाल प्रसंगवश इस प्रश्न पर यों लिखते हैं—"यदि अशोक

---

[1] ऊपर § ८२।

राजनीति में धर्मभीरु न बन जाता तो (बिन्दुसार के समय तक मौर्य साम्राज्य में शामिल होने से) बचे हुए (भारतीय) जनपदों का क्या होता सो अनुमान करना कठिन नहीं है। यदि वह अपने पूर्वज की नीति को जारी रखता तो वह फ़ारिस के सीमान्त से कन्या कुमारी तक समूचे जम्बूद्वीप को वस्तुतः एकच्छत्र राज्य के अधीन कर सकता था;— वह आदर्श तब से आज तक चरितार्थ नहीं हो पाया, इतिहास का एक विशेष सुयोग होने पर एक ऐसे मनुष्य के, जो स्वभाव से एक महन्त की गद्दी के लिए उपयुक्त था, अकस्मात् राजसिंहासन पर उपस्थित होने से (उस आदर्श की पूर्ति की) घटना शताब्दियों के लिये नहीं सहस्राब्दियों के लिए पिछड़ गई।"[1]

डा० देवदत्त रा० भण्डारकर भी श्रीयुत जायसवाल के समान भारतीय इतिहास और पुरातत्व के इने-गिने आचार्यों में से हैं। वे अशोक के बड़े प्रशंसक हैं। संसार के इतिहास के अनेक बड़े बड़े प्रसिद्ध राजाओं और सम्राटों—सिकन्दर, सीज़र, कान्स्टैन्टाइन, नैपोलियन आदि—को वे उस के मुकाबले में तुच्छ मानते हैं; तो भी भारतवर्ष के राजनैतिक और राष्ट्रीय जीवन पर अशोक की नीति का प्रभाव उन्हों ने जिन शब्दों में चित्रित किया है, उन में जायसवाल जी के उक्त विचारों की ही प्रतिध्वनि सुनाई देती है। वे कहते हैं—

"हम सब जानते हैं कि बिम्बिसार के समय विहार का छोटा सा मगध राज्य किस प्रकार चन्द्रगुप्त के समय हिन्दूकुश से तामिल देश की सीमा तक विस्तृत मगध साम्रज्य बन गया था। स्वयं अशोक ने भी एक समय कलिंग प्रान्त को जीत कर उस केन्द्राभिगामी (centripetal) प्रवृत्ति को, जो बिम्बिसार ने शुरू की थी, बढ़ाया था। यदि धम्म का भूत उस के मन पर सवार न हो गया होता,

[1] ज० वि० ओ० रि० सो० १९१६, पृ० ८३।

और उस (भूत) ने उस (अशोक) का बिलकुल रूपान्तर न कर दिया होता तो मगध की अदम्य सामरिक वृत्ति और अद्भुत राजनीति ने भारत के दक्खिनी छोर के तामिल राज्यों और ताम्रपर्णी पर हमला कर के और उन्हें अधीन कर के ही दम लिया होता; और शायद वे तब तक शान्त न होतीं जब तक भारतवर्ष की सीमाओं के बाहर रोम की तरह एक साम्राज्य स्थापित न कर लेतीं। भारतवर्ष में आर्य्य सत्ता की स्थापना अशोक से बहुत पहले पूरी हो चुकी थी। भारतवर्ष की विभिन्न जातियों का आर्य रंग में रँगा जाना वैसा ही था जैसा यूनानियों से भिन्न जातियों का यूनानी रंग में रँगा जाना। आर्य भाषा और जीवन-पद्धति लगभग समूचे भारत में व्याप्त हो चुकी थी, और आर्यों की राष्ट्रभाषा—पालि —भी अपनाई जा चुकी थी। विभिन्न भारतीय नस्लों को एक राष्ट्र—प्रत्युत एक साम्राज्य-पद्धति—में ढाल देने की सामग्री वहाँ उपस्थित थी। उस चरम सीमा तक पहुँचने को यदि किसी बात की ज़रूरत थी तो राजनैतिक स्थिरता की, राजनैतिक एकता की। अशोक ने यदि केवल अपने पूर्वजों की नीति जारी रक्खी होती, और बिम्बिसार के समय शुरू हुई केन्द्राभिगामी शक्तियों को सहारा दिया होता, तो वह अपनी शक्ति और शासन-योग्यता से मगध साम्राज्य का संगठन दृढ़ कर देता, और उस राजनैतिक स्थिरता को निश्चित कर देता। किन्तु उस ने कलिंग-युद्ध के शीघ्र बाद, अर्थात् ठीक उस घटना के बाद जो कि उस स्थिति के दूसरे राजाओं को उस अवसर पर विश्व-राज्य स्थापित करने को उत्तेजित करती, एक दूसरी विदेशी नीति जारी कर दी। युद्ध के विचार से भी अशोक उस के बाद घृणा करने लगा।...... इस नीतिपरिवर्त्तन का, दिग्विजय का स्थान धर्मविजय को दे देने का, परिणाम आध्यात्मिक दृष्टि से भले ही उज्ज्वल रहा हो, राजनैतिक दृष्टि से विनाश-कारी हुआ। भारतवासियों के स्वभाव में ही शान्ति-प्रेम और आध्यात्मिक उन्नति के पीछे मरने की आदत पैदा हो गई

और जम गई।......अशोक की नई दृष्टि ने भारतवासियों की केन्द्र-ग्रथित राष्ट्रीय राज्य और विश्व-साम्राज्य की भावनाओं को मार दिया[1]।

फिर "......ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक की धर्म-चेष्टाओं से भारतवर्ष की राष्ट्रीयता और राजनैतिक गौरव नष्ट हो गये।"[2]

यह आलोचना केवल जायसवाल और भण्डारकर के नहीं प्रत्युत आजकल के साधारण प्रचलित विचार को सूचित करती है। किन्तु इस की जड़ में एक भ्रान्त दृष्टि तथा तुलनात्मक इतिहास का एक ग़लत अन्दाज़ है।

किसी एक महापुरुष की सनक या करतूत से एक समूची जाति का स्वभाव और इस के इतिहास का मार्ग ही हमेशा के लिए नहीं बदल सकता।

यदि तीसरी शताब्दी ई० पू० के भारतवासियों में अपने समूचे देश को एक साम्राज्य में लाने की और उस समय के अपने पड़ोसी विदेशों को भी उस में सम्मिलित करने की आकाङ्क्षा योग्यता और क्षमता—'सामरिक वृत्ति' और राजनैतिक प्रतिभा—थी, तो अशोक के दबाये वह दब न सकती थी। वह क्षमता और प्रतिभा अशोक को गद्दी से उतार फेंक सकती थी, जैसे उस ने नन्द को उतार फेंका था, या अशोक के आँख मूदते ही फिर प्रकट हो सकती थी। एक आदमी के दबाये जो राष्ट्रीय स्वभाव दब या बदल जा सकता है, उस में साम्राज्य खड़े करने की प्रतिभा और क्षमता रही हो, सो मानना असम्भव है।

दूसरे प्रो० भण्डारकर का यह विचार प्रतीत होता है कि भारतवासी रोमन साम्राज्य की तरह एक साम्राज्य—जिस में उन का अपना समूचा देश और बाहर के कुछ पड़ोसी देश भी सम्मिलित होते—खड़ा न कर

---

[1]अशोक, पृ० २४२—४४।

[2]वहीं, पृ० २४७।

सके, वे भारतवर्ष में वह राजनैतिक एकता और स्थिरता न पैदा कर सके जिस से यह देश एक राष्ट्र—बल्कि विश्व-साम्राज्य का केन्द्र—बन जाता, और काश कि ठीक उस समय जब कि वे ऐसा करने वाले थे अशोक के सिर पर धर्म का भूत सवार न हो गया होता ! नहीं तो वे ज़रूर किसी अंश में रोमनों से कम न रहते।

किन्तु क्या यह सच है ? रोम या इटली की भारतवर्ष से तुलना करना ग़लत है। रोम पाटलिपुत्र की तरह केवल एक नगरी थी, और इटली मगध की तरह एक जनपद; मगध का भारतीय साम्राज्य रोम के साम्राज्य की तरह—प्रत्युत उस से अधिक विस्तृत, अधिक आबाद, और कहीं अधिक सुसंगठित सम्पन्न तथा समृद्ध—था। दूसरी शताब्दी ई० के आरम्भ में अपने चरम उत्कर्ष के समय भी रोम-साम्राज्य विस्तार और क्षेत्रफल में चार शताब्दी पहले के मौर्य साम्राज्य का मुश्किल से मुकाबला कर सकता था। जनसंख्या में वह उस से कहीं छोटा रहा; और आर्थिक और व्यावसायिक समृद्धि में वह तब भी भारतवर्ष के सामने निरा कंगाल रहा; तब भी उस के राजनीतिज्ञ इस बात को रोते रह गये कि भारतवर्ष अपनी कारीगरी की चीज़ें भेज कर हर साल रोम से रुपया खींचता जाता है ![1] इटली की राष्ट्रीय एकता की तुलना यदि करनी हो तो मगध या वृजिसंघ या कलिंग या आन्ध्र की राष्ट्रीय एकता से करनी होगी। उन के विषय में हम बहुत नहीं जानते, पर कलिंग ने मगध का जैसा मुकाबला किया था, और एक बार नन्दों की और फिर मौर्यों की अधीनता से जिस प्रकार गर्दन छुड़ा ली थी, उस से जान पड़ता है कि राष्ट्रीय जीवन की भारतवर्ष के जनपदों में भी कुछ कमी न थी। और समूचे भारतवर्ष में मौर्य साम्राज्य ने और उस के उत्तराधिकारी साम्राज्यों ने जो राजनैतिक एकता और स्थिरता बनाये रक्खी,

---

[1] नीचे § १६२ क।

तथा जो राष्ट्रीय जीवन की एकता किसी अंश तक पैदा कर दी, वह उस से निश्चय से कहीं अधिक थी जो कि समूचे रोम-साम्राज्य या उस के उत्तराधिकारियों ने अपने क्षेत्र में बनाये रक्खी या पैदा की। बेशक आज भारतवासियों में राष्ट्रीय जीवन की एकता और राजनैतिक चेतना नहीं है, आज वे गुलाम हैं, किन्तु उस गुलामी का क्या यही कारण है कि भारतवर्ष के छोटे-छोटे प्रदेश परस्पर मिलना नहीं जानते? और इस कारण नहीं जानते कि उन्हें अपने पिछले इतिहास में मिल कर एक राष्ट्र बनने की आदत नहीं पड़ी? क्या उन छोटे छोटे प्रदेशों में भी कोई सामूहिक चेतना है? इस विषय पर हम पीछे विचार कर चुके हैं[1], और इसे फिर से उठाने की ज़रूरत नहीं। किन्तु इतनी बात निश्चित प्रतीत होती है कि भारतवर्ष के इतिहास में मौर्यों के समय से जो बड़े बड़े एकराज्य स्थापित होते रहे, उन में से प्रत्येक के क्षेत्रफल, जनसंख्या और जीवन-काल की तुलना युरोप के इतिहास के आधुनिक युग से पहले तक के राज्यों से की जाय, तो राजनैतिक स्थिरता और राजनैतिक एकता के उक्त हिसाब में भारतवर्ष ही बाज़ी ले जायगा।

रोम या इटली की सीमा के बाहर रोम-साम्राज्य का फैलना और भारतवर्ष की सीमाओं के बाहर भारतीय साम्राज्य का फैलना एक पाये की बातें नहीं हैं। तो भी हम यह देखेंगे कि अशोक के चार पाँच शताब्दी पीछे तक भारतवासियों ने समूची सुवर्णभूमि और सुवर्ण-द्वीपों को परला हिन्द, तथा सीता और तरीम के काँठों को उपरला हिन्द बना ही डाला[2]। और विचार करने पर यह पाया जायगा कि अशोक की धम्म-विजय की नीति उन उपनिवेशों की बुनियाद रखने में बड़ी सहायक रही। भारतवर्ष और बृहत्तर भारत के वे सब राज्य और उपनिवेश मिल

---

[1] § २५।

[2] नीचे §§ १७५, १७६, १८८ आदि।

कर शायद कभी एक अकेले साम्राज्य में सम्मिलित नहीं रहे; किन्तु प्राचीन युग के साधनों और हथियारों से क्या उतना बड़ा साम्राज्य खड़ा करना कभी सम्भव भी था ?

तो भी, क्या यह अच्छा न होता कि अशोक ने कम से कम तामिल राष्ट्रों और ताम्रपर्णी (सिंहल) को मौर्य साम्राज्य में मिला लिया होता ! बेशक यदि वह चाहता तो उन्हें जीत लेना असम्भव न होता, किन्तु शायद उन के लिए वही कीमत देनी पड़ती जो कलिंग के लिए देनी पड़ी थी। डा० भण्डारकर ने स्वयं सिद्ध किया है[1] कि पाण्ड्य राज्य एक आर्य उपनिवेश था, जो अशोक के समय से करीब दो शताब्दी पहले स्थापित हुआ था। ताम्रपर्णी भी निश्चय से उसी तरह का उपनिवेश था; और चोल, चेर (केरल) और सतियपुत्र भी सम्भवतः। नये और दूर के उपनिवेश पुराने राष्ट्रों की अपेक्षा सदा अधिक जानदार और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अधिक तत्पर होते हैं। वे कम से कम कलिंग की तरह मौर्यों का मुकाबला करते, इस में सन्देह नहीं। और उन के मौर्य विजित में शामिल हो जाने का फल क्या निकलता ? फल यही होता कि समूचा भारतवर्ष एकराज्य बन जाता, जिस से उस में एक समान कानून, समान व्यवहार और एक-राष्ट्रीयता का विकास होना अधिक सुगम हो जाता। किन्तु क्या ये सब लाभ अशोक ने अपने धम्मविजय से ही न पा लिये थे ? क्या उस का धम्मविजय एक 'शान्तिमय दखल (peaceful penetration)' न था ? यदि वह अपने प्रभाव और रोबदाब से ही पड़ोसी राज्यों में अपने राज्य की तरह सब काम करवा सकता था, तो उसे व्यर्थ में हत्या करने की और स्वाधीनताप्रेमी छोटे छोटे राष्ट्रों को साम्राज्य का जानी दुश्मन बना लेने की ज़रूरत क्या थी ?

---

[1] ऊपर § १०९ और ※ २४।

व्यक्ति और छोटे समूहों की स्वाधीनता और बड़े राष्ट्र की राष्ट्रीयता दोनों अच्छे आदर्श हैं; किन्तु दोनों में सदा से कशमकश रही है। दोनों की अति बुरी है। व्यक्ति और छोटे समूह बड़े राष्ट्रों के अधीन होना न सीखें तो वे कूपमण्डूक बन जाते हैं। दूसरी तरफ़, बड़े राष्ट्रों की एकराष्ट्रीयता की साधना में व्यक्तियों और समूहों की स्वतन्त्रता बिलकुल कुचल दी जाय तो मनुष्य की मनुष्यता नष्ट हो जाती है। राष्ट्रीयता और एकराज्य का भाव इतिहास में केन्द्राभिमुखी प्रवृत्ति पैदा करता है, और स्वाधीनता का भाव केन्द्रापमुखी। जिन्दा जातियों के इतिहास में उन दोनों प्रवृत्तियों का प्रतितुलन बराबर होता रहता है।

चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार को युद्धों से ही फ़ुरसत मुश्किल से मिली होगी। अर्थशास्त्र से हमें इस बात की कुछ झलक मिलती है कि छोटे छोटे जनपदों के संघों को तोड़ने के लिए उन्हें कैसे विकट साधनों का प्रयोग करना पड़ा था[1]। यह निश्चय मानना चाहिए कि उन परास्त जनपदों का असन्तोष बहुत जल्द साम्राज्य के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया और विद्रोह पैदा कर देता यदि अशोक ठीक मौके पर क्षमा और शान्ति की घोषणा न कर देता। उस की उस गौरव के समय संयम की नई नीति ने देश की 'राजनैतिक स्थिरता और राजनैतिक एकता' को ढीला करना दूर, उसे उलटा पुष्ट किया। साम्राज्यों का संगठन सदा शस्त्रों और दण्ड से ही नहीं होता, समय समय पर उन्हें साम की अधिक अपेक्षा होती है। दण्ड के ज़ोर पर बहुत से जनपदों के एक राज्य के अधीन जुते रहने से ही उन में एकराष्ट्रीयता पैदा नहीं हो जाती; शान्ति की नीति से अनेक साधनों से उन में जो आन्तरिक एकता उत्पन्न की जाती है, वही एक राष्ट्रीयता की पक्की बुनियाद होती है। उस प्रकार की आन्तरिक एकता पैदा करना अशोक की विशेष नीति रही प्रतीत होती

---

[1] नीचे §§ १४२, १४३।

है। उसे व्यवहार-समता और दण्ड-समता अभीष्ट थी। अपने सीधे शासित प्रदेशों के अन्दर उस ने जो सुधार किये सो किये, किन्तु अपने अधीन जनपदों—योन कम्बोज रठिक आन्ध्र आदि—में भी उस ने धम्ममहामात नियुक्त कर दिये, जिन का काम सब जगह कानून और व्यवहार (न्याय) की प्रक्रिया को एक समान मृदु बनाना था। यदि दण्ड के ज़ोर पर अशोक अपने इन अधीन जनपदों के कानून और प्रथा में इस प्रकार दखल देता, तो शायद वे उलटा विद्रोह करने को प्रवृत्त होते।

इस के अतिरिक्त एक और प्रकार से अशोक के प्रक्रम के कारण भारतवर्ष की आन्तरिक एकता और एक-राष्ट्रीयता जैसी बढ़ी, उसे स्वयं डा० भण्डारकर ने सब से पहले पहचाना है। वे कहते हैं—"उस (अशोक) के समय तक समूचा भारत आर्य हो चुका था। किन्तु विभिन्न प्रान्तों की अपनी अपनी विभिन्न बोलियाँ थीं। किन्तु उस ने अपने धर्म के प्रचार के लिए जो भारी प्रयत्न किये, उन से एक प्रदेश और दूसरे प्रदेश के अन्दर यातायात बढ़ गया और चुस्ती से होने लगा, और एक समान भाषा की—एक ऐसी भाषा की जो सब प्रान्तों में पढ़ी और समझी जाय, और न केवल सांसारिक प्रत्युत धार्मिक विषयों में भी विचार-विनिमय का माध्यम बन जाय—सब जगह ज़रूरत अनुभव की जाने लगी। इस प्रकार पालि अथवा अभिलेखों वाली प्राकृत भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा स्वीकार की गई।"[1]

और जहाँ अपने साम्राज्य के अन्दर अशोक ने यह कुछ किया, वहाँ बाहर क्या किया? उस का धम्मविजय क्या चीज़ थी? उस ने अपने पड़ोस और दूर के विदेशों के अन्दर अपने चिकित्सालय खुलवा दिये, सड़कों पर पेड़ रोपवा दिये तथा उदपान (कुएँ और बावड़ियाँ) खुदवा दिये। नहीं जानते यह सब ठीक ठीक कैसे हुआ; किन्तु वे

[1] अशोक, पृ० २२५।

चिकित्सालय आदि क्या विदेशों में उस का प्रभाव फैलाने वाले केन्द्र न थे ? जैसा कि अभी कहा गया है, क्या उस की धर्मविजय की नीति वही चीज़ नहीं है जिस से हम आजकल की राजनैतिक परिभाषा में शान्तिपूर्वक दखल़ कहते हैं ? अपने प्रभाव और दबदबे से जहाँ हाथ डाला जा सके, वहाँ व्यर्थ में युद्ध क्यों किया जाय ?

अशोक के वचनों और कार्यों पर ज़रा भी ध्यान दें तो वह एक सधा हुआ साम्राज्यवादी दिखाई देता है। उस का नीतिपरिवर्त्तन 'मगध की अद्भुत राजनीति' की केवल एक नई और अत्यन्त समयोचित अभिव्यक्ति थी। किन्तु वह परिवर्त्तन सहज सयानेपन से प्रेरित एक सच्चा आन्तरिक परिवर्त्तन था। उस की और आजकल के शान्तिपूर्वक दखल करने वाले साम्राज्यकामी राजनीतिज्ञों की बातों और बर्त्ताव में केवल यही फ़रक है कि आजकल के उन राजनीतिज्ञों की कृति और उक्ति में जहाँ स्पष्ट मक्कारी झलक जाती है, वहाँ अशोक का बुरे से बुरा दुश्मन भी नहीं कह सकता कि उस की बातों पर सरल सचाई की छाप नहीं है।

फिर जब मौर्य साम्राज्य की रोम-साम्राज्य से तुलना की गई है तब इस बात की याद दिलाना भी मनोरंजक होगा कि अशोक ने तेरहवें शिलाभिलेख में अपने उत्तराधिकारियों को नये विजय न करने का जैसा आदेश दिया है, कुछ उस से मिलता जुलता आदेश रोम के पहले सम्राट ऑगस्त (Augustus) के प्रसिद्ध अंकुरा (आधुनिक अंगोरा)-अभिलेख में भी है। ९ ई० में त्यूतोबर्जर्वाल्ड में जर्मनों से हारने पर ऑगस्त ने यह समझ लिया कि रोम-साम्राज्य की सीमायें एल्ब नदी तक नहीं पहुँचाई जा सकतीं, और इसी लिये अपने उक्त अभिलेख में —जिस की एकमात्र प्रति अब अंकुरा में बची है—उस ने अपने वंशजों को यह वसीयत की कि साम्राज्य को और अधिक बढ़ाने के जतन न किये जांय। क्या यह आदेश अशोक के आदेश के समान नहीं है ?

दोनों में भेद केवल यह है कि अशोक का आदेश जहाँ एक आन्तरिक अनुशोचन और धर्मवेदना के कारण है, वहाँ ऑगस्त का अपनी हार के अनुभव के कारण। उस धर्मवेदना के कारण अशोक ने जो अनेक सुधार किये उन में से एक था समाजों अर्थात् पशुओं की लड़ाइयों को रोकना। प्राचीन रोम भी अपने उस प्रकार के समाजों के लिए बदनाम है; और जिन आधुनिक भारतीय आलोचकों के मन में यह विश्वास सरकता प्रतीत होता है कि अशोक की उस विहिंसा-निषेध की नीति से भारतवासियों की क्षात्र शक्ति क्षीण होने लगी, उन्हें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि रोम-साम्राज्य के पतन के मुख्य कारणों में रोमन जनता का समाजों का व्यसन भी गिना जाता है। विहिंसा या भोंडी क्रूरता और वीरता कभी एक वस्तु नहीं हैं, और गौरव के समय जो मनुष्य या राष्ट्र संयम करना नहीं सीखते उन का पतन उलटा जल्दी होता है। रोमन लोग अपने गौरव-काल में भी जहाँ अपने उजड्डपन को न रोक सके, वहाँ भारतवासियों ने अपने गौरव के समय अपनी सहज मानव उच्चता के कारण अपनी पुरानी उजड्ड आदतों का दमन कर लिया। और भारतवर्ष की उस मानव उच्चता का मूर्त रूप अशोक था।

इस के बावजूद भी हमें यह स्वीकार करना होगा कि यदि अशोक के समय नहीं तो उस के उत्तराधिकारियों के समय शायद उस की क्षमा की नीति उचित से अधिक सीमा तक बर्त्ती गई, और उस का परिणाम मौर्य साम्राज्य का पतन हुआ। किन्तु भारतवर्ष के आत्मा ने उस शान्तिनीति को स्वीकार नहीं किया, ज्योतिषी गर्ग ने उस के संचालक को मोहात्मा (मूर्ख) और धर्मवादी अधार्मिक कहा, उस के धार्मिक विजय का मज़ाक उड़ाया, तथा जो नया साम्राज्य मौर्य साम्राज्य के खँडहरों पर खड़ा हुआ, उस के नीति-संचालकों ने कौटल्य के शब्द दोहराते हुए घोषणा की कि—नित्यमुद्यतदण्डः स्यात्—राजा अपने दण्ड को सदा उद्यत रक्खे![1]

[1] नीचे § १५४।

§ १३८. अशोक की रचनायें और अभिलेख

अशोक की चर्चा उस के अभिलेखों की चर्चा के बिना पूरी नहीं हो सकती। वे भारतवर्ष की राष्ट्रीय विरासत के अनमोल रत्न हैं। पिछली शताब्दी में उन के पाये और पढ़े जाने का वृत्तान्त बड़ा मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है, और भारतवर्ष की प्राचीन लिपियों के पढ़े जाने का वृत्तान्त उस वृत्तान्त के साथ गुँथा हुआ है। अशोक से पहले के केवल दो-चार फुटकर अभिलेख ही अब तक मिले हैं।

अशोक अपने लेखों को धम्मलिपि कहता है। उन की जो दो प्रतियाँ पेशावर और हज़ारा ज़िलों में हैं, वे खरोष्ठी अक्षरों में हैं, बाकी सब ब्राह्मी में। सातवें स्तम्भाभिलेख में वह कहता है कि उस की धम्म-लिपियाँ सिला-थंभों और सिला-फलकों पर खोदी जाँय; फिर रूपनाथ और सहस्राम के गौण शिलाभिलेख में सिला-थंभों और पर्वतों पर लिपियाँ खुदवाने का ज़िक्र है। इस प्रकार अशोक के लेख कम से कम तीन तरह के थे—पर्वतों पर खुदे हुए, पत्थर के थंभों पर खुदे हुए, और पत्थर की पाटी पर खुदे हुए। पत्थर की पाटी पर केवल एक लेख जयपुर रियासत के बीजक पहाड़[1] से मिला है; उसे पहले भाबरू का लेख कहते थे, पर अब उस का नाम डा० हुल्श ने कलकत्ता-बैराट-लेख रक्खा है, क्योंकि वह बैराट के पास से मिला और अब कलकत्ते में पड़ा है। उस लेख तथा अन्य पर्वतलेखों को अब हम शिलाभिलेख कहते हैं, स्तम्भलेखों को स्तम्भाभिलेख तथा जो लेख लेणों अर्थात् गुहामन्दिरों में मिले हैं उन्हें लेणाभिलेख।

---

[1] उस पहाड़ का नाम बीजक पहाड़ भी उस अभिलेख के कारण ही हुआ है, क्योंकि हमारे अनपढ़ या अशिक्षित भाई अब तक शिला-भिलेखों को गड़े धन का बीजक मानते हैं!

प्रधान शिलाभिलेख १४ हैं, और वे एक के नीचे दूसरा सब इकट्ठे खुदे होते हैं। सात विभिन्न स्थानों से उन की पूरी या अधूरी प्रतियाँ मिली थीं, हाल में एक आठवीं प्रति मिली है। किसी किसी शब्द के भेद या उच्चारण-भेदों के सिवाय सब प्रतियों की इबारत एक ही है। जिन स्थानों से पुरानी सात प्रतियाँ मिली थीं वे निम्नलिखित हैं—(१) शाहबाजगढ़ी, तहशील यूसुफ़ज़ई, ज़िला पेशावर; (२) मनसेहरा, ज़ि० हज़ारा; (३) कालसी, ज़ि० देहरादून—जमना के पच्छिम, टोंस-संगम के ठीक ऊपर; (४) गिरनार, जूनागढ़ से एक मील पूरब, काठियावाड़; (५) सोपारा, तालुका बसई, ज़ि० ठाना, जहाँ से केवल आठवें अभिलेख का एक तिहाई टुकड़ा मिला है; (६) धौली, तालुका खुर्दा, ज़ि० पुरी,—भुवनेश्वर से सात मील पर; (७) जौगडा, ता० ब्रह्मपुर ('बरहमपुर') ज़ि० गंजाम,—ऋषिकुल्या नदी के उत्तर तट पर। आठवीं प्रति अब आन्ध्र के कुर्नूल ज़िले से मिली है।

धौली और जौगडा की चट्टानों पर १२वें-१३वें अभिलेखों के बजाय दो और अभिलेख हैं, जिन्हें कलिंगाभिलेख कहा जाता है।

प्रधान स्तम्भाभिलेख सात हैं, और उन की प्रतियाँ नीचे लिखे स्थानों पर मिली हैं—(१) दिल्ली, दिल्ली दरवाजे के बाहर फ़ीरोज़शाह के कोटले पर; यह पहले अम्बाला जिले में साधौरा के १८ मील दक्खिन तोपरा गाँव में था, जहाँ से फीरोज़ तुग़लक (१३५१—१३८८ ई०) बड़ी विकट योजना से इसे उठवा लाया था; इसी लिए इसे दिल्ली-तोपरा-स्तम्भ कहते हैं। (२) दिल्ली के उत्तर-पच्छिम ढाँग पर; यह भी पहले मेरठ में था जहाँ से फीरोज़ ने इसे उठवाया था। (३-४) चम्पारन ज़िले में अरराज के शिवालय तथा नन्दनगढ़ के किले के पास दो गाँवों में जो दोनों लौड़िया कहलाते हैं। उन गाँवों का उक्त नाम इन्हीं स्तम्भों के कारण पड़ा है, क्योंकि ग्रामीण लोग इन्हें लिंग समझते थे। लौड़िया-अरराज से कुछ दूर पर रधिया और लौड़िया नन्दनगढ़ से

कुछ दूर पर मथिया गाँव भी है; उन के नामों से भी ये स्तम्भ पुकारे जाते रहे हैं। (५) चम्पारन ज़िले में रामपुरवा, बेतिया से ३२½ मील उत्तर (६) प्रयाग के किले में; इस पर कौशाम्बी का नाम है, इस लिए यह पहले प्रयाग के तीस मील ऊपर जमना के बाँयें तट पर कोसम गाँव में रहा होगा; अब इसे प्रयाग-कोसम-स्तम्भ कहते हैं। सात प्रधान स्तम्भाभिलेखों में से सातवाँ जो सब से लम्बा है, केवल दिल्ली तोपरा स्तम्भ पर है। प्रयाग-कोसम-स्तम्भ पर दो गौण लेख भी हैं—एक रानी कारुवाकी का दानविषयक, दूसरा कौशाम्बी के महामात्यों के नाम संघ में भेद डालने विषयक। कौशाम्बी वाले उस लेख की एक प्रति भिलसा के नज़दीक साँची (रियासत भोपाल) में तथा एक सारनाथ (बनारस) में भी है। इन दो के अतिरिक्त दो और गौण स्तम्भ-लेख नेपाल-तराई में तौलिहवा तहसील, बुटौल ज़िले, में हैं; एक रुम्मिन्देई में, जिस का केवल ठूंठा बचा है, और जिस में यह लिखा है कि अभिषेक के बीसवे बरस राजा प्रियदर्शी शाक्यमुनि बुद्ध की इस जन्म-भूमि में आया; एक उस के १३ मील उत्तरपच्छिम निगलीवा गाँव के निकट निगाली-सागर तालाब के तट पर, जिसे ग्रामीण लोग भीमसेन की निगाली (हुक्के की नली) कहते हैं, और जिस में यह लिखा है कि कोनाकमन बुद्ध के इस स्तूप को प्रियदर्शी ने दूना करवाया।

गौण शिलाभिलेख इन स्थानों पर हैं—(१) रूपनाथ, ज़ि० जबलपुर,—कैमोर पर्वत के ठीक तले; (२) सहसराम, ज़ि० शाहाबाद; (३-४) बैराट, रियासत जयपुर, एक 'भीम की डूंगरी' के नीचे, दूसरा 'बीजक पहाड़' पर; (५) मस्की लिंगसुगुर तालुका, ज़ि० रायचूर; (६-७-८) मैसूर के चीतलद्रुग ज़िले में एक सिद्धापुर में, और दो उस के निकट, एक ब्रह्मगिरि में, और एक जटिंग-रामेश्वर पहाड़ पर। इन में से बैराट के बीजक पहाड़ वाली चट्टान पर एक अलग ही लेख ('भाब्रू-लेख' या 'कलकत्ता-बैराट लेख') है; बाकी पहले

तीन और पाँचवें पर एक ही लेख है जिस मे प्रक्रम का फल बतलाया है; अन्तिम तीन पर वह लेख भी है और एक छोटा सा और भी। इस प्रकार गौण शिलाभिलेख कुल तीन हैं। मस्की वाला अभिलेख सन् १९१५ में मिला था; और अशोक के तमाम लेखों में से केवल उसी में अशोक का नाम है।

इन सब के अतिरिक्त गया ज़िले की बराबर नामक पहाड़ियों की तीन लेणों अर्थात् गुहाओं में तीन ज़रा ज़रा से दानसूचक अभिलेख अशोक के हैं। इस प्रकार उस के कुल ३२ छोटे बड़े अभिलेख हैं।

अशोक से पहले फ़ारिस के हखामनी राजा दारयवहु (पहले) ने भी चट्टानों पर अपनी आज्ञायें खुदवायी थीं। बहुत संभव है अशोक को शिलाओं पर इस प्रकार लेख खुदवाने का विचार वहीं से मिला हो। किन्तु थंभों पर लेख खुदवाने का विचार अशोक का अपना था। और उस के थंभे कारीगरी के अनोखे नमूने हैं। प्रत्येक थंभा ४० से ५० फ़ुट तक ऊँचा है, और उन की औसत मोटाई २' ७'' है। उन की छाँट-तराश बहुत बढ़िया हुई है, और उन पर की उस ज़िलअ (पालिश) को, जिस के कारण वे आज भी दर्पण की तरह चिकने लगते हैं, देख कर आजकल के कारीगर भी चकित होते हैं। वे सब के सब चुनार के पत्थर के हैं, और वहीं से सब जगह भेजे गये थे; उन्हें इतनी दूर ढो कर किस तरह भेजा गया सो एक और अचम्भे की बात है। फ़ीरोज तुगलक के समय उन में से केवल तीन को सिर्फ़ डेढ़ एक सौ मील तक ढुवाने के लिए भारी भारी योजनायें करनी पड़ी थीं, ८४०० आदमी एक थम्भे के केवल रस्सों को खींचने में लगे थे। अशोक के समय उन का चुनार से अम्बाला तक ढोया जाना मौर्य इंजीनियरों की अद्भुत चतुराई का सूचक है। उन थम्भों के ऊपर सिंह आदि की जो मूर्त्तियाँ हैं, उन की सजीवता और परिष्कृति की भी आधुनिक कला-वेत्ताओं ने जी खोल प्रशंसा की है।

अनुश्रुति में यह प्रसिद्ध है कि अशोक ने ८४ हज़ार धर्मराजिक अथवा स्तूप बनवाये थे, और बुद्ध के शरीर-धातु जिन पहले आठ स्तूपों में रक्खे गये थे उन में से निकलवा कर उन ८४००० नये स्तूपों में बँटवा कर रखवा दिये थे। और इन सब नये स्तूपो में धातु रखवाने का काम एक साथ एक ही दिन किया गया था।[1]

अशोक की न जाने कितनी रचनायें आज नष्ट हो चुकी हैं। उस के नौ बरस बाद य्वान च्वाङ के समय तक उस के बनवाये अनेक स्तूप और अन्य रचनायें विद्यमान थीं, जो आज नहीं हैं। कपिश देश की राजधानी कापिशी में अशोक का बनवाया सौ फ़ुट ऊँचा एक स्तूप तब तक था; उसी तरह नगरहार (आधुनिक निंग्रहार) में एक तीन सौ फ़ुट ऊँचा। समतट अर्थात् गंगा-ब्रह्मपुत्र के मुहाने के प्रदेश में भी एक स्तूप था। उसी प्रकार अन्य अनेक। कुछ रचनायें तो बिलकुल आधुनिक समय में ही नष्ट हुई हैं। पटना शहर के एक ज़नाना अहाते में अशोक का एक स्तम्भ दबा बताया जाता है। बनारस में उस के एक स्तम्भ को १८०५ ई० के दंगे में मुसलमानों ने नष्ट कर दिया था; उसी के ठूंठ को अब लाट भैरो कहते हैं।

कश्मीर की राजधानी पुरानी श्रीनगरी, तथा नेपाल की पुरानी राजधानी मंजुपत्तन भी अशोक ने बसाई थीं।

§ १३९. अशोक का अन्तिम समय और उस के उत्तराधिकारी

अनुश्रुति के अनुसार अशोक को अपने अन्तिम समय में राज्याधिकार से वञ्चित होना पड़ा था। उस ने बौद्ध भिक्षु-संघ को बहुत अधिक दान दिया, और वह अभी और दान करना चाहता था जब

---

[1] दि० पृ० ३७९, ४०२, ४२९, आदि; य्वान २, पृ० ९१।

अमात्यों ने प्रतिषेध कर दिया। "तब राजा अशोक ने संविग्न हो कर अमात्यों और पौरों का सन्निपतन कर कहा—कौन अब पृथिवी का ईश्वर (भारतवर्ष का राजा) है ?......अमात्यों ने कहा—देव (श्रीमान्) पृथिवी के ईश्वर हैं। आँखों में आँसू भरे हुए अशोक ने फिर कहा—आप लोग दाक्षिण्य से क्यों झूठ कहते हैं ? हम तो आधिराज्य से भ्रष्ट (वञ्चित) हैं।"......उस ने भिक्षु-संघ को भी सूचना भेजी कि 'राजा अब अपने कर्मों से वञ्चित है' और संघ ने राजा के हृताधिकार होने पर खेद प्रकट किया।[1]

वायु पुराण और तारा नाथ आदि के अनुसार अशोक का उत्तराधिकारी उस का बेटा कुनाल था; विष्णु पुराण में उस के बजाय सुयश नाम है जो कुनाल का ही दूसरा नाम प्रतीत होता है। उस का राज्य-काल आठ बरस का लिखा है।

वि० पु० के अनुसार अशोक का पोता दशरथ था, मत्स्य पुराण में भी उस का नाम है। दशरथ की बनवाई तीन लेणों बराबर के पास नागार्जुनी पहाड़ी में है, जिन में उस के दानसूचक अभिलेख भी हैं। दिव्यावदान और जैन अनुश्रुति उस का नाम भूलती हैं, उन दोनों के अनुसार अशोक का पोता सम्प्रति था। मत्स्य और विष्णु पुराण में दशरथ के बाद सम्प्रति या संगत का नाम है। वायु पुराण में लिखा है कि कुनाल का बेटा बन्धुपालित और उस का दायाद (उत्तराधिकारी) इन्द्रपालित था। जायसवाल यह परिणाम निकालते हैं कि बन्धुपालित और इन्द्रपालित क्रमशः दशरथ और सम्प्रति के उपनाम थे, और सम्प्रति दशरथ का छोटा भाई और उत्तराधिकारी था।

सम्प्रति को उज्जैन में जैन आचार्य सुहस्ती ने अपने धर्म की दीक्षा दी। उस के बाद सम्प्रति ने जैन धर्म के लिए वही काम किया

---

[1] दि० पृ० ४३०—३२।

जो अशोक ने बौद्ध के लिए किया था। बहुत सम्भव है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के इस वंशज के जैन होने की बात का ही यह भ्रान्त रूप बन गया हो कि चन्द्रगुप्त जैन था। जो भी हो, चाहे चन्द्रगुप्त के और चाहे सम्प्रति के समय में जैन धर्म की बुनियाद तामिल भारत के नये राज्यों में भी जा जमी, इस में संदेह नहीं। उत्तरपच्छिम के अनार्य देशों में भी सम्प्रति के समय जैन प्रचारक भेजे और वहाँ जैन साधुओं के लिए अनेक विहार स्थापित किये गये। अशोक और सम्प्रति दोनों के कार्य से आर्य संस्कृति एक विश्व-शक्ति बन गई, और आर्यावर्त्त का प्रभाव भारतवर्ष की सीमाओं के बाहर तक पहुँच गया। अशोक की तरह उस के पोते ने भी अनेक इमारतें बनवाईं। राजपूताना की कई जैन रचनायें उस के समय की कही जाती हैं।

जैन लेखकों के अनुसार सम्प्रति समूचे भारत का स्वामी था। तारानाथ के अनुसार कुनाल का बेटा विगताशोक था। शायद वह केवल सम्प्रति का उपनाम रहा हो।

सम्प्रति के बाद के मौर्यों के केवल नाम भर पुराणों में दर्ज हैं; उन से जायसवाल ने समूचे मौर्य वंश का ढांचा इस प्रकार ठीक किया है—

१. चन्द्रगुप्त ३२६-२५—३०२ ई० पू०
|
२. बिन्दुसार ३०२—२७७
|
३. अशोक, अभिषेक से पहले २७७-२७३
| बाद २७३-२—२३६
४. कुनाल २३६—२२८
|

[४. कुनाल]

५. दशरथ उर्फ़ बन्धुपालित
२२८ - २२०

६. सम्प्रति उर्फ़ इन्द्रापालित
२२०—२११

७. शालिशुक २११—२१०

८. सोमधर्मा उर्फ़ देवधर्मा, २१०— २०३

९. शतधनुष या शतधन्वा
२०३—१९५

१०. बृहद्रथ या बृहदश्व
१९५—१८८

दिव्यावदान के अनुसार सम्प्रति का बेटा बृहस्पति, उस का वृषसेन और उस का पुण्यधर्मा था। शायद बृहस्पति सोमधर्मा का, वृषसेन शतधन्वा का, और पुण्यधर्मा बृहदश्व का उपनाम रहा हो; या बृहस्पति शालिशुक का, वृषसेन सोमधर्मा का, और पुण्यधर्मा बृहदश्व का।

शालिशुक का नाम केवल वि० पु० में और वा० पु० की एक प्रति में है। किन्तु उस की सत्ता ज्योतिष के प्राचीन ग्रन्थ गार्गी संहिता से सिद्ध हुई है, जिस के युग-पुराण अंश में उसे राष्ट्रमर्दी (देश का पीडक) तथा धर्मवादी ह्यधार्मिकः (धर्म की डींगें हाँकने वाला किन्तु अधर्माचारी) कहा है।

राजतरंगिणी के अनुसार कश्मीर के राज्य में अशोक का उत्तराधिकारी उस का बेटा जलौक था,—उस प्राचीन इतिहास के लिए राजतरंगिणी की प्रामाणिकता नहीं हैं। तारानाथ के अनुसार विगताशोक का बेटा वीरसेन था, जिस का गान्धार में राज्य होना भी उस से सूचित होता है। एक यूनानी लेखक ने सीरिया के राजा अन्तियोक के समकालीन २०६ ई० पू० में काबुल के राजा सुभागसेन का उल्लेख

किया है। नामों की समानता से यह अन्दाज़ किया गया है कि सुभागसेन शायद वीरसेन का बेटा रहा हो।

यह कल्पना की गई है कि अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य के दो टुकड़े हो गये, पूरबी भाग का राजा दशरथ रहा और पच्छिमी का सम्प्रति। डा० विन्सेंट स्मिथ इसे कोरी अटकल कहते हैं। जैन ग्रन्थों के अनुसार सम्प्रति के राज्य में पाटलिपुत्र और उज्जैन दोनों थे। सम्प्रति के समय तक साम्राज्य टूटा नहीं दीखता, किन्तु उस के ठीक बाद राष्ट्रमर्दी शालिशुक के समय में टूटना बहुत सम्भव है; प्रत्युत सुभागसेन के काबुल का स्वतन्त्र राजा होने से वह सम्भव ही क्या लगभग निश्चित है। और ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरापथ उस समय साम्राज्य से निकल गया। जलौक यदि कोई वास्तविक राजा रहा हो तो वह, तथा वीरसेन और सुभागसेन इसी समय के राजा रहे होंगे। हम देखेंगे कि कलिंग और आन्ध्र-महाराष्ट्र भी करीब-करीब इस समय तक स्वतन्त्र हो चुके थे।

इस प्रकार मगध का पहला साम्राज्य जो छठी शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्ध में बिम्बिसार और अजातशत्रु के समय पहले पहल उठा था, तीसरी शताब्दी ई० पू० के अन्त में समाप्त हो गया। मोटे तौर से ५६० ई० पू०—२११ ई० पू० की अवधि को मगध के पहले साम्राज्य का युग कहा जा सकता है। पच्छिम के देशों में प्रायः यही (५५०—२०१ ई० पू०) पारस-यूनान-युग था। इस युग के पहले अंश में जब मगध-साम्राज्य की दण्ड-शक्ति शैशुनाकों के हाथ रही, पच्छिमी जगत् में पारस की प्रधानता रही; और उस के बाद हमारे यहाँ के नन्द-मौर्य-युग में उधर यूनान की प्रधान्ता रही।

—०—

ग्रन्थ निर्देश

हुल्श—अशोक के अभिलेख, कौर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इन्डिकेरम् (भारतीय अभिलेख-समुच्चय) की जिल्द १, भारत-सरकार द्वारा प्र०, १६२५।

विन्सेंट स्मिथ—अशोक, आक्सफ़र्ड से प्रकाशित रूलर्स ऑव इन्डिया सीरीज (भारत-शासक-चरित्र-माला) में, ३ संस्क०।

दे० रा० भण्डारकर—अशोक, कलकत्ता युनिवर्सिटी के सन् १६२३ के कार्माइकेल-व्याख्यान।

अ० हि०—अ० ६, ७।

रा० इ०—पृ० १८७—२२२।

हिं० रा० §§ १३०—१४०।

अशोक के अभिलेखों के बहुत से संस्करण हो चुके हैं, उन में से अन्तिम और प्रामाणिक अब डा० हुल्श का उक्त ग्रन्थ है। स्व० पं० रामावतार शर्मा ने प्रियदर्शिप्रशस्तयः नाम से संस्कृत में एक संस्करण निकाला था। हिन्दी में अशोक के धर्मलेख नाम से एक ग्रन्थ ज्ञानमण्डल काशी से निकला है। चौदह प्रधान शिलाभिलेखों का सम्पादन तथा अनुवाद ना० प्र० प० १, २, ३ में भी हुआ है। उस पर विद्वत्ता और प्रामाणिकता की वह छाप है जो स्व० पं० चन्द्रधर गुलेरी के प्रत्येक लेख पर होती थी, और वह न केवल हिन्दी पाठकों के लिए उपयोगी है, प्रत्युत भारतीय इतिहास के सभी विद्यार्थियों को उस में अनेक कीमती निर्देश और विवेचनायें मिलेंगी।

—o—

सत्रहवाँ प्रकरण

मौर्य भारत की राज्यसंस्था सभ्यता और संस्कृति

१४०. मौर्य राज्यसंस्था का मुख्य विचारणीय प्रश्न—अनुशासन की विभिन्न इकाइयों में प्रजापक्ष और राजपक्ष

हम ने देखा कि मौर्य विजित के अन्तर्गत भिन्न भिन्न जनपदों या जनपद-चक्रों के अनुशासन के लिए राजा की तरफ़ से महामात्य नियुक्त थे, विशेष महत्त्व के जनपदों पर महामात्यों के साथ राजकुमार भी रख दिये जाते थे। जनपदों के अन्तर्गत छोटे प्रदेशों के शासक भी महामात्य कहलाते थे। पाँच बड़े मण्डलों की राजधानियों में, जिन में से प्रत्येक के नीचे कई जनपद रहते होंगे, कुमार महामात्यों या अमात्यों की सहायता से अनुशासन करते थे। कौटल्य के अनुसार प्रत्येक जनपद का एक समाहर्ता अनुशासन करता था, और नगर का नागरक। जनपद या नगर के चौथाई की चिन्ता एक स्थानिक करता था, और फिर उन के नीचे प्रत्येक पाँच या दस ग्रामों के या दस बीस चालीस कुलों के समुदाय का चिन्तन एक गोप करता था। गोपों और स्थानिकों के स्थानों में बलि (मालगुजारी) उगाहने और फ़ौजदारी मुकद्दमे (कार्य) सुनने वाले राजपुरुष दूसरे थे जो प्रदेष्टा कहलाते थे[1]।

---

[1]अर्थ० २. ३५-३६।

अशोक के अभिलेखों में महामात्यों के अतिरिक्त युत, राजुक, प्रादेशिक आदि अधिकारियों के नाम हैं। युत को अर्थशास्त्र का युक्त तथा प्रादेशिक को प्रदेष्टा समझा गया है[1]। साधारण रूप से राजकीय अधिकारियों को शायद पुरुष[2] कहा गया है, और पुरुष या राजपुरुष बड़े (उकस) मध्यम (मझिम) और छोटे (गेवय) तीन दर्जों के होते थे। साम्राज्य की राजधानी में स्वयं राजा, कौटल्य के अनुसार, मन्त्रियों और मंत्रि-परिषद्[3] की सहायता से शासन करता था। अशोक के अभिलेखों में भी उस की परिषा या परिषद् का बार बार उल्लेख है, और ऐसा प्रतीत होता है कि राजा के आदेशों के चरितार्थ होने से पहले परिषद् की स्वीकृति आवश्यक होती थी।

वह परिषद् क्या चीज़ थी? वह किस की प्रतिनिधि थी? क्या वह राजा के नियुक्त किये सलाहकारों का समूह था, या प्रजा के चुने हुए प्रतिनिधियों का, या प्रजा में से कुछ विशेष वर्गों के मुखियों या प्रतिनिधियों का? इस प्रश्न के साथ यह प्रश्न गुँथा हुआ है कि मौर्य अनुशासन की प्रत्येक इकाई में कहाँ तक राजा का हाथ था और कहाँ तक जनता का, और उस में भिन्न भिन्न पक्षों का सामञ्जस्य कैसे होता था। यह प्रश्न वास्तव में मौर्यकालीन भारतीय राज्यसंस्था की विवेचना में धुरी की तरह है; किन्तु इस प्रश्न को सामने रखते हुए उस राज्य-संस्था की यथेष्ट मीमांसा अभी तक नहीं की गई। सच कहें तो मौर्य शासनपद्धति की विवेचना करने वाले बहुत से विद्वान् तो इस प्रश्न को समझ नहीं पाये, और इसी कारण उन का खींचा हुआ चित्र बिलकुल अन्धा ढाँचा दीख पड़ता है। दूसरी तरफ़ जिन दो एक विद्वानों ने इस प्रश्न पर विचार किया है, वे या तो जनता की स्वाधीनता के पक्ष में

[1]भा० अ० स० १, पृ० ५, टि १, २। [2]स्तम्भ० १, ४, ७।
[3]अर्थ० १, १५।

और या राजा की केन्द्रिक शक्ति के पक्ष में बहुत अधिक झुक गये हैं, जब कि असल सचाई दोनों पक्षों के बीच दीख पड़ती है।

§ १४१. व्यवस्थित अनुशासन तथा व्यवस्थाओं के आधार

उक्त प्रश्न यदि मौर्य अनुशासन और मौर्यकालीन राज्यसंस्था की विवेचना की धुरी हैं, तो एक दूसरा प्रश्न है जो कि उस प्रश्न की भी धुरी है, और वह यह कि क्या मौर्यों का अनुशासन व्यवस्थित और नियमबद्ध था या उछृङ्खल और स्वेच्छाचारी ? और यदि व्यवस्थित था तो मौर्य राज्यसंस्था में व्यवस्था करने अर्थात् नियम बनाने वाली शक्ति कौन थी ?

सौभाग्य से इसके पहले पहलू के विषय में कोई विवाद नहीं है, और दूसरे पहलू पर प्रकाश डालने को काफ़ी सामग्री उपस्थित है। इस बात पर कोई विवाद या कोई युक्तिसंगत सन्देह नहीं है कि नीचे से ऊपर तक मौर्यों का समूचा अनुशासन सुव्यवस्थित और नियमबद्ध था —कानून के मुताबिक चलता था, किसी एक व्यक्ति या कुछ एक व्यक्तियों की उमंगों या स्वेच्छाचार का उस पर कुछ प्रभाव न हो सकता था। अर्थशास्त्र में कण्टकशोधन (फौजदारी कानून) अधिकरण के अन्त में यह विधि है कि अदण्ड्य को दण्ड देने से राजा को उस से तीस गुना दण्ड मिले, और राजा से वह जुरमाना ले कर वरुण देवता को दिया जाय[1]। धर्मस्थीय (दीवानी कानून) अधिकरण के आरम्भ में वही कहा है—

अनुशासद्धि धर्मेण व्यवहारेण संस्थया।
न्यायेन च चतुर्थेन चतुरन्तां महीं जयेत् ॥[2]

---

[1]अर्थ० ४. १३—पृ० २३६।
[2]वहीं ३. १—पृ० १५०।

—धर्म व्यवहार संस्था के अनुसार और चौथे न्याय के अनुसार अनुशासन करने वाला चारों अन्तों तक पृथ्वी को जीत लेता है। धर्म और व्यवहार की व्याख्या पीछे की जा चुकी है; संस्था का अर्थ है समूहों की स्थिति या समय। जहाँ कहीं इन तीन में परस्पर विरोध हो, वहाँ न्याय अर्थात् तर्क से फ़ैसला किया जाता था। इस से ठीक पहले श्लोक में कहा है कि राजा को अपने पुत्र और शत्रु पर एक समान दण्ड धारण करना चाहिये। आर्य राज्यसंस्था में यह विचार सदा से बना हुआ था कि कर या बलि राजा की भृति है, और जो राजा उस भृति के बदले में न्याय से प्रजा का योग और क्षेम (उन्नति और रक्षा) नहीं करता वह हराम की खाता है[1]। इस बात में रत्ती भर भी संदेह नहीं कि मौर्यों का अनुशासन एक सुव्यवस्थित अनुशासन था जिस में प्रत्येक कार्य व्यवस्था या कानून के मुताबिक होता था।

यदि ऐसी बात थी, यदि उस अनुशासन में कानून की मर्यादा पूरी बनी रहती थी, तब यह स्पष्ट है कि जो शक्ति देश का कानून बनाती थी, वही देश की असल राजशक्ति थी। वह कौन शक्ति थी जिस के बनाये कानूनों के अनुसार मौर्य अनुशासन का यन्त्र घूमता था ? और वे कानून क्या और कैसे थे ? सौभाग्य से इन प्रश्नों का भी काफ़ी स्पष्ट उत्तर हमें अर्थशास्त्र से मिलता है। धर्मस्थीय के उसी अध्याय में कानून के चार अंगों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।
विवादार्थश्चतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः ॥

—विवाद (मुकद्दमों) के विषय के चार पाद (आधार) होते हैं— धर्म, व्यवहार, चरित्र, राजशासन; इन में से पिछला पहले का बाधक होता है। इस प्रकार धर्म अर्थात् सदाचार-सम्बन्धी प्रायश्चित्तीय

---

[1] वहीं १. १३।

व्यवस्थायें कानून का सब से पहला अंश थीं; वे धर्म भी आरम्भ में तो सामयाचारिक या समय-मूलक थे; किन्तु अब वे बहुत कुछ शास्त्रों में निबद्ध हो गये थे, और शिष्टों की बहुसम्मति से उनका निश्चय होता था, सो पीछे (§ ११५) देख चुके हैं। धर्म से अधिक महत्त्व व्यवहार का—अर्थात् उन दीवानी और फ़ौजदारी कानूनों का—था जो पुराने समय से स्थापित हो चुके थे। कानून का तीसरा आधार था चरित्र; अगले श्लोक में कहा है कि चरित्र पुरुषों के संग्रह में होता है; इस से और अन्य प्रसंगों से जाना जाता है कि चरित्र का अर्थ है समूहों का चरित्र या कार्य—उन के किए हुए विधान। उन विधानों का गौरव धर्म और व्यवहार दोनों से अधिक था। कानून का चौथा और सब से मुख्य स्तम्भ था राजशासन या राजा का आदेश, जो पहले तीनों का बाधक हो सकता था।

धर्म और व्यवहार बहुत कुछ पुरानी स्थितियों का समुच्चय—पूर्वजों का दाय—थे, चरित्र और राजशासन समकालीन पुरुषों की कृति को सूचित करते, और उन पुरानी स्थितियों में गति या परिवर्त्तन करने वाले साधन थे। इसलिये जो नया कानून बनता वह या चरित्र के रूप में या राजशासन के रूप में। चरित्र बनाने वाले प्रजा के छोटे-बड़े निकाय या समूह—ग्राम, श्रेणि, नगर, जनपद—थे, और राजशासनों को जारी करने वाली स्पष्टतः राजा की परिषद् थी। यही शक्तियाँ थीं जो देश में नये कानूनों की सृष्टि करती थीं।

अर्थशास्त्र में दूसरी जगह यह विधान है कि राजा अपने मुख्य दफ़्तर में—

> देश ग्राम जाति कुलसंघातानां धर्मव्यवहार चरित्र संस्थान-
> निबन्ध-पुस्तकस्थं कारयेत्[1]

देश ग्राम जाति और कुलों के संघातों (समूहों) के धर्म

---

[1]वहीं २. ७।

व्यवहार और चरित्र-संस्थान को एक निबन्ध-पुस्तक में दर्ज करावे। इस प्रकार प्रत्येक संघात या निकाय का, विशेष कर प्रत्येक देश या जनपद का, न केवल अपना अपना चरित्र-संस्थान, प्रत्युत अपना अपना धर्म और व्यवहार भी था। विशेष अवस्थाओं में राजा की परिषद् ग्रामों जनपदों आदि के इन चरित्रों को अपने शासन से रद्द कर सकती थी, किन्तु साधारण अवस्थाओं में साम्राज्य की शासन-शक्ति में जनता के ये छोटे-बड़े निकाय समूह या संघात भी हिस्सेदार थे, और उनके सहयोग से साम्रज्य का अनुशासन चलता था।

§ १४२. मूल निकाय अथवा जनता के सामूहिक जीवन की संस्थायें, और अनुशासन की इकाइयाँ

अ. ग्राम

हम देख चुके हैं कि जनता के सामूहिक जीवन की सब से छोटी इकाइयाँ ग्राम श्रेणियाँ और निगम—अर्थात् कृषकों शिल्पियों और वणिजों के समूह—थे। वे मूल निकाय अपने अन्दर का सब प्रबन्ध—अपने कानून बनाना, अपने मुखिया नियुक्त करना, अपने मामलों के फैसले करना—स्वय स्वतंत्रता से करते थे। अर्थशास्त्र के तीसरे अधिकरण—धर्मस्थीय—के दसवें अध्याय के, जिस में ग्राम देश जाति और कुलों के संघों के समय के अनपाकर्म (न तोड़ने) विषयक कानून हैं, आधार पर डा० रमेश मजूमदार कहते हैं कि ग्राम-सभाओं के वे सब अधिकार और दायित्व मौर्य काल में भी बने हुए थे[१]। प्रो० विनयकुमार सरकार का कहना है[२] कि अर्थ० का ग्राम स्वायत्त ग्राम नहीं,

---

[१]सा० जी० पृ० १३६—४१।

[२]पोलिटिकल थियरीज़ आदि, पृ० ५७ प्र।

प्रत्युत राजकीय शासन की इकाई ग्राम प्रतीत होता है; पांच-दस ग्रामों के ऊपर गोप नाम का जो सब से छोटा राज-पुरुष नियुक्त होता था, वह ग्राम-सभाओं के हाथ में कुछ भी प्रबन्ध-शक्ति न रहने देता होगा। यह आलोचना एक दृष्टि से ठीक है; किन्तु ग्रामों का सामूहिक व्यक्तित्व फिर भी बना हुआ था, इस से इन्कार नहीं किया जा सकता। गोप का मुख्य उद्देश राजकीय भाग की ठीक ठीक वसूली के लिए ज़मीन की माप-जाँच और बन्दोबस्त करना तथा उपज और आबादी का ठीक ठीक हिसाब रखना था। ग्राम-सभा के आन्तरिक प्रबन्ध-सम्बन्धी कामों में उस का दखल कहाँ तक था, सो ठीक नहीं कहा जा सकता। जो भी हो, राजकीय भाग की वसूली और राजकीय अनुशासन के सिलसिले में भी ग्राम पर कई प्रकार का सामूहिक दायित्त्व डाला जाता था, नमूने के लिए अनेक ग्राम कर के बदले सेना आदि भी देते थे[1], और कर भी ग्राम पर समूह-रूप से लगाया जाता था, जिस से उस का सामूहिक जीवन बना रहना ज़रूरी था।

दूसरे, इतनी बात तो उक्त अध्याय से अवश्य ही निश्चत होती है कि ग्रामों के अपने कुछ समय थे, जिन के तोड़ने (अपाकर्म) से दीवानी मुकद्दमा चला सकता था। इस के अतिरिक्त ग्रामों के भी अपने धर्म व्यवहार और चरित्र हो सकते थे, और यदि प्रत्येक ग्राम का अपना अलग धर्म और व्यवहार नहीं तो अपना चरित्र तो प्रायः होता होगा, आधुनिक परिभाषा में, ग्राम को अपने नियम स्वयं बनाने का अधिकार था, यद्यपि असाधारण अवस्था में राजा का शासन उन नियमों को रद्द कर सकता था। यों कहना चाहिये कि ग्राम की सभा के पास यदि मौर्य काल में प्रबन्ध-सम्बन्धी और न्याय-सम्बन्धी अधिकार कुछ भी न रहे हो—वे सब अधिकार राजकीय गोपों धर्मस्थों और प्रदेष्टाओं ने हथिया भी

---

[1] अर्थ० २. ३५—पृ० १४१-४२।

लिये हों—यह बात विचारने की है कि किस हद्द तक वैसा हो गया था—तो भी कम से कम अपनी व्यवस्थायें स्वयं बनाने का परिमित अधिकार तो स्पष्ट रूप से ग्राम के हाथ में था, और उन व्यवस्थाओं का पालन राजकीय न्यायालयों द्वारा कराया जाता था।

अन्त में, इस बात का भी स्पष्ट प्रमाण है कि मौर्यकालीन ग्रामों के लोगों में अपने अपने ग्राम की भक्ति काफ़ी उग्र और सचेष्ट रूप में थी। किसी के ग्राम का आक्रोश या निन्दा करना एक अपराध था जिस के लिए वाक्पारुष्य (मानहानि) का दावा किया जा सकता और दण्ड मिल सकता था[1]।

इ. श्रेणि

श्रेणियों के विषय में भी प्रो० सरकार का विचार है कि मौर्य काल में उन के अपने न्यायालय नहीं प्रतीत होते[2]। मुझे जहाँ तक मालूम है उन के अपने चरित्रों और समयों का भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है, यद्यपि यह शायद कहा जा सके कि संघ और संघात शब्दों में साधारण रूप से उन का परिगणन माना जा सकता है। शायद उन का सामूहिक जीवन नगरों के सामूहिक जीवन के अन्तर्गत हो गया था।

✓ चाहे जो हो, मौर्य साम्राज्य में उन की बड़ी शक्ति रही होगी। वे राजकीय आय का एक बड़ा स्रोत थीं। यह भी समझ रखना चाहिए कि उस समय राष्ट्र का समूचा व्यवसायिक जीवन श्रेणियों के संगठन पर निर्भर था, और मौर्यों की नीति राष्ट्रीय व्यवसाय की सब प्रकार से रक्षा और उन्नति करने की थी। श्रेणियों अर्थात् शिल्पियों के समूहों की आर्थिक और व्यावसायिक शक्ति तभी कम हो सकती थी यदि उन के

[1] अर्थ०—३. १८ पृ० १९४।

[2] पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० ४७।

मुकाबले में धनाढ्य पूंजीपति या राज्य भृतक श्रमियों से काम ले कर स्वयं व्यवसाय संगठित कर सकते।

इस दृष्टि से यह बात बड़े महत्व की है कि राज्य की तरफ़ से उस प्रकार का कर्मान्तों का प्रवर्त्तन अर्थात् व्यवसायों का संगठन मौर्यों के समय किया गया था। आकर या खानें तो राजा के विशेष अधिकार में थीं, और उन की खुदाई और काम का प्रबन्ध राज्य स्वयं करवाता था। राज्य की तरफ़ से व्यापारी जहाज़ भी चलते, जो यात्रियों और माल को भाड़े पर लाते ले जाते थे,[1] यद्यपि जहाज़-रसानी का काम खानगी व्यापारियों की श्रेणियाँ भी करती थीं, जिन के जहाज़ों में यात्रियों की रक्षा करने का दायित्व राज्य अपने ऊपर लेता था[2]। आधुनिक शब्दों में हम इन कार्यों को मौर्य राज का व्यावसायिक महकमा कह सकते हैं। किन्तु यह महकमा श्रेणियों का मुकाबला करने के लिए नहीं, प्रत्युत केवल राज्य की अपनी आय और शक्ति बढ़ाने के लिए था। अपने विस्तृत साम्राज्य को संभालने वाली सेना के बनाये रखने तथा शासन के अनेक महकमों को चलता रखने के लिए मौर्य राजाओं को रुपये की सख्त ज़रूरत हमेशा बनी रहती थी; रुपया पैदा करने के उन के अनेक विचित्र उपाय इसी कारण हम अर्थशास्त्र में पाते हैं, और बाद की अनुश्रुति में सुनते हैं। अर्थशास्त्र के अनुसार राजा अपने धनी प्रजा-जनों से प्रणय या प्रेम-भेट के रूप में रुपया लेता था[3]। पतञ्जलि मुनि (दूसरी शताब्दी ई० पू०) के महाभाष्य से सूचित होता है कि मौर्य राजा अर्चायें अर्थात् देव-प्रतिमायें स्थापित कर उन के चढ़ावे से रुपया उठाते थे[4]। अनेक युद्धों के कारण इस प्रकार की आर्थिक कठिनाई उन्हें

---

[1]अर्थ० २. २८—पृ० १२६। इंडियन शिपिंग, पृ० १०२, १०६। [2]इं० आ० १६०५, पृ० ११२। [3]अर्थ० ५. २। [4]महाभाष्य ४. ३ ६६; इं० आ० १६१८, पृ० ५१।

उपस्थित हुई होगी। किन्तु उन की अर्थनीति अपने देश के व्यवसाय व्यापार को पुष्ट करने की ही थी, और इसी कारण श्रेणियों और व्यापारी निगमों की आर्थिक शक्ति उन की छत्र-छाया में उलटा बढ़ी ही दीखती है। साम्राज्य की कोश-शक्ति की बुनियाद देश का शिल्प-वाणिज्य था; और व्यावसायिक और आर्थिक जीवन अपने विकास की जिस दशा में उस काल में था, उस दशा में यह असम्भव था कि भारी भारी शक्तिशाली साम्राज्य भी श्रेणियों के उस संगठन के मुकाबले में खड़ा होता जिस संगठन पर कि उस युग के व्यावसायिक जीवन का ढाँचा निर्भर था। मौर्य साम्राज्य का आकर-कर्मान्त-प्रवर्त्तन देश के व्यावसायिक संगठन का एक परिशिष्ट मात्र था, उस से देश की कारु-श्रेणियों की आर्थिक शक्ति खण्डित होने के बजाय उलटा पुष्टि पाती थी।

किन्तु श्रेणियों के हाथ में आर्थिक के सिवाय राजनैतिक शक्ति भी थी इस का प्रमाण है। राजकीय सेना के अनेक अंशों में से एक श्रेणी-बल भी होता था;[1] इस का यह अर्थ है कि कई ऐसी श्रेणियाँ भी थीं जो सेना रखती थीं, या जिन के सदस्य सैनिक का भी काम करते थे। श्रेणीबल का अर्थ शायद यह किया जा सकता कि वे काम्बोज सुराष्ट्र आदि सीमा-प्रदेशों की उन वाणिज-श्रेणियों[2] की सेनायें थीं जिन का कारोबार एक शहर के अन्दर सीमित न होता था, और जिन्हें अपने सीमान्त-वाणिज्य की रक्षा के लिए शस्त्र धारण करने पड़ते थे। किन्तु वैसी बात नहीं है। श्रेणीबल को कौटिल्य मित्रबल (मित्र की सेना) से अच्छा बतलाता है, और उस के अच्छे होने के कारणों में से एक यह है कि वह जानपद— अर्थात् अपने देश का—होता था;[3] इस से

---

[1]अर्थ० २. ३३; ६. २; नीचे § १४४ उ।

[2]वहीं ११. १—पृ० ३७८; दे० नीचे § १४३ इ।

[3]वहीं ९. २—पृ० ३४९; नीचे § १४४ उ।

स्पष्ट है कि श्रेणिबल केवल सीमान्त देशों का नहीं था। वह शायद प्रत्येक जनपद में होता था।

उ. नगरों के निगम या पूग

हम देख चुके हैं कि पिछले युग में नगरों या पुरों के शासन में श्रेणियों और वणिज-निगमों का विशेष प्रभाव होता था। चन्द्रगुप्त के समय मेगास्थेने के अनुसार पाटलिपुत्र का प्रबन्ध चलाने के लिए तीस मैजिस्ट्रेटों की एक सभा होती थी। सर्व-साधारण कार्यों का विचार और निपटारा वे तीस के तीस मिल कर करते, और उन में से ५, ५ के ६ वर्ग बना कर एक एक वर्ग के पास एक एक विशेष महकमे का प्रबन्ध रहता। शिल्प-व्यवसाय की देख-रेख और विदेशियों की देख रेख जैसे कार्य भी उन वर्गों के हाथ में रहते थे। अर्थशास्त्र में इस तीस की सभा या पूग का और उस के छः वर्गों का कहीं भी नाम नहीं है; वहाँ केवल एक नागरक का उल्लेख है[1]। जायसवाल ने स्पष्ट किया है[2] कि मजिस्ट्रेट जिस ग्रीक शब्द का अनुवाद है उस का प्रयोग एक यूनानी लेखक प्रजा के प्रतिनिधियों के अर्थ में ही कर सकता था, न कि राजकीय अधिकारियों के अर्थ में; और इस प्रकार यह विसंवाद दूर होता है। क्योंकि कौटिल्य ने नगर-शासन के केवल राजपक्ष का वर्णन किया है, और मेगास्थेने ने प्रजापक्ष का। पाटलिपुत्र उस समय संसार का सब से बड़ा शहर था, और उस का पूरा प्रबन्ध मौर्य युग में भी प्रजा के प्रतिनिधियों के हाथ में था, यह एक महत्त्व की बात है। साम्राज्य के दूसरे नगरों का प्रबन्ध भी उसी नमूने पर चलता होगा।

इस युग में नगर-संस्थाओं की सत्ता दो पुराने अवशेषों के छोटे छोटे अभिलेखों से भी सिद्ध हुई है[3]। इलाहाबाद ज़िले के सहजाति

---

[1]अर्थ० २. ३६। [2]हिं० रा० २, पृ० ७४। [3]सां० जी० पृ० १४४-४९।

के भीटे तथा उस में पाई गई निगम की मुद्रा और निगम की शाला का उल्लेख पीछे (§ ११४ अ) हो चुका है। उस मुद्रा के विषय में थोड़ी सी सम्भावना मौर्य युग से पहले की होने की है, इसी कारण उस का पूर्व-नन्द-युग में उल्लेख कर दिया गया है। वास्तव में उसे मौर्य युग की मानना ही अधिक संगत है। दूसरे, कृष्णा ज़िले के सुप्रसिद्ध भट्टिप्रोलु-स्तूप की खुदाई में जो शरीर-धातु-मंजूषायें पाई गईं थीं, उन में से दूसरी मंजूषा जिस संदूक में थी उस के तथा तीसरी मंजूषा के ढक्कन पर के लेखों से सूचित हुआ है कि वे निगमों के दान थे। दूसरी मंजूषा के सन्दूक के किनारे पर लिखा है—"षगथि निगम के पुत्रों की जिन में कि राजा प्रमुख है,—ष...[...का पुत्र राजा खुबिरक (कुबेरक) (जो कि) षीह-गोठी (सिंह-गोष्ठी) का प्रमुख है—उन की (दी हुई) अन्य मंजूषा, स्फटिक की सन्दूकची और पत्थर की सन्दूकची।" तीसरी सन्दूकची के ढक्कन पर एक पंक्ति में खुदा है—नेगमा, और फिर प्रायः १४ नाम हैं; अर्थात् वह उन सब नेगमों का दान है।[1] इन लेखों की लिपि अन्दाज़न तीसरी शताब्दी ई० पू० की—पिछले मौर्य युग की—मानी जाती है। उस युग में निगम यदि सामूहिक दान कर सकते थे तो समूह-रूप से अन्य कार्य भी करते होंगे। निगम-निकायों की जीवित सत्ता उन से सिद्ध है।

ऋ. जनपद

कुछ एक नगरों और अनेक ग्रामों को मिला कर एक एक जनपद बनता था। उस जनपद के शासन में राजपक्ष और प्रजापक्ष का परस्पर अनुपात क्या था? और दोनों का सामञ्जस्य कैसे होता था? इस के उत्तर में भी यह कह दें कि सब कुछ प्रजा के हाथ में था यह।

---

[1] ए० इं० २, पृ० ३२३ प्र।

कहना जितना गलत है; मौर्य काल में राजा ने प्रजा की स्वतंत्रता को बिलकुल दबा दिया था ऐसा कहना भी उतना ही गलत है। जातियों के सामूहिक जीवन की शताब्दियों से विकास पाई हुई जीवित संस्थायें एकाएक नहीं बदल जाया करतीं; वे धीरे धीरे अपने को एक नई राजनैतिक अवस्था के अनुकूल बना रहीं थीं।

इस सम्बन्ध में पहली बात यह ध्यान में रखने की है कि सब जनपद एक से न थे। आर्यप्रधान और पुराने बसे हुए राष्ट्रों की जनता ग्रामों श्रेणियों निगमों और पूगों में विभक्त थी, किन्तु अनेक अटवी-प्रदेशों में आरम्भिक जातियाँ भी रहती थीं जिन का समाज-संस्थान सजात कबीलों पर अथवा और भी आरम्भिक संगठन के रूपों पर निर्भर था। पुराने आर्य जनपदों में से भी कई साम्राज्य के केन्द्र के निकट थे, कई दूर; कई उस में अरसे से सम्मिलित थे, कई नये नये मिलाये गये थे; कइयों में पहले संघ-राज्य था, कइयों में एक-राज्य; वृजिगण जैसे कई पुराने संघराज्य परस्पर अभिसंहत अर्थात् अनेक मिल कर एक बने हुये थे, कई विरल और असंहत थे। कौटिल्य के शब्दों में विजित के कई हिस्से नव थे, कई भूतपूर्व, कई पित्र्य[1]। इन सब अवस्थाओं के भेद के अनुसार विभिन्न जनपदों में साम्राज्य की नीति का भिन्न भिन्न रूप धारण करना आवश्यक होता था। किन्तु मौर्य साम्राज्य के अधीन प्रायः प्रत्येक जनपद का अपना अपना स्पष्ट व्यक्तित्व था, इस में कुछ भी सन्देह नहीं। अपने अपने जनपद के लिए भक्ति और अभिमान का भाव लोगों में बहुत उत्कट था। जनपदो (दा) पवाद या किसी के जनपद की निन्दा करना एक कानूनी अपराध था, जिस के लिए वाक्पारुष्य (मानहानि) का दावा हो सकता था[2]। जनपदों या देशों

---

[1]अर्थ० १३ ५—पृ० ४०८।

[2]अर्थ० ३. १८—पृ० १९३-९४।

के अपने समय, अपने धर्म, व्यवहार और चरित्र थे सो पीछे कह चुके हैं; और इस अंश में ग्रामों की अपेक्षा देशों या जनपदों के समय धर्म व्यवहार और चरित्र अधिक अभिव्यक्त होंगे, इस में सन्देह नहीं। उन समयों और कानूनों को चरितार्थ करना साम्राज्य की धर्मस्थीय (दीवानी) और कण्टक शोधन (फौजदारी) अदालतों का कर्त्तव्य था।

अर्थशास्त्र के लब्धप्रशमन (१३.५) अध्याय में, जहाँ इस का वर्णन है कि नये जीते देशों को कैसे शान्त किया जाय, कई बड़ी मनोरञ्जक बातें हैं जो इस विषय पर विशेष प्रकाश डालती हैं। राजा को उपदेश है कि वह "नये (देश) को पा कर··· (वहाँ) प्रकृतियों के प्रियों और हितों का अनुवर्त्तन करे।······प्रकृतियों के विरुद्ध आचरण करने वाले का विश्वास नहीं जमता। इस लिए (उन के) समान शील वेष भाषा आचार बना ले। देश के देवताओं समाजों उत्सवों और विहारों में···(जनता की) भक्ति का अनुवर्तन करे। देश ग्राम और जाति के संघों के मुखियों को उस के सत्री (गुप्तचर) दिखलावें कि (उनके) शत्रुओं को कैसा अपचार (नुक़सान) पहुँचाया गया है, तथा उन का कैसा महाभाग्य तथा स्वामी (राजा) की उन में कैसी भक्ति और सत्कार विद्यमान है। और उन्हें उचित भोग (दान) परिहार (मालगुज़ारी की छूट) रक्षा (अमन-चैन) दे कर वश में करे। सब जगह (चारों आश्रमों का आदर करे, और विद्या में भाषण में तथा धर्म में शूर पुरुषों को भूमि और द्रव्य का दान तथा परिहार (छूट) दे। सब कैदियों को छोड़ना....। और जिस चरित्र को वह कोश या दण्ड (सेना) का अपघात करने वाला या अधर्मिष्ठ समझे, उसे हटा कर धर्म-व्यवहार की स्थापना करे। और चोर-प्रकृति म्लेच्छ जातियों का स्थानविपर्यास करे, और उन्हें इकट्ठा एक जगह न रहने दे। दुर्ग राष्ट्र और दण्ड (सेना) के मुखियों और मन्त्रिपुरोहित आदि में से जो शत्रु के एहसानमन्द

हों, उन्हें शत्रु के प्रयत्नों में अनेक जगह कर के रहने को बाधित करे। यदि वे अपकार करने में समर्थ हों या अपने (पहले) भर्त्ता (राजा) के विनाश के पीछे क्षीण हो रहे हों, तो उन्हें चुपचाप दण्ड से शान्त कर दे। स्वदेशीयों को या जिन्हें शत्रु ने रोक (कैद कर) रक्खा था उन्हें दूर के स्थानों में स्थापित कर दे। और जो उस (शत्रु) के कुल का (व्यक्ति) लिये हुए (देश) को फिर वापस लेने में शक्त हो या प्रत्यत्न अटवी में टिक कर बाधा देने में समर्थ हो, उसे विगुण भूमि या गुणवती भूमि का चौथा हिस्सा कोश और सेना (की निश्चत संख्या) देने की शर्त्त ठहरा कर दे दे, जिसे उपस्थित करता हुआ वह पौरजानपदों को कुपित कर बैठे, और उन कुपितों से उसे मरवा डाले। या यदि प्रकृतियां उस के विरुद्ध पुकार (उपक्रोश) उठाँय तो उसे हटा दे, या ख़तरे वाले देश में रहने को बाधित करे।......

जो धर्म्य चरित्र हो, वह चाहे दूसरों (उससे पहले शासकों) ने किया हो चाहे न किया हो, उसे जारी करे। जो अधर्म्य हो उसे न जारी करे, और दूसरों ने जारी कर रक्खा हो तो रोक दे।"

इस सन्दर्भ से प्रकट है कि जनपदों का न केवल अपना अपना शील वेष भाषा और आचार था, प्रत्युत प्रत्येक जनपद के अपने देवता, अपने समाज (खेलें या खेलों के मुकाबले, टूर्नमेिएट), अपने उत्सव, और अपने विहार (विनोद की यात्रायें) होते थे; और उन सब में देशवासियों को इतनी ममता होती थी कि विजेता को इन बातों में प्रजा का अनुसरण करना पड़ता था। सिकन्दर ने पंजाब से वापिस जाते समय जेहलम नदी में बेड़ा छोड़ने से पहले जो क्रिया-कलाप किया था, उस में भारतीय नदियों की पूजा भी सम्मिलित थी। अर्थशास्त्र के इसी प्रकरण के बीच के सन्दर्भ से, जो यहाँ उद्धृत नहीं किया गया, यह भी जाना जाता है कि भिन्न भिन्न देशों का अपना अपना नक्षत्र होता था—अर्थात् विशेष महीना या ऋतु वहाँ उत्सवकाल माना जाता था। देश-संघ

ग्राम-संघ और जाति-संघ के मुखियों को खुश करना विजेता के लिए आवश्यक होता था। विजेता राजा को उन के मुखियों की भक्ति करनी या दिखलानी पड़ती थी। जीते जनपदों के पुराने राजवंशों के विरुद्ध वहीं के पौर-जानपदों का उपक्रोश या कोप खड़ा कर के उन्हें हटाना या मरवाना उचित समझा जाता था। इस प्रकार मौर्यों के विजय से पहले विभिन्न देशों में अपने अपने देश-संघ होते थे, और मौर्यों की नीति भी उन्हें रिझाने-मनाने की थी, सो स्पष्ट है। प्रत्येक देश का अपना अपना चरित्र था, और वह चरित्र किसी का किया हुआ होता था; इस से यह प्रकट है कि चरित्र का अर्थ साधारण आचार नहीं है। प्रतिकूल चरित्रों के बजाय धर्म-व्यवहार की स्थापना की जाती थी। सम्भवतः कई देशों में मौर्यों के विजय से पहले चरित्र के रूप में ही कानून था, और सुस्थापित धर्म और व्यवहार वहाँ मौर्यों के द्वारा ही पहुँचाया गया। स्वदेशी आदमियों को जीते देशों में बसा कर उन्हें काबू करने की नीति ऐसी थी जिसे आजकल के राजनीतिज्ञ भी खूब जानते हैं।

इस सन्दर्भ के अन्तिम अंश में जो पौर-जानपदों का उल्लेख आया है, जायसवाल का कहना है कि उस में निश्चत संस्थाओं के सदस्यों की तरफ निर्देश है। महाजनपद-युग और पूर्व नन्द-युग के आर्य जनपदों में वैदिक समिति की उत्तराधिकारिणी प्रजा की कोई केन्द्रिक संस्था रही प्रतीत होती है, सो पीछे[1] कह चुके हैं। मौर्य युग में वह एकाएक न मिट सकती थी। जायसवाल ने उस की सत्ता के कई प्रमाण पेश किये हैं। दिव्यावदान का तक्षशिला नगर के दो विद्रोहों का वृत्तान्त हम सुन चुके हैं। वे विद्रोह तक्षशिला के पौरों के राजकीय अमात्यों के विरुद्ध थे। हम यह भी देख चुके हैं कि जब अशोक ने बहुत अधिक दान करना चाहा और उस के अमात्यों ने उस का प्रतिषेध किया, तब

---

[1] §§ ८५ इ, ११४ इ, ॐ १६।

"सविग्न हो कर राजा अशोक ने अमात्यों और पौरों का सन्निपतन" कराया। उस प्रसंग में अमात्यों के साथ पौरों का जुटाव विशेष विचारणीय है। यदि पौर का अर्थ केवल पुर के निवासी हो, तो साधारण असंगठित रूप में नगर के लोगों का राजा के कार्यों में दखल देना कैसे हो सकता था ? अशोक के चौथे और सातवें स्तम्भाभिलेखों में प्रजा के अर्थ में जन और लोक शब्दों का प्रयोग है। पर चौथे स्तम्भलेख में उस के अतिरिक्त जानपद जन का उल्लेख भी है, और कलिंगाभिलेख में नगरजन का। इन सब निर्देशों में जायसवाल पौर या नगर-संस्था और जानपद संस्था का उल्लेख देखते हैं। हमारे प्रस्तुत सन्दर्भ में देश-संघ का स्पष्ट उल्लेख है ही, और उस के मुखियों को विजेता राजा कैसे रिझाता था इस बात का भी। उस के अतिरिक्त, इस सन्दर्भ के पिछले अंश से पौर-जानपद और प्रकृति शब्दों की समानार्थकता भी प्रतीत होती है। पीछे देख चुके हैं[1] कि प्रकृति का अर्थ अमरकोष में स्पष्ट रूप से पौरों की श्रेणियां किया है, जिस से पौरों का एक संगठन सूचित होता है। हम ने यह भी देखा है कि पाटलिपुत्र के ३० पौरों की सभा अपने नगर का सब प्रबन्ध स्वयं करती थी। इन सब कारणों से जायसवाल की बात को प्रायः सच मानना पड़ता है।

किन्तु एक अंश में मेरा उन से मतभेद है। जायसवाल का कहना है कि प्रत्येक मण्डल-राजधानी में अपनी अपनी पौर संस्था थी, और कि जानपद संस्था समूचे साम्राज्य की एक ही रही होगी[2]। उस युग में इतने बड़े साम्राज्य में एक जानपद संस्था रही हो सो निश्चय से असम्भव है। अर्थशास्त्र के ऊपर उद्धृत सन्दर्भ से तो उलटा यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जानपद संस्थायें प्रत्येक जनपद की अपनी अपनी अलग

---

[1] § १६।

[2] हिं० रा० २, पृ० ८६।

अलग थीं। जो संस्थायें पहले से मौजूद थीं उन का मौर्य शासन में भी बने रहना बहुत अधिक सम्भव है; किन्तु मौर्य राजा ज्यों ज्यों अपने विजित में नये जनपद मिलाते जायँ त्यों त्यों उन सब जनपदों को मिला कर वे एक संस्था खड़ी करते जायँ यह उन की नीति के स्पष्टतः प्रतिकूल था। उस समय के सामूहिक जीवन का एक जनपद-व्यापी हो सकना पूरी तरह सम्भव है, किन्तु वह समूचे साम्राज्य को व्याप लेता—समूचे साम्राज्य की जनता अपनी राजनैतिक एकता अनुभव करने लगती—यह अचिन्तनीय है। साम्राज्य की एकता मौर्य राजाओं की शक्ति पर—उन के कोश-दण्ड पर—आश्रित थी; भिन्न भिन्न जनपद एक विजित में इस लिए जुड़े हुए थे कि उस प्रबल शक्ति ने उन्हें परस्पर जोड़ रक्खा था। उस युग में समूचे साम्राज्य की जनता में एक सामूहिक जीवन का इतना विकास हो गया हो कि उन की एक ही प्रतिनिधि-संस्था हो, सो नहीं हो सकता। इसी लिए जनपदों के ऊपर भी प्रजा की कोई बाकायदा संस्था थी सो नहीं माना जा सकता।

हम देखेंगे कि मौर्य युग के बाद भी भारतवर्ष के विभिन्न जनपदों का व्यक्तित्व बहुत समय तक बना रहा। किन्तु यदि मौर्य युग के और बाद के युगों के भारतीय जीवन और राज्यसंस्था में विभिन्न जनपदों का ऐसा स्पष्ट व्यक्तित्व था, तो उन जनपदों के नाम और स्वरूप का पता लगाना आवश्यक प्रतीत होता है। आश्चर्य की बात है कि उस ओर विद्वानों का ध्यान बहुत ही कम गया है। भारतवर्ष के इतिहास के अध्ययन के लिए उस की जातीय भूमियों को पहचानने की अवश्यकता है यह बात शायद पहले पहल रूपरेखा में कही जा रही है, और उन भूमियों की पूरी पूरी विवेचना भी शायद पहले-पहल भारतभूमि में ही की गई है। मेरा यह कहना नहीं है कि वे जातीय भूमियाँ मौर्य काल के या किसी और काल के जनपदों को ठीक ठीक सूचित करती हैं; किन्तु

उन के सहारे समूचे प्राचीन युग के जनपदों का स्वरूप समझना बहुत सुकर है इस में सन्देह नहीं।

§ १४३. मौर्य चातुरन्त राज्य की नीति और संगठन

अ. उस में प्रजापक्ष और राजपक्ष की साधारण तुलना

हम ने देखा कि मौर्य राज्यसंस्था में प्रजा का सामूहिक जीवन जहाँ एक एक जनपद तक पहुँचता था, वहाँ राजा की शक्ति अनेक-जनपद-व्यापिनी थी; वह एक जनपद के विद्रोह को दूसरे जनपद से उठाये कोश-दण्ड के सहारे भी दबा सकती थी; उस के अधीन जनपदों में से कई बहुत दबैल रहे हों और उन की सुलभ शक्ति दूसरों को दबाने के काम आती रही हो सो भी बहुत सम्भव है। राजकीय नीति का उद्देश जहाँ समूचे विजित में एक रहता, और वह जहाँ अपने विजित की विस्तृत सीमाओं के अन्दर अपने साधन खोज सकती थी, वहाँ जनता के सामूहिक चिन्तन और जीवन की परिधि छोटे छोटे जनपदों तक या दो चार जनपदों संघात[1] तक सीमित थी। इसी कारण जनपदों के आन्तरिक जीवन में भी प्रजा की शक्ति का घटते और राजा की शक्ति का दृढतर होते जाना स्वाभाविक था। एकराज्य में रहने के कारण विभिन्न जनपदों में लगातार अधिक अधिक एकरूपता पैदा होते जाना भी स्वाभाविक था। तो भी उस समय की भारतीय प्रजा में सामूहिक जीवन और स्वाधीनता का भाव बहुत सचेष्ट था; और सब कुछ देखते हुए कहना पड़ता है कि प्रजा और राजा की शक्ति परस्पर इस प्रकार तुली हुई थी कि राजा उच्छृङ्खल न हो सकता था।

यह परिणाम अर्थशास्त्र के और अशोक-अभिलेखों के साधारण

---

[1] तामिल-देश-संघात की बात हम आगे सुनेंगे, दे० नीचे § १५३।

विवेचन से ही निकल आता है। विजित जनपदों के काबू रखने और उन की स्वाधीनता को दबाने के लिए कौटिल्य ने जो साधन बतलाये हैं, उन से जान पड़ता है कि राजशक्ति कदम फूंक फूंक कर चलती थी, और बहुत बार दण्ड के बजाय साम और दान से काम लेती, या छिपा दण्ड देती थी।

इ. चातुरन्त राज्य और संघ राष्ट्र

ध्यान रखना चाहिए कि मौर्य विजित के कोई जनपद ऐसी थे जो विजित में आने से पहले संघ-राज्य थे; उन में तो निश्चय से जनपद-व्यापी सामूहिक संस्थायें रही होंगी, इस में कोई सन्देह नहीं। संघों के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र में संघवृत्तम् शीर्षक का एक अलग (११ वाँ) अधिकरण है, जिस में एक ही अध्याय है। उस का आरम्भ इस वाक्य से होता है कि—

संघलाभो दण्डमित्रलाभानामुत्तमः।

—संघ की प्राप्ति सेना या मित्र की प्राप्ति से अच्छी है। आगे दो वाक्यों में चातुरन्त राज्य की संघों के प्रति नीति संक्षेप में यों कही है—

संघाभिसंहतत्वादधृष्यान् परेषांताननुगुणान् भुञ्जीत सामदानाभ्याम्। द्विगुणान् भेददण्डाभ्याम्।

दूसरे वाक्य के शुरू में द्विगुणान् का कुछ अर्थ नहीं बनता, वह अप-पाठ प्रतीत होता है। जायसवाल का कहना है कि ठीक पाठ विगुणान् रहा होगा। वैसा पढ़ने से इन वाक्यों का यह अर्थ प्रतीत होता है कि "संघ रूप में अभिसंहत होने के कारण जो शत्रुओं से न दबाये जा सकते हों, उन्हें अनुगुण (अनुकूल) कर के साम-दान से वश में करे। जो प्रतिकूल हों उन्हें भेद और दण्ड से।" संघाभिसंहत शायद वे संघ थे जो कोई मिल कर एक बने हुये थे, जैसे वृजि-संघ था। उस प्रकार के अधृष्य और अनुकूल संघों से मैत्री रखना और जो

असंहत या प्रतिकूल हों उन्हें फोड़ना—यही मौर्यों की नीति रही प्रतीत होती है।

आगे उस युग के कुछ प्रसिद्ध संघ-राज्यों का उल्लेख यों किया है—"काम्भोज,[१] सुराष्ट्र, क्षत्रियश्रेणि आदि (काम्भोज सुराष्ट्र आदि क्षत्रियों की श्रेणियाँ) वार्त्ता (वाणिज्य) और शस्त्रोपजीवी हैं। लिच्छविक वृजिक मल्लक मद्रक कुकुर कुरु पाञ्चाल आदि (अपने लिए) राजा शब्द का प्रयोग करते हैं।" शस्त्रोपजीवी शब्द से हमें पाणिनि के समय के आयुधजीवि-संघों की याद आती है। बाकी नाम भी प्रायः हमारे परिचित हैं। मद्रक वृजिक आदि शब्द भी पाणिनि के हैं; और उन के अन्त का क यह सूचित करता है कि वे आरम्भिक जन की अवस्था लाँघ चुके थे।[२] कुकुर-संघ सुराष्ट्र में या उस के पास कहीं था, सो हम आगे[३] देखेंगे। कुरु-पाञ्चाल का अर्थ कौशाम्बी वाले सम्मिलित कुरु-पाञ्चालों से हो, या मूल कुरु-देश जिस की राजधानी इन्दपत्तनगर थी और जिस के कुरुधम्म की ख्याति महाजनपद-युग में समूचे भारत में थी[४]—तथा मूल पाञ्चाल अर्थात् उत्तर पाञ्चाल देश से, क्योंकि दक्षिण पाञ्चाल तो कौशाम्बी में सम्मिलित हो चुका था। सम्भवतः मूल कुरु देश और उत्तर पाञ्चाल देश से ही अभिप्राय है, और इस से यह प्रतीत होता है कि मौर्यों के चातुरन्त राज्य में आने से पहले उन में संघ-राज्य स्थापित

---

[१] म० भा० सभापर्व के दिग्विजय-पर्व में कम्बोज के बजाय सब जगह काम्भोज शब्द आया है; वह पर्व दूसरी शताब्दी ई० पू० का है;—दे० नीचे ❀ २८ इ। ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा से पहले चौथी से दूसरी शताब्दी तक उस शब्द का वही रूप प्रचलित था।

[२] दे० ऊपर §§ ८०, १०८।

[३] §§ १७०, १८३।

[४] ऊपर § ८२।

हो चुके थे। इन सब संघ-राष्ट्रों में से कुकुर सुराष्ट्र मद्रक और काम्भोज साम्राज्य के केन्द्र से बहुत दूर पच्छिम और उत्तर मण्डलों के थे; लिच्छविक वृजिक और मल्लक तथा कुरु और पाञ्चाल मध्यदेश के थे—उन में से पहले तीन तो मगध के ठीक पड़ोसी थे। हम जानते हैं कि यह चित्र मौर्य साम्राज्य से ठीक पहले का है—वह महाजनपद-युग के चित्र से कुछ मिलता जुलता है, क्योंकि पच्छिम और उत्तर के संघ-राज्य जहाँ मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद भी अनेक युगों तक बने रहे, वहाँ मध्यदेश में उस साम्राज्य ने संघों की पूरी सफाई कर दी थी।

आरम्भिक विवरण के बाद आगे कौटिल्य ने वे उपाय कहे हैं जिन से साम्राज्य के सत्री (गुप्तचर) संघों के परस्पर न्यङ्ग (ईर्ष्या) द्वेष वैर और कलह के स्थानों को खोज खोज कर उन में भेद डालते और बढ़ाते थे। इस में सब प्रकार के कूट उपायों का वर्णन है, जिस के अन्त में कहा है कि स्कन्धावारों (छावनियों) और अटवियों का भेद भी इसी प्रकार—अर्थात् संघों की छावनियों और अटवियों को भी इसी प्रकार फोड़ा जाय। आगे और भी नीच उपायों का वर्णन है, जिन में छिनाल स्त्रियों और तीक्ष्णों (उचक्कों की करतूतों के अनेक उपयोग बतलाते हैं। अन्त में उपसंहार यों किया है कि—"संघों के तईं इस प्रकार एकराज वर्ते। संघ भी इस प्रकार एकराज से[1] उन अतिसन्धानों से (अपनी) रक्षा करें। और संघमुख्य संघों में न्यायवृति के साथ हित और प्रिय (आचरण करता हुआ) दान्त (संयमी) बन कर सब के चित्त के अनुकूल अच्छे लोगों के साथ रहे।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपने प्रतिकूल और सन्धान देने वाले संघों को फोड़ने और दबाने में जहाँ मौर्य एकराज कोई कसर न उठा रखते थे वहाँ परस्पर अभिसंहत मज़बूत और अनुकूल संघों के प्रति उन

---

[1]यहाँ आधे अक्षर का पाठदोष प्रतीत होता है, एकराजाः के बजाय एकराजात् होना चाहिए।

की नीति प्रायः रिझाने-मनाने की थी। यदि वे संघ साम्राज्य की प्रबल शक्ति के सामने थोड़ा बहुत झुक जाते थे, तो उन्हें भी साम्राज्य से योग्य व्यक्तियों को साम्राज्य के ऊँचे पदों पर पहुँचने के अनेक अवसर मिलते होंगे। वाहीकों के अनेक संरक्षित संघ-जनपद यह भी अनुभव करते होंगे कि विदेशी म्लेच्छों की गुलामी से उन्हें मौर्य साम्राज्य ने ही बचाया है।

उ. समूहों के प्रति चातुरन्त राज्य की नीति

साम्राज्य के अन्दर के दूसरे छोटे समूहों के प्रति साम्राज्य की नीति क्या थी, सो भी एक विचारणीय और मनोरञ्जक प्रश्न है। अर्थशास्त्र से इस पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है।

जनता का सामूहिक जीवन कहीं साम्राज्य से विद्रोह करने की दिशा में न चला जाय, और विरोधी शक्तियों के गुप्तचर कहीं अन्दर न छिपे रहें, इन बातों की बड़ी सतर्कता मौर्य साम्राज्य के संचालकों को रही प्रतीत होती है। "नट नर्त्तक गायक वादक वाग्जीवन कुशीलव (जनपद के) कार्यों में विघ्न न करने पावें[१]—क्योंकि ये सब लोग निठल्ले परभोजी थे, जो तुच्छ सी बात पर असन्तोष फैला सकते थे। दूसरे, उन के भेष में गुप्तचरों का रहना भी सुगम था, और इस लिए उन की कड़ी देखरेख करना ज़रूरी था। "वानप्रस्थों के अतिरिक्त को प्रव्रजित समूह, सजातों के अतिरिक्त कोई संघ, सामुत्थायिकों के अतिरिक्त कोई समयानुबन्ध उस के (राजा के) जनपद में न बसने पाय।"[१]

उस युग की भारतीय राज्यसंस्था की विकास-सीमा और साम्राज्य की नीति इन शब्दों में स्पष्ट झलकती है। प्रव्रजितों या साधुओं का सम्प्रदाय उत्तर वैदिक काल में खड़ा हुआ था, और महाजनपद-युग में

[१] अर्थ० २. १;—पृ० ४८।

ही वह राष्ट्र के लिए एक समस्या बन चुका था[1], क्योंकि निकम्मे निठल्ले लोग भी उस में भरती हो कर राष्ट्र पर खाली बोझ हो सकते थे। सजात संघ अर्थात् जन या कबीले तो कुछ आरम्भिक समाजों में रहे होंगे; उन के अतिरिक्त कृत्रिम संघ भारतीय समाज में तब बहुत थे—उन की सत्ता सामूहिक जीवन की उत्कट सचेष्टता को सूचित करती है—,और मौर्य साम्राज्य की नीति उन को तोड़ने और दबाने की थी। इस से यह भी सूचित होता है कि साधारण रूप से भारतीय समाज सजात जन की अवस्था लाँघ चुका था। साम्राज्य के लिए राजनैतिक संघ तो ख़तरनाक थे ही, प्रत्युत नगर गाँव आदि के छोटे छोटे समयानुबन्ध—समय अर्थात् परस्पर ठहराव हर खड़े हुए संगठन—भी उसे काँटे मालूम होते थे, क्योंकि वे भी अवसर पा कर राजनैतिक शक्ति हथिया सकते थे। केवल एक प्रकार के समयानुबन्धों को साम्राज्य के संचालक रहने देना चाहते थे—जो कि सामुत्थायिक हों, अर्थात् संयुक्त पूंजी (सम्भूय-समुत्थान) वाले व्यापारियों या शिल्पियों के समूह हों; वैसे समूहों को बढ़ाना तो उलटा साम्राज्य-संचालकों को अभीष्ट था क्योंकि उन से राष्ट्र की और साम्राज्य की आर्थिक शक्ति बढ़ती थी। स्पष्ट है कि यह नीति साम्राज्य-संचालकों के केवल आदर्श और उद्देश को सूचित करती है; वस्तु-स्थिति में उन्हें बहुत कुछ समझौता करना पड़ता था।

§ १४४. चातुरन्त राज्य का ढाँचा

अ. केन्द्रिक संगठन—मन्त्रिगण और मन्त्रिपरिषद्

इस विवेचना के बाद अब हम साम्राज्य के केन्द्रिक शासन को भी ठीक समझ सकेंगे। साम्राज्य के केन्द्र में राजा मन्त्रिणः और मन्त्रि-

---

[1]दे० ऊपर §§ ८५ उ, ८६ अ।

परिषद् की सहायता से शासन करता था। मन्त्रिणः अर्थात् मन्त्रियों का समूह या मन्त्रिगण राजा के असल साथियों और शासन के वास्तविक संचालकों का समुदाय था, जिस में तीन-चार व्यक्ति होते थे। मन्त्रिपरिषद् मन्त्रिगण से बड़ी और मन्त्र (सलाह) देने वाली संस्था थी, जिस में बारह सोलह बीस या यथासामर्थ्य परिषद् होते थे। उन में से जो अनासन्न (अनुपस्थित) हों, उन का मत पत्र द्वारा मँगाया जाता था। आत्ययिक कार्य में मन्त्रियों और मन्त्रिपरिषद् की इकट्ठी बैठक होती, और उन में जो बहुतों का मत हो या जिसे राजा कार्यसिद्धिकर माने सो किया जाता था।[1]

अर्थशास्त्र की मन्त्रिपरिषद् और अशोक-अभिलेखों की परिवा स्पष्टतः एक ही वस्तु थीं। उस के अधिकारों और कार्य्य के विषय में सब विद्वानों की प्रायः एक मति है। एक तरफ़ जायसवाल भी यह नहीं कहते कि वह पूरी पूरी प्रजाकीय संस्था थी; उन के मत में उस में पौर-जानपदों के केवल कुछ खास प्रतिनिधि होते थे। दूसरी तरफ़, जिन का यह मत है कि इस युग में राजा की परिषद् केवल उस के सलाहकारों की संस्था रह गई थी, जिन्हें राजा स्वयं चुनता था, वे भी यह स्वीकार करते हैं[2] कि वह उस के ऊपर बन्धन लगाने का काम देती और वह अपने को प्रजा की प्रतिनिधि तथा उस के अधिकारों की रक्षा के लिए ज़िम्मेदार मानती थी। इस का कारण यह था कि एक तो वह वैदिक काल की समिति की उत्तराधिकारिणी थी, जो कि वस्तुतः प्रजा की प्रतिनिधि होती थी और जिस का मुख्य काम राजा पर नियन्त्रण रखना होता था। दूसरे, भारतीय राज्य-संस्था में यह विचार सदा रहा कि राजा प्रजा से षड्भाग लेने के कारण उन का भृत्य या उन का

---

[1] अर्थ० १. १५।

[2] ··· कु० सरकार—पोलिटिकल थियरीज़ आदि, ४ § ४; ८ § ५।

ऋणी है—अशोक भी अपने उस ऋण का उल्लेख करता है[1]; और उस भृति के बदले में वह ठीक से काम करता है कि नहीं, अथवा उस ऋण को ठीक से चुकाता है कि नहीं, इस का ध्यान रखने का दायित्व मन्त्रिपरिषद् पर समझा जाता था।

मेंगास्थेने ने अपने समय के भारतीय समाज को सात वर्गों में बाँटा है। पहला वर्ग राजाओं और राजकुमारों आदि का था। दूसरे वर्ग में मन्त्री परिषद् और सलाहकार लोग गिने जाते थे। उस वर्ग के पास सब से अधिक शक्ति थी; मण्डलों के शासक, उन के निचले सहायक, कोष और सेना के अध्यक्ष आदि को चुनना और नियुक्त करना उसी वर्ग के हाथ में था। स्पष्टतः वह वर्ग मन्त्रिपरिषद् के परिषदों का ही था। राज्य के सभी विभागों के अधिकारियों को राजा उन्हीं की सलाह से नियुक्त करता था।

इ. प्रबन्ध वसूली और न्याय के महकमे

जैसा कि ऊपर कह चुके हैं जनपद का मुख्य अधिकारी अर्थशास्त्र के अनुसार एक समाहर्ता होता था; उस के नीचे चौथाई जनपद पर स्थानिक, और फिर ५ या १० गाँवों पर एक गोप। गाँवों, खेतों आदि की सीमाओं को ठीक रखना, उन की मलकीयत का लेखा रखना, उन के कर आदि का हिसाब रखना सब गोप का काम था। ये अधिकारी अपने इलाकों की जनसंख्या भी करते, और उस की घटी-बढ़ती का, नये जन्मों और मृत्युओं आदि का, लेखा रखते थे। इतने प्राचीन युग में संसार के और किसी भी सभ्य देश में इस प्रकार मनुष्य-गणना करने की प्रथा न थी।

गोपों और स्थानिकों के स्थानों में बलि-प्रग्रह (कर की वसूली)

---

[1] प्र० शिला० ६

करने वाले दूसरे अधिकारी होते थे,जो प्रदेष्टा कहलाते थे। उन्हीं स्थानों पर कार्य करने (मुकद्दमे सुनने) वाले अधिकारी भी होते; वे भी प्रदेष्टा ही कहलाते थे।[1] फ़ौजदारी कचहरियों को अर्थशास्त्र में कण्टक-शोधन कहा है; और कण्टकशोधन का काम तीन प्रदेष्टा या तीन अमात्य इकट्ठे करते थे[2]—अर्थात् प्रत्येक वैसी कचहरी तीन प्रदेष्टाओं की बनी होती थी। उस में उव्वहिका या सभा (जूरी) का कोई उल्लेख नहीं है। उन कचहरियों को बड़े अधिकार थे। चोरी, उत्कोच (घूंस), व्यभिचार, राजद्रोह, सड़क सेतु (बाँध) आदि के बिगाड़ने और प्रबन्ध-सम्बन्धी नियमों विषयक सब मुकद्दमे वे सुनतीं, और जुरमाने बन्धन (कैद) निर्यातन और मृत्यु तक का दण्ड दे सकती थीं।

दीवानी मामले सुनने वाली कचहरियां अलग थीं; वे साम्राज्य के प्रत्येक केन्द्र में स्थापित थीं। उन में से प्रत्येक में तीन धर्मस्थ या तीन अमात्य बैठते थे।[3] कुल दीवानी मामले अर्थशास्त्रकारों द्वारा १७ या १८ विभागों में बाँटे गये थे। विवाह, दाय-विभाग, ज़मीन और गृह-वास्तुक (मकान), समय को तोड़ने, ऋण, उपनीध (धरोहर), दास और कर्मकर, सम्भूयसमुत्थान, क्रय-विक्रय, दान और स्वामित्व, साहस (ज़ोर-ज़बरदस्ती), वाक्पारुष्य (मानहानि), दण्डपारुष्य (मारपीट), द्यूत और समाह्वय (बाजी लगाना) आदि विषयक सब झगड़े धर्मस्थीय अदालतों में सुने जाते थे।

न्याय की कड़ी मर्यादा थी। स्वयं धर्मस्थ और प्रदेष्टा और यहाँ तक कि राजा भी दण्ड से ऊपर न थे। यदि कोई धर्मस्थ वादी या प्रतिवादी के साथ अनुचित बर्ताव करे या जान बूझ कर पक्षपात करे,

---

[1]अर्थ० २. ३५—पृ० १४२।

[2]वहीं ४. १०—पृ० २००।

[3]वहीं, ३. १—पृ० १४७।

तो कण्टकशोधकों के सामने उस पर मामला चल सकता था। उसी तरह यदि प्रदेष्टा अनुचित दण्ड दे तो उसे दुगना या कई गुना दण्ड भोगना पड़ता था—जुरमाने (हैरण्य दण्ड) के बदले में जुरमाना, और शरीर दण्ड के बदले में शरीर दण्ड।[1] कौटिल्य जैसा एकराज्य का पक्षपाती भी यह स्वीकार करता है कि प्रदेष्टा राजा को भी दण्ड दे सकता था,[2] और कि निरपराध (अदण्ड्य) को दण्ड देने से राजा को दण्ड भोगना पड़ता था।[3]

उ. सेना

मेगास्थेने के वर्णन से पता मिलता है कि मौर्यों का सेना-विभाग बहुत ही सुव्यवस्थित और बाकायदा था। उस में छः अलग अलग महकमे थे जिन में से प्रत्येक ५-५ पुरुषों के एक एक वर्ग के अधीन चलता था। पैदल घुड़सवार रथ और हाथियों की सेना के चार महकमे थे, पाँचवाँ नौ-सेना का, और छठा रसद और सामान जुटाने और पहुँचाने का। चन्द्रगुप्त के समय सेना में ६ लाख पैदल, ३० हज़ार सवार, ९ हज़ार हाथी और ८ हज़ार रथ थे—प्रत्येक हाथी पर तीन धनुर्धर और प्रत्येक रथ में दो योद्धा; इस प्रकार कुल ६ लाख ९० हज़ार सैनिकों की खड़ी सेना तैयार रहती थी; नौ-सेना उस से अलग थी। उस सेना की कवायद और शिक्षा का प्रबन्ध बहुत बारीकी से किया गया था। छावनियाँ डालने के और उन के प्रबन्ध के नियम अर्थशास्त्र में बारीकी के साथ निश्चित किये गये हैं। उसी प्रकार चढ़ाई के समय रसद आदि जुटाने और ढोने के भी। सेना के पीछे-पीछे

[1] वहीं ४०.६—पृ० २२४-२५, धर्मस्थश्चेद् इत्यादि।

[2] वहीं ४.१०—अन्तिम श्लोक।

[3] वहीं ४. १३—अन्तिम दो श्लोक।

चिकित्सक और परिचारिकायें भी रहती थीं[१]। किले तोड़ने आदि के लिए कई प्रकार के यन्त्र भी काम आते थे[२]।

अर्थशास्त्र में मौल और भृत बल के अतिरिक्त श्रेणी-बल अटवी-बल मित्र-बल का भी उल्लेख है[3]। मौल बल वह जो राजा की अपनी बिरादरी के लोगों का—मूल रूप—होता था; भृत बल वैतनिक सेना थी; कुछ अधीन मित्र राष्ट्र, आटविक जातियाँ और श्रेणियाँ भी शायद कर-रूप में अपनी सेना देती थीं। अथवा, मित्र-बल अधीन मित्रों का नहीं, किन्तु युद्ध के समय सहयोग देने वाले जिस किसी मित्र का होता था, और मौल, भृत, श्रेणि-बल तथा अटवी-बल ये चार प्रकार की सेनायें ही मुख्य रूप से रहती थीं। श्रेणि-बल मित्र-बल से अधिक अच्छा माना जाता था; क्योंकि वह जानपद अर्थात् अपने देश का होता था।

हाथियों और पैदलों में मौर्य सेना की विशेष शक्ति थी।

ऋ. सेना-विभाग के सहायक तथा कृषि व्यवसाय आदि के महकमे

राज्य के कुछ महकमे ऐसे थे जिन्हें सेना-विभाग और प्रबन्ध-विभाग का परिशिष्ट कहना चाहिये। नमूने को, हाथियों पर राजा का एकाधिकार था, क्योंकि युद्ध के लिए हाथियों का बड़ा महत्त्व था। राज्य की तरफ़ से हाथियों घोड़ों गायों और अन्य जानवर की अच्छी नस्ल तैयार करने को शालायें या व्रजभूमियाँ थीं, जिन के बाकायदा अधिकारी—हस्त्यध्यक्ष अश्वाध्यक्ष गोध्यक्ष आदि—होते थे; अशोक के १२ वें शिलाभिलेख का व्रजभूमिक शायद अर्थशास्त्र का गोध्यक्ष ही है[४]। जल- और स्थल-मार्गों पत्तनों आदि की रक्षा और देखरेख के लिए विशेष राजकीय अधिकारी थे; राहदारी के अनेक पेचीदा नियम

---

[१]वहीं १०. ३—पृ० ३६१। [२]वहीं २. १८—पृ० १०१। [3]वहीं २. ३३—पृ० १४०। [४]मा० अ० स० १, प्रस्तावना, पृ० ४२।

थे। रास्तों पर दूरी के सूचक निशान बराबर लगाये जाते और यात्रियों के उतारे का प्रबन्ध होता। मौर्यों का जंगल का महकमा भी था। राज्य की तरफ़ से वनस्पतियों और औषधियों के बगीचे भी थे। सिंचाई पर पूरा ध्यान दिया गया था। राज्य के व्यावसायिक और आर्थिक महकमों—अर्थात् राज्य को खेती खानों और कारखानों—का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। अनेक प्रकार के वाणिज्य पर शुल्क उगाहने का महकमा भी था। किन्तु शुल्क के सम्बन्ध में यह नीति थी कि "राष्ट्र को पीड़ा देने वाले और फल-हीन माल को न आने दिया जाय, और जो माल राष्ट्र का उपकार करने वाले हों उन्हें तथा दुर्लभ बीजों को बगैर चुंगी के कर दे।"[1]

लृ. गुप्तचर विभाग

मौर्यों का चर या गुप्तचर विभाग बहुत ही पेचीदा और पूर्ण था। उस के बिना उस की साम्राज्य-नीति चरितार्थ न हो सकती थी। अन्दर और बाहर के शत्रुओं को खोज निकालना, संघों आदि की शक्ति को तोड़ना, अन्तां अर्थात् पड़ोसी राज्यों की कारवाइयों पर और उन के बल-अबल पर दृष्टि रखना सब उसी महकमे का काम था।

ए. सामाजिक महकमे

जनता के सामाजिक जीवन और विनोद आदि को भी मौर्य राज्य देखरेख रखता था। नट नर्त्तक आदि के नियन्त्रण की बात पीछे कही गई है। उसी प्रकार पानागारों (शराबखानों) और गणिकाओं के निरीक्षण के लिए विशेष अध्यक्ष होते थे। इन महकमों से राज्य को आय भी होती थी।

---

[1] अर्थ० २. २१—पृ० ११२।

§ १४५. मौर्य साम्राज्य का 'व्यवहार'

मौर्यकालीन भारत की राज्यसंस्था में कानून के आधार कौन कौन से थे, इस का उल्लेख पीछे (§ १४१) कर चुके हैं। उन में से धर्म और व्यवहार पुराना स्थापित कानून था। अर्थशास्त्र का तीसरा अधिकरण धर्मस्थीय और चौथा कण्टकशोधन है। ये अधिकरण मौर्यकालीन व्यवहार की स्मृति हैं। इन में उस तमाम कानून का प्रतिपादन किया गया है जिस के अनुसार मौर्यों के धर्मस्थ और प्रदेष्टा व्यावहारिक अर्थों का चिन्तन करते या कार्यों (मामलों) को देखते थे। इस व्यवहार या आईन के मुख्य अंगों और उन की बहुत सी उल्लेखयोग्य बातों की चर्चा भी ऊपर प्रसंगवश हो चुकी है। यहाँ उस का एक सामान्य दिग्दर्शन कर के विशेष महत्त्व की बातों की ओर ध्यान दिलाया जाता है।

अ. पारिवारिक कानून

व्यवहार में सब से पहला मामला विवाह का है। "बारह बरस की स्त्री प्राप्तव्यवहार (कानूनी अधिकार पाने वाली, बालिग़) होती है। और सोलह बरस का पुरुष"[1] तथा "विवाह से पहले व्यवहार (कानूनी अधिकार)"[2] होते थे—अर्थात् बालिग होने पर ही विवाह हो सकता था। जायसवाल का कहना है कि कौटिल्य की विवाह-व्यवस्थाओं में जनसंख्या बढ़ाने की नीति स्पष्ट दीख पड़ती है, और उस ने उसी नीति से स्त्री-पुरुष के विवाह की आयु घटाई है, पहले वह अधिक थी।[3]

विवाह के आठ प्रकारों का भी अर्थशास्त्र में ब्यौरा है, उस वर्गीकरण का स्पष्ट उद्देश था तमाम विवाहों को कानून की सीमाओं में

---

[1]अर्थ० ३.३—पृ० १५४। [2]वहीं ३ २—पृ० १५१। [3]मनु और याज्ञ० पृ० २२९।

लाना। पीछे (§ ११६) देख चुके हैं कि शुरू में विवाह का वर्गीकरण केवल दो किस्मों में किया गया था—एक ब्राह्म दूसरा शौल्क; ब्राह्म ब्रह्म अर्थात् वेदमन्त्रों से सिद्ध होता था, शौल्क शुल्क से; पहला संस्कारात्मक था, दूसरा ठहरावात्मक। शौल्क का नाम ही अर्थशास्त्र में आर्ष है, पर उस का शुल्क केवल सांकेतिक है—एक जोड़ी बैल; धर्म की दृष्टि से देखने वाले जैसे मन्त्रों से विवाह की पूर्णता मानते थे, अर्थ की दृष्टि वाले वैसे ही उस सांकेतिक शुल्क से। प्राजापत्य की कल्पना उन दोनों के पीछे की गई; उस में ब्राह्म और शौल्क दोनों मिले हैं; साथ मिल कर धर्म आचरण ही उस के प्रवर्तकों की दृष्टि से विवाह का लक्षण था। वह आर्यों के विवाह-विषयक सर्वोच्च आदर्श को सूचित करता है। दैव विवाह अपने पुरोहित को कन्या देने से होता था। ये चार धर्म्य थे। बाकी चार थे—गान्धर्व, आसुर, राक्षस, पैशाच। गान्धर्व का अर्थ था युवक-युवती का प्रेम के कारण बिना संस्कार के सम्बन्ध कर लेना। आसुर का अर्थ था स्त्री खरीदना। राक्षस का दूसरा नाम क्षात्र भी है। वह युद्ध में हरने से होता था। पैशाच सब से घृणित था—सोती मूर्छित या उन्मत्त स्त्री को पकड़ लाना। पिछले चार अधर्म्य थे, इस का यह अभिप्राय नहीं कि राजकीय धर्मस्थ उन्हें नहीं मानते थे। उन्हें वैध बनाने के लिए ही उन की गिनती की गई है। और उन्हें वैध बनाने का तरीका यह था कि लड़की के माता-पिता की स्वीकृति मिल जाय तथा लड़की के लिए बृत्ति या स्त्रीधन स्थापित कर दिया जाय। गान्धर्व और आसुर विवाहों में यदि उस स्त्रीधन को पति कभी बर्तें तो उसे सूद-सहित वापिस देना होता था। राक्षस और पैशाच में यदि वह स्त्रीधन को छुए तो स्त्री उस पर चोरी का मुकदमा कर सकती थी[1]। इस प्रकार सब प्रकार के सम्बन्धों को कानून जहाँ विशेष

[1] अर्थ० ३.२—पृ० १५१-५२।

शर्त्तों पर मान लेता था, वहाँ बुरे सम्बन्धों में स्त्री की रक्षा का उस ने पूरा प्रबन्ध किया था।

इस प्रसंग में सब से अधिक मनोरञ्जक बात यह है कि विवाह को इस मौर्य स्मृति में दूसरे ठहरावों की तरह एक ठहराव—एक साधारण व्यवहार—माना गया है, और काफ़ी आसानी से और बहुत छोटे कारणों से उस ठहराव से मोक्ष (तलाक) मिल सकता था। परस्परं द्वेषान् मोक्षः[1]——परस्पर द्वेष होने से तलाक हो जाय, यह एक माना हुआ सिद्धान्त था। यदि द्वेष एक तरफ़ से हो तो दूसरे पक्ष की इजाज़त से मोक्ष हो सकता था। स्त्री को यदि पुरुष से या पुरुष को यदि स्त्री से विप्रकार की आशंका हो, तब भी मोक्ष की दरख्वास्त दी जा सकती थी[2]। ह्रस्व और दीर्घ प्रवास भी मोक्ष का कारण बन सकते थे।

"ह्रस्व-प्रवासी शूद्र वैश्य क्षत्रिय ब्राह्मणों की भार्यायें एक बरस काल तक प्रतीक्षा करें यदि उन की सन्तान न हुई हो; सन्तान हुई हो तो बरस से अधिक। यदि उन के गुज़ारे का प्रबन्ध किया गया हो तो दूना काल, ...। ब्राह्मण पढ़ने गया हो तो उस की बिना सन्तान की स्त्री दस बरस, सन्तान वाली हो तो बारह बरस। राजपुरुष की आयु भर प्रतीक्षा करे। किन्तु यदि अपने सवर्ण (किसी अन्य पुरुष) से सन्तान पैदा कर ले तो निन्दा को प्राप्त न हो। यदि उस की जीविका का प्रबन्ध न हो और सुखावस्थ (अच्छी हालत वाले) कुटुम्बी उसे छोड़ दें तो यथेष्ट (नये पति) को प्राप्त करे।

धर्म-विवाह (ब्राह्म प्राजापत्य आर्ष या दैव) से व्याही गई कुमारी प्रोषित पति का, यदि उस का समाचार मिलता हो और यदि स्त्री अपने इरादे की घोषणा न करे तो सात तीर्थों (मासिक धर्म के अनन्तर

---

[1] वहीं ३.३—पृ० १५५।

[2] वहीं।

सहवासकालों) तक प्रतीक्षा करे; यदि उस की खबर मिलती हो और स्त्री घोषणा कर दे तो बरस तक। प्रोषित (पति) की खबर न सुनी जाती हो तो पाँच तीर्थों तक, सुनी जाती हो तो दस तीर्थों तक; जिस ने शुल्क का एक अंश ही दिया हो उस की खबर भी न सुनी जाय तो तीन तीर्थों तक; खबर सुनी जाती हो तो सात तीर्थों तक; जिस ने पूरा शुल्क दिया हो उस की खबर न सुनी जाय तो पाँच तीर्थों तक, सुनी जाय तो दस। उस के बाद धर्मस्थों की इजाज़त लेकर यथेष्ट (पुरुष को) प्राप्त करे। क्योंकि तीर्थ को रोकना धर्म का वध करना है, कौटल्य का ऐसा कहना है।"[1]—इसी से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जन-संख्या बढ़ाने की कौटल्य को बड़ी चिन्ता थी।

स्त्री को दाय पाने का पूरा अधिकार था, यह कौटल्य के व्यवहार की एक और उल्लेखयोग्य बात है।

पुत्र-विभाग के अध्याय में पहले-पहल यह विवाद उठाया गया है कि यदि एक पुरुष के क्षेत्र में दूसरा बीज डाले तो फल किस का होगा। "दूसरे के ग्रहण करने पर छोड़ा हुआ बीज खेत वाले का होता है, ऐसा आचार्यों का कहना है। माता तो धौंकनी है, जिस का वीर्य उस की सन्तान, यह दूसरों का मत है। कौटिल्य का कहना है कि दोनों ठीक हैं"[2]—नियोगज सन्तान दोनों की उत्तराधिकारिणी होती थी। ये सब बातें वास्तविक व्यवहार की थीं, और ये हमें याद दिलाती हैं कि अभी हम वैदिक काल से बहुत दूर आगे नहीं बढ़ आये हैं। विभिन्न वर्णों के विवाह को कौटल्य पूरी तरह जायज़ मानता है। पुत्र-विभाग अध्याय के अन्त में कहा है—देश का, जाति का, संघ का, या ग्राम का (जिस का) जो धर्म हो, उस का उसी के अनुसार दाय-धर्म सिद्ध करे।

---

[1] वहीं ३. ४—पृ० १२८–२६।

[2] वहीं ३. ७—पृ० १६४।

इः समय का अनपाकर्म और आर्थिक कानून

मकानों और खेतों के विवादों में ग्रामवृद्ध जूरी रूप में बैठते थे। उन के वहुमत के अनुसार फ़ैसला होता था[1]।

ग्राम, देश, जाति, कुल और संघों के समय का अनपाकर्म एक और व्यवहार-पद है, जिस का पीछे उल्लेख कर चुके हैं।

ऋण के नियमों का आरम्भ यों किया है[2] कि १$\frac{1}{4}$% मासिक वृद्धि धर्म के अनुसार होती है, व्यवहार के अनुसार ५%; पर कान्तारकों (जंगल पार करने वाले व्यापारियों) की १० %, और सामुद्रिक व्यापारियों की २० %। स्थल और समुद्र के व्यापारी इतना अधिक सूद देते थे, तब वे नफ़ा भी काफ़ी बनाते होंगे।

ऋण और क्रय-विक्रय आदि के गवाहों को श्रोता (सुनने वाले) कहा है, यद्यपि साक्षी (देखने वाले गवाह) का भी कई जगह उल्लेख है। इस का यह अर्थ है कि अभी वहुत से व्यवहार ज़बानी होते थे—लेख का वैसा प्रचार न हुआ था जैसा कि हम आगे (§ १९२ उ) याज्ञ-वल्क्य-स्मृति के समय में देखेंगे।

दासों-विषयक कानून का हम आगे अलग विचार करेंगे। उस से अगला कर्मकरों विषयक कानून[3] भी आर्थिक इतिहास की दृष्टि से वहुत कीमती है।

उस से अगला विषय सम्भूय-समुत्थान[4] भी मनोरञ्जक है। उस में संघभृताः अर्थात् संघ-रूप में भृति तय कर के काम करने वालों का भी

---

[1]वहीं ३. ९—पृ० १६९; तेषां द्वैधीभावे यतो वहवश्शुचयो इत्यादि।

[2]वहीं ३. ११—पृ० १७४।

[3]वहीं ३. १३, १४—पृ० १८३—८५।

[4]वहीं ३. १४—पृ० १८५—१८७।

उल्लेख हैं। सम्भूय समुत्थाता (मिल कर उठने वाले) कर्षक (किसान) और वैदेहकों (व्यापारियों) का भी ज़िक्र है। सम्भूय समुत्थान करने वाले याजकों और ऋत्विजों के दक्षिणा बाँटने के नियम दिये हैं। इस प्रकार सम्भूय समुत्थाताओं में सम्मिलित पूंजी वाले व्यापारियों के अतिरिक्त सहकार या सहोद्योग (cooperative) पद्धति से काम करने वाले मेहनतियों तथा सामुदायिक (collective) खेती करने वाले किसानों की भी गिनती थी। सच कहें तो सम्मिलित पूंजी की बात अभी यहाँ इतनी नहीं दीखती जितनी सामुदायिक श्रम की।

उ: दासत्व कानून

धर्मस्थीय का तेरहवाँ अध्याय दासकल्प शायद सब से अधिक महत्व का है। उस का आरम्भ यों होता है—"उदरदास के सिवाय आर्यप्राण अप्राप्तव्यवहार (नाबालिग़) शूद्र को बेचने या धरोहर रखने को ले जाने वाले स्वजन के लिये १२ पण दण्ड। वैश्य को दूना। क्षत्रिय को तिगुना। ब्राह्मण को चौगुना। पराये आदमी (ले जाने वाले) के लिए पूर्व मध्यम उत्तम और वध दण्ड (अर्थात् शूद्र को बेचने की चेष्टा से पूर्व दण्ड, वैश्य को बेचने की चेष्टा से मध्यम आदि); क्रेता और श्रोताओं के लिये भी।

म्लेछों को प्रजा (अपनी सन्तान) बेचने या धरोहर रखने से दोष नहीं होता।

किन्तु आर्य को दास नहीं किया जा सकता।"[1]

मौर्य साम्राज्य के ठीक पड़ोस में यूनानी राज्य थे, और म्लेच्छों से अभिप्राय यहाँ निश्चय से उन्हीं से है। उन में दासत्व का बहुत बुरा

---

[1] म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा। न त्वेवार्यस्य दासभावः॥—पृ० १८१।

प्रचार था; उन के बड़े प्रजातन्त्रवादी दार्शनिक अरस्तू ने उस प्रथा का समर्थन किया है। जिस आथेन्स नगरी को यूनानी लोग प्रजातन्त्र-पद्धति का अग्रणी मानते थे, उस के इलाके में कुल ३५ हज़ार स्वतन्त्र प्रजा और ३ लाख दास थे, अर्थात् प्रति १३ आदमियों में से केवल १ स्वतन्त्र। प्राचीन यूनानियों और उन के आधुनिक प्रशंसकों के लिए वह भले ही एक आदर्श प्रजातन्त्र रहा हो, अपनी जनता में से ९२½ फ़ी सदी के लिए वह कैदखाने से बदतर थी। एक एक परिवार के पास ५-५ सौ तक दास होते थे। खेती-बाड़ी मेहनत-मज़दूरी सब वही करते थे। भारतवर्ष में वह दशा कभी नहीं रही, खेतों वाले दास तो यहाँ कभी थे ही नहीं; जो दास थे वे घरेलू सेवा करने के लिए थे। उन की संख्या भी यूनान के मुकाबले में इतनी कम थी, और उन के साथ वर्त्ताव वहाँ के मुकाबले में इतना अच्छा था कि मेंगास्थेनें ने समझा कि भारतवर्ष में दासत्व है ही नहीं। और कौटल्य की व्यवस्थाओं से प्रतीत होता है कि जो थोड़े-बहुत दास थे भी, उन्हें भी मुक्ति दिलाना और भारतवर्ष की समूची प्रजा को स्वतन्त्र बनाना कौटल्य का ध्येय था।

उदरदास (पैदा हुए दास) के अतिरिक्त क्रीत (खरीदे), आहितक (धरोहर रक्खे) और ध्वजाहृत (झण्डे के नीचे अर्थात् युद्ध में पकड़े गये) दासों का उल्लेख है। पूर्वोक्त नियम से स्पष्ट है कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और आर्य-प्राण शूद्र—अर्थात् जिस शूद्र की नसों में आर्य रक्त मिश्रित हो उस—का विक्रय या आधान न हो सकता था। बाकी केवल शुद्ध अनार्य शूद्र बचे, जो दास बनाये जा सकते थे। उन सब को भी आर्य (स्वतन्त्र भारतीय) बना डालना और जब तक वे आर्यत्व के अधिकार न पा सकें उन से बुरा वर्त्ताव न होने देना कौटल्य को अभीष्ट था, सो इन व्यवस्थाओं से प्रकट होगा—

"आहित दास से मुर्दा पाखाना पेशाब या जूठन उठवाना, उसे नंगा रखना या मारना, और स्त्रियों (दासियों) का अतिक्रमण (सतीत्व-

खण्डन) (उन के) मूल्य को नष्ट कर देता है (अर्थात् वैसा करने से वे स्वतन्त्र हो जाते हैं)।

आहितक अकामा धाय का अधिगमन करने वाले स्वामी को पहला साहस दण्ड, दूसरे को मध्यम दण्ड। आहितक कन्या को स्वयं या दूसरे से दूषित कराने से मूल्यनाश, शुल्क (उस कन्या के विवाह के लिए शुल्क) और उस से दूना दण्ड।

अपने को वेचने वाले की सन्तान को आर्य जाने।

स्वामी का काम न बिगाड़ते हुए (वह) जो अपनी कमाई करे, (उसे) पाय। और पैतृक दाय को भी।

और मूल्य (चुका देने) से आर्यत्व (स्वतन्त्रता) प्राप्त करे।

वैसे ही उदरदास और आहितक।......आर्यप्राण ध्वजाहृत (युद्ध में पकड़ा गया) हो तो......आधे मूल्य से छूट जाय।

(स्वामी के) घर में (दास रूप में) पैदा हुए, दाय में आये, लब्ध (पाये गये) या क्रीत (खरीदे गये) में से किसी क़िस्म के दास को, जो आठ बरस से छोटा और बन्धुहीन हो, उस की इच्छा के विरुद्ध नीच कार्य में लगाने या विदेश में विक्रय या आधान के लिए ले जाने, अथवा सगर्भा दासी को उस के गर्भकाल में भरण-पोषण का प्रबन्ध किये बिना विक्रय या आधान के लिए ले जाने वाले को पहला साहस दण्ड। क्रेता श्रोताओं को भी।

उचित निष्क्रय (स्वतन्त्र होने का मूल्य) पाने पर दास को आर्य (स्वतन्त्र) न करने वाले को १२ पण दण्ड।......

दास के द्रव्य के दायद (उस के) सम्बन्धी (होंगे)। उन के अभाव में स्वामी।

स्वामी से दासी में पैदा हुए को (अपनी) माता सहित अदास जाने। यदि कुटुम्ब की अर्थ-चिन्ता के लिए उसे गृह्य (घरेलू) दासी बना रहना हो तो उस को माँ भाई और बहन अदास हो जाँय।"

इन व्यवस्थाओं का प्रयोजन इतना स्पष्ट है कि कहने की ज़रूरत नहीं।

ऋ. विविध

वाक्पारुष्य के अपराध में किसी के गाँव या देश की निन्दा करना भी गिना गया है सो पीछे कह चुके हैं। दण्डपारुष्य छोटे जानवरों और वनस्पतियों के खिलाफ़ भी हो सकता था; काम के वृक्षों को काटने उखाड़ने का दण्ड उसी शीर्षक के नीचे आया है। द्यूतसमाह्वय पर राजकीय नियंत्रण था सो भी कह चुके हैं। फुटकर अपराधों में शाक्य आजीवक आदि वृषल (शूद्र) प्रव्रजितों (सन्यासियों) को देवताओं और पितरों के कार्यों में खिलाना भी है।

लृ. फ़ौजदारी कानून

कंटकशोधन के आईन में सब से पहले कारुक-रक्षण अर्थात् शिल्पियों की रक्षा का विधान है। श्रेणियों-सम्बन्धी नियम उसी में आते हैं। दूसरा अध्याय वैदेहक (व्यापारी)-रक्षण का है। उस में एक नियम यह भी है कि 'वैदेहक लोग इकट्ठे होकर माल रोक लें और कीमत बढ़ा कर बेचें या खरीदें तो उन्हें हज़ार (पण) दण्ड'[1]। व्यापारियों के इस प्रकार के कार्यों में आधुनिकता की गन्ध आती है।

मेगास्थेने का कहना है कि मौर्य भारत में किसी शिल्पी का हाथ काटने वाले को मृत्यु-दण्ड मिलता था[2]।

कण्टक शोधन के और कार्यों में आशु-मृतक-परीक्षा (शव-परीक्षा) भी है[3]। धर्मस्थों प्रदेष्टाओं और राजा तक के दण्ड का विधान है सो पीछे कह चुके हैं। साक्षी में अग्नि आदि की दैव साक्षी का कहीं नाम नहीं

---

[1]वहीं ४. २—पृ० २०९। [2]पृ० ७१। [3]अर्थ० ४. ७।

है, यद्यपि धर्मशास्त्रों में उस का विधान है। जान पड़ता है कि धर्म-शास्त्रकारों को वह स्वीकृत थी, पर राजकीय अदालतों में न चलती थी।

मौर्यों का दण्ड-विधान हमें कठोर जान पड़ता है, किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि अनेक अपराधों के शारीरिक दण्डों के बदले निश्चित जुरमाना दे कर छुटकारा हो सकता था। जायसवाल का कहना है कि मौर्यों ने दण्ड-विधान बहुत सरल कर दिया; निर्यातन, अङ्गच्छेद आदि दण्ड पहले से चले आते थे; मौर्यों ने उन में से बहुतों के बदले वैकल्पिक रूप से जुरमाने का दण्ड कर दिया। कारु शिल्पियों आदि को चोरी के अपराध में हाथ काटने के बजाय जुरमाने के दण्ड का विधान अर्थशास्त्र में है[१]। यह "मौर्यों का दिया हुआ वर" दण्डी कवि के समय तक भी बना हुआ था[२]। तो भी राजकीय अपराधों में कौटिल्य के दण्ड कठोर हैं, उदाहरण के लिए सिंचाई के तालाब आदि का सेतु (बाँध) तोड़ने से वहीं पानी में डुबोने का दण्ड[३] था। किन्तु यह कठोरता सार्वजनिक लाभ के लिए ही थी।

मौर्य राजा भारतवर्ष के पहले चातुरन्त शासक थे; सब से पहले चातुरन्त राज्य को स्थापित करने और बनाये रखने के लिए जिस प्रकार की अनुशासन-नीति और योजना उस समय अपेक्षित थी, ठीक उसी प्रकार की अनुशासन-नीति और योजना हम उन के समय में पाते हैं। उस योजना की सब से अधिक उल्लेखयोग्य बातें थीं—एक बड़ी सुशृङ्खल सेना का संगठन तथा अत्यन्त चतुराई-पूर्ण अर्थनीति। ये दोनों बातें

---

[१] वहीं ४. १०—पृ० २२७।

[२] दशकुमारचरित्र (बम्बई-सरकार की संस्कृत-प्राकृत-ग्रन्थ-माला में बुइलर सम्पा०, २ संस्क०) पृ० ५६; मनु और याज्ञ० पृ० ७२।

[३] अर्थ ४. ११—पृ० २२६।

नन्दों के राज्य में भी थीं; किन्तु चन्द्रगुप्त ने इन में, विशेष कर सेना के संगठन में, बहुत अधिक उन्नति कर दिखाई।

§ १४६. मौर्य युग की समृद्धि सभ्यता और संस्कृति

अ. आर्थिक समृद्धि

महाजनपद-काल और पूर्व-नन्द-काल में भारतीय समाज का जो आर्थिक और व्यावसायिक ढाँचा हम ने देखा था, मौर्य काल में उसी को और अधिक परिपक्व रूप में पाते हैं। शिल्प और व्यापार इस समय तक समाज के जीवन में यदि कृषि से अधिक नहीं तो कम से कम उस के बराबर महत्त्व पा चुके थे; कारुओं अर्थात् शिल्पियों की श्रेणियाँ उस समाज के ढाँचे की बुनियाद थीं। सच कहें तो आर्थिक व्यावसायिक जीवन की उस परिपक्वता पर ही साम्राज्य का दारोमदार था।

नन्द और मौर्य दोनों साम्राज्यों की दो विशेषतायें प्रसिद्ध हैं—एक उन की बड़ी भृत सेना और दूसरे कौशलपूर्ण अर्थनीति। वह साम्राजिक अर्थनीति इस युग की नई बात थी; उस का भी निर्भर देश में शिल्प और वाणिज्य की परिपक्वता और उन्नति पर था। इसी लिए हम यों कह सकते हैं कि शिल्प और वाणिज्य, जो कृषि- और पशुपालन-प्रधान वैदिक युग में न के बराबर थे, उत्तर वैदिक युग में जिन का नन्हा सा अंकुर पहले-पहल दीख पड़ा था, महाजनपद-युग में जो खूब पुष्ट हुए और पूर्व-नन्द-युग में फूले-फले थे, अब इतने परिपक्व हो गये थे कि उन के आधार पर एक साम्राज्य खड़ा हो सकता था। हम देख चुके हैं कि मौर्य युग में ही पहले-पहल राज्य की तरफ़ से खानें खुदवाने, कारखाने चलाने (आकर-कर्मान्त-प्रवर्त्तन) आदि की प्रथा चली; वह भी आर्थिक और व्यावसायिक जीवन की परिपक्वता को सूचित करती है। मॅगास्थॅने इस बात का साक्षी है कि मौर्य राज्य को कारुओं की रक्षा का इतना ध्यान था कि कारीगरी का हाथ काटने वाले को वह

मृत्यु-दण्ड देता था। उस के अतिरिक्त मौर्य साम्राज्य की विकट सामरिक शक्ति का भी एक व्यावसायिक पहलू था। भारतवर्ष के तमाम जनपदों को अधीन करने के लिए बीसियों किले सर करने पड़े होंगे, और उन्हें सर करने में जो पत्थर फेंकने के लकड़ी के एंजिन[1] सुरंग आदि बर्त्ती जाने लगी थीं, वे भी इस युग की कारीगरी की पैदा की हुई नई चीज़ें थीं।

कारुओं की तरह वणिजों के भी सामुत्थायिक समयानुबन्धों या समूहों का अभ्युदय करना मौर्य साम्राज्य की नीति में शामिल था। वे सामुत्थायिक (सम्मिलित पूंजी वाली) व्यापारियों की मण्डलियाँ देश-विदेश से व्यापार करतीं; और उन की समृद्धि तथा आपस में मिल कर काम करने की शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि कभी कभी एक चीज़ के सब व्यापारी मिल कर उस चीज़ को बाजार में आने से रोक देते, और उस के मनमाने दाम वसूल कर सौ फ़ी सदी तक लाभ उठाते थे[2]। उस दशा में राज्य को हस्तक्षेप करना पड़ता था। अर्थशास्त्र में ठहराव-विषयक कानून काफ़ी परिपक्व दीखता है, जो व्यापार की उन्नति का सूचक है। सामुद्रिक व्यापारी बहुत अधिक सूद देते थे सो भी पीछे देख चुके हैं। अर्थशास्त्र से जिन प्रदेशों के साथ मगध का व्यापार रहा प्रतीत होता है, उन में ताम्रपर्णी (सिंहल), पाण्ड्यकवाट (पाण्ड्य देश का द्वार, तामिल—कपाटपुरम्) पारलौहित्य अर्थात् ब्रह्मपुत्र के परे का इलाका—शायद आसाम—स्वर्णभूमि और सुवर्णकुड्य—जो

---

[1] वैसे यन्त्र को फ़ारसी में मंजनीक और अंग्रेज़ी में कैटापुल्ट (catapult) कहते हैं। मध्यकालीन संस्कृत ऐतिहासिक ग्रन्थ मण्डलीक काव्य की हस्तलिखित प्रति में मुझे उस का संस्कृत नाम—मकरी-यन्त्र—मिला था, दे० ना० प्र० प० ३, मेरे लेख का पृ० २।

[2] अर्थ ८. ४—पृ० २३३; ४. २—पृ० २०५।

कि स्वर्णभूमि की तरफ़ की कोई बस्ती होगी—तथा अलकन्द अर्थात् अलाक्सान्द्रिया सब से दूर के हैं।[1]

कपास के बढ़िया कपड़े उस समय दक्खिनी मधुरा (पाण्ड्य देश की राजधानी), अपरान्त, कलिङ्ग, काशी, वङ्ग, वत्स और माहिष्मती में बनते थे[2]। यह सूचना महत्त्व की है। मधुरा अनेक युगों तक कपड़े की कारीगरी का केन्द्र रहा; उसी प्रकार कौटिल्य-कालीन वंग का कपड़ा पिछले युगों की ढाके की मलमल का पूर्वज था। कलिंग अपने कपड़ों के लिए इतना प्रसिद्ध था कि प्राचीन तामिल साहित्य में कलिंगम् का अर्थ था कपड़ा।

शिल्प और वाणिज्य की उस उन्नति का परिणाम देश की समृद्धि थी। पाटलिपुत्र उस समय संसार का सब से बड़ा नगर था; न केवल उस समय प्रत्युत समूचे प्राचीन इतिहास में दूसरा कोई नगर उस का मुकाबला नहीं कर सका। यूनान का प्रमुख नगर आथेन्स ४३० ई० पू० में तथा रोम २७ ई० पू० से १७ ई० तक—अपनी सब से अधिक समृद्धि के समय—जितने बड़े थे, मौर्य युग का पाटलिपुत्र उस से चौगुना था। २७०–२७५ ई० में रोम को बढ़ाया गया; तब भी उस की परिधि करीब १०½ मील रही, जब कि पाटलिपुत्र की मौर्य युग में करीब २१½ मील थी। उस की लम्बाई ९ और चौड़ाई १½ मील थी; उस युग की इमारतें प्रायः लकड़ी की होती थीं; इस से पाटलिपुत्र के चारों तरफ भी लकड़ी का मोटा परकोटा था जिस में ६४ दरवाजे और पहरे के लिए ५७० गोपुर (बुर्ज) थे; बाहर चारों तरफ एक खाई थी जिस में सोन का पानी भरा रहता; प्रत्येक मकान के आगे हर समय भरे घड़े रखना आवश्यक था जो आग लगने पर तुरत काम आ सकें। मौर्यों के

---

[1] वहीं २. ११—पृ० ७५, ८१।

[2] वहीं पृ० ८१।

महलों के अवशेष पटना में गुल्ज़ारबाग के नज़दीक कुमराढ़ गाँव और उस के खेतों तथा पड़ोस की रेल-पटरी के नीचे पाये गये हैं।

मौर्य काल की राज्यसंस्था में केन्द्राभिगामी और केन्द्रापगामी प्रवृत्तियों की किस प्रकार कशमकश थी उस का उल्लेख कर चुके हैं। उस युग में छोटे छोटे स्वाधीनता-प्रेमी जनपदों को अधीन कर के समूचे भारत में अनेक शताब्दियों तक एक राज्य बनाये रखना असम्भव था; और इसी लिए अशोक या सम्प्रति के पीछे मौर्य साम्राज्य के टूटने के कोई असाधारण कारण खोजना निरर्थक है।

इ. ज्ञान और वाङ्मय

वाङ्मय और ज्ञान-सम्बन्धी तथा सामाजिक और धार्मिक जीवन को देखते हुए इस युग को भी उत्तर वैदिक तथा आरम्भिक बौद्ध कहना उचित है। पूर्व-नन्द-युग में सूत्र वाङ्मय के शुरू होने का उल्लेख कर चुके हैं, वह सूत्रों का युग मौर्य काल को भी ढक लेता है। बौद्ध तिपिटक भी अशोक के समय की तीसरी संगीति के बाद पूरा हुआ। उस के कई अंशों में अशोक के बाद तक की बातें हैं; अभिधम्मपिटक का कथावत्थु अंश तीसरी संगीति के प्रमुख मोग्गलिपुत्त तिस्स का लिखा हुआ है। कह चुके हैं कि तिपिटक के प्रसिद्ध प्रसिद्ध सुत्त विचार और शैली में उपनिषदों के से प्रतीत होते हैं। इसी लिए इस युग के विचार और प्रवृत्तियों को उत्तर वैदिक और आरम्भिक बौद्ध विशेषण ठीक ठीक प्रकट करते हैं।

जैनों के प्रमाण-भूत धार्मिक वाङ्मय में ११ अंग, १२ उपांग, ५ या ६ छेद ग्रन्थ और ४ मूळ ग्रन्थ सम्मिलित हैं। यह गणना स्थानकवासी सम्प्रदाय के अनुसार है; दूसरे श्वेताम्बर १० पयन्ना या प्रकीर्ण ग्रन्थों की भी गिनती करते हैं। कई बार उन के अतिरिक्त २० और पयन्ना, १२ निर्युक्ति तथा ९ विविध ग्रन्थ सम्मिलित कर कुल ८४ प्रमाण-ग्रन्थ माने

जाते हैं। दिगम्बर इन ग्रन्थों को नहीं मानते, उन के चार वेदों की तरह चार अनुयोग हैं। जैन अनुश्रुति के अनुसार, महावीर के शिष्य आचार्य सुधर्म ने जिस प्रकार महावीर के मुँह से सुना था उसी प्रकार अंगों और उपांगों का पहले पहले सम्पादन किया था। वह बात पूर्व-नन्द-युग की हुई, और इस में सन्देह नहीं कि कुछ न कुछ जैन वाङ्मय किसी न किसी रूप में पूर्व-नन्द-युग में उपस्थित था। सुधर्म के बाद जैनों का प्रमुख आचार्य जम्बुस्वामी हुआ, फिर प्रभव, फिर स्वयम्भव; स्वयम्भव ने दशवैकालिक नामक मूळ ग्रन्थ रचा। स्वयम्भव का समय अन्दाज़न नव-नन्द-युग के आरम्भ में है। उस का उत्तराधिकारी यशोभद्र था, जिस के पीछे केवल दो बरस के लिए सम्भूतिविजय ने जैनों की प्रमुखता की। उस के बाद प्रसिद्ध भद्रबाहु आचार्य हुआ जो चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन कहा जाता है। भद्रबाहु ने एक निर्युक्ति अर्थात् आरम्भिक धर्म-ग्रन्थों पर भाष्य लिखा।

भद्रबाहु के ही समय मगध में वह प्रसिद्ध दुर्भिक्ष पड़ा जिस के कारण जैन साधु बड़ी संख्या में प्रवास कर कर्णाटक चले गये। जो पीछे रहे उन की स्थूलभद्र आचार्य ने पाटलिपुत्र में संगत जुटाई, और उसी संगत में पहले पहल जैन धर्म-ग्रन्थों का संकलन किया गया। उस समय ११ अंगों का तो सुविधा से संग्रह हो गया, पर १२ वाँ, जिस में १४ पूर्व थे, मगध में लुप्त हो चुका था। उन पूर्वों का ज्ञान केवल स्थूलभद्र को था, और उसे भी कम से कम १० पूर्वों का ज्ञान नेपाल में इस शर्त पर मिला था कि वह उन्हें गुप्त रक्खे। स्थूलभद्र और उस के साथियों ने मगध में रहते हुए कपड़े पहनना भी शुरू कर दिया था। भद्रबाहु ने लौटने पर अपनी अनुपस्थिति में किये गये संकलन की प्रामाणिकता न मानी, और न कपड़े पहनना स्वीकार किया। किन्तु उस समय इन कारणों से जैन पन्थ के दो भाग न हुए। भद्रबाहु के बाद स्थूलभद्र ही आचार्य हुआ।

आजकल जो जैनों के आचारांग सूत्र, समवायांग सूत्र, भगवती, उपासक-दशांग, प्रश्न-व्याकरण आदि ११ अंग-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, यह नहीं कहा जा सकता कि वे सब स्थूलभद्र के समय के हैं। उन के विषय और भाषा में पीछे परिवर्त्तन होता रहा है। भद्रबाहु की कही जाने वाली निर्युक्ति में तो पहली शताब्दी ई० पू० तक की बातें हैं। किन्तु उन ग्रन्थों के विशेष विशेष अंश उतने प्राचीन भी हैं, इस में सन्देह नहीं।

उपनिषदों तथा बौद्ध और जैन सुत्तों में भारतवर्ष के तमाम पिछले दार्शनिक चिन्तन का आरम्भिक रूप है। मौर्य काल तक अनेकमार्गी दर्शन-शास्त्र का स्पष्ट विकास अभी न हुआ था। वह काल आरम्भिक दार्शनिक चिन्तन और बाद के दर्शन-शास्त्र के ठीक बीच का था। दर्शन और तर्क-शास्त्र को कौटल्य आन्वीक्षकी नाम देता है, और आन्वीक्षकी में वह केवल तीन सम्प्रदायों—सांख्य योग लोकायत—को गिनता है। न्याय वैशेषिक वेदान्त आदि दर्शन-पद्धतियों का कौटल्य के समय तक विकास हुआ नहीं दीखता। किन्तु न्याय अर्थात् तर्कशास्त्र और मीमांसा किसी आरम्भिक रूप में तब भी उपस्थित रहे प्रतीत होते हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में न्यायविदों का उल्लेख है[1], और स्वयं कौटल्य अनुशासन के चार आधारों में से न्याय को एक गिनता तथा धर्मशास्त्रों में परस्पर-विरोध होने पर न्याय को प्रमाण मानने को कहता है[2]। आपस्तम्ब के उक्त न्यायविद् वैदिक विधि-निषेधों की मीमांसा करने वाले विद्वान प्रतीत होते हैं। बौधायन भी सन्दिग्ध धर्म का निर्णय

---

[1]आप० २. ४ ८. १३; २ ६. १४. १३।

[2]शास्त्रं विप्रतिपद्येत धर्मन्यायेन केनचित्।
न्यायस्तत्र प्रमाणं स्यात्तत्र पाठो हि नश्यति॥
अर्थ ३. १—पृ० १५०।

करने वाली दशावरा परिषद् में एक विकल्पी अर्थात् मीमांसक का पारिषद्य होना आवश्यक बतलाता है[1] ।

कौटल्य के उक्त प्रयोग में न्याय का अर्थ साधारण तर्क ही है, तथा गौतम धर्म सूत्र में भी राजा के लिए प्रमाण-भूत कानून के जो आधार कहे हैं उन में परस्पर विवाद होने पर तर्क की शरण लेने को कहा है[2] । इस सब का यही अर्थ है कि आपस्तम्ब, कौटल्य और गौतम धर्मसूत्र से पहले किसी किस्म के तर्कशास्त्र का आरम्भ हो चुका था; किन्तु वह आरम्भिक तर्कशास्त्र कौटल्य के समय तक इतना परिपक्व न हुआ था कि उस की गिनती उस युग की अन्वीक्षकी में की जाती। आगे[3] हम देखेंगे कि पहली शताब्दी ई० के उत्तरार्ध से पहले न्याय-वैशेषिक-पद्धति स्थापित हो चुकी थी। फलतः यह सम्भव है कि न्याय-दर्शन-कार अक्षपाद गौतम और वैशेषिक-कार कणाद काश्यप पिछले मौर्य या आरम्भिक सातवाहन युग में हुए। याकोबी का कहना है कि उन दर्शनों में माध्यमिक बौद्ध सम्प्रदाय[4] के शून्यवाद का खण्डन होने से वे २री शताब्दी ई० से पीछे के हैं[4] । तब या तो ७८ ई० से पहले न्याय-वैशेषिक किसी और रूप में थे, या शून्यवाद। विद्यमान मीमांसा और वेदान्त दर्शनों के रचयिता जैमिनि और व्यास बादरायण की तिथि भी शून्यवाद के उदय की तिथि पर निर्भर है। सांख्य और योग पद्धतियों का कौटल्य के समय तक कहाँ तक विकास हो चुका था, सो कहना कठिन है।

पाणिनि और पतञ्जलि के बीच व्याकरण के दो बड़े आचार्य

---

[1]बौ० १. १. ८ ।

[2]न्याय्याधिगमे तर्कोऽभ्युपायः—११. २३ ।

[3]नीचे § १९० ।

[4]ज० अ० ओ० सो० ३१, पृ० १ प्र ।

व्याडि और कात्यायन हुए। क्योंकि पाणिनि पूर्व-नन्द-युग में हुए थे और पतञ्जलि शुंग-युग के आरम्भ में,[1] इस लिए व्याडि और कात्यायन मौर्य युग के हैं। कात्यायन का पिछले मौर्य युग में रहना ही बहुत सम्भव है। उसी युग में भारत (महाभारत) का पुनः संस्करण भी शुरू हो गया प्रतीत होता है[2]।

किन्तु मौर्य युग के समूचे वाङ्मय में हमारी दृष्टि से सब से अधिक महत्त्व की कृति कौटलीय अर्थशास्त्र है, सो कहने की आवश्यकता नहीं।

अशोक के अभिलेखों से इस युग की भाषाओं और बोलियों की स्थिति का भी ठीक पता मिलता है। डा० देवदत्त रा० भण्डारकर ने उन की विवेचना का सार यों निकाला है[3]। स्तम्भाभिलेख जो सब आजकल के हिन्दी-क्षेत्र में हैं, उस समय की भी एक ही बोली में हैं, जिसे मध्यदेश की बोली कहना चाहिए। प्रधान शिलाभिलेखों में से कलसी और कलिंग वाले भी उसी में हैं, किन्तु गिरनार शाहबाज़गढ़ी और मनसेहरा के अभिलेख दूसरी बोलियों को सूचित करते हैं। गिरनार वाले में दक्षिणापथ की बोली है, और शाहबाज़गढ़ी-मनसेहरा वालों में उत्तरापथ की। इस प्रकार तब समूचे भारत में तीन मुख्य भाषायें प्रतीत होती हैं—मध्यदेश और पूरब की एक, उत्तरापथ की दूसरी और दक्खिन की तीसरी। डा० भण्डारकर का कहना है कि वे भाषायें पाणिनि की शास्त्रीय संस्कृत की बोलियाँ मात्र हैं।

उ. धर्म

ज्ञान और वाङ्मय की तरह इस युग का धार्मिक जीवन भी बहुत कुछ उत्तर वैदिक था जिस में आरम्भिक बौद्ध और निर्ग्रन्थ (जैन)

---

[1] नीचे §§ १२०, १६० । [2] दे नीचे * २८ । [3] अशोक पृ० १६०—२०४ ।

सुधार हो रहे थे। आजीवक आदि अन्य कई सम्प्रदाय भी थे। भक्ति-प्रधान पौराणिक धर्म का अंकुर भी विकास पा चुका था, इस के हमारे पास दो स्पष्ट प्रमाण हैं। एक तो मेगास्थेने ने लिखा है कि शूरसेनों में हेराक्ले (Herakles) की पूजा विशेष रूप से प्रचलित थी[1]; दूसरे राजपूताना में चित्तौड़ से १० मील उत्तरपूरब तथा प्राचीन मध्यमिका नगरी के खँडहरों के निकट घोसूंडी नामक गाँव में मौर्य लिपि का एक अभिलेख मिला है जिस में संकर्षण और वासुदेव के लिए पूजा-शिला और उस-के चौगिर्द नारायणवाटिका[2] अर्थात् नारायण को अर्पित बाड़ा (घेरा) बनाने की बात है। वासुदेव का ऐतिहासिक महापुरुष से देवता बनना तो भगवद्गीता से पहले ही हो चुका था; बाद के ग्रन्थों में लिखा है कि उस की पूजा सात्वतों में विशेष प्रचलित थी, कि वह पञ्चरात्र-पद्धति कहलाती थी, और कि उस पद्धति में वासुदेव के चार व्यूह (रूप) पूजे जाते थे (दे० नीचे § १९६)। सात्वत लोग वासुदेव कृष्ण की ही जाति के थे और वही शूरसेन देश में रहने से शूरसेन कहलाते थे। भगवद्गीता में वासुदेव को विष्णु या नारायण नहीं बनाया गया, पर घोसूंडी के मन्दिर के समय तक वासुदेव की नारायण से अभिन्नता हो चुकी थी। भगवद्-गीता में उस के व्यूहों का कहीं नाम नहीं है; बाद में चार व्यूह थे; पर इस समय भी दो व्यूह या रूप—एक स्वयं वासुदेव, दूसरे संकर्षण—पूजे जाने लगे थे, सो *घोसूंडी-अभिलेख तथा* महानिद्देस के पूर्वोद्धृत सन्दर्भ (ऊपर § ११३) से प्रकट है। इन व्यूहों की पूजापद्धति पञ्च-रात्र विधि कहलाती थी, और उस विधि की व्यवस्था के लिए पञ्चरात्र-संहितायें नामक ग्रन्थ लिखे गये। ब्रह्मसूत्रों के रामानुज-भाष्य (अ. २,

---

[1] पृ० २०१।

[2] ज० ए० सो० बं० १८७७, भाग १, पृ० ७७-७८।

पाद २, सू. ३९—४२) में उस प्रकार की तीन संहिताओं के नाम और उद्धरण दिये हैं—पौष्कर संहितासात्वत संहिता और परम संहिता। सर राम-कृष्ण गो० भण्डारकर ने इस संहिताओं के तीसरी शताब्दी ई० पू० में बनने का अन्दाज़ किया है[1]। यह पंचरात्र पूजा-विधि भागवत धर्म भी कहलाती थी। इस प्रकार उपनिषदों और गीता का एकान्तिक धर्म तीसरी शताब्दी ई० पू० तक पञ्चरात्र पद्धति या भागवत धर्म के नाम से एक निश्चित पन्थ बन गया।

इन पूजाओं के अतिरिक्त यक्षों नागों गन्धर्वों आदि की पूजायें और वे तुच्छ अन्ध विश्वास जो अनेक क़िस्म के रीति-रिवाज क्रिया-कलाप के जन्मदाता हैं, साधारण जनता में प्रचलित थे ही। प्रतिमाओं की पूजा कुछ तो पाणिनि के समय अर्थात् पूर्व-नन्द-काल में भी थी; अब मौर्य राजाओं ने उसे अपनी आमदनी का एक ज़रिया ही बना लिया था।

भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के लिए पाषण्ड शब्द प्रचलित था; आजकल की तरह उस शब्द में कुछ बुरा भाव न था। सब पाषण्डों को सम दृष्टि से देखना भारतीय राजाओं की प्रायः सदा की नीति रही है, और अशोक के सम्बन्ध में उस का उल्लेख किया जा चुका है। आजीवक भिक्षुओं के लिए अशोक और दशरथ ने बराबर और नागार्जुनी पहाड़ों में जो गुफ़ायें बनवाई थीं, उन की चर्चा भी हो चुकी है। अशोक अपने अभिलेखों में ब्राह्मणों और श्रमणों का एक सा आदर करने की शिक्षा देता है।

ट. सामाजिक जीवन

समाज को चार वर्णों में बाँटने की कल्पना शास्त्रकारों की थी। उन में से चौथा वर्ण शूद्र भी वास्तव में अब एक स्पष्ट पृथक् जाति

---

[1] वै० शै० पृ० ३९।

न रहा था; आर्यों और दासों में इतने विवाह-सम्बन्ध होते थे कि शूद्रों का बड़ा अंश अब आर्यप्राण हो चुका था। वह एक नया वर्ग था जिसे दास बना कर रखना मौर्यों के व्यवहार में एक अपराध था। यह ध्यान देने की बात है कि अशोक ब्राह्मण निकाय का उल्लेख करता है न कि ब्राह्मण जाति का[1]; इस का यह अर्थ है कि वह श्रेणी की तरह एक कृत्रिम समूह या वर्ग था न कि एक जात। ब्राह्मणों और श्रमणों के निकायों (वर्गों) की तरह समाज में एक और निकाय था गृहपतियों का जिन्हें अशोक इभ्य कहता है। सब के नीचे भृतकों और दासों के निकाय थे, वे भी निकाय ही थे न कि जात। दासों के विषय में पीछे बहुत कुछ कहा जा चुका है। ब्राह्मण और इभ्य भी भृतक का काम कर लेते थे[2]। क्षत्रिय ब्राह्मण वैश्य शूद्र—यह शास्त्रकारों का वर्गीकरण था; साधारण काम-काज में जब समाज के वर्गों का उल्लेख करना होता था—जैसा कि अशोक ने अपने अभिलेखों में किया है—तब ये नाम सुनाई न देते थे[3]।

विवाह-प्रथाओं विवाह-विषयक आदर्शों और विचारों की विवेचना पीछे मौर्यों के व्यवहार-प्रसंग में हो चुकी है। स्त्री को दाय का अधिकार था, और उस की हैसियत समाज में ऊँची थी। स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों में भी काफ़ी स्वतन्त्रता थी। यह एक उल्लेखयोग्य मनोरञ्जक बात है कि कौटिल्य की स्मृति के अनुसार पति के विशेष गाली देने या मारने पर स्त्री धर्मस्थों की अदालत में उस पर वाक्पारुष्य और दण्डपारुष्य का मुकद्दमा कर सकती थी; उसी प्रकार यदि स्त्री पति को गाली दे या मारे तो वह भी कर सकता था![4]

---

[1] प्र० शि० १२। [2] प्र० शि० ५। [3] मिलाइए भंडारकर—अशोक, पृ० १८३-८४। [4] अर्थ ३. ३।

लृ. कला

मौर्य काल की संस्कृति का वर्णन उस युग की ललित कला की चर्चा के बिना पूरा नहीं हो सकता। अशोक के अभिलेखों के प्रसंग में उस के थंभों की कारीगरी की चर्चा की जा चुकी है। मौर्य काल तक भी इमारतें प्रायः लकड़ी की ही बनती थीं। हम देख चुके हैं कि पाटलिपुत्र की सब इमारतें, यहाँ तक कि परकोटा भी लकड़ी का था। तो भी पत्थर के काम का बिलकुल अभाव न था। अशोक ने पत्थर की रचनाओं को बहुत प्रोत्साहित किया, और उस के बाद उन का रिवाज खूब चल गया।

प्राचीन भारत के लेण अर्थात् गुहामन्दिर अब संसार की अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त आश्चर्यमयी रचनाओं में गिने जाते हैं। लेणों के उस शिल्प का आरम्भ बराबर और नागार्जुनी के गुहामन्दिरों से ही हुआ प्रतीत होता है। ये लेण वास्तव में छोटे छोटे विहार थे। बुद्ध गया का चैत्य या मन्दिर भी अशोक ने बनवाया था; उस मन्दिर का तथा अशोक और उस की रानी के हाथों बोधि-वृक्ष की पूजा किये जाने का मूर्त्त चित्र साँची के बड़े स्तूप के पूरबी तोरण की एक पाटी पर अंकित है; सो पीछे कह चुके हैं[1]। बुद्ध गया के विद्यमान मन्दिर में, जो उस प्राचीन मन्दिर के स्थान पर है, अब अशोक की बनवाई हुई केवल वेदी बची है।

स्तूप चैत्य और विहार अशोक के पहले से थे। स्तूप वे इमारतें थीं जिन के अन्दर कोई शरीर-धातु पूजा के लिए स्थापित किये होते थे। वे चैत्यों अर्थात् चिता-मन्दिरों के अंश थे। चैत्य सामूहिक पूजा के स्थान थे, और विहार उन के चौगिर्द रहने के मठ। अशोक से पहले चैत्य

---

[1] ऊपर § १२६ अ।

और विहार भी लकड़ी के ही होते थे; उस के बाद भी लकड़ी के चैत्य और विहार बनना बन्द नहीं हो गया। ऐसी रचनायें भी रही होंगी जिन में बुनियाद और फ़र्श पत्थर का रहा हो, और ऊपर की बनावट काठ की; सांची और सोनारी से ऐसे अवशेष मिले हैं। अशोक के स्तूपों का उल्लेख हो चुका है। सारनाथ के स्तूप में अशोक-कालिक कृति का कुछ अंश तथा एक ही पत्थर में से काट कर बनाई हुई बाड़ का कुछ अंश अब तक बचा है। इसी प्रकार सांची के बड़े स्तूप की खुदाई से अन्दर जो ईंटों की बनी मूल रचना निकली है, वह अशोक के समय की है, किन्तु शुंग-युग में उस स्तूप को बढ़ाया गया, और वह मूल रचना उस के अन्दर छिप गई[1]। उस स्तूप के पास ही अशोक का सिंहध्वज है।

कला की दृष्टि से अशोक के थंभों की कारीगरी की आजकल के शिल्पज्ञों ने जी खोल प्रशंसा की है। सारनाथ के थंभे के ऊपर जो सिंहों की मूर्तियाँ हैं वे स्मिथ की सम्मति में "संसार की सब से सुन्दर पशु-प्रतिमाओं में से" हैं। कई आधुनिक विद्वानों ने अशोक के समय की मूर्तितक्षण-कला में पारसी प्रभाव होने की अटकल लगाई थी। सर जौन मार्शल को उस में मिश्रित पारसी-यूनानी परछांही दीख पड़ती है; उन का कहना है अशोक-कालीन रचनायें भारतीयों के हाथ से पैदा हुई नहीं हो सकतीं, वे सम्भवतः बाख्त्री के कारीगरों की कृतियाँ हैं[2]। श्रीयुत अरुण सेन ने इन मतों का पूरा और साफ़ साफ़ प्रत्याख्यान किया है[3]। स्व० राजेन्द्रलाल मित्र का मत था कि भारत के प्राचीन स्थापत्य-

---

[1] दे नीचे § १६१।

[2] कैं० इ० पृ० ६२२, द गाइड टु साँची (साँची-पथ-प्रदर्शक, कलकत्ता १६१८), पृ० ६-१०।

[3] इं० आ० १६१८, पृ० २६१ प्र।

शिल्प में यदि कोई बाहरी प्रभाव हुआ था तो असुर लोगों का। डा० भण्डारकर का भी वही मत है, और भारतवर्ष की परम्परागत अनुश्रुति जहाँ उसे पुष्ट करती है वहाँ उस की सम्भावना भी सब से अधिक है।

अगले युग के शिल्प और कला की विवेचना[1] से प्रकट होगा कि महाराष्ट्र की कई प्रसिद्ध लेणियाँ (गुहामन्दिर) सम्भवतः पिछले मौर्यों के समय की हैं।

किसी न किसी प्रकार की नाट्य-कला पूर्व नन्द-युग तक भी शुरू हो चुकी थी, और पाणिनि के समय तक नट-सूत्र भी बन चुके थे, सो कह चुके हैं। मौर्य काल में भी समाजों अर्थात् नाटकों और प्रेक्षागारों का काफ़ी रिवाज रहा जान पड़ता है। सरगुजा रियासत के रामगढ़ पहाड़ पर सीताबेंगा और जोगीमारा लेणें पहाड़ में काट कर बनी हुई हैं। उन के अभिलेखों की लिपि डा० ब्लाख के मत से तीसरी शताब्दी ई० पू० की है, यद्यपि कुछ विद्वान् उसे ज़रा पीछे की मानना चाहते हैं। उन अभिलेखों से पता चला है कि वे लेणें उस युग के प्रेक्षागार अर्थात् नाट्यशालायें थीं[2]। उन की दीवारों पर चित्र भी अंकित हैं, जो भारतीय चित्रकला के प्राचीनतम नमूने हैं। किन्तु उन चित्रों की सुन्दर रेखायें उन के ऊपर फिर से खींचे गये भद्दे चित्रों में छिप गई हैं[3]।

—०—

[1]नीचे § १६१।

[2]आ० स० इं० १६०३-४, पृ० १२४ प्र।

[3]मार्शल—प्राचीन भारत की शिल्प-रचनायें कैं० इ० पृ० ६४५।

टिप्पणियाँ

* २५. 'अर्थशास्त्र' का कर्त्ता कौन और कब ?

कौटिल्य या कौटल्य के अर्थशास्त्र का परिचय आधुनिक जगत् को पहले पहल सन् १९०५ ई० में मिला, जब मैसूर के प्रसिद्ध विद्वान् पं० शामशास्त्री ने उस की एक प्रति प्राप्त कर उस के अंशों का अनुवाद इंडियन ऐंटिक्वेरी में प्रकाशित करना शुरू किया। सन् १९०९ में उन्हों ने उस समूचे ग्रन्थ को पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया। उस के प्रकाशन से प्राचीन भारत की राज्यसंस्था-विषयक ज्ञान की एक नई खान आधुनिक विद्वानों के हाथ लग गई। वह ग्रन्थ वास्तव में चन्द्रगुप्त मौर्य के अमात्य कौटल्य की कृति है या नहीं, और जिस रूप में कौटल्य ने उसे रचा था प्रायः उसी रूप में वह अब भी हमें मिला है कि नहीं, इन बातों की मीमांसा उस के प्रकाशित होते ही विस्तार और बारीकी के साथ होने लगी। शुरू शुरू में हिलब्रांट, हर्टल और याकोबी नामक जर्मन विद्वानों ने उस मीमांसा में विशेष भाग लिया, और उस मीमांसा का यह सर्व-सम्मत परिणाम निकला माना गया कि वह ग्रन्थ वास्तव में कौटिल्य की कृति है जो हमें प्रायः अपने प्रामाणिक मूल रूप में मिली है। सन् १९१४ में विन्सेंट स्मिथ ने अपनी अर्ली हिस्टरी के तीसरे संस्करण में इस परिणाम से अपनी सहमति प्रकट की[1]।

अर्थशास्त्र के प्रकाशन से प्राचीन भारतीय राज्यसंस्था-विषयक खोज का एक नया सिलसिला चल पड़ा। शामशास्त्री, जायसवाल, नरेन्द्रनाथ

---

[1] परिशिष्ट जी।

लाहा, राधाकुमुद मुखर्जी, देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर, रमेश मजूमदार, उपेन्द्र घोषाल, विनयकुमार सरकार आदि भारतीय विद्वानों ने प्राचीन भारतीय राज्यतन्त्र के मानों एक नये शास्त्र का ही प्रवर्त्तन कर दिया। इस खोज के परिणाम बहुत से पाश्चात्य विद्वानों को दुष्पच प्रतीत होने लगे,—उन की अनेक मानी हुई बातों की जड़ें इस खोज से ढीली पड़ गईं। किन्तु उन परिणामों से कोई छुटकारा नहीं हो सकता यदि अर्थ-शास्त्र को चन्द्रगुप्त मौर्य के अमात्य की रचना माना जाय। इस से वे पाश्चात्य विद्वान् सहज ही अर्थशास्त्र की प्रामाणिकता पर सन्देह करने लगे, क्योंकि प्राचीन भारतीय राज्यसंस्था-विषयक उक्त नई खोज की धुरी की तरह वही ग्रन्थ है। सन् १९२३ में प्रसिद्ध जर्मन भारतवेत्ता डा० जौली ने पञ्जाब-संस्कृत-सीरीज़ में अर्थशास्त्र का सम्पादन करते समय उसे तीसरी शताब्दी ई० की रचना बतलाया। उस के एक बरस पहले औटो स्टाईन ने मेगास्थेनेस अंड कौटिल्य नामक पुस्तक में मेँगा-स्थेँ ने और कौटिल्य की अनेक बातों में विरोध दिखलाया था। डा० विण्टरनिज़ ने अपने संस्कृत वाङ्मय के इतिहास में भी जौली वाला मत स्वीकार किया। जायसवाल ने हिन्दू राज्यतन्त्र के एक परिशिष्ट में जौली के मत का पूरा पूरा प्रत्याख्यान कर दिया, और जायसवाल जी के ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद भी हो चुका है, इस से उस विवाद को यहाँ उद्धृत करना अनावश्यक है।

किन्तु हाल में डा० कीथ ने फिर से अर्थशास्त्र की अप्रामाणिकता की आवाज़ उठाई है, और वे भी उसे ३०० ई० से पहले का नहीं मान सकते। कीथ का लेख सर आशुतोष स्मारक ग्रन्थ (पटना १९२८) के भाग१ पृ० ८ प्र पर प्रकाशित हुआ है। इस टिप्पणी में उस की संक्षेप से आलोचना की जाती है।

डा० कीथ का कहना है कि कौटिल्य की मैकियावली से कोई तुलना नहीं है। सो बात ठीक है। मैकियावली से उस की तुलना कुछ ऐसे

लेखकों ने की है जो युरोपियन वस्तु से मुकाबिला किये बिना भारतीय वस्तु का गौरव समझ या समझा ही नहीं सकते; किन्तु एक विशाल साम्राज्य के संस्थापक और सङ्गठनकर्त्ता की अठारह शताब्दी बाद के एक कोरे लेखक के साथ तुलना मुझे तो सदा अखरती रही है। याकोबी ने कौटिल्य की तुलना बिस्मार्क से की थी, और वह उचित थी। परन्तु डा० कीथ को वह दूसरे कारण से अखरती है। उन का कहना है कि अर्थशास्त्र में राजनीति की शास्त्र (political philosophy) के रूप में कल्पना न के बराबर है, उस का उद्देश राजा को शासन-सम्बन्धी व्यावहारिक उपदेश देना मात्र है, राज्य के उद्देश और आदर्श का कोई सिद्धान्त उस में प्रकट नहीं होता। बेशक कौटिल्य जहाँ छोटी छोटी बातों में जाता है, बड़ी बारीकी से जाता है; उस के उस पल्लवित में उलझ कर यदि डा० कीथ असल पेड़ को न पहचान सकें तो यह उस का दोष नहीं है; उस का उद्देश चतुरन्त राज्य की स्थापना है सो उस पल्लवित की प्रत्येक बात सूचित करती है। मैकियावली के विषय में डा० कीथ फ़र्माते हैं कि उस के अधार्मिक कूट साधन तुच्छ झगड़ालू छोटे छोटे राज्यों के बजाय एक राष्ट्रीय राज्य की स्थापना करने के लिए हैं; वह युरोपी पुनर्जागृति (Renaissance) के आदर्श का उपासक है, जो आदर्श कि आज तक चला आता है, अर्थात् एक ऐसे राज्यसङ्गठन की तलाश जो सार्वभौम शान्ति (!) की स्थापना करे; अर्थशास्त्र उस विचार से बिल्कुल अपरिचित है।

क्या कहना है इस आदर्शवादिता का ! सार्वभौम शान्ति आधुनिक साम्राज्यवाद की एक सुपरिचित मक्कारीपूर्ण परिभाषा है। उस की दुहाई देना युरोप के राजनीतिनेताओं को फबता और सुहाता है, तथा दैनिक खबर-कागज़ों के पाठक कुछ समय के लिए उस दुहाई से बहक या बहल सकते हैं। प्राचीन इतिहास के विवाद में उसी परिभाषा का प्रयोग करना डा० कीथ की नई सूझ है। किन्तु किस की आँखों में धूल झोंक कर

वे उसे यह मना सकेंगे कि सार्वभौम शान्ति आधुनिक युरोपी राज्यों का सचमुच उद्देश है।

आगे वे कहते हैं कि मैकियावली और अर्थशास्त्र-कार की शैली भी जुदा जुदा है; अर्थ० जहाँ राज्यों के सम्बन्धों का वर्णन करता है वहाँ कोरा रिवाजी कल्पना का चित्र पेश करता है, जिस पर तत्कालीन घटनाओं से कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता, जब कि मैकियावली के विचारों का उस समय के ऐतिहासिक ज्ञान और तजरबे से सजीव सम्बन्ध है।— लेकिन, अर्थशास्त्र का जो अपना युग है यदि हम उसे उस से भिन्न युग का मान लें, या उस के काल के विषय में संशयात्मा बने रहें, तो उस के घटनाओं के निर्देश समकालीन इतिहास पर भले ही न फबते दीखेंगे। चौथी शताब्दी ई० पू० के संघ राज्यों के निर्देश उस में मौजूद हैं—और हम देख चुके हैं कि वे निर्देश ठीक उसी युग के हो सकते हैं (ऊपर § १४२ इ); चातुरन्त राज्य का छोटे संघों और समूहों के प्रति जैसा वर्त्ताव अत्यन्त स्वाभाविक रूप से ठीक उसी काल में भारतीय राज्यसंस्था में पैदा हो सकता था, उस का सजीव चित्र उस में पाया जाता है; अशोक के अभिलेखों से अनेक अंशों में उस का सामंजस्य प्रकट हुआ है;[1] किन्तु उस की रोशनी में प्राचीन भारत का जो चित्र

[1]हुल्श ने भा० अ० स० १ में स्थान स्थान पर वह सामञ्जस्य दिखलाया है। इं० अ० १९१८ में "अर्थशास्त्र व्याख्या करता है" शीर्षक से जायसवाल जी ने अशोक के और अन्य प्राचीन अभिलेखों के अनेक शब्दों की ठीक व्याख्या की है। जिस मेगास्थेने का ग्रन्थ पूरा नहीं मिलता और जो अपनी सचाई के लिए बहुत प्रसिद्ध नहीं है तथा जिस का पर्यवेक्षण और ज्ञान भी उथला था, उस की छोटी छोटी बातों से अर्थशास्त्र के विसंवाद को जब डा० स्टाइन जौली और कीथ इतना महत्व देते हैं, तब आश्चर्य है कि अभिलेखों और अर्थशास्त्र का जो सामञ्जस्य दिखाया गया है उस का उत्तर देने का वे कष्ट क्यों नहीं करते?

प्रकट हुआ है उसे जो न मानना चाहें, उस इतिहास की नब्ज़ को न पहचानें, उस की प्रेरणाओं और प्रश्नों को न समझें, उन के लिए अर्थशास्त्र का उस के समकालीन इतिहास से सजीव सम्बन्ध स्थापित करना अवश्य असम्भव है।

आगे डा० कीथ असल बात पर आते हैं कि चन्द्रगुप्त का अमात्य चाणक्य अर्थ० का लेखक न था। उन की पहली युक्ति वही पुरानी है कि इति कौटिल्यः कह कर जो बातें कही गई हैं उन्हें स्वयं कौटिल्य इस तरह से न कहता। इस शंका का समाधान अर्थ० के विद्वान् सम्पादक शाम शास्त्री ने पहले मुद्रण के ही उपोद्घात में कर दिया था, और संस्कृत ग्रन्थों की शैली से परिचित लोगों को इस से कोई भ्रम नहीं हो सकता। जहाँ (५. ६) कौटिल्य का उत्तर भारद्वाज देता है और फिर उस का कौटिल्य, वहाँ भी उसी शैली का प्रयोग है, और कुछ नहीं। अन्तिम अधिकरण में तंत्रयुक्तियाँ गिनाई हैं। उन में एक अपदेश है, जिस का अंग्रेज़ी अनुवाद 'quotation (उद्धरण), किया गया है। उस के उदाहरणों में एक कौटिल्य का वाक्य भी है, जिस से कीथ कहते हैं कि उद्धरणकर्त्ता दूसरा है। किन्तु अपदेश का लक्षण किया गया है—एवमसावाहेति—ऐसा अमुक कहता है। और जो लेखक अपने लिए कौटिल्य ऐसा कहता है की शैली बर्त सकता है, वह अमुक ने ऐसा कहा के उदाहरणों में कौटिल्य ने ऐसा कहा को स्वयं भी गिना सकता है। और उन तन्त्रयुक्तियों के उदाहरणों में सभी अर्थ० के अपने हैं। यदि अपदेश का उदाहरण कहीं बाहर का होता तब यह कहा जा सकता कि इस अर्थशास्त्र का लेखक कोई और है, और असल कौटिल्य और,—जिस के वाक्य को कि वह यहाँ उद्धृत कर रहा है। कीथ का यह तर्क अत्यन्त बेसमझी का और ठीक उलटा है। तन्त्रयुक्तियों में अर्थ के समूचे ग्रन्थ के उदाहरण दिये गये हैं इस से तो याकोबी ने उलटा यह परिणाम निकाला था कि समूचा ग्रन्थ एक ही व्यक्ति की कृति है।

अर्थशास्त्र का विकास निश्चय से धर्मशास्त्र के बाद हुआ है, डा० कीथ के खाली कहने से ऐसा कोई न मान लेगा, जब कि हम आपस्तम्ब और जातकों में अर्थशास्त्र का उल्लेख पाते हैं (ऊपर §§ ८६ उ, ११२ उ)। और यदि धर्मशास्त्र अर्थशास्त्रों से पुराने हैं तो भी कौटिलीय अर्थशास्त्र के ३२५ ई० पू० के करीब के होने में कोई कठिनाई नहीं होती।

आगे डा० कीथ की बाहरी युक्तियाँ शुरू होती हैं। चन्द्रगुप्त के अमात्य ने यदि अर्थ० लिखा होता तो छोटे राज्यों के सम्बन्धों के उल्लेखों के बजाय बड़े साम्राज्य की प्राप्ति और शासन समस्यायें उस में होतीं। पर कौन कहता है कि वे नहीं है ? हिमालय और समुद्र के बीच चातुरन्त राज्य और चक्रवर्त्तिक्षेत्र की स्थापना क्या अर्थशास्त्र का स्पष्ट उद्देश नहीं है ?

इस के बाद डा० कीथ अर्थ० और मेगास्थने की तुलना करते हैं। वे स्वयं कहते हैं कि तुलना करते समय ऐसे भेदों पर बल न देना चाहिए जिन की सरलता से व्याख्या हो सके; इस लिए जो उदाहरण उन्हों ने दिये हैं वे उन के मत में ऐसे हैं कि दोनों को समकालीन मानते हुए उन की व्याख्या हो ही नहीं सकती।

मेगास्थने और अर्थ० का पहला विसंवाद यह कि मे० मौर्यों के नौ-सेनापति के जो कार्य बतलाता है तथा अर्थ० (२.२८) में नावध्यक्ष के कर्त्तव्यों का जो वर्णन है वे बिलकुल भिन्न हैं। डा० नरेन्द्रनाथ लाहा ने उस विसंवाद को दूर करने का जतन किया है, पर कीथ के मत में व्यर्थ। सम्पूर्ण लेख में यही एक विचारपूर्ण बात दीख पड़ती है, पर यह भी जौली की पुरानी बात है। इस प्रश्न की मीमांसा किये बिना भी क्या यह उत्तर नहीं दिया जा सकता कि नावध्यक्ष के कर्त्तव्य पहले कम रहे हों, बाद में बढ़ा दिये गये हों ?

मे० और अर्थ० ने मौर्य सेना-संगठन के जो वर्णन किये है, डा० लाहा ने उन में पूरा सम्वाद दिखाया है; डा० कीथ उसे खींचातानी

कहते हैं। वह केवल उन का ख्याल है मे० ने लिखा है कि सेना के प्रत्येक अंग का प्रबन्ध एक एक वर्ग के हाथ में था। डा० कीथ कहते हैं कि डा० जौली का यह कहना (पृ० ४१) कि मे० ने शायद ग़लती की है क्योंकि अर्थ० में वर्गों का उल्लेख नहीं है स्वयं एक ग़लतफ़हमी है, क्योंकि अर्थ० स्वयं कहता है कि प्रत्येक अधिकरण के बहुत से मुखिया हों और उन का अधिकार अस्थायी हो (२. ९—पृ०६६)। डा० जौली और डा० कीथ अपनी युक्तियों में कहाँ बह गये ? जब वे दोनों अर्थ० को मे० के समय का नहीं मानते, तब जौली को अर्थ० के आधार पर मे० की बात को ग़लत क्यों कहना चाहिए ? और कीथ को जब मे० की सत्यवादिता दिखाने की चिन्ता होती है तब अर्थ० की शरण ले कर और स्वयं उन दोनों का संवाद दिखा कर दूसरी ही सांस में वे कैसे कह डालते हैं कि विसंवाद इस कारण है कि मे० साम्राज्य का वर्णन करता है, अर्थ० एक छोटे राज्य का ? बेशक एक छोटे राज्य का, जिस में जल और स्थल की खानें हिमालय पारलौहित्य और दक्षिण के रास्ते सब समा सकते थे !

सेना-प्रबन्ध की तरह नगर-प्रबन्ध के वर्णन में भी विसंवाद है। मे० ५, ५ व्यक्तियों के छः वर्गों का उल्लेख करता है, अर्थ० केवल नागरक का। यह विसंवाद नहीं, उलटा संवाद है जैसा कि जायसवाल दिखला चुके हैं (ऊपर § १४२ उ)। इसी तरह के कुछ एक गौण विसंवाद डा० कीथ ने और दिखलाये हैं, और उन सब में केवल जौली की बातें दोहराई हैं। एक भी उन की अपनी नहीं है। उन सब छोटी बातों की आसानी से व्याख्या हो सकती है। जैसे मे० बतलाता है कि पाटलिपुत्र का परकोटा लकड़ी का था, पर अर्थ० में ईंट का बनाने का आदेश है। किन्तु अर्थ० की यह बात कि नदी के संगम पर राजधानी बनाई जाय (पृ० ५१), पाटलिपुत्र पर ठीक चरितार्थ होती है; दुर्ग के चारों तरफ़ परिखायें बनाने का उस में जो विधान है

(वहीं), वह भी मे० के वर्णन से ठीक मिलता है; और मिट्टी के वप्र के ऊपर केवल प्राकार में ईंटें लगाने का उस में विधान है (पृ० ५२)। अर्थ० में कौटिल्य अपने आदर्शों का वर्णन करता है; ईंटों के प्राकार बनवाना उसे भले ही अभीष्ट होगा; किन्तु सब अभीष्ट कार्य एक दिन में तो सिद्ध नहीं हो जाते; पुराने लकड़ी के परकोटे एकाएक तो जला न दिये जा सकते थे।

डा० कीथ की चौथी युक्ति यह है कि अर्थ० का भौगोलिक ज्ञान बहुत विस्तृत है—उस में चीन वनायु सुवर्णभूमि और सुवर्णकुड्य का उल्लेख है, वनायु सम्भवत; अरब का नाम है। किन्तु सुवर्णभूमि का परिचय भारत-वासियों को महाजनपद-काल से होने लग गया था, और वैसा होना बहुत स्वाभाविक भी था; अशोक के समय सुवर्णभूमि में थेर भेजे गये गये थे। यदि ख्शयार्श की सेना में भारतीय सैनिक यूनान तक पहुँच चुके थे (ऊपर § १०५) तो उन्हें अरब का पता होना कुछ विचित्र बात न थी। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार कौटिल्य ठीक उसी गान्धार देश का था जिस के सैनिक ख्शयार्श की सेना में यूनान गये थे। चीन के विषय में जायसवाल यह व्याख्या कर चुके हैं कि वह शिना-भाषी दरद लोगों के देश का नाम है; उस सम्बन्ध में दे० नीचे ※ २६ भी।

डा० कीथ की अगली युक्ति-परम्परा विशेष रूप से अनर्गल है। अर्थ० के समय तक कृषि, खनिज, धातुओं, स्थापत्य, पशु-आयुर्वेद आदि विषयक तथा विशेषतः रसायन-सम्बन्धी वाङ्मय काफी तैयार हो चुका था; आन्वीक्षकी में सांख्य, योग लोकायत सम्प्रदाय पृथक् पृथक् हो चुके थे; तन्त्रयुक्तियों अर्थात् तर्कशास्त्र का अच्छा विकास हो चुका था; शासनाधिकार अध्याय (२. १०) में व्याकरण की परिभाषाओं का प्रयोग अष्टाध्यायी के ज्ञान को सूचित करता है; अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र वार्त्ता दण्डनीति आदि का पृथक् पृथक् विकास हो चुका था; फलित ज्योतिष और शुक्र-बृहस्पति ग्रहों का (२. २०), पुराणों का (३.७),

तथा महाभारत रामायण की कहानी का अर्थशास्त्रकार को ज्ञान था। ये बातें भी प्रायः सब जौली की हैं, और इन का उत्तर जायसवाल दे चुके हैं। उन का प्रत्युत्तर देने की चेष्टा किये विना कीथ का उन्हें दोहराना आश्चर्य-जनक है।

इन सब बातों का एक ही उत्तर है कि ये सब वस्तुएँ ३२५ ई० पू० से पहले की हैं। अर्थ० में इन का उल्लेख होने से अर्थ० का समय नीचे नहीं आता, इन का ऊपर चला जाता है। यह केवल जौली की अटकल है कि भारतवर्ष में रसायन का ज्ञान यूनान और सीरिया से आया; जो बात स्वयं साध्य है वह हेतु नहीं बनाई जा सकती। प्राचीन भारतीय विज्ञान के विकास का इतिहास अभी तक बहुत कम टटोला गया है; उस के विषय में अपनी एक अटकल को हेतु-रूप से पेश करने का कुछ महत्त्व नहीं है। साधारण दृष्टि से कृषि शिल्प और आयुर्वेद का महा-जनपद-युग में जैसा परिपाक दीखता है, उस हिसाब से अर्थ० का इन विषयों का ज्ञान आरम्भिक मौर्य युग के अनुकूल ही प्रतीत होता है। किन्तु जब तक कोई विशेषज्ञ इस विषय की पूरी छानबीन न करे, जौली और कीथ का केवल अपने मतों को हेतु बनाना निरर्थक है। किन्तु पुराण आदि वाङ्मय के इतिहास की जहाँ तक विवेचना हो चुकी है, वह कीथ की स्थापना से ठीक उलटी पड़ती है। दर्शन-शास्त्र के विषय में क्या डा० कीथ यह चाहते थे कि चौथी शताब्दी ई० पू० तक उपनिषदों के विचारों से कुछ भी आगे उन्नति न होती? क्या केवल तीन दर्शनों का होना उलटा प्राचीनता सिद्ध नहीं करता? और ध्यान रहे कि उन तीन में से भी दो—सांख्य और योग—एक ही पद्धति को सूचित करते हैं, और ठीक उस पद्धति को जो भारतीय अनुश्रुति के अनुसार सब से प्राचीन है—सांख्य के प्रवर्त्तक कपिल हमारे सब वाङ्-मय में आदि विद्वान् कहलाते हैं। न्याय-वैशेषिक-पद्धति का परिचय न होना उस प्राचीनता को और पुष्ट करता है; अर्थशास्त्र की तन्त्रयुक्तियाँ

उन की शैली से बहुत अपरिपक्व हैं। याकोबी ने उलटा षड्-दर्शन की काल-विवेचना करते हुए इस बात को विशेष गौरव दिया है कि अर्थ० में केवल तीन दर्शनों का उल्लेख है। कीथ कहते हैं—अर्थशास्त्र आन्वीक्षकी का केवल लक्षण करता है, यह तो नहीं कहता कि तीन ही दर्शन थे। कीथ के देश के लोग शायद ऐसे धुंधले लक्षण पसन्द करते हों जिन से वस्तु का कुछ अंश बाहर भी छुट जाय, पर भारतवासियों की दृष्टि में तो जो केवलव्यतिरेकी न हो—जिस में वस्तु का पूरा वर्णन न आ जाय—वह लक्षण नहीं कहला सकता।

अर्थशास्त्रकार को पाणिनि का ज्ञान न था, यह युक्ति शामशास्त्री ने अपने उपोद्घात (पृ० १४) में दी थी। किन्तु यदि उसे अष्टाध्यायी का ज्ञान था तो भी उस से कुछ जाता-आता नहीं है। क्योंकि अष्टाध्यायी के कर्त्ता पाणिनि चाणक्य से करीब एक शताब्दी पहले हो चुके थे; उतने समय में उन की परिभाषाओं का ज्ञान मगध तक साधारण दशा में भी पहुँच सकता था, किन्तु वहाँ तो विशेष अवस्था भी थी। एक तो चाणक्य तक्षशिला का रहने वाला था और पाणिनि भी उस के पड़ोस के; दूसरे पाणिनि पाटलिपुत्र के राजकीय दरबार में आये थे जहाँ उन के शास्त्र की प्रामाणिकता स्वीकार की गई थी। इस के अतिरिक्त व्याकरण की वे परिभाषायें बहुत सम्भवतः पाणिनि से भी पहले की थीं।

राजनीति की परिभाषायें—साम दान दण्ड आदि—खारवेल के अभिलेख में, जो दूसरी शताब्दी ई० पू० के शुरू का है[1], विद्यमान हैं; वे परिभाषायें उस से पहले प्रचलित हो कर सर्वस्वीकृत हो चुकी थीं, जिस से अर्थशास्त्र दण्डनीति आदि के वाङ्मय का चौथी शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्ध तक परिपक्व हो चुकना मानना ठीक ही है।

अर्थ० के देशकालमान अध्याय (२. १०) से यह सूचित होता है

[1] नीचे §§ १५१, १५३; ❀ २७।

कि उस के लेखक को राशियों के अंश-भेदों का ज्ञान न था, यह युक्ति भी शाम-शास्त्री ने अपने उपोद्घात (पृ० १६) में अर्थ० की प्राचीनता सिद्ध करने को दी थी। उसी के उत्तर में जौली ने लिखा कि उसे दो ग्रहों का और फलित ज्योतिष का ज्ञान है और जायसवाल के प्रत्याख्यान के बावजूद कीथ ने उसी बात को दोहराया है। किन्तु फलित ज्योतिष का बीज तैत्तिरीय संहिता (५. ४. १. ७. ५) और आपस्तम्ब (२. ९. २४. १३) में भी है, सो प्रो० कृष्णस्वामी ऐयंगर दिखला चुके हैं, और भारतवासियों ने उसे यूनानियों से नहीं असुरों से सीखा था, ऐसा मानने के अनेक प्रमाण हैं[1]।

पुराण-वाङ्मय की सत्ता पार्जीटर भारत-युद्ध के समय से सिद्ध कर चुके हैं। (ऊपर * ४ ए), और हम ने देखा है कि पाँचवीं शताब्दी ई० पू० तक कई पुराण-ग्रन्थ बन चुके, तथा पुराण शब्द अपना मूल अर्थ खो कर उन ग्रन्थों के लिए योगरूढ हो चुका था (§§ ११२ ऋ)। महाभारत और रामायण की घटनाओं का अर्थ० उल्लेख करता है इस का यह अर्थ है कि वे घटनायें वास्तविक थीं, और वे यदि केवल कहानी थीं तो भी बहुत पुरानी।

जौली की उक्त युक्तियों को दोहराने के अलावा कीथ ने इस सिलसिले में एक नई बात भी कही है। वह यह कि अर्थ० (२. १० आदि) से लेखनकला की बड़ी परिपक्कता सूचित होती है, जो कि चौथी शताब्दी ई० पू० में न हो सकती थी। किन्तु चौथी शताब्दी ई० पू० के भारत में लेखन-कला केवल अढ़ाई तीन शताब्दी पुरानी थी, यह स्थापना आज से बीस बरस पहले चाहे कितने ज़ोरों पर रही हो, आज वह मर चुकी, दफ़नाई जा चुकी और धूल में मिल चुकी। ऊपर * १४ में, जहाँ मैंने विभिन्न भारतीय विद्वानों के इस विषय के मत

---

[1] बिगिनिंग्स्, अ० ७—विशेषतः पृ० ३२०-२१; नीचे § १६०।

उद्धृत किये हैं, वहाँ एक अत्यन्त मान्य विद्वान्—डा० श्रीपद कृष्ण बेलवलकर—की सम्मति दर्ज करना भूल गया हूँ। उन का कहना है कि लेखनकला की सत्ता न केवल इस समय उपलब्ध प्रत्युत सब से प्राचीन प्रातिशाख्यों—अर्थात् पाणिनि और यास्क से पहले के आरम्भिक वैदिक व्याकरणों—से भी पहले आवश्यक रूप से थी[1]। इस मत को हमें सिद्धान्त मानना होगा।

अर्थ० १०. ३ में यान्यज्ञसंघैः और नवं शरावं ये दो श्लोक प्राचीन श्लोकों के रूप में उद्धृत किये गये हैं। वे भास के नाटकों में भी हैं। जौली का अनुसरण करते हुए कीथ कहते हैं कि ज़रूर भास से ही अर्थ० ने लिए होंगे, इस लिए वह ३०० ई० के बाद का है। न तो इस का कोई प्रमाण है कि भास से ही अर्थ० ने लिए, और न यह बात सर्वसम्मत है कि भास का समय तीसरी शताब्दी ई० है, एक पक्ष उसे पहली शताब्दी ई० पू० का मानता है (नीचे § १९०)।

"महाभारत के राजधर्म में कहीं अर्थ० का नाम नहीं है, और न पतञ्जलि के महाभाष्य में, इस लिए वह ज़रूर उन के पीछे का है।" निषेधात्मक युक्ति की इतनी कीमत नहीं हो सकती, और व्याकरण-महाभाष्य में अर्थ० का नाम भला क्यों होता ?

अर्थ० की भाषा को लोग प्राचीन कहते हैं, कीथ वह बात नहीं मानते; वे कहते हैं उस के छन्द उलटा नवीन हैं, त्रिष्टुभ् के चारों पाद समान हैं, २.१० से अलंकारों का ज्ञान सूचित होता है, २. १२ में औपच्छन्दसक छन्द है, जो नया है। ये सब भी उलटी दलीलें हैं।

श्रीयुत हाराणचन्द्र चकलादार ने कामसूत्र के भौगोलिक निर्देशों की बारीकी से छानबीन कर यह निश्चित किया है कि वह ठीक तीसरी

---

[1] सिस्टम्स् आव संस्कृत ग्रामर, पृ० ४।

शताब्दी ई० का है, न उस के पहले और न पीछे का। का० सू० से अर्थ० ज़रूर पहले का है, सो सब मानते हैं। किन्तु कीथ बिना कोई युक्ति दिये उसे चौथी शताब्दी ई० का कहते हैं, जब कि उस का राजनैतिक चित्र तीसरी शताब्दी ई० पर पूरी तरह घटता तथा चौथी से सर्वथा असंगत पड़ता है।

शामशास्त्री ने अपने उपोद्घात में यह भली भाँति दिखलाया था कि अर्थ० याज्ञ० से बहुत पहले का है। दोनों ग्रन्थों में बहुत बातें समान हैं, और एक ने दूसरे का सहारा लिया है इस में सन्देह नहीं। शामशास्त्री ने दोनों के कई पारिभाषिक शब्दों की तुलना कर दिखलाया था कि अर्थ० उन शब्दों का मूल यौगिक अर्थों में प्रयोग करता है और याज्ञ० योगरूढ़ि में; उन की व्यवस्थाओं की तुलना भी उसी परिणाम पर पहुँचती है। गणपति शास्त्री ने त्रिवेन्द्रम्-संस्कृत-सीरीज़ में अर्थ० का सम्पादन करते हुए (१९२३) भूमिका में शामशास्त्री की उस स्थापना का अपने ढंग से उत्तर दिया (पृ० ८-९), क्योंकि वे याज्ञ० को उपनिषद्कालीन याज्ञवल्क्य मुनि की कृति समझते हैं! आधुनिक आलोचक उन के मत की विशेष परवा न करते, पर कीथ गणपति शास्त्री की उतनी बात मान कर कहते हैं कि अर्थ० याज्ञ० से नया है। अर्थ० और याज्ञ० से प्राचीन भारतीय जीवन के विषय में जो जानकारी मिलती है, उस की विवेचना क्रमशः ऊपर §§ १४०—४६ में तथा नीचे §§ १८९—१९६ में की गई है। जायसवाल ने अपने मनु और याज्ञ० में बड़ी बारीकी से अर्थ० मनु और याज्ञ० की तुलनात्मक विवेचना की है। इन विवेचनाओं की प्रत्येक बात से यह परिणाम निकलता है कि अर्थ० में आरम्भिक मौर्य युग का सजीव चित्र है और याज्ञ० में पिछले सातवाहन युग का। अर्थ० के व्यवहार में तलाक और नियोग साधारण बातें हैं, गवाह प्रायः श्रोता कहलाते हैं, सामुद्रिक व्यापार विषयक बातें बहुत सीदी-सादी हैं, सिक्के को सब जगह पण अर्थात् कार्षापण कहा

है, मांस और शराब का खूब चलन है; दूसरी तरफ़ याज्ञ० विधवा-विवाह रोकना तथा स्त्री को पुरुष की सर्वथा आज्ञाकारिणी बनाना चाहता है, गवाहों को साक्षी कहता है, सामुद्रिक व्यापार के पेचीदा नियम देता है, नाणक सिक्के का उल्लेख करता है, अहिंसा का बहुत कुछ उपदेश देता है;—और नहीं तो इन्हीं सब मोटी बातों के बावजूद भी जो उन के पौर्वापर्य को नहीं पहचान पाता, उस की अन्तर्दृष्टि पर आश्चर्य करना पड़ता है।

याज्ञ० की तरह म० भा० शान्तिपर्व के राजधर्म को तथा गुप्त-युग की नारद-स्मृति को भी जिस में सिक्के के लिए दीनार शब्द है, कीथ अर्थ० से कम परिपक्व बतलाते हैं। लेकिन उन की परिपक्वता-अपरिपक्वता की पहचान का कितना मूल्य है सो ऊपर की विवेचना से प्रकट हो चुका है।

मेगॅ० और अर्थ० के छोटे छोटे विसंवादों को जिन की सुगमता से व्याख्या हो सकती है, स्टाइन और कीथ ने इतना गौरव दिया है, किन्तु यदि अर्थ० ३०० ई० के बाद का गुप्त-युग का—है, तो गुप्त-युग की अवस्थाओं के साथ उस का कैसे सामञ्जस्य होगा यह सोचने का भी क्या उन्हों ने कभी कष्ट किया है? चीनी यात्री फ़ाहिएन इस बात का साक्षी है कि गुप्त-युग का दण्ड-विधान अत्यन्त मृदु था; अर्थ० के कठोर दण्डविधान के साथ फ़ाहिएन की बातों का सामञ्जस्य कैसे हो सकेगा?

विन्सेंट स्मिथ ने कहा था कि मौर्य युग की राजनीति का यूनानियों ने जैसा वर्णन किया है, अर्थ० का वर्णन उस से संगत होने की उन्हें तसल्ली है। कीथ और उन के मत के दूसरे लेखक भी यदि यूनानी वर्णनों और अर्थ० के मूल तत्वों को पकड़ सकते तो उसी परिणाम पर पहुँचते। अशोक-अभिलेखों और मौर्य युग की अन्य अवस्थाओं के साथ दूसरे विद्वानों ने जो अर्थ० का अनेक प्रकार से संवाद दिखाया

है उस के विषय में भी जौली कीथ और उन के साथी चुप हैं। उस प्रकार के संवाद के बीसों दृष्टान्त हुल्श के भा० अ० स० १ की भूमिका में, जायसवाल के लेख के दि अर्थशास्त्र एक्सप्लेन्स् (अर्थशास्त्र व्याख्या करता है, इं० आ० १९१८. पृ० ५० प्र) में तथा मनु और याज्ञ० में, भंडारकर के अशोक में तथा अन्य अनेक ग्रन्थों और पत्रिकाओं में दिये गये हैं। कुछ नये दृष्टान्त रूपरेखा में भी उपस्थित किये गये हैं। यहाँ उन में से कुछ मुख्य मुख्य का निर्देश मात्र किया जा सकता है। अशोक-अभिलेखों की परिषा और अर्थ० की मन्त्रि-परिषद् की तुलना[1] प्रसिद्ध है, अभिलेखों के युत और प्रादेशिक अर्थ० के युक्तों और प्रदेष्टाओं से मिलाये गये हैं[2]; डा० हुल्श ने पहले कलिंगाभिलेख के नगल-वियोहालकों की तुलना अर्थ० के पौर-व्यावहारकों से[3] एवं व्रचभूमिकों की गोध्यक्ष से[4] की है; इत्यादि। अर्थ० के लब्धप्रशमन अध्याय का जो सन्दर्भ ऊपर § १४२ आ में उद्धृत किया गया है, उसी के बीच के अंश में यह बात भी है कि राजा नये जीते देश में "चौमासों में आधे मास के लिए, पौर्णमासियों में चार रात के लिए, तथा राज और देश के नक्षत्रों में एक रात के लिए अघात (जन्तुवध-निषेध) की घोषणा कर दे ......।" भण्डारकर ने अशोक की अघात-घोषणा की इस से तुलना की है; उसी प्रकार अशोक की समाजों विषयक घोषणा की भी अर्थ० के एक और निर्देश से[5]; ये तुलनायें बड़े मार्के की हैं, और लब्धप्रशमन

---

[1]भा० अ० स० १, भूमिका पृ० ५ टि० ७।

[2]वहीं टि० १ और ३।

[3]वहीं पृ० ६५ टि० ३।

[4]वहीं पृ० २२ टि० ५।

[5]अशोक पृ० १०-११, २०-२१।

में इन के उल्लेख से सूचित होता है कि जनता में इन वस्तुओं की माँग थी। राजा की आर्थिक कठिनाई के समय जनता के धर्म-विश्वासों से लाभ उठा कर, मन्दिरों द्वारा धन बटोर कर, तथा धनी लोगों से प्रणय (प्रेम-भेंट) ले कर कोशाभिसंहरण करने के जो उपाय अर्थ० ५.२ में कहे गये हैं, वे चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार की युद्धों के कारण हुई आर्थिक कठिनाई से खूब संगत होते हैं, जायसवाल ने पतञ्जलि के इस कथन से उन की तुलना की है कि मौर्यों ने धन पाने के लिए मूर्तियाँ स्थापित की थीं[1]; उसी प्रकार रुद्रदामा के अभिलेख (१५० ई०) में प्रजा से प्रणय न लेने की बात की व्याख्या भी अर्थ० के उस शब्द से की है[1]। वैसे ही उद्दालक-जातक में झूठे सन्यासियों के उल्लेख की अर्थ० की प्रव्रजितों पर नियन्त्रण रखने की बात से तुलना ऊपर (§§ ८६ अ, १४२ उ) की जा चुकी है। अन्य अनेक दृष्टान्त जहाँ तहाँ दिये जा चुके हैं।

याकोबी ने अर्थ० की प्रामाणिकता के विषय में जो कुछ लिखा था, उस के मुख्य तत्त्वों का कुछ भी उत्तर जौली या कीथ से नहीं बन पड़ा। याकोबी की विवेचना अत्यन्त विचारपूर्ण थी, और कीथ के लेख में अनेक ऐसी बातें हैं जिन का समाधान याकोबी की बातों पर ध्यान देने से ही हो सकता था। अर्थशास्त्र की प्रामाणिकता कैसी जाँच के बाद सिद्ध हुई है, पाठकों को इस का पता देने के लिए याकोबी की विवेचना का सार यहाँ दिया जाता है।

अर्थ० की प्रामाणिकता पर सब से पहले विचार शामशास्त्री के अतिरिक्त दो जर्मन विद्वानों—हिलब्रांट और हर्टल—ने किया था। याकोबी का लेख उन के बाद १९१२ ई० में एक जर्मन पत्रिका में निकला, और उस का अनुवाद इं० अर्थ० १९१८ में। हिलब्रांट ने यह

---

[1] इं० आ० १९१८ के उक्त लेख में; ऊपर § १४२ इ।

स्वीकार किया था कि अर्थ० चन्द्रगुप्त के अमात्य कौटिल्य का ही लिखा हुआ है, किन्तु साथ ही कुछ अंश में यह सम्भावना मानी थी कि शायद कौटिलीय सम्प्रदाय—कौटिल्य की शिष्यपरम्परा—ने उस का पीछे कुछ सम्पादन किया हो। याकोबी पहले इसी बात की आलोचना करते हैं; और इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि विद्यमान अर्थ० एक ही व्यक्ति की कृति है, वह सम्प्रदाय की कृति हो ही नहीं सकती। चाणक्य जैसे बड़े राजनीति-नेता को अपने घटनापूर्ण जीवन में शिष्यसम्प्रदाय स्थापित करने की फ़ुरसत न हो सकती थी; उस के लिए वह काय वैसा ही असम्भव था जैसा बिस्मार्क के लिए। फिर समूचे ग्रन्थ की एक सुगठित योजना और एक समान विचारधारा है, समूचे पर एक प्रतिभाशाली मस्तिष्क की छाप है; जो कि एक सामूहिक रचना में कभी हो नहीं सकती। यह ग्रन्थ एक सम्प्रदाय की उपज नहीं है, प्रत्युत एक सम्प्रदाय इस ग्रन्थ से पैदा हुआ। किन्तु पहले सम्प्रदाय का अर्थ है—गुरुशिष्यसन्तान, और दूसरे का—तन्मतानुसारिता।

समूचे ग्रन्थ में कुल ११४ वार पूर्वाचार्यों के मतों का प्रत्याख्यान है, जिन में से ७२ वार अपना नाम ले. कर—इति कौटिल्यः कह कर—खण्डन किया गया है। इस से प्रकट है कि इस का लेखक एक अपने मत रखने वाला स्वतन्त्र विचारक था। जिन का वह खण्डन करता है उन्हें आचार्याः कहता है; यदि कौटिल्य की शिष्यसन्तान में किसी ने इस ग्रन्थ की रचना की होती तो वह आचार्य शब्द कौटिल्य के लिए वर्त्तता न कि अपने पूर्व पक्ष के लिए।

फिर यह बात मार्के की है कि ग्रन्थ के दो लम्बे अंशों—पृ० ६९ से १५६ तथा पृ० १९७ से २५४—में कहीं पूर्वाचार्यों का उल्लेख नहीं है; पृ० ४५ से ६९ तक भी केवल दो गौण उल्लेख हैं। इन पृष्ठों में ठीक वे अधिकरण—अध्यक्षप्रचार कण्टकशोधन योगवृत्त—हैं जिन्हें एक तजरबेकार शासक और राजनीतिनेता ही ठीक लिख सकता था, और

इन्हीं विषयों पर पूर्वाचार्यों की कृति न के समान थी, कौटिल्य ने सर्वथा स्वतन्त्र रचना की।

पुराने आचार्यों के मतों का उद्धरण सदा एक ही क्रम से किया गया है। पहले-पहल यह सूझता है कि वही ऐतिहासिक पौर्वापर्य-क्रम होगा, किन्तु परखने पर वह बात नहीं निकलती। उदाहरण के लिए विद्यासमुद्देश (१.२) प्रकरण में लिखा है कि मानवों के मत में तीन विद्यायें हैं, बार्हस्पत्यों के दो, औशनसों के एक। प्रकृतिव्यसन (८.१) प्रकरण में आचार्यों का यह मत दिया है कि स्वामी अमात्य जनपद दुर्ग कोश दण्ड और मित्र के व्यसनों में से पहला पहला बड़ा है; इस पर भारद्वाज कहता है कि स्वामी के व्यसन से अमात्य का व्यसन बड़ा, विशालाक्ष कहता है कि अमात्य के व्यसन से जनपद का व्यसन बड़ा; इत्यादि। ऐतिहासिक पौर्वापर्य के रहते सम्मतियों का ऐसा बँधा हुआ क्रम नहीं रह सकता। स्पष्ट है कि कौटिल्य स्वयं पुराने आचार्यों के मत ऐसे क्रम से रख देता है कि वे एक दूसरे का खण्डन करते दीख पड़ें। कौटिल्य के गम्भीर ग्रन्थ में यही एक कलापूर्ण युक्ति है। पुराने आचार्यों से इस प्रकार का विनोद कोई बड़ा उस्ताद ही कर सकता था, निरा पोथी-पंडित कभी ऐसा करने की हिम्मत न करता।

अर्थ० में पहले आचार्य-सम्प्रदायों के मत उद्धृत किये जाते हैं, फिर व्यक्ति लेखकों के। इस लिए पहले अर्थशास्त्र सम्प्रदायों में उपजा, फिर उस के स्वतन्त्र लेखक हुए। कौटिल्य के समय तक अनेक स्वतन्त्र लेखक हो चुके थे। भारतीय वाङ्मय में सम्प्रदायों की कृतियाँ प्रायः सूत्रों में हैं, जिन्हें शिष्य लोग याद करते और गुरुओं से उन का अर्थ समझ लेते थे; किन्तु व्यक्ति लेखकों की रचनायें प्रायः भाष्य शैली में हैं, क्योंकि सम्प्रदायों से असम्बद्ध व्यक्ति लेखक यदि सूत्र लिखते तो उन का गुरुशिष्यसन्तान न होने से उन सूत्रों की व्याख्या करने का कोई सिलसिला न रहता, और दूसरे उन्हें सूत्र लिखने की ज़रूरत भी

न थी क्योंकि छात्रों की स्मरण सुविधा के लिए ही सूत्र लिखे जाते थे। अर्थ० मिश्रित सूत्र-भाष्य शैली में है, और उस अवस्था को सूचित करता है जब एक शैली का अन्त हो दूसरी का आरम्भ होता था।

अर्थ० के लेखक ने अपने और अपने ग्रन्थ के विषय में तीन-चार जगह सूचना दी है। ग्रन्थ का उपक्रम वह इन शब्दों से करता है—"पृथिवी के लाभ और पालन के विषय के जितने अर्थशास्त्र पूर्वाचार्यों ने प्रस्थापित किये हैं, प्रायः उन सब का संहरण कर के यह अर्थशास्त्र किया गया; उस के प्रकरणों और अधिकरणों का यह ब्यौरा है।" ब्यौरे के अन्त में कहा है—"कुल १५ अधिकरण, १५० अध्याय, १८० प्रकरण ६००० श्लोक। [श्लोक] ग्रहण करने और समझने में सुगम, निश्चित तत्त्व अर्थ और पदों वाला विस्तार-रहित शास्त्र कौटिल्य ने किया।" इन शब्दों से १.१ (पहले अधिकरण का पहला अध्याय) समाप्त होता है। फिर २:१० के अन्त में श्लोक है—"सब शास्त्रों का अनुक्रम कर के और प्रयोग समझ कर कौटिल्य ने नरेन्द्र के लिए शासन (राजकीय आज्ञापत्रों) की विधि बनाई।" ग्रन्थ का अन्तिम एक ही अध्याय का अधिकरण तन्त्रयुक्ति है, जिस में इस शास्त्र की कुल युक्तियों अर्थात् शैली की योजनाओं का ब्यौरा है; उस में प्रत्येक युक्ति का नमूना पिछले भिन्न-भिन्न अधिकरणों से उठा कर दिखाया है। अन्त में तीन श्लोक हैं, जिन में से पहला यों है—"इस प्रकार यह शास्त्र इन तन्त्रयुक्तियों से युक्त इस लोक और पर लोक की प्राप्ति और पालन के विषय में कहा गया।" और तीसरा—"जिस ने अमर्ष-वश एकाएक शास्त्र का, शस्त्र का और नन्द राजा के हाथ गई भूमि का उद्धार किया, उस ने यह शास्त्र रचा।"

१.१ और २.१० के तथा ग्रन्थ के अन्त के ये श्लोक क्या पीछे की मिलावट नहीं हो सकते ? याकोबी उत्तर देते हैं कि नहीं, क्योंकि ग्रन्थ के प्रत्येक प्रकरण के अन्त में एक न एक श्लोक अवश्य है, और

यदि १.१ तथा २.१० के वे अन्तिम श्लोक हटा दिये जायँ तो उन्हीं प्रकरणों की समाप्ति श्लोकों बिना हो। तन्त्रयुक्तियों में ग्रन्थ के प्रायः प्रत्येक अंश के उद्धरण देने से सूचित है कि समूचा ग्रन्थ एक योजना में बँधा और एक ही व्यक्ति का रचा है। आरम्भ के वाक्यों में जो बात कही है कि पिछले सब आचार्यों का मत ले कर यह शास्त्र रचा गया, वह भी समूचे ग्रन्थ में पूर्वाचार्यों के उद्धरणों से पुष्ट होती है। उपसंहार के तीन श्लोक भी प्रक्षिप्त नहीं हो सकते, क्योंकि वही तो स्थान है जहाँ लेखक अपना परिचय दिया करते हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र में जिस में ठीक अर्थ० की शैली की नकल है, उपसंहार के आठ श्लोक हैं। फिर अन्तिम तीन श्लोकों में से पहले में इस लोक की प्राप्ति और पालन की बात है, जिस में ग्रन्थ के उपक्रम वाले शब्द ही दोहराये गये हैं; स्पष्ट है कि उपक्रम और उपसंहार दोनों लेखक के अपने शब्दों में हैं। सब से बढ़ कर, उपसंहार में तथा १.१ और २.१० के अन्त में ग्रन्थकार ने अपने विषय में जो शब्द लिखे हैं वे अत्यन्त शिष्ट सभ्य और संक्षिप्त हैं; उन में आत्मश्लाघा नहीं, प्रत्युत एक महापुरुष की आत्मानुभूति है। दूसरे किसी ने उपसंहार लिखा होता तो वह मौर्य-साम्राज्य-संस्थापक की प्रशस्ति बहुत बढ़े-चढ़े शब्दों में लिखता पुराने अर्थशास्त्रों का कौटिल्य ने एकाएक अमर्ष से उद्धरण (संशोधन) कर डाला, यह बात ग्रन्थ के अन्दर उद्धृत पूर्वाचार्यों के मतों की बहुतायत से पुष्ट होती है। कौटिल्य की कृति जैसी नपी-तुली है, वैसे ही ये आत्मसूचना के शब्द भी अत्यन्त नपे-तुले और चुने हुए हैं; उन पर एक प्रतिभाशाली महापुरुष के व्यक्तित्व की छाप है; स्वयं शास्त्रकार के बजाय किसी दूसरे ने उपसंहार लिखा होता तो उस से कोई न कोई चूक अवश्य हो गई होती।

भारतीय वाङ्मय के इतिहास में जालसाज़ी बहुत हुई है; जालसाज़ी इस अर्थ में कि पिछले सूत अपनी रचनाओं को वेदव्यास की

कृति बताते हैं, शुंग युग का एक लेखक अपने ग्रन्थ को मनु की कृति कह कर प्रकट करता है, इत्यादि। इसी से कौटिलीय अर्थशास्त्र के विषय में भी सन्देह करने की प्रवृत्ति हो सकती है। किन्तु अपनी रचना को बड़प्पन देने के लिए किसी ऋषि मुनि या देवता नाम मढ़ने की प्रथा ही भारत में रही है; एक राजनीतिज्ञ महापुरुष का नाम कोई साधारण लेखक अपनी कृति पर जोड़ देता इस के लिए जिस परिष्कृत धूर्त्तता की अपेक्षा है वह भारतीय वाङ्मय की परम्परा में नहीं पाई जाती। दूसरे अर्थ० एक अद्वितीय कृति है; सदा तुच्छ रचनाओं का ही गौरव बढ़ाने के लिए उन पर बड़े नाम मढ़े जाते हैं, न कि ऐसी कृतियों पर। हाँ, यह अवश्य सम्भव है कि अर्थ० में जो शिल्प आदि विषयक विशेष ज्ञान है, उन अंशों में कौटिल्य ने अपने नीचे काम करने वाले विभिन्न अध्यक्षों से सहायता ली हो, और उन अंशों का स्वयं केवल सम्पादन किया हो।

अर्थ० यास्क के निरुक्त और पतञ्जलि के महाभाष्य की तरह एक उच्च कोटि की रचना है। ऐसी उच्च कोटि की रचना होने के कारण ही वह काल के हाथों नष्ट नहीं हुई; और जिस कारण वह काल की चोटों से बची रही उसी कारण क्षेपकों से भी, क्योंकि वैसी ऊँची रचनाओं में क्षेपक मिलाने से साहित्यिक जालसाज डरा करते हैं। जिन ग्रन्थों में क्षेपक होते हैं उन के उपक्रम उपसंहार आदि में अध्यायों आदि की संख्या कुछ दी होती है तो बीच में गिनने से कुछ और निकलती है; पर अर्थ० के अध्यायों प्रकरणों की संख्या जैसी ग्रन्थकार ने उपक्रम में कही है वह अब तक पूरी है।

याकोबी की इस विवेचना के बाद इस सम्भावना की तो कोई गुंजाइश नहीं रहती कि अर्थ० का कुछ अंश स्वयं कौटिल्य का लिखा और कुछ बाद का है। समूचा ग्रन्थ एक व्यक्ति की रचना है। भारतीय वाङ्मय में उस ग्रन्थ और उस के लेखक के विषय में जो अनु-

श्रुतियाँ हैं उन का संग्रह शामशास्त्री कर चुके हैं। दशकुमारचरित के लेखक दण्डी कवि ने अर्थ० के ठीक शब्दों का अनुवाद करते हुए लिखा है कि "यह दण्डनीति आचार्य विष्णुगुप्त ने मौर्य के लिए छः हज़ार श्लोकों में लिखी।" और आगे उस ने उस के कुछ विषय उद्-धृत किये हैं जिन से सिद्ध होता है कि दण्डी के समय अर्थ० अपने विद्यमान रूप में ही उपस्थित था। नीतिसार के कर्त्ता कामन्दक, कामसूत्र के लेखक मल्लनाग वात्स्यायन, न्यायभाष्य के लेखक वात्स्यायन और याज्ञवल्क्य-स्मृति से पहले, तथा भारतवर्ष में राशियों के अंशभेदों का ज्ञान उदय होने से भी पहले अर्थ० उपस्थित था, सो भी शामशास्त्री दिखला चुके हैं। उस का सब से पुराना उल्लेख जो उन्हों ने खोजा है वह जैन नन्दिसूत्र में है जो कि स्थानकवासी श्वेताम्बरों के चार मूळ ग्रन्थों में से एक है। उस में कोडिल्लिय (कौटिलीय) की गिनती मिथ्या शास्त्रों में की है। याकोबी नन्दिसूत्र को पिछले मौर्य युग की रचना मानते हैं; और यद्यपि वह विषय निर्विवाद नहीं है, तो भी उस का समय बहुत पीछे भी नहीं हटाया जा सकेगा।

रूपरेखा का मुख्य अंश और यह टिप्पणी लिखी जा चुकने के बाद इं० आ० १९३१ में पृ० १०९ प्र, १२१ अ पर डा० प्राणनाथ के इसी विषय के दो लेख निकले हैं, जिन में उन्हों ने यह मत प्रकट किया है कि अर्थ० की तिथि ४८४—५१० ई० के बीच है।

डा० प्राणनाथ की युक्ति-परम्परा में पहली यह है कि अर्थ० का जनपद बहुत छोटा क्षेत्र है, वह एक आधुनिक तहसील के बराबर है। अपने इस आविष्कार से वे समझते हैं उन्हों ने यह सिद्ध कर डाला कि अर्थ० का लेखक विशाल मौर्य साम्राज्य का संचालक नहीं था। मौर्य युग के भारतवर्ष में अनेक छोटे छोटे जनपद थे, सो हम देख चुके हैं; किन्तु आज यदि हम समूचे भारत के अर्थ में जनपद शब्द का दुष्प्रयोग करने लगे हैं तो उस युग के लोगों से भी वैसा करने की आशा

क्यों करते हैं ? और क्योंकि अर्थशास्त्रकार आधुनिक हिन्दी की मिथ्या परिभाषा का अनुसरण कर मौर्यों के समूचे विजित को एक जनपद नहीं कहता, इसी से क्या हम यह कह सकेंगे कि वह समूचे भारत या भारतीय साम्राज्य को जानता नहीं है ? भारतवर्ष के लिए हमारे पुराने वाङ्मय में पृथिवी, महापृथिवी सर्वभूमि आदि शब्दों का प्रयोग होता है[1]; और अर्थ०-कार जब कहता है कि "(विजिगीषु का) देश समूची) पृथिवी (है); उस में हिमालय और समुद्र के बीच उत्तर का सीधे एक हजार योजन परिमाण का चक्रवर्त्ति-क्षेत्र है; उस में आरण्य ग्राम्य पार्वत औदक भौम सम और विषम ये (प्रदेशों के) भेद (हैं)" (९.१—पृ० ३४०), तब क्या हम कह सकते हैं कि वह भारतीय साम्राज्य से अपरिचित था ? स्पष्ट है कि डा० प्राणनाथ को जनपद शब्द के आधुनिक प्रयोग ने धोखा दिया है।

इस आरम्भिक ग़लत बुनियाद पर खड़े हो कर फिर वे यह टटोलने का जतन करते हैं कि अर्थ०-कार का जनपद कौन सा था। इस प्रसंग में वे समूचे अर्थ० के सब भौगोलिक निर्देशों को जुटा कर उन से कुछ परिणाम निकालने के बजाय, अपनी पसन्द के दो तीन अध्यायों के निर्देशों के आधार पर फ़ैसला कर डालते हैं। सब से पहले वे जनपदनिवेश (२.१) के इस निर्देश को लेते हैं कि जनपद के अन्त (सीमा)-दुर्गों के "अन्दर की रक्षा वागुरिक शबर पुलिन्द चाण्डाल अरण्यचर करें" (पृ० ४६)। डा० प्राणनाथ कहते हैं कि वागुरिक गुजरात के वागरी या बावरी लोग हैं, और शबर आदि भी सब उन के पड़ोसी होंगे। फिर शुल्कव्यवहार (२.२२), नावध्यक्ष (२.२८) आदि अध्यायों के आधार पर वे यह

---

[1]दे० ऊपर ॐ १—पृ० ११०, § ४५, § ६६ ए, § ८०—पृ० २०९, § १३६—पृ० ६१५; तथा अष्टाध्यायी ५. १४. १—४३; सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ।। तस्येश्वरः तत्र विदित इति च।

परिणाम निकालते हैं कि अर्थ० कार का जनपद समुद्र-तट पर था, जो बात कि गुजरात पर ठीक घटती है। अन्त में वे सीताध्यक्ष (२.२४) अध्याय को लेते हैं। उस में यह लिखा है कि—"१६ द्रोण जांगलों का वर्षप्रमाण है, उस से ड्योढ़ा आनूपों का, देशावापों में से अश्मकों का १३½, अवन्तियों का २३, अपरान्तों और हैमन्यों का अमित (बेहिसाब) और कुल्यावापों का काल से" (पृ० ११५-१६)। शामशास्त्री ने इस प्रसंग में वर्षप्रमाण का अर्थ किया है वर्षा की मात्रा, डा० प्राणनाथ करते हैं खेती की प्रति बीघा वार्षिक उपज। इस सन्दर्भ से ठीक पहले कृषि की चर्चा है, और ठीक बाद वर्षा और मेघों की। शामशास्त्री का अनुवाद इस अंश में भट्टस्वामी की प्राचीन व्याख्या के, जो कि दूसरे अधिकरण के आठवें से अन्तिम अध्याय तक के लिए उपलभ्य है, अनुसार है, इस कारण हम उस अनुवाद को एकाएक ग़लत नहीं कह सकते। जांगल और आनूप शब्दों को शामशास्त्री ने जातिवाची पारिभाषिक शब्द मान कर उन का अर्थ किया है—बाँगर और कछार; डा० प्राणनाथ उन्हें राजपूताना और नर्मदा-काँठे के विशेष प्रदेशों के नाम मानते हैं। इस सन्दर्भ में वर्षप्रमाण का चाहे जो अर्थ हो, किन्तु इस वाक्य की बनावट से यह प्रकट है कि इस में सब प्रदेशों को जांगल आनूप देशावाप और कुल्यावाप इन चार किस्मों में बाँटा गया है, जिन में से केवल देशावाप किस्म के कई प्रदेशों के नाम दिये हैं। केवल उन्हीं नामों को लेकर तथा जांगल और आनूप को प्रदेशों के व्यक्तिवाचक नाम मान कर डा० प्राणनाथ ने तय कर डाला है कि अर्थकार का जनपद आधुनिक मारवाड़ और गुजरात से लगा कर कोंकण (अपरान्त) और पूरबी महाराष्ट्र (अश्मक) तक था। आगे वे यह विचार करते हैं कि मारवाड़ से महाराष्ट्र तक की यह छोटी सी तहसील प्राचीन इतिहास में कब एक शासन में रही, और विन्सेंट स्मिथ की अर्ली हिस्टरी से उन्हें यह सूचना मिलती है कि पच्छिम

भारत के शक क्षत्रपों[1] के राज्य में इस के सब प्रदेश थे। यदि वे अ० हि० पर बहुत निर्भर न रहते, तो यह परिणाम आसानी से निकल सकता कि अर्थ०-कार नहपान या रुद्रदामा के ही दरबार में था, क्योंकि क्षत्रपों में से भी केवल उन्हीं दो के समय उक्त सब जनपद एक शासन के अधीन थे।

वागुरिक का डा० प्राणनाथ ने जो अर्थ किया है, उसे मैं स्वीकार करता हूँ। शामशास्त्री ने वागुरिक शबर और पुलिन्द के अर्थ क्रमशः किये हैं—फन्दे में फँसा कर जानवर पकड़ने वाले, धनुर्धर और शिकारी। किन्तु जैसे मोची पहले एक विशेष जाति का नाम था[2], पर पीछे जो उस जाति वाला काम करे उसे हम मोची कहने लग गये, उसी प्रकार शामशास्त्री के किये हुए उन शब्दों के अर्थ पीछे के लाक्षणिक अर्थ हैं न कि मूल अर्थ। किन्तु बागरी यदि गुजरात के निवासी हैं तो शबरों का देश आज शबरी नदी पर आन्ध्र और उड़ीसा की सीमा पर है[3]; और किसी समय मर्त्तबान की खाड़ी से मलक्का की समुद्रसन्धि तक के तट का नाम भी शबरों के नाम से परिचित था[3]; इस कारण अर्थ०, कार की 'तहसील' को हमें पूरबी महारष्ट्र से कम से कम उड़ीसा के समुद्र तक तो फैलाना ही होगा। उस के अतिरिक्त, ४२००० बावरी पञ्जाब में भी रहते हैं, और उन्हीं की सी बोली बोलने वाले लोगों का एक छोटा सा दल मेदिनीपुर में भी है[4]। उन की बोली अब भी भीली-गुजराती है। द्राविडी-मिश्रित या भीली-मिश्रित गुजराती खानदेशी या राजस्थानी या

---

[1]दे० नीचे §§ १६५, १६६, १८१—१८४, १८६।

[2]दे० ऊपर § ७९—पृ० २८६।

[3]दे० ऊपर § १६—पृ० ७२-७३।

[4]भा० भा० प० १, १, पृ० १७६।

उन का मिश्रण बोलने वाली अनेक फिरन्दर जातियाँ उत्तर भारत के दूर दूर के प्रान्तों में भी पाई जाती हैं, जहाँ वे अब तक अपनी पुरानी बोली को बचाये हुए हैं। भारतीय जनविज्ञान की यह एक समस्या है कि वे वहाँ कब और कैसे पहुँच गईं; और उस समस्या का एक सम्भावित समाधान सुझा देने के लिए मैं डा० प्राणनाथ को धन्यवाद देता हूँ; क्योंकि उन के मत की यह आलोचना करते समय मुझे यह सूझा है कि शायद कौटिल्य के समय उन्हें विभिन्न अन्तों के दुर्गों में ले जाया गया और तभी से वे वहाँ बसी हैं।

अर्थ०-कार का 'जनपद' निश्चित करने को डा० प्राणनाथ ने कई और युक्तियाँ भी लगाई हैं (जैसे सेतु वाली), जिन पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता नहीं दीखती।

उन की दूसरी युक्ति प्राग्घूणक शब्द पर आश्रित है। हम देख चुके हैं कि किसी के जनपद की निन्दा करना भी मौर्य भारत में वाक्पारुष्य का अपराध गिना जाता था (ऊपर § १४२ ऋ—पृ० ६३२)। उस प्रसंग में अर्थ० (३.१८) में दो जनपदों के नाम नमूने के तौर पर दिये हैं—प्राज्जूणक और गान्धार (पृ० १९४)। गणपति शास्त्री ने त्रिवेन्द्रम्-संस्करण में प्राज्जूणक के बजाय प्राग्घूणक पाठ दिया और उस का अर्थ किया है—पूरबी हूण देश। उन्हों ने स्पष्ट सूचना दी है कि आदर्श पुस्तक में प्रा और ण के बीच में जगह खाली है, प्राग्घूणक है; किन्तु डा० प्राणनाथ को इस से क्या? भाषा-पाठ (उपोद्घात पृ० ३ में उल्लिखित मलयालय संस्क० का पाठ?) जिस बुनियाद पर खड़े हो वे अर्थ० की तिथि पीछे खींचना चाहते हैं वह भले ही बालू की हो, पर तिथि पीछे खिंचनी चाहिए।

डा० प्राणनाथ कहते हैं कि हूणों का आतंक पच्छिम भारत पर—जहाँ का निवासी कि कौटिल्य उन के मत में था—४८४ से ५१० या ५२८ ई० तक था, इस लिए कौटिल्य भी ठीक उस युग में हुआ। किन्तु

एक तो उस युग में मारवाड़ से महाराष्ट्र तक का देश एक 'तहसील' में शामिल न था। दूसरे, जब हम किसी का अपमान करने को उस के जनपद का नाम घृणा के भाव से लेते हैं—जैसे किसी को सत्तूखोर बिहारी, पंजाबी ढग्गा, कश्मीरी, पठान, बलोच, बांगाल, दक्खणा या बिहारी बुद्धू आदि कहते समय—तब क्या हमें उस जनपद के नाम के साथ पूरबी या पच्छिमी विशेषण लगाने की सुध रहती है? हूण कह कर किसी का अपमान किया जा सकता था, किन्तु क्या अपमान करने के इरादे से कोई किसी को पूरबी हूण कहता?

तीसरे, प्राज्जूणक और प्रा'''णक इस पाठ-भेद से जान पड़ता है कि यहाँ पाठ में कुछ गड़बड़ है; मूल शब्द तलाशना चाहिए। बौ० १. १ ३० में जिन देशों में जा कर लौटने से प्रायश्चित की आवश्यकता बतलाई है, उन में एक प्रानून का भी नाम है। मूल बौ० का समय ५वीं शताब्दी ई० पू० तथा उस के विद्यमान रूप का २०० ई० पू० के करीब है[1]। इस प्रकार यह कहना होगा कि ५वीं और २री शताब्दी ई० पू० के बीच प्रानून प्राज्जूण या कुछ और ऐसे ही नाम का कोई बदनाम जनपद भारतवर्ष में था। किन्तु उस नाम की खोज से कौटिल्य उलटा बौधायन के समय के करीब का निकला।

डा० प्राणनाथ का तीसरा तर्क यह है कि अर्थ० के कोशप्रवेश्यरत्न-परीक्षा प्रकरण (२. ११) में प्रवाळकम् आलकन्दकम् का उल्लेख है; आलकन्द माने अलक्सान्द्रिया से आने वाला; अलक्सान्द्रिया का नाम सिकन्दर के नाम से पड़ा था, उस नाम का प्रचार सुदूर भारत में सिकन्दर के पीछे कुछ ही बरस में कैसे हो जा सकता था? समाधान—कौटिल्य मौर्य साम्राज्य का प्रधान अमात्य था, और उस साम्राज्य का यवन राज्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध था, साधारण जनता में अलक्सान्द्रिया

---

[1]ऊपर § ११२ अ—पृ० ४२८।

के नये नाम का प्रचार होने में भले ही देर लगती, पर मौर्यों के राजकीय कागज़ात में उस का तुरंत आ जाना कुछ कठिन न था।

चौथा तर्क—अर्थ० में देश के सिक्कों पर राज्य का एकाधिकार कहा है, पर मौर्यों का कोई सिक्का आज हमें नहीं मिलता। यह ठीक है कि प्राचीन भारत में पहले विनिमय के सिक्कों का संचालन शायद राजा के बजाय निगम करते थे। अर्थ० २.१२ में ये विधान हैं कि एक विशेषज्ञ को या विशेषज्ञों के एक संघ को आकराध्यक्ष नियुक्त किया जाय (पृ० ८१), आकरों अर्थात् खानों की सब उपज (समुत्थित) को कर्मान्तों अर्थात् कारखानों में लगाया जाय, और उस का सब व्यवहार (व्यापार) एकमुख (केन्द्रित, राज्य के एकाधिकार में) रहे (पृ० ८३); लोहाध्यक्ष लोहे ताँबे आदि के कर्मान्तों का तथा उन की उपज के व्यवहार का संचालन करे, लक्षणाध्यक्ष चांदी के सिक्के आदि बनवाय (पृ० ८४)। खानों की उपज का व्यापार भले ही राज्य के हाथ में था, तो भी यह बात स्पष्ट नहीं है कि सिक्के राज्य के लिए बनाये जाते थे या निगमों के लिए—उन पर राज्य के लक्षण छापे जाते थे या निगमों के। सौवर्णिक के प्रकरण (२. १४) के शुरू में कहा है—सौवर्णिक पौर-जानपदों के चाँदी-सोने को कारीगरों से बनवाय (पृ० ८९); आकराध्यक्ष के ही प्रकरण में आगे कहा है—"रूपदर्शक (सिक्कों को जाँचने वाला) व्यावहारिकी (व्यापार में चलने वाली) तथा कोशप्रवेश्या पणयात्रा (करेंसी) की स्थापना करे—आठ फ़ी सदी रूपिक, पाँच फ़ी सदी व्याजी, $\frac{1}{8}$ फी सदी पारीक्षिक...।" यहाँ शामशास्त्री यह सुझाते हैं कि माल के दाम के रूप में या जुरमाने आदि के रूप में जब कभी कोश में रुपया आता था, उस पर इतने फ़ी सदी ऊपर से लिया जाता था। यह बात कुछ अस्वाभाविक लगती है, और ऐसा होता भी तो इस वसूली से रूपदर्शक को क्या मतलब था, और इसे टकसाल-प्रकरण में क्यों कहा जाता मुझे यह प्रतीत होता है कि लक्षणाध्यक्ष निगमों के लिए सिक्के बनवाता

था, उन में से जो सिक्के व्यवहार (व्यापार) में चले जाँय, चले जाँय, किन्तु जो राजकीय कोश के लिए जाते थे उन पर रूपिक व्याजी और पारीक्षिक नाम से दलाली ली जाती थी। इन दलालियों से तो यह सूचित होता है कि सिक्के निगमों के लिए ही बनाये जाते थे, किन्तु यदि उन पर राज्य के लक्षण भी छापे जाते हों तो भी क्या ? क्योंकि प्राचीन भारत में उस युग तक राजा का चेहरा या कोई लेख सिक्कों पर छापने का रिवाज न था, केवल लक्षण या अंक अर्थात् निशान छापे जाते थे, इस लिए पुराने निशान वाले सिक्कों में मौर्य राजाओं के सिक्के भी आज विद्यमान हों, और हम उन्हें पहचान न पाते हों, यह क्या सम्भव नहीं है ? अर्थ० यह तो नहीं कहता कि सिक्कों पर राजा का चेहरा छापा जाय।

डा० प्राणनाथ की अन्तिम दलील यह है कि अर्थ० में जो अनेक बातें हिन्दू धर्म के प्रतिकूल हैं—जैसे तलाक, मांस-भक्षण, स्त्रियों का अपने प्रेमियों के पास शराब भेजना आदि—वे पच्छिम भारत में यवनों शकों और हूणों के प्रभाव पड़ने के पीछे की अवस्था को सूचित करती हैं। यह तर्क नैयायिकों के गोमयपायसीय न्याय—गोमयं पायसं गव्यत्वात्—गोबर दूध है क्योंकि गाय के पेट से उपजता है—की याद दिलाता है। ठीक जिन बातों से अर्थ० की प्राचीनता निश्चित होती है, उन्हीं से डा० प्राणनाथ उसे अर्वाचीन बनाना चाहते हैं।

इस सिलसिले में डा० प्राणनाथ का एक और लेख भी इं. आ. १९२१ में निकला है। मैं उसे पढ़ नहीं पाया, परन्तु उस के शीर्षक से अन्दाज़ होता है कि उस में उन्हों ने शायद यह तर्क किया हो कि अर्थ० में ६००० श्लोक होने की बात उस के उपक्रम में लिखी है, पर अब उस का अधिकांश गद्य में है, श्लोक तो थोड़े से हैं। इस ६००० श्लोकों वाली बात को आधुनिक विद्वान् अब तक एक पहेली मानते रहे हैं; न तो अर्थ० की प्रामाणिकता के पक्षपातियों ने उस की कोई व्याख्या की है, और न उस के विरोधियों ने इस आधार पर अब तक उस पर अंगुली

उठाई थी। किन्तु अर्थ० में ६००० श्लोक थे सो बात पक्की है; स्वयं कौटिल्य ने वह लिखी है, और फिर दण्डी ने भी दोहराई है।

ठीक उस समय जब कि इन पृष्ठों के लिए प्रेस से तकाज़ा आ रहा है, मुझे उस पहेली का अर्थ सूझा है। एक श्लोक में ३२ मात्रायें होती हैं। ६००० श्लोकों की कुल १९२००० मात्रायें हुईं। उक्त कथन का अर्थ यह है कि अर्थ० में कुल १९२००० मात्रायें थीं। अब उस में कितनी मात्रायें हैं इस की गिनती मैं जल्दी में कर नहीं सका; पर जितने पृष्ठों की गिनती कर पाया हूँ उस से यह निश्चित हो गया है कि विद्यमान अर्थ० में ६००० श्लोकों से अधिक मात्रायें तो नहीं हैं। आरम्भ से १०३ पृष्ठ तक उस में कुल ३८११८ मात्रायें हैं।

* २६. भारत और चीन का प्रथम परिचय कब ?

इस विषय में ऊपर § १३६ आ में जो लिखा गया है, वह आधुनिक विद्वानों के सब से नये मत के अनुसार है। फ्रांसीसी विद्वान् पेलियो ने इस सिद्धान्त की स्थापना की है, और दूसरे सब विद्वानों की इस पर सहमति प्रतीत होती है। जायसवाल का कहना है कि शिना बोली बोलने वाले दरदों[1] के अर्थ में चीन शब्द हमारे वाङ्मय में और पुराना भी हो सकता है, तथा अर्थ० में वह उसी अर्थ में है।

किन्तु अवस्ता और पारसी वाङ्मय के प्रमुख विद्वान् डा० जीवनजी जमशेदजी मोदी सदा से कहते रहे हैं कि अवस्ता के समय प्राचीन ईरानियों को जो पांच देश और जातियां ज्ञात थीं उन में एक चीन और चीनी भी थे। डा० मोदी के अनुसार वे पांच जातियां ये थीं—ऐर्य, तुर्य, सरिम्य, सैनि और दाह; तथा उन के देश थे क्रमशः—ऐर्यनाम् दख्युनान् (ईरान), तुर्यनाम् दख्युनाम् (तूरान), सैरियनाम् दख्युनाम्

---

[1]दे० ऊपर § १४।

(सीरिया, पच्छिम एशिया और पूरबी युरोप), सैनिनाम् दख्युनाम् (चीन) और दाहिनाम् दख्युनाम् (दाहों का देश)[1] । अवस्ता वाङ्मय के विषय में मैं प्रायः अनजान हूँ; इस लिए मुझे मालूम नहीं कि सैनि जाति और उस देश के उक्त उल्लेख की किसी और तरह से व्याख्या हो सकती है या नहीं ।

चीन रियासत ने यद्यपि समूचे चीन देश को तीसरी शताब्दी ई० पू० में जीता, तो भी वह रियासत तो करीब नौवीं या आठवीं शताब्दी ई० पू० से मौजूद थी; और वह उस महादेश के उत्तरपच्छिमी छोर पर थी । क्या यह सम्भव नहीं कि भारतवर्ष के लोग उस रियासत से कुछ पहले से परिचित रहे हों, और उस बड़े देश के उत्तरपच्छिमी प्रान्त का नाम उन्हों ने समूचे देश पर उसी तरह चपका दिया हो जैसे भारतवर्ष के सिन्धु देश का विदेशियों ने इस देश पर ? कम्बोज देश की ठीक पहचान होने से अब इस बात की सम्भावना और अधिक दीखती है, क्योंकि कम्बोज से चीन का उत्तर-पच्छिमी छोर काफ़ी नज़दीक है । पीछे[2] हम इस बात की सम्भावना देख चुके हैं कि अवस्ता शायद कम्बोज देश में ही लिखी गई । यदि वैसा हो तो उस में चीन का उल्लेख होने की कठिनाई बहुत कम रह जाती है । अथवा, अवस्ता के सैनि भी क्या दरद शिना लोग हैं ? दरद देश कम्बोज से ठीक सटा हुआ है ।

—०—

[1] ज० बं० रा० ए० सो० नं० ७०, जि० २४ (१९१६-१७), नं० ३, पृ० ४४४; मं० स्मा० पृ० ७८ ।

[2] * १७—पृ० ४८०-८१ ।

पाँचवाँ खण्ड

अश्वमेध-पुनरुद्धार-युग

(१८५ ई० पू०—५३३ ई०)

अठारहवाँ प्रकरण

शुंग चेदि सातवाहन और यवन राज्य

(लग० २१० ई० पू०—लग० १०० ई० पू०)

§ १४७. मौर्योत्तर युग की चार शक्तियाँ

हम ने देखा कि २११-२१० ई० पू० के करीब मौर्य साम्राज्य छिन्न भिन्न होने लगा था। यह स्वाभाविक था कि दूर के जनपद या पीछे जीते हुए जनपद सब से पहले उस से अलग हो जाते। इस प्रकार, कलिंग जो सब से पीछे उस में सम्मिलित हुआ था शायद सब से पहले स्वतन्त्र हो गया। उस के पड़ोस में आन्ध्र और महाराष्ट्र में भी एक नई राज-सत्ता स्थापित हो गई, और प्रायः ठीक उसी समय उत्तरापथ भी साम्राज्य से निकल गया जिस का पीछे उल्लेख कर चुके हैं। स्वयं मगध में भी इस के करीब चौथाई शताब्दी पीछे (१८८ या १८५ ई० पू०) क्रान्ति हो कर एक नया मज़बूत राज्य स्थापित हुआ। मगध कलिंग महाराष्ट्र और काबुल के इन नये राज्यों को हम क्रमशः मध्यदेश पूरब दक्षिणापथ और उत्तरापथ के राज्य कह सकते हैं। वे भारतवर्ष के पाँच मंडलों या स्थलों[1] और मौर्य साम्राज्य के चक्रों[1] के अनुसार थे, केवल एक पच्छिम खण्ड में स्वतन्त्र राज्य स्थापित न हुआ। उस का केन्द्रिक अंश, अवन्ति या उज्जैन, शुरू में मगध के अधीन रहा—मगध-मध्यदेश-

---

[1] दे० ऊपर §§ ४, १३०।

साम्राज्य का वह सब से पुराना अंश था (§ १०६)। मगध का नया साम्राज्य भी चाहे मज़बूत और शक्तिशाली था, तो भी मौर्य युग की तरह अब वह पूरब दक्खिन और उत्तर के स्वतन्त्र और समर्थ राज्यों को कभी अधीन न कर सका। वे सब उस की बराबरी करने वाले और उसी की तरह साम्राज्यकामी थे। उन सब में परस्पर कशमकश और चढ़ाऊपरी लगातार जारी रहती। और पच्छिम-खण्ड या उज्जैन के प्रदेश पर उन चारों के दाँत गड़े रहते। यह चौतरफ़ा कशमकश इस नये युग की राजनीति का लगातार मूल मन्त्र रहा। चारों नई शक्तियों की हम अलग अलग आलोचना करेंगे।

§ १४८. बाख्त्री और पार्थव राज्य

इधर जैसे मौर्य साम्राज्य टूट रहा था, वैसे ही उत्तर-पच्छिम में सीरिया के यवन साम्राज्य के भी अशोक के समय में ही टुकड़े होने लगे थे। हिन्दूकुश के ठीक उत्तर बाख्त्री (बलख) और सुग्ध (आधुनिक बुखारा-समरकन्द) प्रदेशों में सम्राट् की ओर से एक क्षत्रप शासन करता था। बाख्त्री के यवन क्षत्रप दियोदोत (Diodotus) ने लगभग २५० ई० पू० में अपने को सीरिया साम्राज्य से स्वतन्त्र कर एक नये राज्य की नींव डाल दी।

बाख्त्री के पच्छिम पार्थव जाति का प्रदेश था जिसे अब हम खुरासान कहते हैं। वहाँ इस युग में उत्तर के दाह-शकों की पर्ण या अपर्ण नामक एक जाति आ बसी थी। पार्थवों में बस कर वे लोग कुछ सभ्यता सीख गये, और फिरन्दर आदतें छोड़ कर खेती-बाड़ी करने लगे थे। उन्हीं में से दो भाइयों के नेतृत्व में अब समूचा पार्थव प्रदेश यवन साम्राज्य के खिलाफ़ राष्ट्रीय विद्रोह कर उठ खड़ा हुआ, और स्वतन्त्र हो गया (लग० २४८ ई० पू०)। इन भाइयों में से बड़े को

अर-सक[1] कहते हैं, जिस का अर्थ शायद है—राजा शक, और जो केवल एक पद है, नाम नहीं। अर-सक के छोटे भाई का नाम था तिरिदात[2]। इन भाइयों के वंश ने समूचे पारस देश को अपने राज्य में मिला लिया; और चार सौ बरस तक वहाँ एक मज़बूत स्वाधीन राज्य बनाये रक्खा। पार्थवों के नाम से इस युग में समूचा पारस पार्थव[3] कहलाता। पार्थव के उस राजवंश के शासन-प्रबंध सेना-संगठन रहन-सहन आदि में शकों की पुरानी फिरन्दर आदतें बहुत कुछ झलकती थीं, तो भी धीरे धीरे वे बिलकुल पार्थव या पह्लव हो गये, और प्रायः सब बातों में उन्हों ने ईरानी सभ्यता अपना ली। फिर भी अनेक अंशों में ईरानी सभ्यता का पूरा विकास उन के शासन में नहीं हुआ। यूनानी शासन के समय ईरान के सिक्कों पर यूनानी भाषा लिखी जाने लगी थी, पार्थवों के समय भी वही रिवाज चलता गया; पार्थव राजाओं के सिक्कों पर केवल यूनानी लेख मिलते हैं। इस का एक कारण शायद यह भी था कि पारस और पच्छिमी देशों में व्यापार की भाषा वही थी।

स्वतन्त्र पार्थव राज्य की स्थापना से सीरिया और बाख्त्री के यवन राज्य एक दूसरे से अलग हो गये; अनेक बार सिर पटकने पर भी वे इस पार्थव चट्टान को तोड़ नहीं सके।

पार्थव और बाख्त्री को फिर से जीतने के लिए सीरिया के सेँलेँ-उकवंशी सम्राटों ने कई जतन किये। उन में से सब से अन्तिम और प्रसिद्ध प्रयत्न अन्तियोक तीसरे (२२३—१८७ ई० पू०) का था।

---

[1] यूनानी रूप—Arsaces.

[2] यूनानी रूप—Tiridates.

[3] यूनानी रूप—पार्थिक।

बड़े घोर युद्ध के बाद पार्थव में अन्तियोक को अरसक तीसरे से सन्धि करनी पड़ी, जिस के बाद वह बाख्त्री को दबाने के लिए आगे बढ़ा (२०८ ई० पू०)। वहाँ दिओदोत का पोता एवुथिदिम[1] राज्य कर रहा था। दो बरस तक एवुथिदिम ज़रिअस्प अथवा बक्त्र (बलख) के किले में घिरा रहा। दोनों पक्ष अन्त में लड़ाई से थक गये, और एवुथिदिम ने अपने बेटे दिमेत्र[2] को सन्धि की बातचीत के लिए भेजा। अन्तियोक नौजवान दिमेत्र से बड़ा प्रभावित हुआ, और उस ने उसे अपनी लड़की व्याह दी। बाख्त्री से सन्धि कर और नई कुमुक और रसद ले वह भारत की ओर बढ़ा।

"उस ने हिन्दूकुश पार किया, और भारतीय राजा सुभागसेन से फिर से मैत्री स्थापित की"। सुभागसेन का उल्लेख पीछे (§ १३९) कर चुके हैं। कुभा (काबुल नदी) की दून निश्चय से उस के शासन में थी, और वह मगध-साम्राज्य के अधीन रहा नहीं जान पड़ता। वह अशोक का वंशज भी हो सकता है। यह सम्भव है कि सम्प्रति के पीछे सामाज्य के उत्तरपच्छिमी तथा केन्द्र भाग में मौर्य वंश की दो अलग अलग शाखायें राज्य करने लग गई हों।

सुभागसेन से रसद और हाथी ले कर अन्तियोक हरउवती (अरखुतिया, कन्दहार प्रदेश) और ज़रंक (सीस्तान) के रास्ते वापिस चला गया। ये प्रदेश भी जो हाल तक मगध के मौर्य साम्राज्य का भाग थे, अब सुभागसेन के राज्य में थे।

---

[1] Euthedemos. अंग्रेज़ी में जिस अक्षर को यु बोलते हैं, उस के मूल रूप का यूनानी उच्चारण उ होता था। जिन यूनानियों के नाम भारतीय सिक्कों पर प्राकृतरूप में मिलते हैं, वे उसी रूप में दिये गये हैं।

[2] Demetrias.

§ १४९. सातवाहन राज्य

जैसे उधर सीरिया के साम्राज्य से बाख्त्री और पार्थव देश स्वतन्त्र हुए; वैसे ही इधर मौर्य साम्राज्य से दक्खिन और कलिंग। दक्खिन में जो नया राज्य स्थापित हुआ, उस ने भी पारस के पार्थव राज्य की तरह चार सौ बरस तक अपने देश को शक्ति समृद्धि और गौरव के शिखर पर बनाये रक्खा। इस राज्य का संस्थापक सातवाहन वंश का था। सातवाहन का ही दूसरा रूप शालिवाहन है।

पुराणों में इस वंश का नाम आन्ध्र है, और इस के पहले राजा को आन्ध्र-जातीय कहा है। इस से यह परिणाम निकालना उचित दीखता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय आन्ध्रों का जो एक प्रबल सुसंगठित राष्ट्र था, सातवाहनों का नया राज्य उसी के पुनर्जीवन को सूचित करता है। किन्तु आरम्भिक सातवाहनों का राज्य आजकल के आन्ध्र देश में रहने के कोई चिन्ह नहीं मिले; उन के जो लेख या अवशेष मिले हैं सब उपरले गोदावरी काँठे अर्थात् महाराष्ट्र से। हम यह भी देखेंगे कि महारठि सरदारों की सहाता से ही उन्हों ने आरम्भ में अपनी शक्ति बनाई थी। उन के लेख सब प्राकृत में हैं। ऐसी अनुश्रुति[1] है कि उन के महलों में प्राकृत ही बोली जाती थी। उन में से एक तो प्राकृत का विख्यात कवि था, और उन का दरबार प्राकृत साहित्य को प्रोत्साहना देने के लिए भारत भर में प्रसिद्ध था, सो भी हम देखेंगे। एक विद्वान्[2] ने इस से यह परिणाम निकाला है

[1]श्रूयते ही कुन्तलेषु सातवाहनो नाम राजा. तेन प्राकृतभाषात्मकमन्तः पुरमेवेति...।—का० मी० पृ० ५०

[2]पी० टी० श्रीनिवास आयंगर—आन्ध्रों के विषय में भ्रम, इं० आ० १९१३, पृ० २७६।

कि आन्ध्र जाति शुरू में पच्छिमी दक्खिन में ही रहती और प्राकृत बोलती थी, तथा पिछले सातवाहन राजाओं के समय तक उस प्रदेश में न आई थी जो अब आन्ध्र कहलाता है;—तेलंगण देश का नाम उस से पहले आन्ध्र न था। किन्तु हम देख चुके हैं कि सोलह महा-जनपदों के समय भी आन्ध्र जाति पूरबी दक्खिन के उत्तरी हिस्से में तेलवाह नदी पर रहती थी[1], और अश्मक-मूळक राष्ट्रों की स्थापना के समय के करीब जब पहले पहल उस का उत्तर वैदिक वाङ्मय में नाम सुना जाता है, अर्थात् जब पहले पहल आर्यों का उस से संसर्ग होता है, तब भी बहुत सम्भवतः वह उसी तरफ़ रहती थी। इस प्रकार आन्ध्र जाति महाराष्ट्र में रहने वाली तथा प्राकृत-भाषी थी, सो तो नहीं कहा जा सकता; हाँ, सातवाहन राजा ज़रूर प्राकृत-भाषी और महाराष्ट्र प्रतीत होते हैं। उन के आन्ध्र कहलाने का कोई विशेष कारण होना चाहिये। एक सम्भावना यह है कि जब उन्हों ने आन्ध्र देश जीता तब से वे आन्ध्र राजा कहलाने लगे, और इतिहास-लेखकों ने फिर उस समूचे वंश का नाम आन्ध्र रख दिया, जिस से वे पहले राजा भी जिन का आन्ध्र देश से कोई सम्पर्क न था आन्ध्र कहे गये। इस से अधिक सम्भावना यह है कि वे थे तो महाराष्ट्र, पर उन में आन्ध्र या द्राविड रक्त भी मिला हुआ था। कर्णाटक के बेल्लारि ज़िले से पाये गये एक सातवाहन अभिलेख में उस प्रदेश को सातवाहनि-हार कहा है[2]; वही सातवाहनों का अभिजन था। सातवाहनों के लेखों में दिये हुए उन के गोत्र के नामों से भी वे ब्राह्मण प्रतीत होते हैं, और उन्हें स्पष्ट ब्राह्मण भी कहा है। अनुश्रुति[3] के अनुसार वे मिश्रित ब्राह्मण

---

[1] ऊपर § ७९।

[2] ए० इं० १४, पृ० १५३ प्र।

[3] द्वात्रिंशत्पुत्तलिका, रा० इ० में उद्धृत।

और नाग वंश के थे। इस से भी इस सम्भावना की पुष्टि होती है कि उन के महाराष्ट्र रुधिर में कुछ बाहरी छौंक लग चुका था। उन के सिक्कों पर जो उन के तेलुगु या कनडी ऐसे उपनाम पाये जाते हैं, उस से भी उसी अनुमान की पुष्टि होती है।

सातवाहन राज्य के संस्थापक का नाम सिमुक था। पुराणों में उस के नाम के शिशुक सिन्धुक आदि कई रूपान्तर भी हो गये हैं। उस की राजधानी शायद उत्तरी गोदावरी तट पर प्रतिष्ठान या पैठन थी। नासिक के पड़ोस का प्रदेश निश्चय से उस के अधीन था। सिमुक के बाद उस के भाई कन्ह या कृष्ण ने राज किया, और कन्ह के पीछे उस (कन्ह) के पुत्र सातकर्णि ने। सातकर्णि ने एक महारठि अर्थात् एक बड़े राष्ट्रिक सरदार की राजकुमारी नागनिका या नायनिका से विवाह किया, जिस के कारण उस की सत्ता महाराष्ट्र में विशेष बढ़ गई। उस के सिक्कों पर उस के श्वसुर का भी नाम रहता है। उस के समय तक इस वंश का राज्य बहुत कुछ फैल चुका और इन की सत्ता स्थापित हो चुकी थी। सातकर्णि ने इस राज्य को और बढ़ाया। पच्छिमी घाट के सब नाके और उन के द्वारा कोंकण के बन्दरगाह इन सातवाहनों के राज्य में थे। यद्यपि कलिंग के राजा खारवेल से सातकर्णि को कुछ समय के लिए दबना पड़ा, तो भी वह दक्खिणापथपति अर्थात् महाराष्ट्र-कर्णाटक[1] का स्वामी कहलाता था, और उस ने दो

---

[1]प्रो० कृष्णस्वामी ऐयंगर ने दिखलाया है कि म० भा० सभापर्व में सहदेव के दक्खिण-दिग्विजय में दक्खिणापथ का अर्थ केवल महाराष्ट्र-कर्णाटक प्रतीत होता है न कि समूचा दक्खिन। उस का अर्थ था—दक्खिण के रास्ते का प्रदेश। वह पाण्ड्य-देश के उत्तर था, क्योंकि पाण्ड्य को जीतने के बाद लौट कर सहदेव के दक्खिणा पथ जाने का उल्लेख है—म० भा०, २. ३२. १७-१८; बिगिनिंग्स्, पृ० ५९-६०। उसी पर्व में

बार अश्वमेध तथा एक बार राजसूय यज्ञ किया। उस के पीछे जब तक उस के लड़के छोटे थे, उस की रानी नायनिका ने राज्य किया।

प्राचीन भारत में राजाओं की मृत्यु के पीछे उन की मूर्तियाँ स्थापित करने की प्रथा थी। एक राजवंश की मूर्तियाँ एक ही स्थान पर स्थापित की जाती थीं, और वह स्थान देवकुल कहलाता था। देवकुल में प्रत्येक राजा की मृत्यु के बाद ही उस की प्रतिमा स्थापित की जाती थी। भास के प्रतिमा नाटक की कहानी की योजना इसी प्रथा पर निर्भर है। पाटलिपुत्र में अनेक देवकुल थे, और वहाँ जो शैशुनाक मूर्तियाँ पाई गई हैं, वे भी किसी देवकुल का ही अंश हैं।[1] सह्याद्रि के नाना घाट में आरम्भिक सातवाहन राजाओं का एक देवकुल था जहाँ उन के अभिलेख अब तक मौजूद हैं। वहाँ उन की जो प्रतिमायें थीं उन का ऊपर का हिस्सा अब दुर्भाग्य से नहीं रहा, केवल पैर तथा नीचे खुदे हुए नाम बचे हैं।[2]

सिमुक का समय अन्दाज़न वही था जब कि मौर्य साम्राज्य का

अर्जुन के उत्तरापथ-दिग्विजय के सम्बन्ध में हम देखेंगे कि वह वर्णन १७६ ई० पू० के बाद का नहीं है, और अशोक से पहले का नहीं; नीचे ** २८। हाल में मैंने उसी पर्व में के नकुल के पच्छिम-दिग्विजय की विवेचना ओझा-अभिनन्दन-ग्रन्थ (हिन्दी साहित्य-सम्मेलन प्रयाग से प्रकाश्यमान) के लिए की है; उस से वह अंश भी लग० २०० ई० पू० का सिद्ध हुआ है। यह अनुमान अनुचित न होगा कि समूचा दिग्विजय-पर्व दूसरी शताब्दी ई० पू० के शुरू का है। यदि वैसी बात हो तो यह कहना होगा कि पहले सातकर्णि और खारवेल के समय दक्खिणापथ का अर्थ केवल महाराष्ट्र-कर्णाटक था।

[1] ऊपर ** २२ ए; ना० प्र० प० १, पृ० ६९ प्र।

[2] आ० स० प० मा० ५, पृ० ६२।

टूटना आरम्भ हुआ (लग० २१० ई० पू०), और सातकर्णि पहले का १७५ ई० पू० के करीब[1] । आरम्भिक सातवाहनों की उक्त पहली तीन पीढ़ियाँ ही प्रसिद्ध हैं; पहले सातकर्णि के बाद लगभग एक शताब्दी तक उन की अगली पीढ़ियों के केवल नाम ही पाये जाते हैं ।

§ १५०. पुष्यमित्र शुंग

इस प्रकार जब मगध-साम्राज्य से सब दूर के प्रान्त अलग हो गये, और उस की शक्ति क्षीण हो गई, तब उस के अन्दर भी क्रान्ति हो गई। अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ को उसी की समूची सेना के सामने उस के ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने तलवार के घाट उतार दिया (१८८ या १८५ ई० पू०)[2] और राजदण्ड अपने हाथ में लिया। ठीक किन अवस्थाओं में पुष्यमित्र ने यह कत्ल किया सो मालूम नहीं,[3] किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि यह काम समूची सेना की सहमति और स्वीकृति से हुआ; सेना स्पष्ट रूप से राजा से असन्तुष्ट थी, चाहे उस की निष्क्रियता और दुर्बलता के कारण, चाहे किसी और कारण। राज्य की बागडोर पुष्यमित्र ने अपने हाथ में ले ली, और वह एक मज़बूत शासक था, तो भी बहुत समय तक उस ने राजा का आसन नहीं लिया, और अश्वमेध यज्ञ करने तक वह अपने को केवल सेनापति कहता रहा[4]। इस से यह भी प्रतीत होता है कि देश की राज्य-संस्था की कुछ प्रथाओं या नियमों के अनुसार चलने में

---

[1]दे० ❀ २७ ।

[2]प्रज्ञादुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम् ।—ह० च० पृ० १९९ ।

[3]दे० ❀ २७ ।

[4]माल० पृ० १४८ ।

वह बहुत सावधान था; जिस से फिर यह अनुमान होता है कि उस क्रान्ति में सेना की तरह प्रजा भी शायद उस के पक्ष में थी।

उत्तर भारत में पुष्यमित्र ने फिर से एक मज़बूत साम्राज्य स्थापित किया। उसे एक तरफ़ तो बाख्त्री के यवनों का सख्त मुक़ाबला करना पड़ा, दूसरी तरफ़ कलिंग के राजा खारवेल का हमला झेलना पड़ा। उन घटनाओं का उल्लेख अभी किया जायगा। इन हमलों के बावजूद भी पंजाब में कम से कम शाकल[1] (स्यालकोट) से बंगाल के समुद्रतट तक, दक्खिन तरफ़ नर्मदा नदी और दक्खिन-पूरब आधुनिक बघेलखंड तक समूचे उत्तर भारत में शुंगों का एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करने में वह सफल हुआ। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार उस का राज्य-काल ३६ बरस था; जैन अनुश्रुति के अनुसार उज्जैन में उस ने ३० बरस राज्य किया।

शुंग लोग मूलतः आकर या दशार्ण देश (पूरबी मालवा) की राजधानी विदिशा (आधुनिक भिलसा, ग्वालियर राज्य में) के रहने वाले थे। पुष्यमित्र के समय में ही उस का बेटा अग्निमित्र उस की तरफ़ से विदिशा का शासक था।

विदिशा के साथ लगा हुआ दक्खिन तरफ़ विदर्भ (बराड़) का राज्य था, जहाँ का शासन तब यज्ञसेन नाम के व्यक्ति के हाथ में था, जो कि 'राजगद्दी पर हाल ही में बैठने के कारण प्रकृतियों में अपनी जड़ न जमा पाया था।'[2] वह यज्ञसेन या तो मौर्यों की तरफ़ से विदर्भ के शासन को भेजा गया, और अब स्वतन्त्र हो बैठा था, या वह सातवाहनों

---

[1]यावत् पुष्यमित्रो यावत् संघारामं भिक्षूंश्च प्रघातयन् प्रस्थितः। स यावच्छा-कलमनुप्राप्तः।—दि० पृ० ४३४; तिब्बती लामा तारानाथ के बौद्ध धर्म के इतिहास के अनुसार भी कम से कम जालन्धर तक पुष्यमित्र की सत्ता ज़रूर थी।

[2]मल० १८।

की ओर से विदर्भ का शासक था, सो ठीक नहीं कहा जा सकता। उस का साला मौर्यों का सचिव रह चुका था[१]। अग्निमित्र ने विदर्भ पर चढ़ाई कर यज्ञसेन को हराया और वरदा (वर्धा) नदी तक का प्रान्त देने को बाधित किया।

पुष्यमित्र ने दो बार[२] अश्वमेध और राजसूय यज्ञ किये। हरिवंश पुराण के अनुसार राजा जनमेजय के बाद उसी ने अश्वमेध यज्ञ का पुनरुद्धार किया[३]। प्रसिद्ध पतञ्जलि मुनि, जिस ने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखा है, उस के यज्ञ के पुरोहितों में से था। पुष्यमित्र विदिशा का रहने वाला था, और संस्कृत व्याकरण की अनुश्रुति के अनुसार पतञ्जलि गोनर्दीय अर्थात् गोनर्द का जो कि विदिशा के पड़ोस की ही एक बस्ती थी[४]। किन्तु आधुनिक विद्वानों ने सिद्ध किया है कि महाभाष्य में गोनर्दीय नाम से जिस आचार्य का उल्लेख है, वह स्वयं पतञ्जलि नहीं, कोई और है[५]। यज्ञ के लिए पुष्यमित्र ने अपने पोते वसुमित्र की देखरेख में जो घोड़ा छोड़ा, उसे सिन्धु[६] के किनारे यवनों ने पकड़ने की चेष्टा की और घोर युद्ध के बाद उन यवनों का पराभव हुआ था।

---

[१]वहीं १.७।

[२]अयोध्या-अभिलेख; ना. प्र. प. ५, पृ० १००।

[३]३. १६२. ४०-४१।

[४]ऊपर § ८४ उ—पृ० ३२८।

[५]कीलहार्न, इं० आ० १४, पृ० ४०।

[६]माल० का पाठ है—सिन्धोर्दक्षिणरोधसि (पृ० १४८); पहले तो सिन्धु से अटक ही समझी गई थी, पर सभी विद्वानों ने यह ख्याल रद्द कर दिया, क्योंकि अटक के उत्तर-दक्खिन तट ऊँचे हिमालय में हैं, मैदान में उस के तट पूरब-पच्छिम ही हैं; इसी लिये राजपूताने की सिन्ध या काली सिन्ध मानी गई। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार अब फिर सिन्धु का

§ १५१. कलिंग-चक्रवर्त्ती खारवेल

मौर्य साम्राज्य की अवनति के समय जब दक्खिन में सातवाहनों ने सिर उठाया, लगभग उसी समय कलिंग में भी एक स्वतन्त्र राजवंश उठ खड़ा हुआ। उस राजवंश में तीसरी पीढ़ी पर राजा खारवेल (क्षारवेल) हुआ जो इस युग की राजनीति में सब से अधिक महत्त्व का व्यक्ति था। भुवनेश्वर के पास हातीगुम्फा नाम की गुफ़ा की एक चट्टान पर प्राकृत में उस का एक अभिलेख है; प्राचीन अभिलेखों में उस का गौरव केवल अशोक के लेखों से दूसरे दर्जे पर गिना जाता है, और इस युग के इतिहास का तो वही मुख्य उपादान है।

उस लेख के अनुसार कलिंग का यह नया राजवंश चेति अर्थात् चेदि क्षत्रियों का था, और वह चेदि वंश ऐर अर्थात् ऐळ था। हम देख चुके हैं कि चेदि लोग वास्तव में ऐळ थे, और आधुनिक बुन्देलखण्ड उन का जनपद होने से ही चेदि या चेति कहलाने लगा था (§§ ४१, ५९,८२)। बुन्देलखण्ड से दक्षिण कोशल (छत्तीसगढ़) द्वारा चेदि वंश का कलिंग तक चले आना बहुत स्वाभाविक था; उड़ीसा में ऐसी अनुश्रुति है[1] कि यह ऐर वंश पहले कोशल से ही खण्डगिरि (धौली) आया था।

अर्थ अटक करते हैं (पुष्यमित्र और उस का साम्राज्य, इ० हि० क्वा० १, खण्ड १-२) और उन का कहना है कि दक्षिणरोधसि का अर्थ है दाहिने किनारे। इस मत में असम्भावना कुछ भी नहीं है; हम देख चुके हैं कि शाकल तक तो पुष्यमित्र का राज्य था ही, और अभी देखेंगे कि खारवेल ने भी उत्तरापथ यानी पंजाब पर चढ़ाई की थी।

[1] १४ वीं शताब्दी ई० की उत्कल लिपि में लिखी एक हस्तलिखित पुस्तक में जो कि इंडियन म्यूज़ियम में पड़ी है। उस में ऐर वंश 'अहिर राजा' बना दिया है।—ज० बि० ओ० रि० सो० १९१७ पृ० ४८२।

खारवेल जैन था, उड़ीसा का सारा राष्ट्र उस समय मुख्यतः जैन ही था। नौ बरस युवराज पद पर रहने के बाद चौबीस बरस की आयु में खारवेल का महाराज्याभिषेक हुआ।

उस के बाद दूसरे ही बरस उस ने "सातकर्णि की परवा न कर के पच्छिम देश को एक सेना भेजी, और कन्हबेना पर पहुँच उस सेना ने मूषिकनगर को त्रस्त किया।"—कन्हबेना से अब तक जो समझा जाता था उस का उल्लेख ऊपर पृ० ३३७ पर हो चुका है। हाल में उस से कृष्णा नदी समझी जाने लगी है, क्योंकि पालि वाङ्मय और मध्यकालीन अभिलेखों में उसी का नाम कण्णबण्णा, कण्णपेण्णा या कृष्णवेर्णा है। मूषिकनगर के विषय में भी अब नया मत ऊपर पृ० ३३७ पर प्रकट किये गये इस विचार के पक्ष में है कि वह शायद मूसा पर था।

चौथे बरस खारवेल ने फिर पच्छिम चढ़ाई की, जहाँ रठिकों के भोजक अपने मुकुट और छत्र-भृङ्गार छोड़ उस के चरणों पर झुकने को बाधित हुए। रठिकों के भोजक यानी महाराष्ट्रों के भोज पदवी वाले सरदार[1], जिन का प्राचीन लिच्छवियों और शाक्यों आदि की तरह गण-राज्य था, और इसी लिए जिन में से शायद प्रत्येक छत्र धारण करता था। इस समय वे शायद सातवाहन राज्य के अधीन रहे हों। यदि वैसा हो तो खारवेल का यह धावा भी सातकर्णि के ही विरुद्ध था।

---

[1] रठिक भोजके का अर्थ जायसवाल जी ने किया है—रठिक भोजक अर्थात् रठिक और भोजक। किन्तु उस अभिलेख में जिन शब्दों पर बल देना अपेक्षित है उन के पहले कुछ जगह खाली छोड़ी गई है, और उस प्रकार भोजक पर बल दिया गया है, रठिक पर नहीं। इस का यह अर्थ है कि रठिक और भोजक एक बराबर तोल के शब्द नहीं हैं, भोजक में कुछ विशेषता है। इसी से मैं उक्त अर्थ करता हूँ जो कि अधिक स्पष्ट भी है।

खारवेल के विजयों का यह आरम्भ-मात्र था। छठे बरस उस का राजसूय-अभिषेक हुआ, और तब उस ने पौर-जानपदों को अनेक अनुग्रह[1] दिये।

उधर बाख्त्री या यवन राजा देमित्र या दिमित एक भारी सेना ले मध्यदेश पर चढ़ा आता था।

§ १५२. दिमित का भारत-आक्रमण

अन्तियोक के आक्रमण का सफलता-पूर्वक मुकाबला करने के बाद बाख्त्री का यवन राज्य खूब चमक उठा। उस के इतिहास का पुनरुद्धार बहुत कुछ उस के राजाओं के सिक्कों से हुआ है। यूनानी-रोमन लेखकों के ग्रन्थों में भी उस के विषय में दो चार निर्देश पाये जाते हैं। २१ ई० के यूनानी लेखक स्त्राबो ने केवल इतना लिखा है कि दिमेत्र और मेनन्द्र के शासन-काल में इस यवन राज्य की सीमायें दूर दूर तक जा पहुँची—उत्तर तरफ़ चीन तथा फ्रुन (Phryni) की सीमा तक, और भारत में व्यास के पूरब इसामु (Isamus) नदी पातानप्रस्थ तथा सुराष्ट्र तक, इत्यादि। विद्वानों का विचार है[2] कि फ्रुन से अभिप्राय हूणों से है जो कि चीन के उत्तर तथा इर्तिश नदी के पूरब तरफ़ रहते थे, तथा जिन का राज्य १९० ई० पू० में थियान शान के आँचल तक पहुँच गया था। चीन और फ्रुन की सीमा तक बाख्त्री की सत्ता पहुँच जाने का यही अर्थ हो सकता है कि वहाँ के राजाओं ने पामीर और सिम् कियांग् की तरफ़ दूर तक विजय किये।

इधर शायद सुभागसेन की मृत्यु के बाद (अन्दाज़न १९० ई०

---

[1]अनुग्रह का अर्थ जायसवाल जी अर्थ० के आधार पर करते हैं कानूनी रियायतें जो पौर-जानपदों को दी जाती थीं।

[2]इ० आ० १९१९, पृ० ७२।

पू०) यवनों ने भारत के उत्तरपच्छिमी प्रान्तों पर भी झपटना शुरू किया। बाख्त्री से हिन्दूकुश लाँघ कर एवुथिदिम ने आरिया या हरैव (हेरात), कपिश, हरउवती (कन्दहार) और ज़रंक या द्रंगियान (सीस्तान) के प्रदेश दखल कर लिये। इन सब प्रदेशों से उस के काँसे के सिक्के पाये गये हैं। उस के बाद दिमेत्र की नायकता में यवनों ने भारतवर्ष के ठीक अन्दर तक चढ़ाई की, जहाँ सिकन्दर की सेना भी न पहुँची थी। यूनानी लेखक स्त्राबो ने केवल एक वाक्य में उस चढ़ाई की तरफ़ इशारा किया है; इधर हमारे वाङ्मय में एक तो कालिदास के मालविकाग्निमित्र में यवनों और वसुमित्र के युद्ध की तरफ़ निर्देश है जिस का उल्लेख किया जा चुका है; दूसरे पतञ्जलि मुनि के महाभाष्य में यवनों की चढ़ाई के विषय में दो-एक वाक्य हैं; तीसरे गर्ग-संहिता नामक ज्योतिष के पुराने ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय युगपुराण में भी उस यवन आक्रमण का संक्षिप्त वृत्तान्त है। स्त्राबो के निर्देश से प्रकट नहीं होता कि भारतीय विजयों में कितना अंश दिमेत्र का था, और कितना उस के बाद मेनन्द्र का; मालविकाग्निमित्र में केवल यवनों का उल्लेख है, आक्रान्ता का नाम नहीं दिया; महाभाष्य में भी केवल इतना लिखा है कि यवन ने साकेत को घेरा, यवन ने मध्यमिका को घेरा, और यह दिखलाया है कि वह घेरा लेखक के जीवन-काल में हुआ था। युग-पुराण का पाठ अत्यन्त खण्डित और भ्रष्ट है।

दिमेत्र ने मद्र देश की राजधानी शाकल को लेकर उस का नाम अपने बाप की याद में एवुथिदिमिया रख दिया। युग-पुराण के टूटे फूटे सन्दर्भ में मध्यदेश पर यवनों के आक्रमण का वृत्तान्त इस प्रकार दिया है—

"तब साकेत पंचाल और मथुरा पर चढ़ाई कर के दुष्ट विक्रान्त यवन कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) पहुँच जायँगे। उन के पुष्पपुर पहुँच जाने

और (किले की खाई के आर पार) मिट्टी का सेतु बना लेने पर सब प्रदेश आकुल हो उठेंगे। वहाँ एक अन्तिम (पश्चिम) महायुद्ध होगा।"

आगे लिखा है—"मध्य देश में युद्ध-दुर्मद यवन न ठहरेंगे। उन का परस्पर...परम दारुण अपने चक्र में उठा हुआ घोर युद्ध होगा।"[1]

इस वर्णन से यह स्पष्ट नहीं होता कि पहला यवन आक्रान्ता कौन था, और किस प्रकार वह मगध तथा मध्यदेश से भागा[2]। इस प्रश्न पर एक ऐसी जगह से कुछ प्रकाश पड़ा है, जहाँ से उस की कुछ भी आशा न थी। खारवेल के अभिलेख की सातवीं-आठवीं पंक्तियों में इस अर्थ के शब्द पढ़े गये हैं—"आठवें बरस महा सेना...[3] गोरथगिरि को तोड़ कर राजगृह को घेर दबाया। इन के कर्मों के अवदान (वीर-कथा) के सनाद से यवन राजा दिमित घबड़ाई सेना और वाहनों को मुश्किल से बचा कर मथुरा को भाग गया।" गोरथगिरि गया की सुप्रसिद्ध बराबर पहाड़ी है, यह उस पर के एक अभिलेख से सिद्ध हुआ है।

दिमित निश्चय से दिमेत्र है। इस से अब इस में कोई सन्देह नहीं रहा कि पाटलिपुत्र पर चढ़ाई करने और साकेत और मध्यमिका को

---

[1]ज० बि० ओ० रि० सो० १९२८, पृ० ४०० प्र।

[2]श्रीयुत के० ह० ध्रुव ने ज० बि० ओ० रि० सो० १९३० पृ० १८ प्र में युगपुराण के उस सन्दर्भ में पंक्तियों का क्रम कुछ बदल कर एक संगत पाठ बनाने का प्रस्ताव किया है। उस से यवन युद्ध की कुछ अच्छी व्याख्या हो जाती है, तथा उसी युद्ध में "नगर के दक्खिन तरफ़ हजारों हाथियों रथों और वाहनों वाली सेना दीख" पड़ने की बात में खारवेल की सेना की ओर निर्देश प्रतीत होता है; तो भी ध्रुव जी के प्रस्तावित पाठ की प्रामाणिकता कुछ नहीं है।

[3]यहाँ पाठ खण्डित है; पर लुप्त शब्दों का अभिप्राय क्या था सो स्पष्ट है।

घेरने वाला यवन वही था; और उस के मध्यदेश से जल्द भाग जाने का मुख्य कारण खारवेल।

दिमित के आक्रमण और उस के पीछे भागने की घटनायें अब भी बहुत अस्पष्ट हैं। मध्यदेश और मगध पर उस की चढ़ाई निरा एक धावा ही था। साकेत को उस ने घेरा, किन्तु ले शायद नहीं सका। शालिशुक और उस के उत्तराधिकारी मौर्यों के समय हुई भारतीय साम्राज्य की विशृङ्खलता और क्षणिक दुर्बलता से लाभ उठा कर वह मगध तक पहुँच गया, किन्तु मध्यदेश में पैर जमाने में वह सर्वथा विफल हुआ। मगध में उस के विरुद्ध जो अन्तिम (पश्चिम) युद्ध किया गया उस का श्रेय शायद पुष्यमित्र को है—बृहद्रथ मौर्य के विरुद्ध सेना का विद्रोह करना और उसे मार कर पुष्य मित्र का राजशक्ति हथियाना सम्भवतः दिमित के धावे का ही परिणाम था[1]।

किन्तु मगध जब अपने को संभाल ही रहा था, तब खारवेल ने आगे बढ़ कर दिमित को निकाल भगाया। मध्यदेश से यवनों को पूरी तरह खदेड़ने का श्रेय खारवेल को ही है। नौवें बरस उस ने कलिंगनगरी में महाविजय प्रासाद बनवाया; वह उसी विजय की यादगार होगी। फिर बारहवें बरस उस ने उत्तरापथ अर्थात् पञ्जाब पर चढ़ाई की—वह भी यवनों के खिलाफ़ ही होगी। पुष्यमित्र ने भी पीछे सिन्धु के दाहिने किनारे यवनों को हराया, और शाकल तक अपनी सत्ता स्थापित की।

जिस मध्यमिका के यवनों के द्वारा घेरे जाने का उल्लेख है, वह राजपूताना में बेड़च नदी के किनारे, आजकल के चित्तौड़ से छः मील उत्तर-पूरब, एक प्राचीन नगरी थी। उस के खँडहरों को अब नगरी नाम की बस्ती सूचित करती है। किन दशाओं तथा किस प्रयोजन से यवनों

---

[1] दे० नीचे ॐ २७।

ने उसे घेरा सो कुछ भी स्पष्ट नहीं है। मथुरा से मध्यमिका होते हुए उज्जयिनी की तरफ़ बढ़ा जा सकता था।

महाभारत[1] में सौवीर देश के राजा दत्तमित्र का उल्लेख है। आधुनिक विद्वानों के मत में वह भी दिमेत्र के नाम का दूसरा रूप है।

सिकन्दर से सेॅलेॅउक तथा दिमेत्र की चढ़ाइयों की परिणाम-विभिन्नता विचारणीय है। सिकन्दर का रास्ता रोकने वाले छोटे छोटे संघ-राज्य थे। उन से पग पग पर रोका जा कर वह विश्वविजेता मुश्किल से ब्यास तक पहुँच पाया। सेॅलेॅउक का मुकाबला करने वाला एक सुसंगठित साम्राज्य था। एक जागरूक एकमुख[2] साम्राज्य की क्षमता छोटे छोटे अनेकमुख संघराज्यों से कहीं अधिक थी। किन्तु एकमुख राज्य-संस्था में जो दोष है वह दिमेत्र के धावे से प्रकट हुआ। एकमुख राज्य की यदि मुख्य शक्ति निकम्मी है तो वह सर्वथा निःशक्त हो जाता है; क्योंकि साधारण जनता मुखिया का मुँह देखती है, और मुखिया अपनी अयोग्यता के कारण कुछ नहीं कर पाता, और इस से पहले कि सेना और प्रजा अपने मुखियों से विद्रोह कर उठ खड़ी हो शत्रु देश के ठीक भीतर तक जा पहुँचता है।

खारवेल, सातकर्णि और दिमित की समकालीनता निश्चित है। दिमित की चढ़ाई की तिथि विद्वानों ने अन्दाज़न १७५ ई० पू० मान रक्खी है; पर उसे १८५ या १८८ ई० पू० में मानना अधिक उचित है[3]।

§ १५३. खारवेल का दक्खिन तथा उत्तर-दिग्विजय

सातकर्णिक के राज्य पर दो चढ़ाइयाँ करने और यवनराज दिमित को मध्यदेश से निकाल भगाने के बाद खारवेल अपने समय के सब भारतीय

[1] १. १३१. २२-२३। [2] एकमुख शब्द अर्थ० का है—पृ० ८३।
[3] नीचे ※ २७।

राजाओं में प्रमुख माना जाने लगा होगा, इस में सन्देह नहीं। अभी तक उस ने अपने देश कलिंग के पच्छिमी पड़ोसी मूषिक राज्य और महाराष्ट्र पर तथा उत्तरी पड़ोसी मगध पर चढ़ाइयाँ की थीं। अब उस ने उत्तर और दक्खिन दूर-दूर तक दिग्विजय करना शुरू किया।

अभिषेक के "दसवें बरस (उस ने) दण्ड सन्धि और साम हाथ में ले भूमि का जय करने भारतवर्ष को प्रस्थान किया······जिन पर चढ़ाई की उन के मणि-रत्न प्राप्त किये।" भारतवर्ष से अभिप्राय अन्तर्वेद या ठेठ हिन्दुस्तान से है; मगध के आगे उत्तरपच्छिम उसी की बारी थी।

"(ग्यारहवें बरस) आव राजा की बसाई हुई पिथुंड (नामक) मंडी (बाज़ार) को गधों के हल से जुतावा डाला और···एक सौ तेरह बरस पुराने त्रमिर-देष (तामिल-देष)-संघात[1] को तोड़ डाला।"—कलिंग से तट साथ साथ दक्खिन बढ़ने पर आव नाम का छोटा सा राष्ट्र था, जिस की राजधानी पिथुंड या पितुंड दूसरी शताब्दी ई० के रोमन भूगोल-लेखक प्तोलमाय के समय तक तामिल देश का द्वार मानी जाती थी। खारवेल के समय जो तामिल-देश-संघात ११२ बरस पुराना था, वह निश्चय से चन्द्रगुप्त या बिन्दुसार मौर्य का मुकाबला करने को पहले-पहल खड़ा हुआ होगा; तामिल राष्ट्र मौर्य साम्राज्य के अधीन होने से कैसे बचे रहे इस पर भी इस से प्रकाश पड़ता है। तामिल देश की राजधानी इस युग में उरैपुर (उरगपुर, आधुनिक त्रिचनापल्ली) थी। उस के अधीन उत्तरी चोल देश की उप-राजधानी सुप्रसिद्ध काञ्ची थी, जिस का नाम हम पहले-पहल महाभाष्य में पाते हैं[2]।

---

[1] संघात शब्द कौटिल्य के अभिसंहत की याद दिलाता है—दे० ऊपर § १४३ इ—पृ० ६३८। कई राष्ट्र के गुट्ट के लिए संघात या अभिसंघात शब्द स्पष्टतः संघ से भेद करने को बर्ता जाता था।

[2] महाभाष्य ४.२.१०४।

अगले बरस खारवेल की शक्ति भारत के अन्तिम छोरों तक पहुँच गई। "बारहवें बरस ...... उत्तरापथ के राजाओं को त्रस्त किया ...... मगधों को भयभीत करते हुए अपने हाथियों को सुगांगेय[1] पहुँचाया। मागध राजा बहसतिमित (बृहस्पतिमित्र = पुष्यमित्र) को पैरों गिरवाया; राजा नन्द की ले गई हुई कालिंग जिन-मूर्ति को स्थापित किया ...... और अंग और मगध के धन को गृहरत्नों के प्रतिहारों सहित लिवा लिया .... सैकड़ों घोड़े हाथी रत्न मानिक और अनेक मोती-मणि और रत्न पाण्ड्य राजा से लिवाये।"

अन्तर्वेद से अगला पग उत्तरापथ पर पड़ना स्वाभाविक था, और तामिल राष्ट्रों का संघात तोड़ने के बाद मोतियों और रत्नों के व्यापार से समृद्ध पाण्ड्यों की लक्ष्मी पाना भी। किन्तु एक साथ उन सुदूर प्रान्तों में खारवेल की सेनायें विजय पा सकतीं थीं, इस का यह अर्थ है कि उस ने अन्तर्वेद के पच्छिमी छोर तथा तामिल देश में अपनी छावनियाँ डाल दी थीं। उत्तरापथ का अर्थ हमारे आधुनिक अर्थों में उत्तर भारत करना सर्वथा अयुक्त है; खारवेल के लेख में भरधवस(भारतवर्ष) और उत्तरापथ पृथक् पृथक् वस्तुएँ हैं; प्राचीन भारतीय परिभाषा में उत्तरापथ का अर्थ उत्तर भारत कभी न था[2]; उत्तरापथ की मुख्य नगरी तक्षशिला थी[3]। बृहस्पति और पुष्य पर्याय शब्द हैं; बृहस्पतिमित्र के नाम के शुंग नमूने के सिक्के पाये जाते हैं जो अग्निमित्र के सिक्कों से पहले के माने जाते हैं। कलिंग से जिन की मूर्त्ति को विजय के चिन्ह रूप में ले जाने वाला नन्द राजा नन्दिवर्धन था; खारवेल ने पौने तीन सौ बरस पीछे मगध से उस के

---

[1] मुद्राराक्षस में मौर्यों के महल का नाम सुगांग है।

[2] दे० ऊपर § ६ तथा ॐ १।

[3] ऊपर §§ १३१-१३२ में दि० के उद्धरण—पृ० ५६४, ५६८।

समय का बदला चुकाया। प्राचीन भारत के जनपदों में अपने जनपद के मान-अपमान का भाव कैसा उग्र था, उस का यह एक नमूना है।

§ १५४. "अश्वमेध का पुनरुद्धार"

हरिवंश पुराण के अनुसार राजा जनमेजय के बाद पुष्यमित्र ने अश्वमेध का पुनराहरण किया। पुष्यमित्र की तरह उस के समकालीन सातकर्णि ने भी दो बार अश्वमेध किया; और उस का भी यह विचार था कि उस ने बड़े ज़माने से बिसरे हुए अश्वमेध का फिर से पुनरुद्धार किया है। हम देखेंगे कि चौथी शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में सम्राट् समुद्रगुप्त ने फिर अश्वमेध किया, और उस के समकालीन लोगों ने उसे भी चिरकाल से लुप्त अश्वमेध का पुनरुद्धारक माना। गुप्तों से पहले चेदि-देश और महाराष्ट्र के भारशिव और वाकाटक राजाओं ने भी अश्वमेध कर के ख्याति पाई। एक तरह से इन सात शताब्दियों में जितने नये प्रबल राज्य खड़े हुए, सभी के संस्थापकों ने अश्वमेध का पुनरुद्धार करना अपना कर्तव्य समझा।

इस प्रकार अश्वमेध का पुनरुद्धार इस युग का एक विशेष आदर्श प्रतीत होता है, यहाँ तक कि इस युग का नाम भी उसी आदर्श के नाम पर रखना ठीक मालूम होता है, क्योंकि इस युग की प्रमुख प्रेरणा उसी आदर्श से सूचित होती है।

वह आदर्श क्या था? अश्वमेध का पुनराहरण भारतीय राष्ट्रों के जीवन में किस नये भाव को सूचित करता था? स्पष्ट ही वह बौद्ध और जैन आदर्शों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी जिस का अभिप्राय था पुरानी वैदिक संस्कृति का फिर से उद्धार करना। वह प्रतिक्रिया केवल राजनीति में नहीं, प्रत्युत इस युग के समूचे जीवन में थी। सुप्रसिद्ध मनुस्मृति में जो कि ठीक आरम्भिक शुंग-काल की उपज है, उस नये

आदर्श और उस प्रतिक्रिया के विचारों को हम उग्र रूप में पाते हैं। शुंग और सातवाहन दोनों ब्राह्मण थे; और मनुस्मृति डंके की आवाज़ पर ब्राह्मणों की प्रमुखता की घोषणा करती है।[1] अशोक ने अपनी संतति को लघुदंडता का उपदेश दिया था[2]; मनुस्मृति का लेखक उस से उलटा कौटिल्य के शब्दों को दोहराता हुआ पुकार कर कहता है—नित्यमुद्यत-दंडः स्यात्[3]—सदा अपने दंड को उद्यत रक्खे!

मनुस्मृति की तरह विद्यमान महाभारत का एक बहुत बड़ा अंश भी शुंग-युग का है, और उस के अन्तर्गत भगवद्गीता भी जायसवाल जी के कथनानुसार मनुस्मृति वाले आदर्शों से ही अनुप्राणित है। वे उसे सम्भवतः इसी युग की उपज मानते हैं[4]; किन्तु वैसा माने बिना भी कहा जा सकता है कि गीता के आदर्शों को इस युग में पुनर्जीवित किया गया। बौद्धों और जैनों ने अहिंसा का हौआ खड़ा कर दिया था, गीता की स्पष्ट शब्दों में घोषणा थी कि—हत्वापि स इमांल्लोकान न हन्ति न निबध्यते—वह मार कर भी नहीं मारता और न पाप के बन्धन में फँसता है! निष्काम आदर्श की साधना के लिए हिंसा और अहिंसा दोनों साधन मात्र हैं।

किन्तु वैदिक युग के जीवन और संस्कृति अपने पहले रूप में कभी वापिस न आ सकते थे, और न बौद्ध और जैन विचार जड़ से मिट सकते थे। अश्वमेध की रस्म भले ही पूरी की जाती, वैदिक काल की विहिंसा नये परिष्कृत समाज में ज्यों की त्यों वापिस न आ सकती थी। वैदिक संस्कृति के पुनरुद्धार के पक्षपाती इसी कारण उस के उत्तम अंशों का पुनरुद्धार

---

[1]नीचे §§ १६४ अ-लृ, १६५ अ।

[2]ऊपर § १३३—पृ० ५७२।

[3]अर्थ० १.४—पृ० ९; मनु० ७, १२।

[4]मनु और याज्ञ० पृ० ५२।

कर सके कि उन्हों ने बौद्ध और जैन सुधार की लहर में से सब अच्छा अंश अपना लिया था। स्वय गीता और मनुस्मृति पर बौद्ध प्रभाव की छाप स्पष्ट है। वैदिक धर्म के पुनरुद्धार के जतन से जो नया धर्म पैदा हुआ, वह था पौराणिक न कि वैदिक। पुराने प्रकृति-देवताओं और उन के यज्ञों के स्थान में अब हम अवतारों और साकार देवों के मन्दिरों को खड़ा होता देखते हैं। प्रकृति-देवताओं के मूर्त्त रूप अब भारतवर्ष के प्रत्येक रमणीक तीर्थ-स्थान में स्थापित होने लगे, और जन-साधारण के अन्ध विश्वास के खड़े किये हुये अनेक स्थानीय देवताओं को भी उन में से एक या दूसरे का रूप मान कर ऊँचा उठाने का जतन किया गया; उसी प्रकार अवतारों की कल्पना ने अब अपने पुराने इतिहास के महापुरुष-चरित्रों में भी देवत्व की स्थापना कर भगवान् को सर्व साधारण की पहुँच में ला दिया। पुराने सब यज्ञों का पुनरुद्धार नहीं हो पाया. और यह जो नई मूर्त्ति-पूजा और अवतार-पूजा चली वह निःसन्देह बहुत कुछ बुद्ध और बोधिसत्वों की जिन और तीर्थकरों की तथा भागवत धर्म के वासुदेव और संकर्षण की पूजा के नमूने पर थी।

दूसरी तरफ़, बौद्ध और जैन धर्म भी इस नई प्रेरणा से प्रभावित हुए बिना नहीं बचे। क्या यह मनोरञ्जक बात नहीं है कि दिग्विजय के आदर्श में जैन खारवेल ने अपने समय के सब अश्वमेधयाजियों को मात कर दिया? और अश्वमेध नहीं तो राजसूय यज्ञ उस ने भी किया। उन यज्ञों में जो भारतीय राज्यसंस्था के सिद्धान्तों का प्रकाशन था, वह तो न वैदिक था न बौद्ध— शुद्ध भारतीय ही था, और इसी लिए अश्वमेध की एक विशेष प्रथा पर खारवेल को भले ही आपत्ति रही हो, राजसूय उसे एक शुद्ध राष्ट्रीय प्रथा प्रतीत हुई। गीता के निष्काम जीवन के आदर्श का स्पष्ट प्रभाव महायान पर है। पुराने वैदिक धर्म से पौराणिक धर्म जितनी दूर था, थेरवाद से महायान भी उतनी ही दूर था।

सच कहें तो भारतीय संस्कृति में बौद्ध और "ब्राह्मण" का भेद करना अत्यन्त भ्रामक है। वैदिक और पौराणिक जीवन में जितना अन्तर है, अथवा थेर-मार्ग और महायान में जितना अन्तर है, पुराण-मार्ग और महायान में उस से कहीं कम है। ठीक बात यह है कि किसी एक युग में भारतीय जीवन के विभिन्न मार्गों में परस्पर अधिक समानता है, बनिस्बत उस समानता के जो उन में से एक एक की पहले युग के उस उस मार्ग से है जिस जिस के साथ वह अपनी एकता बतलाता है। अश्वमेध-पुनरुद्धार-युग के पौराणिक बौद्ध जैन सभी मार्गों में हम एक नई प्रेरणा और नये आदर्शों को साथ पाते हैं। और उस नई प्रेरणा में पुराने वैदिक और बौद्ध सब आदर्शों की विरासत मौजूद थी।

दिव्यावदान[1] और तारानाथ के इतिहास में लिखा है कि पुष्यमित्र ने तलवार के ज़ोर से भी बौद्ध धर्म का दमन किया। उन के लेख स्पष्ट अतिरंजित हैं, फिर भी उन में कुछ सचाई होना सम्भव है। भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास में राजा लोग धार्मिक असहिष्णुता से प्रायः दूर रहे हैं। भारहुत के सुप्रसिद्ध बौद्ध स्तूप का तोरण शुंगों के राज्य-काल में ही बना था[2]।

एक तरफ़ यदि शस्त्रों द्वारा दिग्विजय कर बड़े राज्य स्थापित करने के आदर्श का पुनरुद्धार हुआ, तो दूसरी तरफ़ अशोक वाली धम्म-विजय की नीति—अर्थात् शान्ति द्वारा एकता स्थापित करने की प्रेरणा —भी अपना काम कर रही थी। अश्वमेध-पुनरुद्धार-युग के पूर्वार्ध में, अर्थात् दूसरी शताब्दी ई० पू० से दूसरी शताब्दी ई० तक, हम कापिशी से काञ्ची तक और हरउवती से धौली तक समूचे भारत के अभिलेखों और सिक्कों पर एक ही प्राकृत लिखी पाते हैं। उस राष्ट्रभाषा का नाम

---

[1]ऊपर § १२०—पृ० ७१४।

[2]इं० आ० २१, पृ० २२७।

जो चार सौ बरस तक भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक बनी रही, मो० सेनार ने अभिलेखों की[1] प्राकृत रक्खा है, और डा० दे० रा० भण्डारकर का कहना है कि वह अशोक के समूचे भारत में धर्म फैलाने के जतनों की उपज थी। बेशक उस के पैदा करने में जहाँ शासन की एकता, व्यवहारसमता और दण्डसमता कारण थी, वहाँ विद्यार्थियों व्यापारियों और धर्मप्रचारकों की सतत चेष्टाओं और निरन्तर यातायात ने भी उसे पैदा किया था। इस युग के इतिहास में भारतवर्ष की सजीव एकता का वह सब से स्पष्ट और उज्ज्वल चिन्ह है।

अश्वमेध-पुनरुद्धार-युग के भारतीय विचार ने कई अंशों में विश्व को विचार-विरासत में बड़े कीमती रत्न भेंट किये हैं। जर्मन दार्शनिक निट्शे का कहना था कि मनुस्मृति की शिक्षा बाइबल की शिक्षा से अनेक अंशों में ऊँची है।

हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि इस युग की राजनैतिक छटपटाहट के पीछे विचारों की एक प्रबल लहर थी। उस लहर ने जिस वाङ्मय और साहित्य को जन्म दिया उस में से केवल मनुस्मृति का अभी हम ने उल्लेख किया है; किन्तु वह पुराने वैदिक और आरम्भिक बौद्ध वाङ्मय से कहीं अधिक विस्तृत था; और उस का दिग्दर्शन हम आगे करेंगे।

§ १५५. पार्थव साम्राज्य का चरम उत्कर्ष, तथा कापिश गान्धार और मद्र देश के यवन राज्य

पार्थव देश जब स्वतन्त्र हो गया था तब भी ईरान के पुराने प्रदेश मद पार्स आदि, तथा ईरान के उत्तरपच्छिमी सीमान्त का पहाड़ी आर्मीनिया प्रदेश सीरिया के यूनानी साम्राज्य के अधीन बने रहे थे। उस

[1] monumental.

साम्राज्य की गद्दी पर सम्राट् अन्तियोक तीसरे के बाद क्रमशः उस के बेटे सेॅलेॅउक चौथा (१८७—१७५ ई० पू०) और अन्तियोक चौथा (१७५—१६४ ई० पू०) बैठे। सेॅलेॅउक कमज़ोर शासक था और अन्तियोक तो एक दम सिड़ी था। इधर पार्थव गद्दी पर इसी समय एक सुयोग्य राजा मिथ्रदात पहला (१७१—१३६ ई० पू०) उपस्थित था। अन्तियोक को आर्मीनिया और पार्स पर चढ़ाइयाँ करनी पड़ीं, और अन्त में वह पार्स में ही लड़ता हुआ पागल हो गया। उस के बाद सीरिया-साम्राज्य जीर्ण हो कर टूटने लगा। अन्तियोक के बाद उस के भाई सेॅलेॅउक चौथे का बेटा दिमेत्र १६२ में गद्दी पर बैठा। १६० में उस ने मद प्रदेश के एक विद्रोह का दमन किया। किन्तु उस के शीघ्र बाद उसे गृह-कलह में फँसना पड़ा। आर्मीनिया उस के साम्राज्य से निकल गया, तथा मद और पार्स को जीत कर मिथ्रदात ने पार्थव साम्राज्य की सीमा फ़रात (Euphrates) नदी तक पहुँचा दी। १५० ई० पू० में दिमेत्र अपने घरेलू झगड़ों में ही मारा गया। उस के बेटे और उत्तराधिकारी दिमेत्र दूसरे को मिथ्रदात ने १३८ ई० पू० में एक युद्ध में पकड़ कर कैद कर लिया। फ़रात के पच्छिम सीरिया-साम्राज्य के जो प्रदेश थे वे भी उस के बाद आर्मीनिया आदि पड़ोसी राज्यों ने छीन लिये।

कास्पियन या वर्कान-सागर के पूरब मर्व प्रदेश तथा उस के दक्खिन वर्कान प्रदेश पर मिथ्रदात से पहले उस के भाई फ़्रावत (प्रथम) ने अधिकार कर लिया था; मिथ्रदात ने उस अधिकार को पक्का किया। इधर उस ने ईरान की पूरबी सीमा पर भी ध्यान दिया। लगभग १५५ ई० पू० में उस ने आरिया (हेरात) और अरखुसिया (हरउवती, आधुनिक कन्दहार) प्रदेश, जो प्रायः चालीस बरस पहले बाख्त्री के यवन शासक एवुथिदिम ने भारतीय राज्य से लिए थे, यूनानियों से छीन लिए। इस प्रकार फ़रात नदी से हरीरूद और अरगन्दाब तक

मिथ्रदात पार्थव का एकच्छत्र साम्राज्य हो गया, और समूचा फ़ारिस अब पार्थव अनुशासन में होने के कारण पार्थव देश (पार्थिया) कहलाने लगा। आगे कुछ समय तक हेरात और हरउवती प्रदेश पार्थव साम्राज्य में ही बने रहे।

भारतीय पुरातत्त्ववेत्ताओं का पहले यह विश्वास था कि मिथ्रदात ने भारत पर भी चढ़ाई की, और वितस्ता नदी तक का प्रदेश उस के अधीन हो गया था; किन्तु यह विश्वाश अब निर्मूल सिद्ध हो चुका है। इस का यह अर्थ है कि काबुल और कपिश प्रदेशों पर यवनों का अधिकार बना रहा। और खारवेल तथा पुष्यमित्र के समय चाहे उन्हें पञ्जाब से धकेल दिया गया था, तो भी पीछे अनेक उतार-चढ़ावों के बाद शाकल तक उन की सत्ता स्थापित हो गई। वायुपुराण[1] में उन्हें अल्पप्रसाद अनृत महाक्रोध अधार्मिक कहा है; वे मूर्धाभिषिक्त न होते, तथा स्त्रियों और बच्चों का वध करने में भी कुछ घृणा न मानते थे। सदा आपस में तुच्छता से झगड़ते रहने और लड़ाइयों में निर्घृण और नृशंस काम करने के लिए ये यवन सचमुच बदनाम हैं। मूर्धाभिषिक्त हुए बिना राज्य करना हमारे देश में निन्दनीय माना जाता था; अभिषेक करना एकराज्य के वंशागत राजाओं और संघ-राज्यों के चुने हुए राजाओं सभी के लिए आवश्यक था; अभिषेक में राजा प्रजा से प्रतिज्ञा करता और अपने दायित्व की ज़िम्मेदारी उठाता था। जान पड़ता है ये यवन राजा शुरू में अभिषेक न कराते, इसी लिए उन से घृणा की जाती थी।

बहुत थोड़े समय में यवनों के छोटे छोटे बहुत से राजा हुए। दिमेत्र इधर भारत में आया, और उधर पीछे एवुक्रतिद[2] नाम के एक

---

[1] ९९: ३८८—९०।

[2] Eukratides. हिन्दूकुश के दक्खिन यूनानी राजाओं ने अपने जो सिक्के चलाये उन पर एक तरफ़ यूनानी और दूसरी तरफ़ प्राकृत लेख

आदमी ने उस के राज्य का पच्छिमी भाग छीन लिया (लगभग १७५ ई० पू०)। भारत में भी एवुक्रतिद ने दिमेत्र और उस के उत्तराधिकारियों का पीछा किया। और यहाँ से जब वह (एवुक्रतिद) पच्छिम लौट रहा था, उसी के बेटे ने उसे मार डाला, और बाप के लहू में अपना रथ चलाया!

उधर पार्थव सम्राट पहले मिथ्रदात ने आरिया (हेरात) और अरखुसिया (हरउवती) के प्रान्त, जो लगभग चालीस बरस पहले एवथिदिम ने भारतीय राज्य से छीने थे, एवुक्रतिद से ले लिये (लग० १५५ ई० पू०)। इस प्रकार फ़रात (Euphrates) नदी से हरीरूद और अरगन्दाब तक पार्थवों का एकछत्र राज्य हो गया, और आगे कुछ समय तक हेरात और हरउवती के प्रान्त पार्थव-साम्राज्य में ही बने रहे। करीब इस समय या दस पाँच बरस पीछे एवुक्रतिद के बेटे हेलियक्रेय[1] से वाख्त्री का राज्य भी उत्तरपूरब की शक तुखार आदि जंगली जातियों ने छीन लिया[2]; और तब इन लोगों की राजसत्ता हिन्दूकुश के दक्खिन भारतवर्ष में ही रह गई।

यहाँ के यवन राज्यों को हम दो समूहों में बाँट सकते हैं, एक एवुक्रतिद के वंशज, दूसरे दिमेत्र के वंशज। इन में आपस की मार-काट छीनझपट लगातार जारी रहती। एवुक्रतिद-वंशजों के मुख्य अड्डे कापिशी, पुष्करावती और तक्षशिला थे, तथा दिमेत्र-वंशजों का शाकल।

कापिशी कपिश देश की राजधानी थी। आधुनिक काफ़िरिस्तान के पच्छिम की पञ्जशीर और घोरबन्द दूनें भी शायद उन दिनों कपिश देश में सम्मिलित रही हों। कापिशी की रमणीक पहाड़ी दूनें

रहता था, उन सिक्कों पर राजाओं के नामों के जो प्राकृत रूप हैं, रूपरेखा में सब जगह उन्हीं का प्रयोग किया गया है।

[1] Heliocles. [2] नीचे § १६२।

पाणिनी आचार्य के समय में और उस के पहले से अपने अंगूरों के लिए तथा माधवी लता के लिए प्रसिद्ध थीं। लम्पाक (लमग़ान) और नगरहार (निंग्रहार, जलालाबाद) के चौगिर्द के प्रदेश भी कापिशी के अधीन थे। यवन राजा कपिश में जो सिक्के चलाते थे, उन पर सिंहासन पर विराजमान काविसिए नगरदेवता (कापिशी की नगर-देवता) का चित्र और यूनानी तथा प्राकृत में राजा का नाम आदि रहता था।

पुष्करावती और तक्षशिला पच्छिमी और पूरबी गान्धार देश की राजधानियाँ थीं। पुष्करावती में शिव की पूजा विशेष होती थी, और इस लिए वहाँ के यवन सिक्कों पर भी नन्दी (शिव के बैल) का चित्र रहता था।

प्राचीन मद्र राष्ट्र की राजधानी शाकल (स्यालकोट) में भी अब यवन सत्ता स्थापित हो गई।

§ १५६ः मेनन्द्र

शाकल का यवन राजा मेनन्द्र बहुत प्रसिद्ध हुआ है। बौद्ध ग्रन्थों में उस का नाम मिलिन्द है। वह अलसन्द द्वीप में, अर्थात् काबुल पंजशीर नदियों के दोआब में जहाँ अलसन्द या अलक्सान्द्रिया नगर (आधुनिक चरीकर के पास कहीं) था, पैदा हुआ था। थेर नागसेन ने उसे बौद्ध धर्म की दीक्षा दी, जिस का वृत्तान्त मिलिन्द-पन्हो नाम के पालि ग्रन्थ में पाया जाता है। भगवान् बुद्ध ने बनारस में जो धर्मचक्र-प्रवर्त्तन किया था (§ ९०) उस का संकेत भारतीय शिल्पकला में सचमुच एक चक्र से किया जाता है। मेनन्द्र के सिक्कों पर वही धर्मचक्र बना मिलता है, और वह सिक्कों पर अपने को ध्रमिक (धार्मिक) अर्थात् बौद्ध मेनन्द्र कहता है।

वह बड़ा विजेता भी था। स्त्राबो के जिस कथन का ऊपर (§ १५२) निर्देश किया गया है, उस के अनुसार दिमेत्र या मेनन्द्र के समय यवनों की विजय सीमा सुराष्ट्र तक पहुँच गई थी। सुराष्ट्र का वह विजय बहुत सम्भव है कि मेनन्द्र ने ही किया हो, क्योंकि भरुकच्छ के बन्दरगाह में उस के सिक्के पहली शताब्दी ई० के अन्तिम भाग तक चलते रहने का उल्लेख है[1], और मध्यमिका-नगरी से भी उस के सिक्के मिले हैं[2]।

कहते हैं, मेनन्द्र इतना जन-प्रिय था कि उस के मरने के बाद उस के राज्य के नगरों के लोग उस की राख को अपने अपने यहाँ ले जाने की होड़ करते थे।

§ १५७. मालव और शिवि गण का प्रवास

वाहीकों (पंजाब और सिंध) के छोटे छोटे स्वतन्त्र गण-राज्यों को पहले तो सिकन्दर ने छेड़ा था, उस के बाद वे मौर्य साम्राज्य में मिल गये थे। अब साम्राज्य के टूटने पर जब फिर यवनों के हमलों के कारण उथल-पुथल हुई, तब दो एक प्रसिद्ध गणों को अपनी स्वतन्त्रता की

---

[1] एरुथ् सागर की परिक्रमा पृ० ४१। आजकल जिसे अंग्रेज़ी में अरब-सागर कहा जाता है उसे यूनानी और रोमन लोग एँरुथ् अर्थात् अरुण सागर कहते थे; आजकल का लाल सागर और फ़ारिस की खाड़ी भी उस के अन्तर्गत थी। लगभग ८० ई० में एक रोमन व्यापारी ने उस की परिक्रमा कर उस के प्रत्येक बन्दरगाह के व्यापार का ब्यौरा बारीकी से लिखा था, जिस का अंग्रेज़ी अनुवाद सौफ़ ने पेरिप्लस आफ़ दि इरीथ्रियन सी नाम से किया है (लंदन, १९१२)। प्राचीन भारत की आर्थिक जानकारी के लिए वह एक अद्वितीय ग्रन्थ है।

[2] श्रद्धेय ओझा जी को।

रक्षा के लिए पंजाब छोड़ जाना पड़ा। दक्खिन पंजाब में जिस मालव गण ने सिकन्दर का सख़्त मुकाबला किया था, उसे अब हम अपना देश छोड़ता पाते हैं।

मालवों का मूल घर रावी के निचले काँठे में कोट कमालिया के चौगिर्द था। सतलज के दक्खिन पूरबी पंजाब में भी एक मालवा प्रदेश है जिस में फ़ीरोज़पुर-लुधियाना ज़िले और पटियाला-नाभा रियासतों का कुछ अंश गिना जाता है। उस का नाम भी शायद मालवों के कुछ अरसा वहाँ बसने के कारण हुआ हो[1]। उस के अतिरिक्त राजपूताना और बुन्देलखण्ड के बीच जो प्रसिद्ध देश मालवा कहलाता है, उस का वह नाम तो निश्चय से मालवों के कारण ही हुआ है। किन्तु जिस युग का वृत्तान्त अभी कहा जा रहा है, उस युग तक—अर्थात् लगभग १५० ई० पू० तक—मालव-गण उस मालवा में न पहुँचा था; और तब तक उस का पच्छिमार्ध (उज्जैन) अवन्ति, तथा पूर्वार्ध (विदिशा) आकर ही कहलाता था।

मालव गण उस समय आधुनिक जयपुर राज्य के दक्खिनी अंश में

---

[1]भा० भा० प० ९. १ पृ० ७०९ में डा० ग्रियर्सन लिखते हैं कि पंजाब के मालवा इलाके के साथ लगा हुआ भटिंडा के चौगिर्द का जंगल इलाका है, और वह मालवा शब्द जंगल के मुकाबले का है। सिक्ख शासन के समय उस जंगल के जितने अंश में माली बन्दोबस्त होता गया, वह मालवा बनता गया, और जो इलाका इस प्रकार आबाद न हुआ वह जंगल में ही रहा। यह व्याख्या मनोरंजक है, और शायद सच भी हो; पर इस की सचाई को परखना ज़रूरी है; कहीं यह उसी नमूने की गढ़ी हुई व्याख्या तो नहीं है जैसे टक्करी लिपि=ठाकुरों की लिपि?—ऊपर पृ० ११२। यदि गुरु गोविन्दसिंह के भ्रमणों के समय अथवा सिक्ख शासन से पहले किसी भी समय वह इलाका मालवा कहलाता रहा हो तो यह व्याख्या निश्चय से गलत होगी।

चम्बल के काँठे में स्थापित हो गया था। वहाँ नगर या कर्कोटक-नगर नाम की उस की बड़ी समृद्ध राजधानी थी, जिस के विस्तृत खँडहरों को अब भी जयपुर के उणियारा ठिकाने में ककोड़ नामक गाँव (टोंक से २५ मील द०द०पू० बूंदी से ४५ मील उ०उ०पू०) सूचित करता है। लगभग १५० ई० पू० के बाद के मालव गण के सिक्के इसी इलाके से पाये गये हैं[1]।

चित्तौड़ के पास नगरी से मझमिकाय सिविजनपदस—मध्यमिका के शिवि जनपद के—भी इसी युग के सिक्के मिले हैं। दक्खिनपच्छिमी पंजाब और उत्तरपच्छिमी सिन्ध का शिवि राष्ट्र तो प्राचीन इतिहास में प्रसिद्ध रहा है, परन्तु इधर मेवाड़ में भी एक शिवि उपनिवेश की सत्ता का पता केवल इन सिक्कों ने ही दिया है। ऐसा प्रतीत होता है—और इस के सिवाय और कोई व्याख्या हो नहीं सकती—कि मालव गण के साथ साथ शिवि गण या उस का एक हिस्सा भी इस समय पंजाब से उठ आया, और इधर राजपूताना में मालव गण के ठीक दक्खिन बस गया था।

§ १५८. गण-राज्यों का पुनरुत्थान-यौधेय राजन्य कुनिन्द आर्जुनायन वृष्णि आदि

उत्तरी राजपूताना या मत्स्य-देश में आर्जुनायन नाम का एक नया गण-राज्य उठ खड़ा हुआ, जिस का इलाका मालवों के ठीक उत्तर लगता होगा।

---

[1] आ० स० रि० १४, पृ० १२०-२१; क० सं० सि० सू० १, पृ० १६१, १७०-७४। सस्ती धातु के सिक्के अत्यन्त असाधारण अवस्थाओं के बिना अपने मूल अभिजन से दूर नहीं जा पाते; मँहगी धातुओं के—ख़ास कर सोने के—सिक्के भले ही विदेशी व्यापार के लिए दूर दूर तक पहुँचते हैं।

शाकल तक तो यवन राजधानियाँ स्थापित हो चुकी थीं, और जैसा कि हम अभी देखेंगे, शुंग साम्राज्य को पच्छिमी सीमा पुष्यमित्र के बाद मथुरा और उज्जैन तक रह गई थी। उन के बीच दक्खिनी और पूरबी पंजाब, पच्छिमी अन्तर्वेद, राजपूताना, सुराष्ट्र और सिन्ध में, जो प्राचीन गणराज्यों की मेखला थी[1], वहाँ फिर से अनेक गण-राज्य उठ खड़े हुए। उन में से कुछ पुराने ही थे, और कुछ नये बन गये। उन के इतिहास में नई बात यह हुई कि गणों की वह मेखला पंजाब से ज़रा पूरब और दक्खिन राजपूताना की तरफ़ सरक आई।

सतलज के निचले प्रवाह पर सुप्रसिद्ध यौधेय गण था। अब भी वह प्रदेश जोहियाबार कहलाता है। सिकन्दर क्योंकि सतलज तक न आया था, इस लिए उस की यौधेयों से मुठभेड़ नहीं हुई थी। शुंग-युग के यौधेयों के सिक्के पाये जाते हैं।

होशियारपुर से मथुरा तक राजन्य नाम के एक नये जनपद के सिक्के मिलते हैं, जिन पर किसी राजा या मुखिया का भी नाम नहीं, प्रत्युत केवल राजन्य जनपद का नाम लिखा होता है। उस के पड़ोस में काँगड़ा (उत्तरी त्रिगर्त्त देश) में औदुम्बर नाम का एक छोटा गण था, जो अपने सिक्कों पर विश्वामित्र ऋषि का चित्र छापता था। उस के सिक्के पठानकोट के अड़ोस-पड़ोस में पाये गये हैं।

राजन्य जनपद को दक्खिन तरफ़ आर्जुनायन राष्ट्र छूता होगा।

अम्बाला सहारनपुर देहरादून तथा उस के उत्तर पहाड़ी प्रदेश में कुलिन्द या कुनिन्द नाम का एक बहुत ही प्रसिद्ध और शक्तिशाली गणराज्य स्थापित हुआ। ब्यास से ले कर जमना की उत्तरपच्छिमी धारा टौंस नदी तक समूचा प्रदेश कुनिन्दों का था। कम से कम अगले

---

[1] ऊपर §§ ८०, १०८।

तीन चार सौ बरस तक वह कुनिन्द या कुलिन्द देश ही कहलाता रहा।[1]

इन के अतिरिक्त महाराज जनपद, त्रिक शालंकायन और वामरथ नाम के और गण-राज्य भी पंजाब में थे; पर उन का स्थान-निश्चय नहीं हो सका। महाराज जनपद के तो सिक्के पाये गये हैं, पर शालंकायन और वामरथ के नाम केवल कात्यायन और पतञ्जलि के व्याकरण-ग्रन्थों में मिले हैं।

सिकन्दर के समय सिन्ध नदी पर शौद्र नाम का जो गण था (ऊपर § १२४), वह भी अब फिर उठ खड़ा हुआ[2]।

सुराष्ट्र से सुप्रसिद्ध वृष्णि गण के लगभग १०० ई० पू० के दो सिक्के मिले हैं।

§ १५९. शुंग यवन सातवाहन और चेदि राजशक्तियों का समतुलन

दूसरी शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्ध तक वह राजनैतिक कशमकश समाप्त हुई दीखती है जो मौर्य साम्राज्य के टूटने से शुरू हुई थी, और तब इन युगों की नई राजशक्तियों में परस्पर समतुलन हुआ जान पड़ता है।

---

[1] म० भा० सभापर्व के अर्जुन के उत्तर-दिग्विजय प्रकरण में, जो कि दूसरी शताब्दी ई० पू० का सिद्ध हुआ है (दे० नीचे * २८), दिल्ली के ठीक उत्तर कुलिन्द विषय के राजाओं का उल्लेख है। रोमन ज्योतिषी और भूगोल-लेखक तोलमाय ने १५६ ई० के करीब अपने ग्रन्थ में इसी देश को कुलिन्द्रीन लिखा है।

[2] दिग्विजय-पर्व में सिन्धु तट पर रहने वाले महाबली ग्रामणीय और शूद्र आभीर गणों का उल्लेख है। म. भा. २. ३२. ९-१०।

शुंग राजाओं की वंशावली और राज्यकाल पुराणों के अनुसार इस प्रकार थी—

१. पुष्यमित्र—३६ बरस

२. अग्निमित्र—८ बरस

३. वसुज्येष्ठ (सुज्येष्ठ)—७ बरस

४. वसुमित्र (सुमित्र)—१० बरस

५. ओद्रक, आर्द्रक, अन्ध्रक या भद्रक—२ या ७ बरस

६. पुलिन्दक—३ बरस

७. घोष—३ बरस

८. वज्रमित्र—९ या ७ बरस

९. भाग (भागवत)—३२ बरस

१०. देवभूति—१० बरस

शुंगों का कुल राज्यकाल ११२ बरस।

जैन अनुश्रुति के अनुसार उज्जैन में पुष्यमित्र ने ३० बरस और उस के बाद बलमित्र-भानुमित्र ने ६० बरस राज्य किया; अर्थात् शुंगों ने कुल ९० बरस। बलमित्र और भानुमित्र सम्भवतः शुंग वंश के राजकुमार तथा उज्जयिनी में शुंगों के राजप्रतिनिधि थे।

अग्निमित्र पुष्यमित्र का बेटा तथा वसुमित्र पोता था, सो तो मालविकाग्निमित्र से प्रकट ही है। वसुज्येष्ठ शायद वसुमित्र का भाई हो, और जेठमित्र नाम से जो सिक्के मिलते हैं वे उसी के होंगे। कौशाम्बी के नज़दीक पभोसा (प्रभासगिरि) की चट्टान पर उदाक नामक राजा के समय का उस के सामन्त पंचाल देश के राजा आषाढ़सेन का एक अभिलेख है;[1] दूसरी तरफ़ विदिशा में राजा काशीपुत्र भागभद्र का उल्लेख करने वाला एक प्रसिद्ध अभिलेख है जिस की

---

[1] ए० इं० २, पृ० २४० प्र।

चर्चा अभी की जायगी। उदाक और भागभद्र दोनों की शिनाख्त पाँचवें शुंग राजा से करने की चेष्टा की गयी है, पर भागभद्र बहुत सम्भवतः नौवाँ राजा था। छठे सातवें आठवें राजाओं के कोरे नाम ही प्राप्त हैं। नौवें राजा भागवत शुंग का एक अभिलेख भी पाया गया है,[1] और काशीपुत्र भागभद्र भी सम्भवतः उसी का नाम था। दसवाँ राजा देवभूति बड़ा स्त्रैण था, और उस के अमात्य वासुदेव काण्व ने उसे मरवा कर मगध का राज्य अपने हाथ में ले लिया[2]।

इन शुंग राजाओं का राज्य पच्छिम में मथुरा तक था। पाटलिपुत्र के अलावा अयोध्या और विदिशा में भी वे रहते थे। विदिशा व्यापार और युद्ध के रास्तों का भारी नाका था। सातवाहनों की राजधानी पइट्ठान तथा भरुकच्छ शूर्पारक आदि बन्दरगाहों से आने वाले रास्ते उज्जैन पर मिलते, और फिर विदिशा भारहुत कौशाम्बी हो कर मगध की ओर बढ़ते थे। भारहुत (कारूष देश = बघेलखण्ड) कौशाम्बी (वत्स देश) अहिच्छत्रा (पंचाल देश) मथुरा (शूरसेन देश) आदि में शुंगों के सामन्त राज्य करते थे। जैन अनुश्रुति से यह सिद्ध होता है कि उज्जैन में भी इस युग के करीब अन्त तक उन्हीं का शासन बना रहा।

उत्तर के यवन राजाओं की दो शाखाओं की चर्चा हो चुकी है, किन्तु उन शाखाओं की भी अनेक प्रशाखायें हो गईं थीं। उन के जिन सब राजाओं के नाम सिक्कों से पाये गये हैं, उन तमाम का उल्लेख करना निरर्थक है। पिछले यवन राजाओं का शुंग सम्राटों के साथ अच्छा सम्बन्ध रहा दीखता है। तक्षशिला के राजा अन्तिअलिखित (Antialcidas) ने शुंग राजा भागभद्र के पास विदिशा में हेलिउदोर नाम का एक दूत भेजा था। उस दूत ने वहाँ भगवान्

---

[1]वहीं। [2]ह० च० पृ० १६६।

वासुदेव (विष्णु) का एक गरुडध्वज (पत्थर का थंभा जिस के ऊपर गरुड की मूर्त्ति थी) बनवाया था जो गरुड की मूर्त्ति के बिना अब तक मौजूद है। और उस पर निम्नलिखित लेख यूनानी मुहावरे की प्राकृत में खुदा है—

"देवों के देव वासुदेव का यह गरुडध्वज यहाँ बनवाया महाराज अन्तलिकित के यहां से राजा कासीपुत भागभद्र त्राता के—जो कि अपने राज के चौदहवें बरस में वर्धमान है—पास आये हुए तखसिला के रहने वाले दिये के पुत्र योनदूत भागवत हेलिउदोर ने।"[1]

एक शताब्दी के अन्दर इन भारतीय यवनों में किस प्रकार का परिवर्त्तन हो चुका था, सो इस लेख से प्रकट है। भागवत (वैष्णव) धर्म अश्वमेध पुनरुद्धार-युग में किस प्रकार ज़ोर पकड़ रहा था, सो भी इसी से सूचित है।

जहाँ मध्यदेश में शुंगो, उत्तरापथ में यवनों, और उन दोनों के बीच की मेखला में गणों के राज्य चल रहे थे, वहाँ दक्षिणापथ में सातवाहनों की सत्ता जारी थी। किन्तु राजाओं के अस्पष्ट नामों के सिवाय उन का कुछ भी समाचार दूसरी शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्ध में नहीं मिलता।

खारवेल ने जो तामिल राष्ट्रों पर अपना प्रभुत्व जमाया था, वह उस के पीछे टिका नहीं दीखता। दूसरी शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्ध (अन्दाज़न १४५ ई० पू०) में एक चोल विजेता ने सिंहल पर ८-१० हज़ार सेना के साथ चढ़ाई कर देवानं पिय तिस्स के वंशजों के हाथों से राज्य छीन लिया। उस तामिल विजेता का नाम तामिल में एळेलसिंगम् तथा सिंहली में एळार या एलाल है। एळार जैसा विजेता था, वैसा ही न्यायी शासक भी। उस के चालीस बरस के शासन के बाद विजय-वंश

[1] आ० स० इं० १९०८-९ पृ० १२८-२९।

के दुट्ठ गामणी अभय ने फिर अपने पूर्वजों का राज वापिस ले सिंहल को स्वतन्त्र किया। अभय अशोक की तरह बचपन में बड़ा उद्धत था। अपने पिता से लड़ने और भाई को हराने के कारण उसे दुट्ठ (दुष्ट) की उपाधि मिली थी। किन्तु एळार को जीतने और राज्य पाने के बाद उस ने अपने पिछले दुष्कर्मों को भुला देने वाले अनेक भले कार्य किये, और बौद्ध संघ को अनेक प्रकार के दान दिये। सिंहल इतिहास और जनश्रुति में उस का नाम आज भी विक्रमादित्य के नाम की तरह याद किया जाता है। उस ने अन्दाज़न १०४ से ७७ ई० पू० तक राज्य किया।

कलिंग का खारवेल अभी तक भारतीय इतिहास का एक धूमकेतु प्रतीत होता था। उस के बाद उस के वंश की केवल स्थानीय सत्ता कलिंग में रह गई, यही अब तक माना जाता था। किन्तु बिलकुल हाल में श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने शक-सातवाहन इतिहास पर जो नई रोशनी डाली है, उस में उन्हों ने यह स्थापना पेश की है कि पुराणों और जैन अनुश्रुति में शकों के आक्रमण के पहले उज्जयिनी में जिस राजा गर्दभिल्ल के चौदह बरस के राज्य का उल्लेख है, वह खारवेल का कोई वंशज था। बेशक, यह केवल कल्पना है, किन्तु यह जितनी कौशलपूर्ण है उतनी ही सम्भव भी है। पुराने इतिहास में इस से बड़ा सामञ्जस्य हो जाता है, इस लिए थोड़े बहुत परिवर्त्तित रूप में इस के सच निकल आने की बड़ी आशा है। पुराणों के अनुसार गर्दभिल्ल लोग आन्ध्रों के समकालीन थे और उन के सात राजाओं ने ७२ बरस राज्य किया था। जायसवाल जी का कहना है कि ये ७२ बरस खारवेल के समय से उज्जैन पर शकों के आक्रमण तक के समय (१७४—१०२ ई० पू०) को सूचित करते हैं; और यह ठीक वह समय है

जब कि दक्षिणापथ का सातवाहन वंश लगातार दबा हुआ जान पड़ता है[1]। यदि यह बात ठीक हो तो कहना होगा कि मौर्य साम्राज्य की उत्तराधिकारिणी दूसरी शताब्दी ई० पू० में लगातार चार शक्तियाँ बनी रहीं; और वे चार क्रम से मध्यदेश उत्तर दक्खिन और पूरब की—अथवा मध्यदेश गान्धार महाराष्ट्र और कलिंग की—शक्तियाँ थीं। और यदि खारवेल के वंशजों ने उस के जीते हुए प्रदेशों—अर्थात् आव राज्य मूषिक राष्ट्र और विदर्भ राष्ट्र—पर अपना अधिकार बनाये रक्खा हो, तो अन्तिम गर्दभिल्ल ने विदर्भ से माहिष्मती के रास्ते बढ़ कर उज्जयिनी को लिया होगा। उज्जयिनी का शुंगों के हाथ से निकलना शुंगों के पतन के प्रारम्भ का सूचक था। अभी तक कलिंग के चेदियों का राज्य उनके दक्खिनपूरब और दक्खिन लगता था, अब पच्छिम तरफ़ भी घिर आया। सातवाहनों के सब उत्तरी रास्ते चेदि-राज्य के इस प्रकार बढ़ने से बन्द हो गये और भारतीय राज्यों के समतुलन में विक्षोभ पैदा हो गया। किन्तु इस से पहले कि भारतवर्ष की शक्तियों के अन्दर पारस्परिक खलबली मचती, उत्तरपच्छिम में एक नई शक्ति प्रकट हो रही थी, जिस के सामने उत्तरापथ और मध्देश के पुराने राज्य उखड़ जाने को थे। उसी की तरफ़ अब हमें ध्यान देना होगा।

—०—

[1] ज० बि० ओ० रि० सो० १६, पृ० २०४—७।

ग्रन्थनिर्देश

पुराणपाठ सम्बद्ध अंश ।
अ० हि० अ० ८—पृ० २१६ तक, अ० ६—पृ० २३६ तक ।
कैं० इ० अ० १७, २१, २२ ।
रा० इ० पृ० २३५—६७ । खारवेल और सातकर्णि प्रथम को वे लग० ७५ ई० पू० का मानते हैं, इं० हि० का० १६२६ में रामाप्रसाद चन्द ने भी अपने लेख में वही मत प्रकट किया है । यह पुराना विवाद है; दे० ॐ २७ ।
अ० हि० द० अ० १. खंड ३-४ ।
जायसवाल—ब्राह्मण साम्राज्य के विषय में फिर से विवेचना, ज० बि० ओ० रि० सो० ४, पृ० २५७ प्र ।
हि० रा० अ० १८ ।
भण्डारकर—सातवाहन युग में दक्खिन, इं० आ० १६१८, पृ० ६६-७२ ।
आ० स० रि० १४, पृ० १३४ प्र ।

गणों और शुंगकालीन सिक्कों के विषय में उस के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थों में यथास्थान उल्लेख मिलेंगे—
वि० स्मिथ—कैटेलौग आव दि कौइन्स इन इंडियन म्यूज़ियम्, कैलकटा (कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय के सिक्कों की सूची), भाग १, आक्सफ़र्ड १६०७ ।
कनिंगहाम—कौइन्स आव एन्श्येंट इण्डिया (प्राचीन भारत के सिक्के) लंडन १८६१ ।
रैप्सन—इंडियन कौइन्स (भारतीय सिक्के), स्ट्रासबर्ग १८६८ ।

सातवाहन सिक्कों के विषय में—
रैप्सन—ए कैटालोग आव दि इंडियन कौइन्स इन दि ब्रिटिश म्यूज़ियम—

आन्ध्र डिनैस्टी, वेस्टर्न क्षत्रपस आदि (ब्रिटिश म्यूज़ियम लंडन के भारतीय सिक्कों की सूची—आन्ध्र वंश, पच्छिमी क्षत्रप आदि), लंडन, १९०८।

यूनानी निर्देशों के लिए—

मैक्रिंडल—एन्श्यंट इण्डिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड इन् क्लासिकल लिटरेचर (प्राचीन भारत यूनानी-रोमन वाङ्मय के वर्णनानुसार), लंडन १९०१।

तामिल राष्ट्रों और सिंहल के विषय में—

बिगिनिंग्स् अ. १, ८।

आरम्भिक सातवाहन अभिलेखों के विषय में—

आ० स० प० भा० ५।

शुंग अभिलेखों के निर्देश यथास्थान दिये गये हैं।

खारवेल का अभिलेख १९८४ वि० तक जैसा पढ़ा जा चुका था उस का पाठ जायसवाल जी ने ना० प्र० प० ८, पृ० ३१२ प्र में प्रकाशित कराया था; उस के बाद का संशोधन ज० बि० ओ० रि० सो० १९२८ पृ० १५०-५१ में। हाल में जायसवाल और राखालदास बैनर्जी ने ए० इं० जनवरी १९३० में उसे सम्पादित किया है। उन्हीं अन्तिम पाठों के अनुसार ऊपर के परिच्छेद लिखे गये हैं।

—०—

उन्नीसवाँ प्रकरण

सातवाहन और शक-पह्लव

(मध्य एशिया लग० १७५ ई० पू० से, भारत लग० ११० ई० पू० से लग० ५० ई०)

§ १६०. चीन की दीवार और हूण-शक देशों में उथलपुथल

प्राचीन चीन के उत्तर तातार जातियों का मूल घर है। जैसे ईरानियों को दाहों से वैसे ही चीनियों को उन जातियों से बहुत पुराने समय से वास्ता पड़ता था। चीनी लोग उन्हें हियंगनू कहते थे; पारसी हूनु संस्कृति हूण और अंग्रेज़ी हन सब उसी शब्द के रूपान्तर हैं। जिस चीनी सम्राट् शी-हुआंग-ती (२४६—२१० ई० पू०) ने समूचे चीन में एक राज्य स्थापित किया था[1], उसी ने उन के हमले रोकने के लिए चीन की उत्तरी सीमा पर समुद्र-तट से कानसू प्रान्त तक एक भारी दीवार बनवाना शुरू कर दिया था। चीन की उस दीवार ने संसार के इतिहास में एक भारी चक्कर चला दिया, क्योंकि उस के कारण हूण पच्छिम धकेले गये, और हूणों के पच्छिम बढ़ने से इतिहास में उन भारी उथलपुथलों का आरम्भ हुआ जिन का सिलसिला प्रायः आधुनिक युग तक चलता आया है।

---

[1]ऊपर §० १२६ अ—पृ २१७।

चीन के उत्तरपच्छिमी प्रान्त कानसू की जो एक बाँह सी तिब्बत के उत्तर से सिम् कियांग् तक बढ़ी हुई है, उस के पच्छिमी छोर पर तकला-मकान मरुभूमि के सीमान्त पर चीनी इतिहास के प्राचीनतम काल में एक जाति रहती थी जिसे चीनी इतिहास-लेखक ता-हिया कहते थे। आगे चल कर उसी प्रदेश में, अर्थात् तकला-मकान के दक्खिनी सीमान्त पर, नीया और चर्चन नदियों के काँठों में, युइशि जाति का उल्लेख मिलता है। ताहिया शान्तिपसन्द व्यापारी थे, युइशि विकट योद्धा। एक अरसा बाद चीन के उत्तर की जंगली जातियों ने चीन को अपने इन पड़ोसियों से अलग कर दिया, और ये जातियाँ कुछ दूर जा बसीं। युइशि हियंगनू के सब से बड़े शत्रु थे। १७६ ई० पू० में हियंगनू के राजा मो-तू या मादक ने चीन-सम्राट् के पास खबर भेजी कि उस ने युइशि और पड़ोसी जातियों को जीत लिया, तथा युइशि का अधिकांश अपना घर छोड़ थियान शान के दक्खिनी ढाल के साथ साथ पच्छिम चला गया। फिर १६५ ई० पू० में हियंगनू राजा लाओ-चांग् ने उन्हें दूसरी बार करारी हार दी, और उन के राजा को मार उस की खोपड़ी का प्याला बना लिया! विधवा रानी के नैतृत्व में अपने ढोरों-डंगरों को हाँकते हुए युइशि लोग थियान शान पार कर ईली नदी के काँठे में ईसिक-कुल झील पर आधुनिक कुलजा प्रदेश में जा पहुँचे। वहाँ उनकी वु-सुन जाति से मुठभेड़ हुई; वु-सुन के राजा को उन्हों ने मार डाला। वहाँ से उन की एक शाखा छोटे युइशि सीधे दक्खिन जा बसी। बड़े युइशि आगे पच्छिम बढ़ते गये, और उन्हों ने सीर दरिया के काँठे में सै-वांग् पर हमला किया। सै के कबीले तितर-बितर हो गये, और उन का राजा दक्खिन तरफ़ कि-पिन् अर्थात् कपिश देश को चला गया।

वु-सुन का जो राजा युइशि की लड़ाई में मारा गया था। उस के बच्चे को हूणों ने गोद ले लिया। १६० ई० पू० में वुसुन ने हियंगनू की मदद से युइशि पर हमला किया। युइशि लोग उस के बाद सीर के

दक्खिन चले गये; फिर वंक्षु नदी पार कर ताहिया के देश (बाख्त्री) में पहुँचे। "ताहिया लोग आरामतलब व्यापारी थे; लड़ाई के जीवन में कैसा रस और कैसा गौरव है, सो वे न जानते थे।" उन्हों ने आसानी से युइशि की अधीनता मान ली।

§ १६१. शक तुखार और ऋषिक

सै से अभिप्राय सीर काँठे के शकों से है, जिन्हें पुराने पारसी लोग सका तिग्रखौदा अर्थात् नुकीली टोपी वाले सक कहते थे[१]। चीनी भाषा में वांग् का अर्थ है स्वामी; चीनी सै-वांग् तथा संस्कृत का शकस्वामी या शक-मुरुण्ड एक ही बात है; मुरुण्ड एक शक शब्द का रूपान्तर है, और उस का भी वही अर्थ है—स्वामी।

चीनी इतिहासों से यह नहीं प्रतीत होता कि ताहिया लोग चीन के सीमान्त से उठ कर बाख्त्री तक कब और कैसे पहुँच गये; किन्तु युइशि के प्रायः साथ ही साथ उन्हें भी भागना पड़ा इस में सन्देह नहीं। कानसू सीमान्त के जिस प्रदेश को सब से पुराने चीनी ऐतिहासिकों ने ताहिया कहा है, उसी का नाम सातवीं शताब्दी में सुप्रसिद्ध चीनी बौद्ध यात्री य्वान् च्वाङ ने तुहुलो लिखा है; ताहिया को जिस प्रकार चीनी लेखक शान्तिप्रिय व्यापारी बतलाते हैं वैसे ही मध्यकालीन अरब लेखक तुखारों को; और बलख के चौगिर्द जिस प्रदेश को चीनी लेखक ताहिया कहते हैं वही अरब लेखकों का तुखारिस्तान है; इन कारणों से जर्मन विद्वान् मार्कार्ट ने यह तय किया था कि ताहिया, तुहुलो और तुखार एक ही शब्द के रूपान्तर हैं। दूसरे कुछ विद्वानों ने इस मत को स्वीकार नहीं किया था; किन्तु आगे की विवेचना से प्रकट होगा कि इस के सच होने में अब कोई सन्देह नहीं रह गया।

---

[१] ऊपर § १०४ इ।

ऐतिहासिक स्त्राबो ने लिखा है कि सुग्ध की तथा सीर पार शकों के देश की असि पसिश्रान तुखार और सकरौल (Asioi, Pasianoi, Tokharoi, Sakarauloi) नाम की जंगली फिरन्दर जातियों ने यूनानियों से बाख्त्री का राज्य छीना था। लातीनी ऐतिहासिक पौम्पेय त्रोगु (Pompeius Trogus) का इतिहास अब नष्ट हो चुका है; किन्तु उस के जो उद्धरण पाये जाते हैं उन से जाना जाता है कि दिश्रो-दोत को भी सरवुच (Saraucae) और असियान (Asiani) नामक एक जातियों से लड़ना पड़ता था, जिन्हों ने अन्त में सुग्ध और बाख्त्री को जीत लिया। त्रोगु आगे कहता है कि असियान तुखारों के राजा बन गये, और सरवुच नष्ट हो गये। मार्क्वार्ट का कहना था कि असि असियान और युइशि एक ही शब्द के रूपान्तर हैं, और असियान तुखारों के राजा बन गये यह कथन चीनी ऐतिहासिकों के इस कथन का कि युइशि ताहिया के राजा बन गये। इस स्थापना को भी सब विद्वानों ने स्वीकार न किया था, पर इस की भी सचाई अब पूरी तरह सिद्ध हो गई है।

युइशि और तुखार शकों से मिलती जुलती जातियाँ थीं। शक शब्द का बहुत बार व्यापक अर्थ में प्रयोग होता है; प्राचीन भारतवासी युइशि को शकों में ही गिनते थे। आधुनिक विद्वान् पहले इन जातियों को मंगोलवर्गीय समझते थे। किन्तु इस शताब्दी के आरम्भ से मध्य एशिया से इन जातियों की अपनी भाषाओं के भारतीय अक्षरों में लिखे पुराने लेख मिलने लगे, और उन से एकाएक यह सिद्ध हुआ कि शक तुखार और युइशि ये सब आर्य वंश की जातियाँ थीं। हम देख चुके हैं[1] कि सिम् कियांग की बस्तियों की एक परम्परा तकला-मकान के

[1]ऊपर § ७ उ—पृ० ३१-३२।

उत्तर तरफ़ है, और दूसरी दक्खिन तरफ़। उत्तरी बस्तियों को जब बाद में उइगूर-तुर्कों ने जीता, जब वे वहाँ की पहली भाषा को तुखारी कहते; वह तुखार जाति की थी; उस का नाम आधुनिक विद्वानों ने भी तुखार जाति के नाम से तुखारी अथवा कूचा शहर के नाम से कूची रक्खा है। दक्खिनी बस्तियों की भाषा का ठीक नाम खोतनदेशी है, क्योंकि वह खोतन के चौगिर्द बोली जाती थी। खोतनदेशी भाषा ईरान के उत्तर-पूरबी प्रान्त सुग्ध की भाषा से मिलती जुलती थी। युइशि लोगों की निश्चय से वही मातृभाषा थी। यह अचरज की बात है कि कूचा की तुखारी भाषा आर्यावर्त्त या ईरान की भाषाओं की अपेक्षा उन आर्यवंशी भाषाओं से अधिक मिलती थी जिन्हे प्राचीन इटली के रोमन लोग तथा आयर्लैंएड के केल्त लोग बोलते थे। प्राचीन शकों की बोली के विषय में विवाद है; कुछ विद्वानों का कहना है कि वे भी तुखारी बोलते थे; दूसरों का कहना है कि वे खोतनदेशी बोलते थे।

ताहिया या तुखार लोग शुरू में तकला-मकान के दक्खिनपूरब छोर पर रहते थे, और बाद में बाख्त्री तक पहुँच गये, किन्तु उन की भाषा के लेख पाये जाते हैं तकला-मकान की उत्तरपूरबी बस्तियों में। इस का स्पष्ट अर्थ यह है कि नीया और चर्चन के काँठों से वे उत्तरपच्छिम तुरफ़ान कूचा आक्सू आदि की तरफ़ जा बसे थे। और युइशि के प्रवास का रास्ता भी क्योंकि वही था, इस लिए वे भी उन की बस्तियों में से लाँघ कर और सम्भवतः उन्हें भी अपने साथ खदेड़ते हुए गये। जिस भाषा को उइगूर-तुर्क तुखारी कहते थे, और आधुनिक विद्वान् भी तुखारी कहते हैं, उस के अपने लेखों में उस का नाम आर्शी है। डा० स्टेन कोनौ ने मुइलर और मार्क्वार्ट के मत का अनुसरण करते हुए यह कहा कि आर्शी शब्द का असि-असियान शब्दों से सम्बन्ध है, और असि या

युइशि जब तुखारों के राजा बन गये तब उन का नाम उन की भाषा के नाम पर चपक गया[1] ।

हमारे पुराणों में प्राचीन भारत के युइशि राजवंश को तुखार कहा है। तुखारों में बस जाने और तुखारों के राजा होने से युइशि राजवंश का तुखार कहलाना स्वाभाविक था।

यह तो जाना गया कि युइशि एक आर्य जाति थे, किन्तु उन का अपना नाम क्या था सो हाल तक मालूम न हुआ था। रूपरेखा में प्राचीन काल का बड़ा अंश लिखा जा चुकने के बाद भूमिका खण्ड में जातीय भूमियों की विवेचना की आवश्यकता समझ कर जब उस के लिए खोज-पड़ताल की जा रही थी, तब वह नाम अचानक पाया गया। वह नाम है ऋषिक, और उस का महाभारत सभापर्व में अर्जुन के उत्तर-दिग्विजय-प्रसंग में उल्लेख है। वह उल्लेख उस समय का प्रतीत होता है जब कि वे अभी सिम् कियांग् में थे, जिस से यह सिद्ध होता है कि महाभारत का वह सन्दर्भ १६५ ई० पू० से पहले का है, और कि आर्यावर्त्त के लोग उन्हें उस समय भी जानते थे जब कि वे अपने मूल घर में रहते थे। इस से इस अनुश्रुति की पुष्टि होती है कि तरीम-काँठे में आर्यावर्त्तियों का प्रवेश अशोक के समय से शुरू हो चुका था[2]। ऋषिक या ऋषि का ही चीनी रूपान्तर उषि युशि या युइशि है। मार्कार्ट और मुइलर की स्थापनाओं की सचाई ऋषिक नाम के पाये जाने से पूरी तरह सिद्ध हो गई। आगे हम इस जाति को ऋषिक ही कहेंगे।

---

[1]भारतीय शक राजवंश और उन का सभ्यता के इतिहास में स्थान, मौडर्न रिव्यू, अप्रैल १९२१।

[2]ऊपर § १३२—पृ० ५६६—७१।

§ १६२. ऋषिक-तुखारों का कम्बोज-वाल्हीक पर दखल

(लग० १६०—१२५ ई० पू०)

समूचा पामीर बदख्शाँ और बलख इस समय से मध्य काल तक तुखार देश अथवा तुखारिस्तान कहलाता। इस का यह अर्थ है कि प्राचीन कम्बोज और वाह्लीक देशों को ऋषिक-तुखारों ने दूसरी शताब्दी ई० पू० के बीच के करीब दखल कर लिया। कम्बोज देश तब से तुखार देश बन गया; और क्योंकि ऋषिकों की राजधानी बदख्शाँ में थी इस लिए वह तो ठेठ तुखार देश समझा जाता रहा[1]।

बाख्त्री के यवन राज्य को शकों, तुखारों और ऋषिकों ने समाप्त कर दिया। वह घटना १६० ई० पू० के बाद हुई; चीनी ऐतिहासिकों के अनुसार १२८-२ ई० पू० तक युइशि लोग वंक्षु के उत्तर तरफ़ थे, किन्तु तब तक बाख्त्री ताहिया बन चुका था, अर्थात् यवन राज्य वहाँ से बहुत पहले समाप्त हो चुका था। उस के बहुत जल्द बाद ऋषिकों ने वंक्षु के दक्खिन का प्रदेश भी दखल कर लिया।

अभी कह चुके हैं कि तुखारों की भाषा प्राचीन रोमनों की भाषा से मिलती थी। यह एक मनोरञ्जक बात है इधर तुखार लोगों ने जब इस छोटे से यवन राज्य को समाप्त किया, उस के करीब ही करीब इधर पच्छिम में रोमन लोग तमाम यवन राज्यों को जीत रहे थे।

बाख्त्री के राज्य का टूटना यदि यवनों को भारतवर्ष के अन्दर धकेलने का कुछ कारण हुआ हो, और यवनों की लड़ाइयाँ पञ्जाब से

---

[1] रा० त० ४. १६३—६९ (ललितादित्य के उत्तर-दिग्विजय) में पामीर को कम्बोज कहा है, और बदख्शां को तुखार। तुखार साम्राज्य के युग में तो तुखार देश में बोलौर पामीर बदख्शां सभी गिने जाते, पर वह साम्राज्य टूट जाने के बाद वह नाम उस के केन्द्र-भाग पर चपका रह गया, और उसी प्रकार कम्बोज नाम भी एक अंश पर।

मालव और शिवि गण को, तो यह कहना होगा कानसू से जो जातियों की उथल-पुथल शुरू हुई उस की लहर उज्जैन के करीब तक पहुँची ! दूसरी तरफ़ उसी उथलपुथल ने सीर-काँठे से शकों को भी धकेल दिया था, और हम अभी देखते हैं कि वे लोग भी किस प्रकार चक्कर काटते हुए उज्जैन तक जा पहुँचे, और वहाँ पहुँच कर फिर ये दोनों लहरें किस प्रकार आपस में टकराईं ! चीन की दीवार के बाँध ने जिस धारा को टक्कर दी, उस ने दो शाखाओं में फट कर अपना ज़ोर सातवाहन राज्य के सीमान्त पर आ खारिज किया !

§ १६३. शकों की पार्थव राज्य से मुठभेड़

(लग० १६०—१२३ ई० पू०)

सीर के काँठे से शकों का राजा कपिश को भाग गया, और उन के कबीले तितरबितर हो गये थे। वहाँ से खदेड़े जा कर वे हिन्दूकुश पार कर भारत में नहीं घुसे, जिस से काबुल-दून का यवन राज्य बचा रहा। वे लूट-मार करते दक्खिनपच्छिम हेरात की तरफ़, और वहाँ से दक्खिन शकस्थान (सीस्तान) की पुरानी शक बस्ती में जाने लगे। वे प्रदेश पार्थव राज्य में थे। इसी कारण पार्थव राजाओं को शकों के प्रवाह को थामने के लिए विकट चेष्टा करनी पड़ी। पार्थव राजा फ़्रावत दूसरा शकों से लड़ता मारा गया (१२८ ई० पू०)। उस के उत्तराधिकारी राजा अर्त्तबान ने तुखारों पर चढ़ाई की; तब शकों ने उस के राज्य में घुस कर उसे उजाड़ा, लूट मार की, और अपने शकस्थान में वापिस आ गये। उधर तुखारों ने अर्त्तबान को मार डाला (१२३ ई० पू०)।

अर्त्तबान के उत्तराधिकारी मिथ्दात दूसरे के समय (१२३—८८ ई० पू०) शकों का पूरी तरह दमन किया गया। वह एक प्रबल शासक था, और वही पहला पार्थव राजा था जिस ने पुराने हखामनी राजाओं की पदवी राजाओं का राजा (क्षायथियानां क्षायथिय) फिर से धारण की।

इसी बीच कभी शकों का प्रवाह भारतवर्ष में पहुँचा। भारतवर्ष के शक शासक अपने को राजाधिराज कहते थे, इस लिए यह निश्चय है कि वे मिथदात दूसरे के बाद के थे, क्योंकि उसी के समय यह पदवी जारी हुई और उस के बाद ८८—५७ ई० पू० के बीच उस के पच्छिम (आर्मीनिया) और पूरब (शकस्थान) दोनों तरफ के भूतपूर्व सामन्तों ने अपना ली थी।

भारतीय शकों के सब पुराने लेखों में एक संवत् भी रहता है जो प्रसिद्ध शक-संवत् (७८ ई०) से बहुत पहले का है। एक अरसे तक यह बात भी पहचानी न गई थी कि उन सब लेखों में एक ही संवत् है; और भिन्न भिन्न लेखों की तिथियों को अलग अलग संवतों की मानते रहने से शक-युग का इतिहास हाल तक बहुत उलझा रहा। अब तक भी उस संवत् के आरम्भ की ठीक तिथि निर्विवाद निश्चित नहीं हुई, इसी से उस के इतिहास में अभी बहुत सा विवाद-ग्रस्त अंश बाकी है। विभिन्न विद्वान् उस संवत् के आरम्भ की तिथि लग० १५० ई० पू० से लग० ६० ई० पू० तक के बीच कहीं मानते हैं[1]। रूपरेखा में मैंने पहले डा० स्टेन कोनौ और वान विज्क का मत—८३ ई० पू०—स्वीकार किया था, किन्तु साथ ही यह लिखा था कि इस से जहाँ शक इतिहास में बहुत कुछ सामञ्जस्य हो जाता है वहाँ कुछ एक घटनाओं

[1] राखाल दास बैनर्जी—लग० १०० ई० पू० (इं० आ० १९०८, पृ० ६७); मार्शल—लग० ९५ ई० पू० (ज० रा० ए० सो० १९१४ पृ० ९८६); जायसवाल—१४५—१०० ई० पू० के बीच लग० १२० ई० पू० (ज० बि० ओ० रि० सो० १९२० पृ० २१) रैप्सन—लग० १५० ई० पू० (कैं० इ०, १९२२, पृ० ५७०); स्टेन कोनौ—८८—६० ई० पू० के बीच (ऐ० ओ० १९२४ पृ० ७४); कोनौ और वान विज्क—८३ ई० पू० (वहीं पृ० ८३)।

की तिथियाँ ठीक नहीं बैठतीं और विशेष कर नहपान[1] की तिथियों का उस संवत् पर न बैठाया जा सकना खटकता है। बिलकुल हाल में जब इधर मुझे कम्बोज और ऋषिक का पता मिला, तभी जायसवाल जी ने शक-सातवाहन इतिहास की नई विवेचना कर डाली, और डा० कोनौ के मत में एक स्पष्ट गलती दिखलाई है। जायसवाल जी की तिथि से उन घटनाओं का भी सामञ्जस्य हो जाता है जिन का डा० कोनौ की तिथि से न होता था। उन का कहना है कि शकों के इतिहास में १२३ ई० पू० सब से बड़े विजय का बरस था, और तभी उन के संवत् की स्थापना सम्भवतः हुई।

अध्यापक रैप्सन की यह स्थापना थी कि ८८—४७ ई० पू० के बीच पार्थव साम्राज्य की शिथिलता के समय ही उस के भूतपूर्व सामन्तों ने उस के पच्छिमी और पूरबी सीमान्तों पर राजाधिराज पद धारण किया। डा० कोनौ की युक्तिपरम्परा की यही बुनियाद है; किन्तु उन्हों ने रैप्सन की स्थापना को यह रूप दे दिया है कि ८८—५७ ई० पू० के बीच ही पुराने शक-संवत् का आरम्भ हुआ। जायसवाल कहते हैं कि उत्तर-पच्छिमी भारत में शक राजाधिराज ने ८८ ई० पू० के बाद सिर उठाया इस का यह अर्थ हर्गिज़ नहीं है कि पुराने शक संवत् की स्थापना भी तभी हुई। प्रत्युत पहले शक महाराजा के उत्तरपच्छिम भारत से जो लेख मिले हैं, उन में ५८ और बाद के संवत् हैं; इस का यह अर्थ है कि तब—अर्थात् शक महाराजा के उत्तरपच्छिम भारत में सिर उठाने के समय—८८ और ५७ ई० पू० के बीच कभी—पुराने शक संवत् को शुरू हुए ५८ बरस बीत चुके थे। इस लिए वह शकस्थान की किसी घटना का स्मारक संवत् था।

---

[1] नीचे § १६६।

§ १६४. शकों का भारत-प्रवास

(लग० १२३—लग० १०० ई० पू०)

शक लोग भारतवर्ष में कैसे आये इस पर जैन अनुश्रुति का कालकाचार्य-कथानक[1] प्रकाश डालता है। जायसवाल जी ने उस के एक नये रूप की ओर ध्यान दिलाया है, जो बड़ा मनोरञ्जक है।

राजा गर्दभिल्ल के अत्याचार से तंग आकर जैन आचार्य कालक उज्जैन से चला गया था। वह पारसकुल या पार्श्वकुल (फ़ारिस) पहुँच गया, और वहाँ साग कुल (शकों के कबीले के राज्य) में रहने लगा। वहाँ का सब से बड़ा राजा (परम सामी) साढाणुसाहि (साहानुसाहि—राजाओं का राजा) कहलाता। साहानुसाहि ने शक साहियों (सरदारों) के पास अपने दूत द्वारा एक कटारी भेजी, और कहला भेजा कि यदि उन्हें अपने परिवार बचाने हों तो अपने सिर काट भेजें, नहीं तो लड़ाई में सामने आवें! कालक ने उन से कहा—क्यों अपने को मरवाते हो, चलो, हिन्दुगदेस (सिन्ध) चलें। उन ९६ शक साहियों ने कालक की सलाह मान ली, और अपनी सेना सहित कालक के साथ भारत आये। सिन्ध से वे सुराष्ट्र पहूँचे। वहाँ शक वंश स्थापित हुआ। फिर दक्खिन गुजरात के राजाओं की मदद से उज्जयिनी पर आक्रमण किया।

जायसवाल का कहना है कि साहानुसाहि स्पष्ट ही मिथूदात दूसरा था, उसी ने वह पद पहले-पहल धारण किया था और शक सरदारों के पास कटारी इस लिए भेजी गई कि उन्हें अर्त्तबान को मारने का दण्ड दिया जाय।

रैप्सन का यह मत था[2] और कोनौ ने भी इसे अपनी युक्तिपरम्परा

---

[1] ज़ाइट ३४ पृ० २४८ प्र में याकोबी द्वारा सम्पादित।

[2] कैं० इ० पृ० ५६८।

की बुनियाद बनाया है कि मिथ्रदात दूसरे के शासन-काल के बाद पार्थव साम्राज्य का दण्ड शिथिल होने के समय ही शक लोग भारतवर्ष की ओर बढ़े। किन्तु साम्राज्य का शिथिल-दण्ड होना उस की उच्छृङ्खल प्रजा के बाहर प्रवास करने का कोई कारण नहीं हो सकता, उस के दण्ड का असह्य होना वैसे प्रवास का बहुत स्वाभाविक कारण प्रतीत होता है। और शकों ने भारत-प्रवास क्यों किया और कैसे किया, सो कालकाचार्य की कहानी से बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। यदि पुराने शक-संवत् की स्थापना शकों के इस प्रवास की किसी घटना से हुई हो तो भी उस के आरम्भ में १२३ ई० पू० से बहुत अन्तर न होगा।

जायसवाल जी की उक्त स्थापना मुझे बहुत ही युक्तिसंगत प्रतीत होती है, और इसी ने मुझे पुराना मत—८३ ई० पू० में शक संवत् का आरम्भ—छोड़ने को बाधित किया है।

§ १६५. पच्छिम भारत में शक राज्य

(लग० ११५—५८ ई० पू०)

शकस्थान से सिन्ध के पच्छिमी सीमान्त को सीधे लाँघ कर शकों का प्रवाह सब से पहले सिन्ध में पहुँचा। इस समय से वहाँ यवन राज-सत्ता का कोई चिन्ह नहीं रहता; स्पष्ट ही शकों ने वहाँ यवनों के और छोटे मोटे संघों के राज्यों को समाप्त कर दिया (अन्दाज़न १२०—११५ ई० पू०)। सिन्ध में शकों की सत्ता ऐसी जम गई कि बाद में पच्छिमी लोग उसे इन्दोस्कुथिया अर्थात् हिन्दी शकस्थान कहने लगे; पेरिप्लस के लेखक (८० ई०) ने उस का वही नाम दिया है। हिन्दी शकस्थान की राजधानी मीननगर सिन्धु नदी के किनारे कहीं थी। समुद्र-तट पर बर्बरक नाम का बन्दरगाह उस के नज़दीक ही था। इस के बाद जब भारत के दूसरे पड़ोसी प्रान्तों में शकों की सत्ता पहुँची, तब वहाँ उन के शासक क्षत्रप या महाक्षत्रप कहलाते, जिस का अर्थ है कि

वे स्वाधीन राजा नहीं प्रत्युत किसी राजा के अधीन प्रान्तीय शासक होते थे। सम्भवतः उन का अधिपति मीननगर का शक महाराजा ही होता था। इस प्रकार भारतवर्ष में सिन्ध प्रान्त शकों का अड्डा और आधार बन गया, और वहीं से वे दूसरे प्रान्तों की तरफ़ बढ़े।

जैसा कि कालकाचार्य-कथानक से प्रकट है, और जैसा स्वाभाविक था, सब से पहले उन्हों ने काठियावाड़ को दखल किया। वृष्णि कुकर आदि गण-राज्यों की वहाँ समाप्ति हो गई। कालक की कहानी के अनुसार सुराष्ट्र तक वे एक ही बरस में पहुँच गये, किन्तु इस घटना को हम अन्दाज़न ११०-१०५ ई० पू० में रख सकते हैं।

सुराष्ट्र और दक्खिन गुजरात से उन्हों ने उज्जयिनी पर हमला किया जो भारतवर्ष की अनुश्रुति और दन्तकथाओं में बहुत ही प्रसिद्ध है। और वहाँ लग० १०० ई० पू० में उन का राज्य स्थापित हो गया।

सुराष्ट्र और गुजराज के तट से क्षहरात क्षत्रप भूमक के बाण चक्र वज्र सिंहध्वज और धर्मचक्र चिन्हों वाले जो ताँबे के सिक्के मिले हैं, वे इसी युग के हैं। भूमक कौन था इस पर बड़ा विवाद है। वह क्षहरात वंश का था जिस वंश का महाक्षत्रप नहपान तथा मथुरा के क्षत्रप और महाक्षत्रप भी थे। रैप्सन के अनुसार भूमक नहपान से पहले था। उस के सिक्कों में तथा नहपान के और मथुरा के क्षहरात क्षत्रपों के सिक्कों में भी सदृशता है। नहपान और मथुरा के क्षहरातों का हम अभी उल्लेख करेंगे। इन सब कारणों से भूमक को पहली शताब्दी ई० पू० के आरम्भ में रखना पड़ता है।

§ १६६. महाक्षत्रप नहपान

(लग० ८२—७७ ई० पू०)

जैन अनुश्रुति में उज्जयिनी के राजाओं में विक्रमादित्य से ठीक पहले और गर्दभिल्ल के पीछे (कहीं गलती से उस से पहले) नहवाण नहवाहण या

नरवाह का ४० या ४२ वरस का राज्य लिखा है। पुराणों में शुंगों के अन्तिम समय के उन के समकालीन विदिशा के शासकों में दूसरे को नखपान (वा० पु० की एक प्रति में नखपान) का पुत्र या वंशज (नख-वानजः) कहा है। जायसवाल का कहना है कि नहवाण नखपान नखवान आदि सब उस सुप्रसिद्ध क्षहरात वंश के शक क्षत्रप नहपान के नाम के रूपान्तर हैं, जिस के सम्बन्ध के सात अभिलेख और हज़ारों सिक्के पच्छिम भारत से पाये गये हैं, तथा जिस के वंश का उन्मूलन गौतमीपुत्र सातकर्णि ने किया।

नहपान के जामाता उषवदात शक के अभिलेख मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण हैं। इन से न केवल इस युग के राजनैतिक प्रत्युत आर्थिक राज्यसंस्थापरक सामाजिक और धार्मिक इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है। नासिक के पास गुहा सं० १०[1] के वरांडे की दीवार पर छत के नीचे उस का एक लेख यों है—

"सिद्धि हो। राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता, दीनीक के बेटे, तीन लाख गौओं का दान करने वाले, बार्णासा (नदी) पर सुवर्ण-दान करने और तीर्थ (घाट) बनवाने वाले, देवताओं और ब्राह्मणों को १६ ग्राम देने वाले, समूचे बरस लाख ब्राह्मणों को खिलाने वाले, पुण्य तीर्थ प्रभास में ब्राह्मणों को आठ भार्यायें देने वाले[2], भरुकछ दशपुर गोवर्धन और शोर्पारग में चतुःशाल (चौकोर या चार कमरों वाली) वसध (सरायें) और प्रतिश्रय देने वाले, आराम तडाग

---

[1]इन गुहाओं का पहला वर्णन बम्बई गजेटियर १६ (नासिक) पृ० ५४४ प्र में भगवानलाल इन्द्रजी ने किया था, और गुहाओं की संख्याय उन्ही के संकेतानुसार बर्ती जाती हैं। आ० स० प० भा० ४, पृ० ३७ प्र में उन का विवेचनापूर्ण वर्णन है।

[2]अर्थात् आठ स्त्रियों के विवाह का खर्चा देने वाले।

उदपान (कुएँ या बावड़ियाँ) बनवाने वाले, इबा पारादा दमण तापी करवेणा दाहानुका (नदियों पर) नावों से पुण्य तर (मुफ़् उतारे का प्रबन्ध) करने वाले, और इन नदियों के दोनों तीर सभा और प्रपा (प्याऊ) बनवाने वाले, पींडितकवाड गोवर्धन सुवर्णमुख (तथा) शोर्पारग के रामतीर्थ पर (की) चरकों की परिषदों को नानंगोल ग्राम में बत्तीस हज़ार नारियल की पौद देने वाले[1] धर्मात्मा उषवदात ने गोवर्धन में त्रिरश्मि पहाड़ पर यह लेण बनवाई, और पोढियाँ (पानी जमा रखने के निसार) ।"

लेख के इस पहले अंश में उषवदात का प्रथम पुरुष में उल्लेख है। पीछे टांके हुए लेख में वह उत्तम पुरुष में कहता है—"और भट्टारक (स्वामी) की आज्ञा पा कर वर्षा ऋतु में मालयों द्वारा घेरे हुए उत्तमभाद्र को छुड़ाने गया हूँ। और वे मालय प्रनाद (मेरे पहुँचने के हल्ले) से ही भाग गये, और उत्तमभाद्र क्षत्रियों के परिग्रह (कैदी) किये गये; तब मैं पोक्षरों को गया हूँ, और वहाँ मैंने अभिषेक (स्नान) किया, तीन हज़ार गौएँ और गाँव दिया ।"

लेख के अन्त में फिर यह बढ़ाया है—"और इस ने वाराहिपुत्र अश्विभूति ब्राह्मण के हाथ में चार हज़ार काहापणों के मूल्य से खरीदा खेत दिया, कि इस से मेरे लेण में रहने वाले चातुर्दिश भिक्षुसंघ को भोजन मिलता रहेगा ।"[2]

पोक्षर अर्थात् पुष्कर में उषवदात के नहाने जाने का ही यह अर्थ नहीं कि वह नहपान के राज्य में था । किन्तु लेख में उल्लिखित अन्य सब

---

[1] अर्थात् नारियल की पौद नानङ्गोल ग्राम में दी गई; और जिन परिषदों को वह दी गई वे पींडितकवाड में गोवर्धन में सुवर्णमुख में, तथा शोर्पारग के रामतीर्थ में रहती थीं। नानंगोल=नार्गोल, संजाना के पास ।

[2] ए० इं० ८, पृ० ७८ ।

स्थान नहपान के अधीन रहे प्रतीत होते हैं। बार्णासा=पर्णासा या बनास नदी;—बनास दो हैं; यहाँ उस से अभिप्राय दीखता है जो आबू से निकल कच्छ के रन में गिरती है, प्रभास=सोमनाथ पाटन, सुराष्ट्र में; भरुकच्छ स्पष्ट है; एक जैन अनुश्रुति से जिस का आगे[1] उल्लेख किया जायगा पता मिलता है कि वही नहपान की राजधानी थी। दशपुर=दासोर, जिस का फ़ारसी रूप मन्दसोर नक्शों में अधिक प्रचलित है; किन्तु और भी कई दशपुर हैं। गोवर्धन नासिक का नाम है सो इसी लेख के पिछले अंश से प्रकट है। शोर्पारग=सोपारा, कोंकण में। पारादा=पारदी या पार नदी सूरत ज़िले में; दमण=दमनगंगा दमन के पास; तापी स्पष्ट है; दाहानुका=ठाना ज़िले में दाहानु की नदी। मालय=मालव लोग जिन का गण अब उत्तरी राजपूताना में था; शकों के साथ उन की लड़ाई होने की बात ध्यान देने योग्य है।

उसी लेण के बरांडे में दाहिने और बायें तरफ़ की कोठरियों के दरवाजों के ऊपर दो छोटे लेख यों हैं—"सिद्धि हो। राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान की बेटी, दीनीक के बेटे उषवदात की कुटुम्बिनी दखमित्रा का देय-धर्म (दान) (यह) ओवरक (कोठरी)।"[2]

बायीं कोठरी वाले इस लेख के ठीक नीचे उषवदात के दानों का एक और महत्त्वपूर्ण लेख है[3], और उस में ४१, ४२ तथा ४५ वें वर्ष दर्ज हैं। लेण के आँगन की दाहिनी दीवार पर एक खण्डित लेख[4] में उषवदात के और दान दर्ज हैं—"चेछिम में दाहूनक नगर में······ कंकापुर में······उजेनि की शाखा (नामक स्थान) में······समूचा बरस

---

[1] § १७०।

[2] ए० इं० ८, पृ० ८१, ८५।

[3] वहीं। दे० नीचे § १६२ इ।

[4] वहीं, पृ० ८४-८६।

एक लाख ब्राह्मण भोजन पाते हैं……३ लाख गाय ब्राह्मणों को दीं, १६ गाँव; बणासा नदी पर सुवर्ण और तीर्थ का दान…… ।"

उजेनि अर्थात् उज्जयिनी निःसन्देह नहपान के राज्य में थी।

पूना के पास कार्ले के लेण में उषवदात या ऋषभदत्त का एक और दान दर्ज है[1]; और वहीं उस के बेटे मित्रदेवणक का भी[1]। जुन्नर की लेण में नहपान के अमात्य वत्स गोत्र के अयम का दान दर्ज है, और उस लेख में नहपान को महाक्षत्रप कहा तथा ४६ संवत् दिया है[2]।

इन सब लेखों से प्रकट है कि काठियावाड़, गुजरात, कोंकण, पच्छिमी महाराष्ट्र और पच्छिमी मालवा सब नहपान के अधीन था। उस इलाके का उत्तरी अंश शकों ने गण-राज्यों से छीना होगा और दक्खिनी शायद सातवाहनों से; केन्द्र का अंश—उज्जैन—राजा गर्दभिल्ल से।

इन लेखों में के ४१, ४२, ४५ और ४६ वें बरस किस संवत् के हैं, इस पर भारी विवाद रहा है। डा० भंडारकर, स्टेन कोनौ तथा कई दूसरे विद्वान् इन्हें दूसरे शक-संवत् का मानते हैं। हम देखेंगे कि गौतमीपुत्र सातकर्णि ने नहपान के वंश का संहार किया, उस के बाद उस का बेटा वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि हुआ, और कम से कम उस के समय तक सातवाहनों का उत्कर्ष बना रहा।[3] फिर शक-संवत् ५२ (१३० ई०) में कच्छ में महाक्षत्रप चष्टन या रुद्रदामा का राज्य था, और शक-संवत ७२ (१५० ई०) तक रुद्रदामा ने सातवाहनों के राज्य का बड़ा

[1] ए० इं० ७, पृ० ५६-५७।

[2] आ० स० प० भा० ४, पृ० १०३।

[3] नीचे §§ १७०, १७३।

अंश छीन लिया था[1]। यदि नहपान के बरस भी उसी शक-संवत् के हों तो उस के और रुद्रदामा के बीच बड़ा तंग अन्तर बचता है, जिस के अन्दर दो प्रमुख सातवाहनों के राज्य-काल को ठोक-पीठ कर भरना पड़ता है। नहपान और रुद्रदामा के लेखों में लिपि की दृष्टि से काफ़ी अन्तर है, और दोनों के समयों की इमारतों की शैली में भी। नहपान के सिक्कों की शैली मथुरा के पहले क्षत्रपों[2] की सी है। इन सब कारणों से राखालदास बैनर्जी दुब्रिऊल आदि विद्वानों ने नहपान के वर्षों को दूसरे शक-संवत् का हर्गिज़ नहीं माना। प्राचीन शक-संवत् की आरम्भ-तिथि का तब तक कुछ निश्चय न होने के कारण राखालदास उन्हें नहपान के राज्यवर्ष मानते रहे। और दुब्रिऊल तथा नीलकण्ठ शास्त्री विक्रम-संवत् के वर्ष।

डा० कोनौ ने जब यह घोषणा की कि सभी पुराने खरोष्ठी शक लेखों में एक ही संवत् है, और उस प्राचीन शक-संवत् का आरम्भ ८३ ई० पू० में निश्चित कर उन्हों ने समूचे शक इतिहास को उस नींव पर खड़ा किया, तब भी वे नहपान को उस ढाँचे में न रख सके। यह उन की स्थापना में एक बहुत बड़ी कमज़ोरी है। रूपरेखा में उन का समूचा ढाँचा स्वीकार करते समय भी इस अंश में मैंने उन का मत नहीं माना था, और राखाल बाबू के अनुसार नहपान के बरसों को उस के राज्य-वर्ष मानते हुए उसे पह्लव राजा अय और गुदुव्हर[3] का समकालीन माना था। नहपाल के बरस स्पष्टतः पुराने शकसंवत् के हैं, और अब जायसवाल के अनुसार लग० १२३ ई० पू० में उस संवत् का आरम्भ मानने से उन का उस युग के इतिहास में पूरा सामञ्जस्य हो जाता है।

---

[1]नीचे §§ १८२, १८३।

[2]नीचे § १६७।

[3]नीचे § १७२।

इस हिसाब से लग० ८२ ई० पू० से लग० ७७ ई० पू० तक पच्छिम भारत में नहपान का राज्य निश्चय से था। उस से पहले और पीछे कितने बरस उस ने राज्य किया सो नहीं कहा जा सकता। जैन अनुश्रुति उस का राज्यकाल जो ४० या ४२ बरस बतलाती है, सो सब उसी का न हो, और उस में उस के एकाध वंशज या उत्तराधिकारी का राज्यकाल भी मिला हो, सो भी सम्भव है।

§ १६७. मथुरा में शक क्षत्रप

(लग० ९८—५७ ई० पू०)

यह निश्चय मानना चाहिए कि उज्जैन से ही शक सत्ता मथुरा की तरफ बढ़ी और फैली। दोनों जगह एक ही क्षहरात वंश था। उज्जैन से एक रास्ता विदिशाकौशाम्बी की तरफ जाता था, दूसरा मथुरा-अहिच्छत्रा की तरफ। शायद चण्ड प्रद्योत के समय से उज्जैन और मथुरा का राजनैतिक सम्बन्ध चला आता था[1]। अब भी उज्जैन जीतने के बाद शकों ने मथुरा पर अधिकार कर लिया, और उन के क्षत्रप-महाक्षत्रप वहाँ राज्य करने लगे। शक क्षत्रपों के जो सिक्के मथुरा से पाये गये हैं, बनावट और नमूने में वे शुंगों के पञ्चाल (अहिच्छत्रा) और मथुरा वाले सिक्कों के ठीक अनुरूप हैं[2]। इसी से यह परिणाम निकलता है कि मथुरा को शकों ने सीधे शुंगों के हाथ से लिया। युग-पुराण[3] में भी शकों का आक्रमण शुंग-युग में ही बतलाया है।

सिक्कों और अभिलेखों के आधार पर मथुरा के क्षत्रपों का क्रम इस प्रकार बनता है—

---

[1] ऊपर § ६६।

[2] भा० मु० §§ ३३, ५२, ५३।

[3] ज० बि० ओ० रि० सो० १९२८, पृ० ४०० प्र में सम्पादित।

१. हगमाश और हगान (अन्दाज़न ९८ ई० पू० से),

२. युवराज खरओस्त और उस का जामाता रञ्जुबुल या रजुल (अन्दाज़न ९०—८५ ई० पू०),

३. रजुल का बेटा शोडास जो सं० ४२ (लग० ८१ ई० पू०) में महाक्षत्रप था,

४. महाक्षत्रप मेवकि ।

हगमाश और हगान के तथा भूमक के सिक्कों में सदृशता है। रञ्जुबुल न केवल शुंगों के प्रत्युत पूरबी पंजाब के अन्तिम यवन राजा स्त्रत (Strato) दूसरे के सिक्कों की भी नकल करता है; इस से जान पड़ता है कि मथुरा से इन शकों ने पंजाब की तरफ़ भी अपना राज्य बढ़ाया, और पूरबी पंजाब में यवन राज्य का अन्त कर दिया।

सन् १८६९ में पं० भगवानलाल इन्द्रजी को मथुरा में सीतला माई के एक चबूतरे की सीढ़ियों में दबा हुआ एक सिंहध्वज मिला था, जिस की सिंह मूर्त्तियों पर आगे पीछे तथा नीचे कई पंक्तियों में एक खरोष्ठी लेख था। उन पंक्तियों का क्रम मिलाना और उन्हें परस्पर जोड़ना भी एक बड़ी समस्या थी। मथुरा के शकों के इतिहास के लिए वह लेख बड़े काम का है। पिछले साठ बरस में अनेक विद्वानों ने उस लेख को पढ़ने और उस का अर्थ करने के जतन किये हैं। डा० स्टेन कोनौ ने जो उस की अन्तिम व्याख्या की है, उस के अनुसार उस लेख का अभिप्राय यों है[1]—

"महाक्षत्रप रजुल की अग्र-महिषी, युवराज खरओस्त की बेटी··· की माँ, अयसिअ[2] कमुइअ[3] ने अपनी माँ···दादी···भाई···और

---

[1]भा० अ० स० २, १, पृ० ४८-४९।

[2]खरोष्ठी लेखों में ह्रस्व दीर्घ का भेद न होने से नाम का ठीक रूप निश्चित नहीं किया जा सकता।

[3]अर्थात् कम्बोज देश की।

भतीजी सहित राजा मुकि और उस के घोड़े की भूषा कर के शाक्य-मुनि बुद्ध का शरीर-धातु प्रतिष्ठापित किया, और स्तूप और संघाराम भी, सर्वास्तिवादियों के चातुर्दिश संघ के परिग्रह के लिए।

युवराज खरओस्त कमुइअ ने कुमार······को भी इस कार्य में सहमत किया। महाक्षत्रप रजुल के बेटे क्षत्रप शुडस ने गुहाविहार को यह पृथिवी-प्रदेश दिया, महाक्षत्रप कुसुलुक पतिक मेवकि मियिक क्षत्रप की पूजा के लिए, सर्वास्तिवादियों के परिग्रह में, सब बुद्धों धर्म और संघ की पूजा के लिए, समूचे सकस्तान की पूजा के लिए······।"

इस लेख में महाक्षत्रप रजुल तथा क्षत्रप शुडस की चर्चा है। खरओस्त इस क्षत्रप वंश का नहीं, शक महाराजा का युवराज दीखता है। मथुरा से पाये गये एक और प्रसिद्ध ब्राह्मी लेख में महाक्षत्रप शोडास का उल्लेख इस प्रकार है[1]—

"अर्हत् वर्धमान को नमस्कार। स्वामी महाक्षत्रप शोडास के (राज्य में) ४२वें[2] बरस में हेमन्त के दूसरे मास के ९वें दिन हारिती के पुत्र पाल की भार्या श्रमणों की श्राविका (उपासिका) कोछी (कौत्सी) अमोहिनी ने अपने पुत्रों--पालघोष प्रोष्ठघोष धनघोष—के

---

[1]ए० इं० २, पृ० १९९।

[2]इस अंक पर बड़ा विवाद है। बुइलर ने ४० २ पढ़ा था; लुइडर्स ने उसे ७० २ (=७२) पढ़ने का प्रस्ताव किया; रैप्सन ने कैं० इ० में ४२ ही माना; कोनौ ने ऐ० ओ० में लिखा कि रैप्सन से यह चूक हो गई है कि उन का लुइडर्स के संशोधन की ओर ध्यान नहीं गया। भा० अ० स० २, १ में भी कोनौ ने उसे ७२ संवत् ही माना है। लैनमन-अभिनन्दन ग्रन्थ में रैप्सन लिखते हैं कि उन से चूक नहीं हुई, वे ४२ ही पढ़ते हैं। जायसवाल आग्रहपूर्वक कहते हैं कि पहला चिन्ह ७० का नहीं, ४० का है (ज० बि० ओं० रि० सो० १९, पृ० २४९) मैंने सन् १९२२

साथ आर्यवती प्रतिष्ठापित की। आर्यवती अर्हत की पूजा के लिए (है)।"

इस प्रकार ४२वें बरस अर्थात् लग० ८१ ई० पू० में शोडास मथुरा प्रदेश का महाक्षत्रप था। हम ने देखा कि मथुरा के इन क्षत्रपों ने पूरबी पंजाब की तरफ़ भी अपनी सत्ता को बढ़ाया। इन क्षत्रपों के देश के ठीक उत्तर कुनिन्द गण का राज्य था, और पंजाब तथा अन्तर्वेद के बीच का ठीक रास्ता—अर्थात् कुरुक्षेत्र-अम्बाला-प्रदेश—उस गण के काबू में था। शक चाहे पंजाब की तरफ़ बढ़ते चाहे उत्तरी अन्तर्वेद की तरफ़, कुनिन्दों से उन की मुठभेड़ होना आवश्यक था। युगपुराण कहता है[1] कि शकों के आक्रमण के समय सब से अधिक मारकाट कुनिन्द देश में हुई, और वैसा होना सर्वथा स्वाभाविक था, क्योंकि कुनिन्दों के हाथ में भारतवर्ष का सब से अधिक महत्त्व का नाका था। वे मानों अन्तर्वेद के द्वारपाल थे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि

में श्रद्धेय ओझा जी के पास प्राचीन लिपियों का अध्ययन करते समय पहले अंक को ४० ही पढ़ा, पर साथ ही अपनी पोथी में यह दर्ज किया था कि ७० का भी भ्रम होता है। उस से ओझा जी का मत भी ४० के पक्ष में ही प्रतीत होता है।

डा० कोनो सब खरोष्ठी लेखों के बरसों को एक ही संवत् से मानने के बावजूद भी इस ब्राह्मी लेख की तिथि को दूसरे विद्वानों का अनुसरण करते हुए विक्रम संवत् का मानना चाहते हैं, जिस से इस लेख की तिथि १५ ई० उन की दृष्टि में शक इतिहास की घटनावली में एक निश्चित धुरी बन जाती है। किन्तु विक्रम या मालव संवत् का प्रयोग पांचवी शताब्दी से पहले के अभिलेखों में कहीं नहीं पाया गया।

[1] ज० बि० ओ० रि० सो० १६२८, पृ० ४१४। कुविन्द स्पष्ट ही कुनिन्द का अपपाठ है।

कुनिन्द आदि गणों के सिक्के १०० ई० पू० के बाद एकाएक बन्द हो जाते और कुछ समय बाद जा कर फिर प्रकट होते हैं।

§ १६८. मगध में काण्व राज्य

(७६ या ७३ ई० पू० से ३१ या २८ ई० पू०)

पौराणिक अनुश्रुति मगध में शुङ्गों का राज्य ११२ बरस का बतलाती है; उस के हिसाब से यदि शुङ्गों का राज्य १८८ ई० पू० में शुरू हुआ हो तो ७६ ई० पू० में पाटलिपुत्र में समाप्त हो गया। यह वह समय था जब प्रारम्भिक शकों का राज्य अपने उच्चतम उत्कर्ष पर पहुँचने वाला था। उज्जैन का प्रान्त शुङ्गों से सब से पहले छिना (लग० ११४ ई० पू०), उस के छिनने से दूसरी शताब्दी ई० पू० के भारतीय राज्यों का समतुलन डाँवाडोल हो गया सो कह चुके हैं (§ १५९)। उस के बाद एक तरफ़ मथुरा को तो शकों ने निश्चय से ले ही लिया, दूसरी तरफ़—यदि पुराणों का नखवान नहपान ही है तो कहना होगा कि—विदिशा भी उन से शकों के हाथ चली गई। और वे अपने दूर के प्रान्तों को न बचा सके, इस का फल यह हुआ कि उन के घर में भी क्रान्ति हो गई, और उन का बचा खुचा राज्य भी छिन्न-भिन्न हो गया। चार काण्वायनों ने केवल स्थानीय राजा के रूप में मगध का शासन किया। पुराणों के अनुसार उन की वंशावली यों है—

वासुदेव—९ बरस,

भूमिमित्र—१४ बरस,

नारायण—१२ बरस,

सुशर्मा—१० बरस।

"ये चार शुङ्गभृत्य काण्वायन ब्राह्मण राजा पृथ्वी को ४५ बरस तक भोगेंगे। ये धार्मिक राजा होंगे, और इन के सामन्त इस के आगे झुके रहेंगे। इन के बाद भूमि आन्ध्रों की हो जायगी।"

इन राजाओं के साथ साथ भूतपूर्व साम्राज्य के कुछ हिस्सों में अभी शुङ्ग राजाओं के वंशज राज करते रहे, क्योंकि आन्ध्रों ने जब मगध लिया तब उन के काण्वों और बचे-खुचे शुङ्गों दोनों से राज्य लेने का उल्लेख है।

§ १६९. गान्धार में शक राज्य

(लग० ७०—४० ई० पू०)

सिन्ध के सुराष्ट्र, सुराष्ट्र से कोंकण और उज्जैन, तथा उज्जैन से विदिशा और मथुरा शकों ने अपने राज्य को किस प्रकार बढ़ाया सो हम ने देखा। मथुरा से वे पंजाब की तरफ़ भी बढ़े। किन्तु यह बहुत संभव है कि पंजाब पर उन की चढ़ाई दो तरफ़ से हुई हो—एक मथुरा से उत्तर-पच्छिम, दूसरे सीधे सिन्ध के उत्तर-पूरब नदियों के प्रवाह से उलटे।

नमक की पहाड़ियों में जेहलम ज़िले के मैरा नामक गाँव के एक कुएँ में से सन् १८७५ से पहले एक शिला मिली थी जिस पर ५८ संवत् का खरोष्ठी लेख है। उस शिला के तीन टुकड़ों में से दो लाहौर-संग्रहालय में हैं, और तीसरे का अब कुछ पता नहीं है। किन्तु कनिंगहाम ने उस की छाप प्रकाशित की थी, और उस अस्पष्ट छाप में लेख का पहला शब्द मोअस प्रतीत होता है[1]। शक राजा मोअ या मोग का उल्लेख अभी किया जायगा। किन्तु यदि उस का नाम इस लेख में न हो तो भी शक संवत् के प्रयोग से सं० ५८ (=लग० ६५ ई० पू०) में केकय देश में शकों की सत्ता पहुँच जाना उस लेख से सिद्ध होता है। फिर हज़ारा ज़िले की अग्रोर (अत्युग्रपुर) दून में ओघी इलाके के शाहदौर गाँव से दो पंक्तियों का एक खरोष्ठी लेख मिला है, जिस में

[1] भा० अ० स० २. १ पृ० १२।

राजा दामिजद सक का नाम तथा ६० संवत् पढ़ा जाता है[1]। उस से सं० से अर्थात् लग० ६३ ई० पू० से पहले प्राचीन उरशा प्रदेश तक शकों का राज्य पहुँच जाना प्रकट होता है। ये लेख ५८ और ६० बरसों के हैं, पर उस से १०-१५ या २० बरस पहले ही उत्तर-पच्छिमी पंजाब शकों के हाथ चला गया हो, सो असम्भव नहीं है।

हज़ारा ज़िले की सुप्रसिद्ध प्राचीन बस्ती मानसेहरा से तथा अटक ज़िले में फ़तेहजंग के पास माहजिया गाँव से ६८ संवत् के लेख मिले हैं[2]। किन्तु इस इलाके से शकों का जो सब से प्रसिद्ध लेख मिला है वह ७८ संवत् का तक्षशिला के ताम्रपत्र वाला है। वह ताम्रपत्र प्राचीन तक्षशिला की किसी ढेरी (खेड़े, भीटे) में से मिला था। उस का सार यों है—

"सं० ७८ महाराज मसान् मोग के (राज्य में), क्षहरात चुक्ष का क्षत्रप लिअक कुसुलुक, उस का पुत्र पतिक, तक्षशिला नगर में, उत्तर तरफ़ पूरबी देश क्षेम नामक इस देश में, भगवान् शाक्यमुनि के अप्रतिष्ठापित शरीर (धातु) को प्रतिष्ठित करता है; एक संघाराम भी; सब बुद्धों की पूजा के लिए, माता-पिता को पूजते हुए, क्षत्रप और उस के पुत्र-दारों की आयु और बल की वृद्धि के लिए, उस के सब भाइयों ज्ञातियों और बन्धुओं को पूजते हुए। महादानपति पतिक की जउव[3] आज्ञा से, रोहिणीमित्र के द्वारा जो इस संघाराम में नवकर्मिक (कार्य-निरीक्षक) है। (पीठ पर) पतिक को, क्षत्रप लिअक।"[4]

---

[1] वहीं पृ० १६।

[2] वहीं सं० ११, १२।

[3] जउव शक सरदारों का एक पद था; यवुग उसी का रूपान्तर है; दे० नीचे § १७७।

[4] भा० अ० स० २, १ पृ० २८-२९।

इस लेख से प्रकट है कि गुजरात और मथुरा वाला क्षहरात वंश गान्धार में भी था। चुक्ष अटक ज़िले का आधुनिक चच्च प्रदेश माना गया है[1]; तक्षशिला चच से उत्तर-पूरब है ही। लिअाक कुजूलुक के सिक्के भी मिले हैं, और उस के नाम का ठीक रूप वही जान पड़ता है। उस के बेटे पतिक की मथुरा-सिंहध्वज-लेख वाले पूर्वोक्त महाक्षत्रप कुसुलुक पतिक से अनन्यता अब तक मानी जाती रही है। इस लेख में पतिक केवल पतिक ही है, क्षत्रप भी नहीं, मथुरा वाले लेख में वह महा-क्षत्रप बन गया है; इस लिए यह लेख उस से कुछ पहले का हुआ। अमोहिनी देवी का लेख सिंहध्वज-लेख से कुछ पीछे का है[2]। उस लेख को अपने अपने मत से ४२ या ७२ विक्रमी का मानते[3] तथा पुराने शक-संवत् के ७८ वें बरस के इस लेख को उस से पहले का मानते हुए विभिन्न विद्वानों ने अपने अपने ढंग से उस संवत् की आरम्भ-तिथि का अन्दाज़ किया है। इन लेखों के परस्पर-सम्बन्ध को उन्हों ने शक इतिहास की काल-गणना की धुरी मान रक्खा है[3]। किन्तु, जैसा कि ऊपर[3] कहा जा चुका है, अमोहिनी देवी का लेख विक्रम-संवत् का नहीं हो सकता, और न वह ७२ संवत् का है। फ्लीट ने दोनों पतिकों की अनन्यता स्वीकार न की थी;[4] हाल में जायसवाल जी ने आग्रह-पूर्वक कहा है कि मथुरा वाला महाक्षत्रप पतिक तथा तक्षशिला वाला पतिक दो अलग अलग आदमी हैं; दोनों के एक होने का रत्ती भर प्रमाण नहीं है। यही बात ठीक है।

अन्तिम यूनानी सिक्कों के नमूने पर बने हुए ऐसे सिक्के पंजाब से बड़ी संख्या में मिले हैं जिन पर लिखा रहता है—राजतिराजस महतस

---

[1]वहीं पृ० २५। [2]ऊपर § १६७—पृ० ७६६।

[3]दे० ऊपर, वहीं पृ० ७६७।

[4]ज० रा० ए० सो० १९१३, पृ० १००१।

मोअस। यह राजाधिराज महान् मोअ और तक्षशिला ताम्रपत्र का उक्त महाराज महान् मोग स्पष्टतः एक ही व्यक्ति हैं। मथुरा-सिंहध्वज वाला मुकि श्री राय भी शायद वही हो। यदि वैसा हो तो ४२ सं० से ७८ सं० तक लगातार उस का राज्य रहा। किन्तु उस के सिक्के केवल पंजाब से मिले हैं। और जैसा कि हम अलग दो परिच्छेदों में देखेंगे, ५७ ई० पू० के बाद शकों का राज्य केवल पंजाब-सिंध में ही बचा रह गया था।

मोग सिक्कों में तक्षशिला और पुष्करावती दोनों के यवन सिक्कों की नकल दीख पड़ती है, जिस से यह सिद्ध होता है कि पूरबी और पच्छिमी गान्धार में उसी ने यवन राज्य का अन्त किया। इस प्रकार पंजाब में यवन राज्य कुल एक या पौन शताब्दी के लगभग रहा।

शकों के पंजाब को जीत लेने के बाद भी काबुल में एक तुच्छ सा यवन राज्य तीन तरफ़ शकों और चौथी तरफ ऋषिक-तुखारों से घिरा हुआ और कुछ समय के लिए बचा रहा। शक ऋषिक तुखार पहले पहल यवन साम्राज्य के उत्तरपूरबी छोर पर उठे, और उस के हिन्दू-कुश के उत्तर के अंश को उखाड़ कर ऋषिक-तुषार तो वहीं बैठ गये, परन्तु शकों ने उस का घेरा कर के सिन्ध में उस के दक्खिनी छोर पर चोट की, और अन्त में सिन्ध-पंजाब के उस के दक्खिन-पूरबी अंशों को भी समाप्त कर उस के काबुल वाले टुकड़े के चारों तरफ़ ऋषिक-तुखार-शक कुण्डल बना दिया। सिन्ध से शकों ने एक और कुण्डल बनाना शुरू किया। सौवीर-सुराष्ट्र-उज्जैन से मथुरा और मद्र के रास्ते तथा सौवीर से केकय और गान्धार के रास्ते शक साम्राज्य के दो छोरों के पंजाब में आ मिलने से वह कुण्डल बना; और उस के खोल के बीच राजपूताना और दक्खिनपच्छिमी पंजाब में कुछ स्वतन्त्र गण-राज्य बचे रहे[१]।

---

[१] नीचे §§ १७१, १८३, १८४।

अमोर दून का ६० वें बरस का पूर्वोक्त लेख भारत में शकों के चरम उत्कर्ष के समय को सूचित करता है। वे लोग पहले पहल दूसरी शताब्दी ई० पू० के अन्त में भारत के पच्छिमी आँचल पर प्रकट हुए। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद पच्छिमी-खण्ड में किसी स्वतन्त्र मज़बूत बड़ी शक्ति का उदय न हुआ था; और उस पर मध्यदेश पूरब दक्खिन और उत्तर की शक्तियों के दाँत गड़े रहते थे, सो देख चुके हैं[1]। शकों ने उज्जैन ले कर अपने को पच्छिम खण्ड के स्वामी के रूप में स्थापित किया। पूरब या कलिंग के स्वामी उज्जैन की पहली लड़ाई में हारने के बाद ही भारतीय रंगस्थली के पर्दे के पीछे चले गये। उस के बाद शकों ने उज्जैन और सिन्ध से तीनों तरफ बढ़ना शुरू किया—दक्खिन के सातवाहनों से कोंकण और महाराष्ट्र का उत्तर-पच्छिमी अंश छीना; मध्यदेश के शुंगों से विदिशा और मथुरा प्रदेश ले लिये; और उत्तरापथ के यवनों से मद्र, केकय और गान्धार। शकों का साम्राज्य सिन्ध के मुहाने और सिप्रा के काँठे से एक तरफ़ सिना और दूसरी तरफ़ स्वात की दूनों तक पहुँच गया।

मध्यदेश का जो शुङ्ग-साम्राज्य शकों की चोटें खा खा कर टूट गया, और उत्तरापथ के जिस यवन साम्राज्य को उन्हों ने स्वयं उखाड़ फेंका, उन दोनों के बाकी टुकड़ों में ऐसी कुछ जान न बची कि वे फिर उठते। किन्तु दक्खिन के जिस सातवाहन राज्य को शकों ने पार्थव राज्य की तरह छेड़ा, उस में उस पार्थव राज्य की तरह ही दम मौजूद था; दूसरे, शक कुण्डल के बीच घिरे हुए गण-राज्य भी काफ़ी जानदार थे। इन्हीं तीनों तरफ़—दो किनारों तथा बीच—से शक साम्राज्य को वे चोटें लगीं जिन से वह केवल ४०-५० बरस के जीवन के बाद समाप्त हो गया। संवत् ६० के लेख के शीघ्र बाद सातवाहनों और

---

[1] ऊपर §§ १४७, १२६।

मालवों ने सुराष्ट्र उज्जैन और मथुरा से शकों को उखाड़ फेंका: केवल सिन्ध और गान्धार में तब शक राज्य बचा रह गया। उस के बाद सकस्तान और हरउवती में एक नया स्थानीय पह्लव राज्य स्थापित हुआ, जिस ने पूरब बढ़ कर गान्धार और सिन्ध के शक राज्य को भी अधीन कर लिया।

किन्तु उज्जैन मथुरा आदि में शक साम्राज्य समाप्त हो जाने के कम से कम तेरह बरस बाद तक भी गान्धार में महाराज मोग का आधिपत्य बना ही हुआ था, सो हम देख चुके हैं।

§ १७०. गौतमीपुत्र सातकर्णि और शकों का उन्मूलन
(लग० ७६—४४ ई० पू०)

"क्षहरातों के वंश को निरवशेष कर के" राजा गौतमपुत्र सातकर्णि ने फिर से सातवाहनों का राज्य और गौरव की स्थापना की।

नासिक ज़िले के जोगलथेम्बी नामक गाँव से सन् १९०६ में नहपान के १३२५० सिक्कों का ढेर पाया गया था। उन में से करीब दो तिहाई पर गौतमीपुत्र की फिर से छाप है। इस से यह निश्चित है कि नहपान के शीघ्र बाद उस इलाके पर गौतमीपुत्र का राज्य स्थापित हुआ। उस की माता गौतमी बालश्री ने अपने पोते वासिष्ठीपुत्र पुलुमायि के राज्य-काल में नासिक के तिरण्हु (त्रिरश्मि) पर्वत में एक लेण दान की, जिस के सम्बन्ध का उस का लेख उसी लेण की एक दीवार पर विद्यमान है। गौतमी बालश्री के मुँह से ही उस के बेटे का वृत्तान्त सुनना अधिक रुचिकर होगा।

"सिद्धि! राजा वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमायि के संवत्सर उन्नीसवें १०९, ग्रीष्म पक्ष दूसरे २, दिन तेरहवें १० ३ को राजाओं के राजा, गौतमी के पुत्र, हिमालय मेरु मन्दार पर्वतों के समान सार वाले, असिक असक

मुळक सुरठ कुकुर अपरांत अनूप विदभ आकर (और) अवंति के राजा, विझ छवत पारिचात सह्य कण्हगिरि मच सिरिटन मलय महिद सेटगिरि चकोर पर्वतों के पति, सब राजा लोगों का मंडल जिस के शासन को मानता था ऐसे, दिन कर की किरणों से विबोधित विमल कमल के सदृश मुख वाले, तीन समुद्रों का पानी जिस के वाहनों (युद्ध के घोड़ों) ने पिया था ऐसे, प्रतिपूर्ण चन्द्रमण्डल की श्री से युक्त प्रियदर्शन, अभिजात हाथी के विक्रम के समान उत्तम विक्रम वाले, नागराज के फण ऐसी मोटी मज़बूत विपुल दीर्घ शुद्ध भुजाओं वाले, अभयोदक देते देते (लगातार) गीले रहने वाले निर्भय हाथों वाले, अविपन्न माता की शुश्रूषा करने वाले, त्रिवर्ग (धर्म अर्थ काम) और देश काल को भली प्रकार बाँटने वाले (अर्थात् देश काल के अनुसार धर्म अर्थ और काम को यथोचित अनुपात में रखने वाले), पौर जनों के साथ निर्विशेष सम सुख दुःख वाले (अर्थात् पौरों के सुख में सुख और दुःख में दुःख मानने वाले), क्षत्रियों के दर्प और मान का मर्दन करने वाले, सक यवन पल्हवों के निषूदक, धर्म से उपार्जित करों का विनियोग करने वाले, कृतापराध शत्रुओं की भी अप्राणहिंसा-रुचि वाले (जान लेने को अनिच्छुक), द्विजों और अवरों (शूद्रों) के कुटुम्बों को बढ़ाने वाले, खखरात वंश को निरवशेष (नाम-निशान से रहित) करने वाले, सातवाहन कुल के यश के प्रतिष्ठापक, सब मंडलों से अभिवादित-चरण, चातुर्वर्ण्य का संकर रोक देने वाले, अनेक समरों में शत्रु-संघों को जीतने वाले, अपराजित विजय-पताका-युक्त और शत्रु जनों के लिए दुर्धर्ष सुन्दर पुर (राजधानी) के स्वामी, कुल-पुरुष-परम्परा से आये विपुल राज-शब्द वाले, आगमों के निलय, सत्पुरुषों के आश्रय, श्री के अधिष्ठान,··· एक-धनुर्धर (अद्वितीय धनुर्धर), एक-शूर, एक-ब्राह्मण, राम केशव अर्जुन भीमसेन के तुल्य पराक्रम वाले, नाभाग नहुष जनमेजय···ययाति राम अम्बरीष के समान तेज वाले,······श्री सातकर्णि की माता, सत्य-

वचन दान क्षमा अहिंसा में निरत, तप दम नियम उपवास में तत्पर, राजर्षि-वधू कहलाने योग्य सब कार्य करने वाली महादेवी गौतमी बालश्री का देयधर्म (दान)···त्रिरश्मि पर्वत के शिखर पर यह लेण। और इस लेण को महादेवी महाराज-माता महाराज-प्रपितामही देती है भदावनीय भिक्खु-संघ को। और इस लेण के चित्रण के लिए······ (दक्षिणा)-पथेश्वर······देता है त्रिरश्मि पर्वत के पच्छिम दक्खिन पासे पर के गाँव पिसाजिपदक (पिशाचीपद्रक) को ·····।"[1]

राजा सातकर्णि का चेहरा पूनों के चाँद की तरह प्रियदर्शन और खिले कमल की तरह मनोरम था कि नहीं इस विषय पर गौतमी बालश्री के साथ किसी का मतभेद हो सकता है, किन्तु उस के लेख में राजनैतिक इतिहास की जितनी बातों का उल्लेख है उन की सचाई में रत्ती भर भी सन्देह नहीं। गौतमी बालश्री ने अपने आरम्भिक जीवन में महाराष्ट्र की भूमि विदेशी म्लेच्छों से रौंदी जाती देखी होगी; उस के बेटे ने उसे स्वाधीन कर उस के गौरव को पुनः-प्रतिष्ठापित किया; उस के पोते के समय सातवाहनो का गौरव अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गया। यह लेख उस समय का है जब वह अपने पोते के राज्य के भी १९ बरस देख चुकी थी। इस बात को और उस के बेटे तथा पोते के वास्तविक कार्य को देखते हुए हमें कहना होगा कि इस लेख में उस वीर-प्रसविनी देवी का सच्चा आत्माभिमान हृदय के भावों से ओत-प्रोत अत्यन्त संयत भाषा में प्रकट हुआ है।

जिन देशों पर गौतमीपुत्र सातकर्णि का राज्य बतलाया गया है, उन में से असिक[2] की पहचान अब तक नहीं हो पाई; असक मुळक के विषय में भी बड़े बड़े अटकल लगाये गये हैं। एपिग्राफिया इंडिका में इस लेख

[1] ए० इं० ८, पृ० ६०।

[2] असिक का अर्थ किया गया है ऋषिक, और वह देश पच्छिम भारत

का सम्पादन करते हुए मो० सेनार ने लिखा था कि असक = अश्वक हो सकता है, और मुळक अन्धकार में छिपे हैं, भगवानलाल इन्द्रजी ने मुळक का अर्थ मुण्डक किया था पर वह ठीक नहीं है[1]। यह सब विवाद अब निरर्थक जान पड़ता है, क्योंकि असक और मुळक स्पष्ट ही प्राचीन अश्मक और मूळक[2] हैं, जिन में से मूळक की राजधानी प्रतिष्ठान ही सातवाहनों की राजधानी थी। कुकुर नाम का संघ कौटिल्य के समय में भी था[3], और वह सुराष्ट्र (काठियावाड़) और अपरान्त (कोंकण) के बीच अर्थात् दक्खिनी या पूरबी गुजरात में था सो इसी लेख से प्रकट है। गौतमीपुत्र का समूचे सुराष्ट्र को भी शकों से खाली कर देना महत्त्व की बात थी। अनूप का मूल अर्थ था कछार[4], और आयुर्वेद के ग्रन्थों में वही अर्थ अब तक पाया जाता है; किन्तु जिस प्रकार हिन्दी का बांगर शब्द अनेक बार हरियाना (कुरुक्षेत्र-प्रदेश) के बांगर के

में था यह सिद्ध करने को म० भा० का यह श्लोक उद्धृत किया गया है (वहीं पृ० ६२)—

काम्बोजा ऋषिका ये च पश्चिमानूपकाश्च ये।

—५. ४. १८।

काम्बोज और ऋषिक का अर्थ अब हमें मालूम है; इस लिए यदि इस श्लोक से यह सिद्ध होता हो कि वे पच्छिम भारत में थे तो भी यह कहना होगा कि म० भा० का यह प्रकरण गौतमीपुत्र सातकर्णि के दो शताब्दी पीछे का है जब कि काम्बोज और ऋषिक पच्छिम भारत में आ गये थे।

[1] वहीं पृ० ६२।

[2] ऊपर §§ ७५, ८२, ८४ उ—पृ० २८७, ३१२, ३१५, ३२८।

[3] ऊपर § १४३ इ—पृ० ६३१।

[4] दे० ऊपर ॐ २५—पृ० ६१४।

अर्थ में योगरूढि हो कर बर्त्ता जाता है, या पञ्जाबी द्वाबा जलन्धर-दोआब के अर्थ में, उसी प्रकार संस्कृति-प्राकृत का अनूप शब्द भी बहुत बार नर्मदा के कछार के अर्थ में बर्त्ता जाता है। यहाँ उस का वही अर्थ है। गौतमीपुत्र के हाथ में अश्मक और मूळक के अतिरिक्त विदर्भ भी था, इस का यह अर्थ है कि वह समूचे महाराष्ट्र का स्वामी था। और सुराष्ट्र की तरह आकर (विदिशा-प्रदेश) और अवन्ति (उज्जयिनी-प्रदेश) भी उस ने अधीन किये इस का यह अर्थ है कि शक क्षहरातों को उन के सभी अड्डों से उस ने उखाड़ डाला।

जिन पर्वतों का वह स्वामी था उन में से विभ्क (विन्ध्य) पारिचात (पारियात्र = पच्छिमी विन्ध्य[1]), सह्य और मलय स्पष्ट हैं। छवत या अछवत माने ऋच्छवत् = ऋक्ष पर्वत = सातपुड़ा[1]; कण्हगिरि या कृष्ण-गिरि महाराष्ट्र का वही पहाड़ है जिस में अब कान्हेरी की लेणें हैं। सिरिटन का अर्थ श्रीस्थान अर्थात् श्रीपर्वत या नाळमलै[2] हो ऐसी अटकल लगाई गई है; और चकोर पर्वत का नाम भी मार्कण्डेय पुराण[3] में श्री-पर्वत के साथ लिया गया है; पर सिरिटन = श्रीपर्वत कोरी अटकल है। मच और सेटगिरि के विषय में वैसी कोई अटकल भी अब तक किसी को नहीं सूझी। महिद उड़ीसा का सुप्रसिद्ध महेन्द्र पर्वत है[4]; हम देखेंगे कि गौतमीपुत्र के बेटे वासिष्ठीपुत्र के राज्य में आन्ध्र भी सम्मिलित था; और यहाँ इस लेख में महिद का उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि आन्ध्र और कलिंग पर सातवाहन आधिपत्य गौतमीपुत्र ने ही स्थापित किया। उस के घोड़ों ने तीन समुद्रों का पानी पिया था इस

---

[1] ऊपर § ३ पृ० ७। [2] ऊपर § ४—पृ० १२। [3] ५७. १५।

[4] रामायण ३. ४१. २१-२२ में पाण्ड्यकवाट के दक्खिन समुद्र में महेन्द्र पर्वत का उल्लेख है; किन्तु जहाँ तक मुझे मालूम है महेन्द्र पर्वत को उस तरफ़ रखने वाला वही एक निर्देश है।

से भी यह सिद्ध है कि पच्छिम दक्खिन तथा पूरब तीनों समुद्रों के बीच समूचा दक्खिन भारत उस के अधीन था।

अभयोदय देते देते गौतमीपुत्र के हाथ सदा गीले रहते थे, और प्रजा के सुख-दुःख में वह अपना सुख-दुःख मानता था, ये बातें उस समय की ठीक वस्तु-स्थिति को हमारे सामने चित्रित करती हैं; और इन से सूचित होता है कि जनता के हृदय में उस ने स्थान पाया था। कृतापराध शत्रुओं के भी प्राण लेने को अनिच्छुक—इस विशेषण में अशोक की शिक्षा का प्रभाव झलकता है; किन्तु यहाँ शत्रु से अभिप्राय अपने ही देश के उन अनेक छोटे राजाओं से प्रतीत होता है जिन्हें गौतमीपुत्र ने अधीन किया था; क्योंकि खखरातों का नाम-निशान मिटाने में तो उसे कुछ झिझक न लगी थी। चातुर्वर्ण्य का अर्थ है भारतीय समाज, और उस का संकर रोक देने का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि गौतमीपुत्र ने शकों के साथ विवाह आदि सम्बन्धों को भी रोकने की चेष्टा की थी। वास्तव में विदेशी आक्रान्ताओं का पूरा पूरा दमन करना उसे अभिष्ट था; उन्हें हराने के बाद उन्हें सामाजिक दृष्टि से भी गिराने का उस ने जतन किया।

गौतमीपुत्र का विशेषण राजराज भी ध्यान देने योग्य है। अशोक अपने लेखों में अपने को केवल राजा कहता है; यह राजाधिराज या राजराज विशेषण पुराने हखामनी सम्राटों की नकल पर पार्थव मिथ्रदात ने बर्त्ता, और फिर उस की नकल पर शक और भारतीय राजाओं ने।

श्वेताम्बर जैनों के आवश्यक सूत्र पर, जो कि उन के चार मूळ ग्रन्थों में से एक है, भद्रबाहुस्वामी-प्रणीत निर्युक्ति नामक भाष्य में, जिस का विद्यमान रूप अन्दाज़न पहली-दूसरी शताब्दी ई० है, एक पुरानी गाथा है; उस की व्याख्या में नहपान और गौतमीपुत्र की लड़ाई के विषय में दो एक मनोरञ्जक बातें हैं। उस की तरफ़ हाल ही में जायसवाल जी ने इतिहास के विद्यार्थियों का ध्यान खींचा है। उस के अनु-

सार, भरुयच्छ (भरुकच्छ) नगर में णहवाण नाम का राजा था जो कोष-समृद्ध (कोष का धनी) था, और पइठाण (प्रतिष्ठान) का राजा सालवाहन उसी प्रकार बल-समृद्ध (सेना में प्रबल) था। सालवाहन ने नहवाण की पुरी पर चढ़ाई की, किन्तु दो बरस उसे घेरे रखने के बाद उसे निष्फल लौटना पड़ा। उस के बाद सातवाहन ने अपने एक अमात्य से रुष्ट हो कर उसे निकालने का दिखावा किया, और नहवाण ने उस की बातों में आ कर उसे अपना अमात्य बना लिया। उस के कहने से नहवाण ने अपना सब धन देवकुल तालाब बावड़ी आदि बनवाने में और दान में खर्च कर दिया[1]। सालवाहन ने फिर भरुकच्छ पर चढ़ाई की, और नहवाण अपना कोष खाली होने से उस का मुकाबला न कर सका, और मारा गया।

नासिक की उसी लेण सं० ३ में गौतमीपुत्र के दो और अभिलेख भी हैं। एक में वह वैजयन्ती (=बनवासी, उत्तरी कनाडा ज़िले के सिरसी तालुका में) के विजयस्कन्धावार (विजयी सेना की छावनी) से गोवर्धन (नासिक) के अमात्य को आज्ञा भेजता है; दूसरे में गोवर्धन के अमात्य को 'राजा गौतमीपुत्र सातकर्णि और महादेवी जीवत्सुता राजमाता' की तरफ़ से आदेश है, और वह राज्य संवत्सर २४ का है[2]। इस से गौतमीपुत्र का कम से कम २४ बरस राज्य करना निश्चित है।

नहपान ने किसी संवत् के ४१ से ४६ वें बरस तक राज्य किया, उस के वंश को गौतमीपुत्र सातकर्णि ने निर्मूल किया, गौतमीपुत्र ने कम से कम २४ बरस राज्य किया, फिर उस के बेटे वासिष्ठीपुत्र ने भी कम से कम २४ बरस[3]—ये बातें अभिलेखों और सिक्कों से प्रकट हैं।

---

[1]उपवदात के बड़े बड़े दान शायद उसी सिलसिले में किये गये थे।
[2]ए० इं० ८, पृ० ७१, ७२। [3]नीचे § १७२।

नहपान का समय जो विद्वान् अब तक ४१—४६ शकाब्द (११९—१२४ ई०) मानते रहे हैं, उन्हें गौतमीपुत्र और वासिष्ठीपुत्र को भी दूसरी शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में रखना पड़ता है। पुराणों की आन्ध्र-वंश-तालिका में कई सातकर्णि और पुलोमावी हैं; वे इन नामों वाले पिछले राजाओं को गौतमीपुत्र और वासिष्ठीपुत्र मान लेते है। उस मत पर अनेक आपत्तियाँ हैं, क्योंकि १३० ई० में शक क्षत्रप चष्टन और १५० ई० में उस का पोता रुद्रदामा पच्छिम भारत के शासक थे, और उन के अधीन उन देशों में से कई एक थे जो कि पूर्वोक्त अभिलेख के अनुसार गौतमीपुत्र के राज्य में थे। श्री राखालदास बैनर्जी नहपान के बरसों को शकाब्द का मानने के कट्टर विरोधी रहे; राजनैतिक इतिहास के अतिरिक्त लिपि और शिल्पकला के इतिहास की दृष्टि से भी उन्हें उस पर अनेक आपत्तियाँ थीं[1]। प्रो० दुब्रिऊल और नीलकंठ शास्त्री भी उन्हीं की तरह उस मत के विरोधी हैं। दुब्रिऊल को कला की दृष्टि से विशेष आपत्ति है; नहपान कालीन लेणों की शैली साँची के इस युग के तोरणों और वेदिकाओं (पत्थर की बाड़ों) की शैली से मिलती है। इसी से दुब्रिऊल ने नहपान के बरसों को विक्रमाब्द का माना, और वही मत नीलकंठ शास्त्री ने भी राजनैतिक इतिहास को देखते हुए स्वीकार किया[2]। रूपरेखा में जायसवाल का मत स्वीकार करने से पहले गौतमीपुत्र का समय अन्दाज़न पहली शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में माना गया था, क्योंकि नहपान के बरसों को विक्रमाब्द का मानना मेरे लिए सदा असम्भव था।

जायसवाल जी ने अपने लेख ब्राह्मिन एम्पायर (ब्राह्मण साम्राज्य[3])

---

[1]ज० रा० ए० सो० १९२५, पृ० १ प्र।

[2]अ० हि० द० २ § १; ज० रा० ए० सो० १९२६।

[3]सन् १९१४ में पटना के अंग्रेज़ी दैनिक एक्स्प्रेस में प्रकाशित।

में नहपान की जैन अनुश्रुति के नहवाण से अभिन्नता बतलाई, और गौतमीपुत्र सातकर्णि को ही सुप्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य माना। नहपान के लेखों की तिथि के प्रश्न को तब उन्हों ने न छोड़ा था। रूपरेखा में डा० कोनौ और वान विज्क के अनुसार ८३ ई० पू० में प्राचीन शक-संवत् का आरम्भ मानते समय मैंने यह लिखा था कि नहपान के बरस यदि उसी संवत् के हों तो उस का समय ३७ ई० पू० आता है, और केवल २० बरस के अन्तर के कारण हमें जायसवाल का मत अस्वीकृत करना पड़ता है। किन्तु अब वह कठिनाई नहीं है, नहपान के बरस अब पुराने शक-संवत् पर ठीक घटते हैं, और उस के वंश के उच्छेदक गौतमीपुत्र सातकर्णि के ५७ ई० पू० में रहने में मुझे जरा भी सन्देह नहीं है। तब पुराणों की तालिका के दूसरे सातकर्णि को हमें गौतमीपुत्र सातकर्णि कहना होगा।

पुराणों वाला दूसरा सातकर्णि पहली शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्ध में विदिशा (आकर) और उज्जैन (अवन्ति) का स्वामी था, यह बात अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध है, और इस पर प्रायः सभी विद्वानों की सहमति है। साँची के बड़े स्तूप के दक्खिनी तोरण पर एक छोटा सा अभिलेख इस आशय का है—"राजा श्री सातकर्णि के कारीगर[1] वासिष्ठीपुत्र आनन्द का दान"—वह तोरण उस कारीगर का दान है। लिपि और शिल्प के इतिहास की दृष्टि से सभी विद्वान् उसे लग० ७५ ई० पू० का मानते हैं[2]। उज्जैन के विशेष चिन्ह-युक्त राजा श्री सात के दो एक सिक्के मालवा से मिले हैं; विन्सेंट स्मिथ ने उन्हें लग० ६०-७० ई० पू० का माना था[3], पर रैप्सन लग० १५० ई० पू० का—अर्थात् पहले सातकर्णि का

[1] लु० सू० ३४६। कारीगर के लिए आवेसनि शब्द है जो कि अर्थ० २, १४—पृ० ८६ के आवेशनि का प्राकृत रूप है।

[2] मार्शल—गाइड टु सांची पृ० १२, कैं० इ० पृ० ५२२।

[3] ज्राइट ४७—आन्ध्र सिक्के और इतिहास, पृ ६१५।

मानना चाहते हैं[1]; इस अंश में स्मिथ का मत ही ठीक था। क्योंकि १५० ई० पू० में शुंगों का उज्जैन पर अधिकार रहना जैन अनुश्रुति से प्रकट है[2]।

पहली शताब्दी ई० पू० के मध्य में राजा सातकर्णि दूसरा था, यह तो उक्त कारणों से निश्चित है; किन्तु गौतमीपुत्र सातकर्णि का भी वही युग है, यह बात नहपान की तिथियों के अतिरिक्त प्राचीन लिपि के इतिहास से भी समर्थित होती है। नासिक की लेण सं० १८ में एक लेख इस प्रकार है—

रायामच अरहलयस चलिसीलणकस दुहुतुय महाहकुसिर······य भटपालिकाय रायामचस अगियतणकस भण्डाकारिकयस भारियाय कपणणकमातुय चेतियघरं पवते तिरण्हुमि निठायापित[3]।

अर्थात्—"चलिसीलण (गांव) के निवासी राजामात्य अरहलय की बेटी। महाहकुसिर की······भटपालिका ने, जो राजामात्य अगियतणक भाण्डागारिक की भार्या और कपणणक की माता है, त्रिरश्मि पर्वत में (यह) चैत्यगृह स्थापित किया।

इस लेख में केवल दो अक्षर गायब हैं। और उन अक्षरों से कोई ऐसा शब्द बनना चाहिये जो भटपालिका का हकुसिरि से सम्बन्ध सूचित करे। लेख के सम्पादक मो० सेनार ने वहाँ नति पढ़ने का प्रस्ताव किया है; उस से अर्थ बनेगा—महाहकुसिरि की पोती भटपालिका।

ऊपर[4] नानाघाट के जिन अभिलेखों और मूर्तियों का उल्लेख किया गया है, उन से सूचित होता है देवी नायनिका अपने बेटे वेद-श्री की

---

[1] आ० द० सि० पृ० १।

[2] ऊपर § १५६—पृ० ७३६।

[3] ए० इं० ८, पृ० ६१।

[4] § १४९—पृ० ७११।

तरफ़ से राज करती थी, और कि उस का एक और बेटा भी था जिस का नाम अभिलेख में सति-सिरिमत (=शक्तिश्री) तथा प्रतिमा पर हकुसिरि है। हकुसिरि भी शक्तिश्री का ही प्राकृत रूप है। जैन अनुश्रुति का शक्तिकुमार शायद वही है[1]। प्रस्तुत लेख में नति शब्द पढ़ने का प्रस्ताव करते हुए प्रो० सेनार ने लिखा था कि यदि इस लेख का हकुसिरि नानाघाट वाला कुमार हकुसिरि ही हो, तो नानाघाट-अभिलेखों और इन नासिक अभिलेखों के अक्षरों के रूपों में जो अन्तर है उस की व्याख्या करने को दो पीढ़ियों का समय काफी से ज्यादा न होगा[2]। फलतः नानाघाट अभिलेखों और गौतमीपुत्र सातकर्णि के अभिलेखों के बीच तीन शताब्दियों का अन्तर नहीं माना जा सकता। इस के अतिरिक्त अब तो प्राचीन शकाब्द के विषय में ऊपर जो लिखा गया है वही यह सिद्ध करने को बहुत है कि गौतमीपुत्र का समय पहली शताब्दी ई० पू० के मध्य में है।

पुराणों में दी हुई सातवाहन राजवंशावली के अधिकांश नामों की सत्यता सिक्कों, अभिलेखों तथा साहित्य के प्रमाणों से सिद्ध हुई है[3]। किन्तु दुर्भाग्य से उन राजाओं के वंश-क्रम के विषय में पुराणों में थोड़ा बहुत गोलमाल तथा परस्पर-विरोध है। वा० पु० की सूची अधिक प्रामाणिक है, पर वह संक्षिप्त है, उस में केवल प्रधान प्रधान राजाओं के नाम हैं। मत्स्य पु० की सूची पूरी है, पर उस के क्रम में उलटफेर है। जायसवाल ने भिन्न भिन्न पाठों की छानबीन और सामञ्जस्य कर के उस का जो संशोधित रूप हाल में पेश किया है, वह परिशिष्ट में दिया जा रहा है। मत्स्य की वंशतालिका में पहले सातकर्णि के बाद जिन चार

---

[1] आ० स० प० भा० ५, पृ० ६२।

[2] ए० इं० ८ पृ० ६२।

[3] वि० स्मिथ ने यह बात स्वीकार की थी—जाइट ५६, पृ० ६२४।

राजाओं के नाम हैं, कहना होगा कि उन के समय सातवाहन वंश की शक्ति बिलकुल क्षीण सी रही; अभिलेखों या सिक्कों के रूप में उन राजाओं का कोई निशान नहीं पाया गया। दूसरा सातकर्णि मत्स्य में छठी पीढ़ी पर है, जायसवाल की संशोधित तालिका में उसे आठवीं पीढ़ी पर रक्खा गया है।

और हम देख चुके हैं कि वही क्षहरात वंश को निर्मूल करने वाला गौतमीपुत्र सातकर्णि था। ऊपर जो कुछ कहा गया है उस से यह भी प्रकट है कि वही भारतीय जनश्रुति का वह प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य था जिस ने ५७ ई० पू० में शकों का संहार कर उज्जैन को स्वाधीन किया था। कालकाचार्य-कथानक के अनुसार वह राजा विक्रमादित्य प्रतिष्ठान से आया था। और प्रतिष्ठान में तब सातवाहनों का ही राज्य था। इस सम्बन्ध में यह बात भी उल्लेखयोग्य है कि जैन अनुश्रुति की गाथाओं में विक्रमादित्य का राज्यकाल ५५ बरस दिया है, और पुराण की तालिका में दूसरे सातकर्णि का राज्यकाल भी वही ५६ बरस है।

५७ ई० पू० में कोई वास्तविक राजा विक्रमादित्य था भी, इस पर भी बहुत विद्वान् सन्देह करते रहे हैं। किन्तु हरप्रसाद शास्त्री, ओझा, कोनौ और जायसवाल उस की वास्तविकता पहले से मानते रहे हैं। हरप्रसाद शास्त्री ने उस की वास्तविकता के पक्ष में एक प्रमाण यह पेश किया था कि सातवाहन राजा हाल, ने जिस का समय दूसरी शताब्दी ई० से पीछे किसी तरह नहीं हट सकता, अपनी गाथासप्तशती में राजा विक्रम का उल्लेख किया है[1]। प्रो० देवदत्त रा० भण्डारकर ने इस पर जो आपत्तियाँ उठाईं[2], उन सब का समाधान ओझा जी ने कर दिया[2]। डा० कोनौ ने शक इतिहास की इमारत का जो जीर्णोद्धार

[1]गाथा० ५. ६४; ए० इं० १२ पृ० ३२०।

[2]भं० स्मा० पृ० १८७-८६; प्रा० लि० मा० पृ० १६८।

किया है, उस का ढाँचा ही गिर पड़ता है यदि उस में से विक्रमादित्य को निकाल दिया जाय[1]। कालकाचार्य-कथानक को उद्धृत कर के वे कहते हैं—मुझे इस की साख न मानने को रत्ती भर भी कारण नहीं दीखता; पर प्रायः वह नहीं मानी जाती, क्योंकि बहुत से विद्वानों का रुझान ख्वाहमख्वा भारतीय अनुश्रुति में विश्वास न करने का है, और अनेक बार वे विदेशी लेखकों के अत्यन्त विचित्र वृत्तान्तों को भी भारतीय वाङ्मय से तरजीह दिया करते हैं[2]।

विक्रमादित्य-विषयक अनुश्रुति का दूसरे सातकर्णि विषयक अनुश्रुति तथा गौतमीपुत्र सातकर्णि-विषयक निश्चित बातों के साथ सामञ्जस्य कर के जायसवाल कहते हैं कि वह जन्म से ही राजा गिना जाने लगा था, पर उस का अभिषेक २४ वें बरस हुआ; तब तक उस की माता गौतमी बालश्री राजकाज देखती थी। और अभिषेक के १८ वें बरस उस ने शकों को हरा कर उज्जैन जीता (५७ ई० पू०)। भारतवर्ष के इतिहास में वह एक अत्यन्त स्मरणीय घटना थी।

§ १७१. मालव गण की जय और "विक्रम"-संवत् का प्रवर्त्तन
(५७ ई० पू०)

यह प्रसिद्ध है कि राजा विक्रमादित्य ने विक्रम-संवत् चलाया। किन्तु उस संवत् को विक्रम-संवत् पहले पहल ८९८ वि० के एक अभिलेख में कहा गया है[3]; उस से पहले वह सदा मालवों का संवत् या मालव-गण का संवत् कहलाता था। गौतमीपुत्र सातकर्णि और उस के

---

[1]भा० अ० स० २, १, ऐतिहासिक भूमिका, पृ० २६।

[2]वहीं, पृ० २७।

[3]प्रा० लि० मा० पृ० १६६।

वंशजों के लेखों में सदा उन के राज्यवर्षों का उल्लेख रहता है, विक्रम-संवत् का कभी नहीं। यद्यपि इतने से यह बात निश्चित रूप से सिद्ध नहीं होती कि विक्रम-संवत् से उन का कोई सम्बन्ध न था, क्योंकि राजकीय लेखों में राज्यवर्षों का ही निर्देश करने की प्रथा भारतवर्ष में पुरानी है, जैसा कि अशोक और खारवेल के अभिलेखों से प्रतीत होता है[1]; तो भी विक्रम-संवत् का स्पष्ट सम्बन्ध मालव गण से था, और वह संवत् आरम्भ में मालवा-राजपूताना का ही था न कि महाराष्ट्र का।

दासोर के एक अभिलेख में विक्रम-संवत् को श्री मालवगणाम्नात कहा है; दूसरे अभिलेखों में भी उस के वर्षों का उल्लेख मालव-गण की स्थिति से अमुक वर्ष कह कर किया जाता है। आम्नाय का अर्थ है—विधान, विधिपूर्वक ठहराव; वेद आदि प्रामाणिक शास्त्रों के आदेश के लिए भी वही शब्द वर्त्ता जाता है। स्थिति का भी वही अर्थ है—संवित्, समय या ठहराव। इस से प्रतीत होता है कि वह संवत् मालव गण के ठहराव या विधान से—बाकायदा व्यवस्था करने से—चला था। शकों को हरा भगाने में गौतमीपुत्र के साथ साथ मालवों का भी हिस्सा रहा प्रतीत होता है। मालवों की उषवदात के साथ लड़ाई चलती थी सो हम देख चुके हैं। पहली शताब्दी ई० पू० के मालव गण के सिक्कों पर मालवानं जय और मालवगणस्य जय की छाप रहती है। वे सिक्के स्पष्टतः किसी बड़े विजय के उपलक्ष्य में चलाये गये थे। और वह विजय ५७ ई० पू० के विजय के सिवाय और कौन सा हो सकता था?

---

[1] किन्तु इस से यह परिणाम निकालना अनुचित है कि भारतवर्ष में प्राचीन शक-संवत् से पहले कोई धारावाही संवत् न चलता था; क्योंकि बड्ली के अभिलेख (ऊपर § २१) तथा खारवेल के अभिलेख (ऊपर § २२ ओ—पृ० ५०८, ५१०) में वैसे संवत् या संवतों का स्पष्ट निर्देश है।

गौतमीपुत्र ने शकों से उत्तरी महाराष्ट्र कोंकण गुजरातसुराष्ट्र अवन्ति और आकर का उद्धार किया; मालव लोग और उत्तर चम्बल के काँठे में थे, और वे भी स्वतन्त्र हो गये; उन के और उत्तर मथुरा में भी शक सत्ता इसी समय समाप्त हो गई। महाक्षत्रप मेवकि के बाद वहाँ शकों के सिक्के या अभिलेख नहीं पाये जाते; उलटा गोमित्र विष्णुमित्र आदि के सिक्के मिलते हैं, जिन के नामों से प्रतीत होता है कि शायद वे शुंगों के कोई वंशज रहे हों। इसी युग की एक जैन श्राविका अपने अभिलेख में जिन शब्दों से अपना और अपने दान का परिचय देती है, वे मनोरंजक हैं—

"अरहत वर्धमान को नमस्कार। गोति के पुत्र पोठय-शकों के कालव्याळ·········(की भार्या) कौशिकी शिवमित्रा ने आयगपट प्रतिष्ठापित किया।"[1]

आयागपट पूजा की वे पाटियाँ होती थीं जिन पर देवता या आराध्य पुरुष का चित्र खुदा रहता था। सो इस युग में मथुरा में भी शकों के लिए काले नाग से उन के शत्रु पैदा हो गये थे। करीब अगली एक शताब्दी के लिए मथुरा प्रदेश या तो स्थानीय राजाओं के अधीन रहा या पड़ोस के किसी गणराज्य के।

इस प्रकार महाराष्ट्र से मथुरा तक शक साम्राज्य की एक साथ सफ़ाई हो गई।

§ १७२. हरउवती का पह्लव राज्य

(लग० ४५ ई० पू०—३ ई० पू०)

भारतवर्ष और ईरान के इतिहास में शकों के साथ साथ पह्लवों का नाम जुड़ा हुआ है। पह्लव और पार्थव एक ही जाति के नाम हैं।

---

[1] ए० इं० १, पृ० ३९३।

पार्थव राज्य का संस्थापक अर-सक या शकों का राजा कहलाता था। शक शब्द का जब व्यापक अर्थ लिया जाय तब पह्लवों को भी शकों की एक शाखा ही कहा जा सकता है। भारतवर्ष में जो पहले शक आये, वे पह्लवों का देश लाँघ कर ही आये; उन के सैनिकों और शासकों में कुछ पह्लव भी रहे होंगे।

मिथ्‌दात दूसरे के बाद, अर्थात् ८८ ई० पू० के बाद, किसी समय सीस्तान या उस के पड़ोस में एक पह्लव राज्य स्थापित हुआ। उस राज्य का सम्पर्क पच्छिम—ईरान—के बजाय पूरब—भारत—के साथ अधिक रहा; और उस ने शीघ्र ही हरउवती काबुल गान्धार और सिन्ध को जीत लिया, यह उस के सिक्कों से सिद्ध होता है। उस वंश के एक राजा के समय का एक अभिलेख पेशावर ज़िले के यूसुफ़जई इलाके में शाहबाज़-गढ़ी से या तख़्त-एबाही से पाया गया है। उस लेख में पुराने शक-संवत् के बरस १०३ के साथ साथ बरस २६ भी दर्ज किया गया है[1]। एक ही लेख में दो संवतों का होना आश्चर्यजनक है, और डा० कोनौ ने इस से यह परिणाम निकाला है कि पुराना संवत् तो उस प्रदेश में प्रचलित होने के कारण दिया गया और नये का सम्बन्ध स्पष्टः नये राज-वंश से था। बहुत सम्भव है कि उस का आरम्भ पह्लव राजवंश की स्थापना को सूचित करता है। स्पष्ट है कि वह संवत् पुराने शक-संवत् के ७८वें बरस शुरू हुआ था; और यदि पुराना शक-संवत् लग० १२३ ई० पू० में चला था तो यह लगभग ४५ ई० पू० में। लगभग ४५ ई० पू० में सकस्तान में इस पह्लव राज्य की स्थापना हुई, यह बात और सब दृष्टियों से भी ठीक प्रतीत होती है।

इस वंश का संस्थापक वनान[2] नाम का एक आदमी था। उस के

---

[1]मा० अ० स० २,१ पृ० ६२।

[2]ग्रीक रूप Vonones.

सिक्कों पर उस का नाम केवल ग्रीक में रहता है, जिस से सिद्ध होता है कि भारतीय प्रदेश से उस का कोई ताल्लुक न था; उस का राज्य केवल सीस्तान और उस के पड़ोस के पूरबी ईरान में था। किन्तु जल्द ही वह राज्य हरउवती की दून (कन्दहार) तक फैल गया; और उस दून में जो इस वंश के पहले सिक्के मिलते हैं उन पर एक तरफ़ तो वनान का ही नाम ग्रीक में रहता है, पर दूसरी तरफ़ प्राकृत में महाराजभ्रातस ध्रमिअस श्पलहोरस—'महाराज के भाई धार्मिक श्पलहोर[1] का' (सिक्का)—लिखा रहता है। फिर एक नमूना ऐसे सिक्कों का मिलता है जिन पर महाराज का नाम तो नहीं रहता, पर प्राकृत में महाराज के भ्राता श्पलिरिष[2] का नाम रहता है। महाराज तब भी सम्भवतः वनान ही था, और श्पलिरिष उस का कनिष्ठ भाई। स्पलहोर और श्पलिरिष वनान की तरफ़ से बारी बारी हरउवती के शासक रहे दीखते हैं।

तीसरे नमूने पर महरज श्पलहोर का नाम ग्रीक में और श्पलहोरस-पुत्रस ध्रमिअस श्पलगदमस प्राकृत में रहता है। वह नमूना वनान के बाद की अवस्था को सूचित करता है जब श्पलहोर महाराजा था और उस का बेटा श्पलगदम हरउवती का उपराज। फिर एक और नमूने पर ग्रीक में भी श्पलिरिष का नाम मिलता है और प्राकृत में भी महाराजस महतकस श्पलिरिषस—महराज महान् श्पलिरिष का। इन सिक्कों से सूचित है कि श्पलहोर का उत्तराधिकारी समूचे राज्य में श्पलिरिष था। हम अभी देखेंगे कि उस ने हरउवती से आगे बढ़ कर काबुल भी जीत लिया। श्पलिरिष के कुछ सिक्के ऐसे मिले हैं जिन पर दूसरी तरफ़ प्राकृत में अय[3] का नाम है—अय उस का उपराज रहा दीखता है। अन्त में

---

[1]यूनानी रूप Spalyris.

[2]यूनानी रूप Spalirises.

[3]यूनानी रूप Azes.

वह नमूना आता है जिन में ग्रीक और प्राकृत दोनों में महाराज राजराज महान् अय का नाम होता है।

इन सिक्कों से एक तो यह भी प्रकट है कि हरउवती का प्रदेश उस समय भारतवर्ष में गिना जाता, और उस में व्यवहार की भाषा प्राकृत थी। जैसे बाख्त्री का यवन राज्य जब हिन्दूकुश के दक्खिन उतरा तब उस के इस तरफ़ के काबुल-दून के सिक्कों पर प्राकृत लिखी जाती थी, वैसे ही यह पह्लव राज्य जब सकस्तान से हरउवती (कन्दहार) की तरफ़ फैला तब हरउवती के सिक्कों पर प्राकृत लिखना ज़रूरी समझा जाता,—अर्थात् हिन्दूकुश के दक्खिन समूचे अफ़गानस्थान में तब प्राकृत चलती थी। दूसरे, इन राजाओं के विशेषण ध्रमिअ या ध्रमिक (धार्मिक) से यह भी सूचित है कि वे बौद्ध थे।

अय का श्पलिरिष से क्या सम्बन्ध था सो सिक्कों पर नहीं लिखा; अन्दाज़ किया गया है कि वह उस का बेटा था। अय के सिक्कों की तरह महाराज राजराज महान् अयिलिष[1] के सिक्के भी मिले हैं। कुछ सिक्के ऐसे भी हैं जिन पर अय का नाम एक तरफ़ और अयिलिष दूसरी तरफ़ रहता है। विन्सेंट स्मिथ का मत था कि अय दो थे, अय पहले का बेटा अयिलिष और उस का अय दूसरा; इन सिक्कों के विशेषज्ञ ह्वाइटहेड का कहना है कि अयिलिष दो थे। प्रायः सब इतिहासलेखक दो अय मानते आते हैं, और वे 'पहले अय' और अयिलिष को गान्धार में मोग का उत्तराधिकारी शक कहते हैं और 'दूसरे अय' को हरउवती का पह्लव; और कभी कभी साथ ही यह भी कह देते हैं कि शक और पह्लव वंश के व्यक्तियों में भेद करना कठिन है, वे वंश परस्पर-मिश्रित से थे! डा० कोनौ का कहना है कि अय उर्फ़ अयिलिष एक ही व्यक्ति था—क्योंकि जहाँ एक सिक्के पर वे दोनों नाम रहते हैं वहाँ दोनों

[1] यूनानी रूप Azilises.

नामों के साथ एक ही पदवियाँ रहती हैं,—और कि वह अय उर्फ़ अयलिष वनान-वंश का पह्लव ही था न कि शक। यही मत स्वीकार करने योग्य है।

इस प्रकार इन पह्लव राजाओं का वंशवृक्ष यों बनता है—

वनान	श्पलहोर	श्पलिरिष
सकस्तान का राजा १.	हरउवती का उपराज १.	हरउवती का उपराज २.
	सकस्तान का राजा २.	सकस्तान का राजा ३.
		काबुल का विजेता
	श्पलगदम	अय उर्फ़ अयलिष
	हरउवती का उपराज ३.	उपराज ४.
		समूचे राज्य का राजा ४.

संवत् १०३ में जिस लेख का ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, वह अय के उत्तराधिकारी का है। काबुल दून का अन्तिम तुच्छ यवन राजा हेरमय[1] था। हम देखेंगे (§ १७७) कि उस के उस तुच्छ राज्य में भी उस का एक और हिस्सेदार था। श्पलिरिष के सिक्के हेरमय के काबुली सिक्कों के चिन्हों से युक्त तथा उन्हीं के नमूने वाले भी पाये जाते हैं; इस से प्रतीत होता है कि श्पलिरिष ने हरउवती से उत्तरपूरब बढ़ कर काबुल के उस तुच्छ यूनानी राज्य को समाप्त कर दिया। भारतवर्ष में यवन राज्य का अन्तिम चिन्ह इस प्रकार मिट गया। और हरउवती से काबुल के रास्ते हो कर ही अय के समय पह्लव राज्य पच्छिम गान्धार (पुष्करावती) तक फैला। अय ने आगे पूरब गान्धार, केकय और मद्र

[1] Hermaias.

देश (शाकल) भी जीते प्रतीत होते हैं, क्योंकि शाकल के सिक्कों के नमूने के भी अय के सिक्के पाये गये हैं। इस प्रकार पंजाब से शकों का राज्य भी अय के समय (अन्दाज़न ३०—२१ ई० पू०) उठ गया। सिन्ध से भी उन की सत्ता अब तक उठ चुकी थी या अय के उत्तराधिकारी के समय उठी, सो ठीक नहीं कहा जा सकता।

अय के बाद पह्लवों के इस विस्तृत राज्य की गद्दी पर जो राजा बैठा उस का नाम सिक्कों पर और अभिलेखों में गदफर गुदफर गुदफर्न[1] या गुदुह्वर होता है। उस का ठीक पह्लव नाम विन्दफर्न[2] होगा।

पहले वह इस राज्य की प्रथा के अनुसार राजाओं के राजा विरिथ्रग्न[3] की अधीनता में हरउवती-दून का शासक था। डा० कोनौ विरिथ्रग्न को गुदुव्हर का विरुद मात्र मानते हैं। सीस्तान के जिन सिक्कों पर वह शब्द पाया गया है उन पर गुदुव्हर का नाम भी है; उस पहलवी शब्द का अर्थ है विजेता; कोनौ का कहना है कि वह पदवी गुदुव्हर ने पच्छिम के पार्थवों पर पाये किसी विजय के उपलक्ष में धारण की होगी। कोनौ का कथन मान्य है। बाद में वह गान्धार में अय और पूर्वी ईरान में विरिथ्रग्न दोनों का उत्तराधिकारी बना। उस की राजधानी पच्छिम गान्धार में थी।

---

[1] यूनानी रूप Gondophares या Gondopharnes.

[2] विन्द=प्राप्त, फर्न=कीर्त्ति। किन्तु मुझे अब यह ख्याल होता है कि ये तथा-कथित पह्लव राजा कहीं हरउवती के स्थानीय पठान तो न थे। उस दशा में उन के नाम पहलवी के बजाय पुरानी पश्तो के होंगे। रूपरेखा में पहले मैंने नाम का मुख्य रूप विन्दफर्न ही रक्खा था, किन्तु अब मैं उक्त विचार से गुदफर्न या गुदुह्वर को ही असल नाम मानता हूँ। विन्दफर्न रूप कहीं पाया नहीं जाता।

[3] यूनानी रूप Orthagnes.

पच्छिम तरफ पार्थवों के कुछ प्रदेश भी उस ने जीते। वह वास्तव में एक बड़ा राजा था। उक्त १०३ वें बरस का अभिलेख उसी के राज्य-काल का है; इस हिसाब से उस ने लगभग २० ई० पू० में राज्य आरम्भ किया।

गुदफर के उत्तराधिकारी पकुर ने नाम को राज्य किया। इस बीच ऋषिक लोग हिन्दूकुश के दक्खिन पैर जमा चुके थे, और १२२ वें बरस (लग० १ ई० पू०) का पहले ऋषिक राजा के समय का पहला लेख सिन्धु नदी के पच्छिम तट के पंजतार गाँव (जि० पेशावर) से पाया गया है। अर्थात् लगभग ३ या २ ई० पू० में पच्छिम गान्धार में पह्लव राज्य समाप्त हो गया। सिन्ध में शायद वह कुछ समय के लिए और बना रहा।

§ १७३. सातवाहन-साम्राज्य का चरम उत्कर्ष

(लग० ४४ ई० पू०—६० ई०)

यह बात निर्विवाद है कि गौतमीपुत्र सातकर्णि का उत्तराधिकारी वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावि था। जायसवाल जी उसे पुराणों के आपीलक-आपोलव-विविलक (वा० पु० में सं० ५, मत्स्य पु० में सं० ८) और वा० पु० के पटुमावि (सं० ६) तथा मत्स्य के पुलोमावि (सं० १५) से मिलाते, तथा उस का राज्यकाल पुराणों के अनुसार ३६ बरस का मानते हैं[1]। उस के अभिलेख नासिक कार्ले कान्हेरी और अमरावती से पाये गये हैं, जिन में से उस की दादी वाला अभिलेख ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। कार्ले वाले लेख में उस के २४ वें बरस का उल्लेख है[2]। इन अभिलेखों से वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का महाराष्ट्र और आन्ध्र में कम

[1] ज० बि० ओ० रि० सो० १९३०, पृ० २६७-६८; पु० पा० पृ० ३९-४०।

[2] ए० इं० ७, पृ० ७१।

से कम २४ बरस राज्य करना सिद्ध है। उस के सिक्कों पर उज्जैन वाला संकेत रहता है, और वे कृष्णा गोदावरी और चाँदा ज़िलों तथा चोलमण्डल तट से भी मिले हैं[1]। इस से उज्जैन में तथा उन सब प्रदेशों में उस का राज्य होना सिद्ध है। वास्तव में गौतमीपुत्र के बेटे के समय सातवाहनों का राज्य और भी अधिक विस्तृत होने की ही सम्भावना है, उस के घटने का कोई कारण न था। चोलमण्डल तट से वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के जो सिक्के मिले हैं उन पर दो मस्तूल वाले जहाज़ का चित्र बना है; इस से प्रकट है कि उस का सामुद्रिक बेड़ा भी था। तीन समुद्रों का पानी जिन राजाओं के घोड़े पीते रहे हों, उन का समुद्र पर भी अधिकार होना संगत ही था। हम देखेंगे कि ठीक इसी युग में भारतवासियों ने समुद्र पार उपनिवेश बसाना शुरू कर दिया था[2]।

दूसरी शताब्दी ई० के महाक्षत्रप रुद्रदामा के अभिलेख में लिखा है कि उस ने दक्षिणापथ के स्वामी सातकर्णि को दो बार हराया तथा उस के साथ उस का निकट सम्बन्ध था[3]। उधर कान्हेरी की लेण में राजा वासिष्ठीपुत्र श्री सातकर्णि की रानी का एक दानपरक लेख है, जिस में वह अपने को महाक्षत्रप रुद्र की बेटी बतलाती प्रतीत होती है[2]। नहपान के लेखों के बरसों को दूसरे शकाब्द का समझने वाले कुछ विद्वानों ने यह बात मान रक्खी है कि रुद्रदामा से हारने वाला उस का जामाता गौतमीपुत्र का बेटा वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि ही था। जैसा कि ऊपर कहा गया है, नहपान के बरसों को जब प्राचीन शकाब्द पर न बैठाया जा सकता था तब भी उन्हें दूसरे शकाब्द का मानना और रुद्रदामा को वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का समकालीन मानना सर्वथा

---

[1] आ० च० सि० सू०, पृ० २०—२३, सं० ८८—१०४।

[2] नीचे § १७६।

[3] नीचे § १८३।

भ्रान्त और अयुक्तियुक्त था। दूसरे, रुद्रदामा के अभिलेखों में तथा कान्हेरी वाले लेख[1] में जिस सातवाहन राजा का नाम है वह सातकर्णि था न कि पुलुमावि; और यह सोचना भी ठीक नहीं है कि सातकर्णि इस वंश का नाम होने से पुलुमावि भी सातकर्णि कहला सकता था, क्योंकि वंश का नाम सातवाहन था न कि सातकर्णि[2]।

द्राविडी शब्द विळिवाय और संस्कृत पुलुमावि पुलुमायि या पुलोमावि आदि एक दूसरे के रूपान्तर प्रतीत होते हैं। कोल्हापुर से राजा वासिठीपुत विळिवायकुर के सिक्के पाये गये हैं[3], किन्तु वे भी प्रस्तुत पुलुमावि के नहीं, प्रत्युत दूसरे पुलुमावि के हैं; कारण कि उन्हीं सिक्कों पर फिर माढरिपुत सिवलकुर (माठरीपुत्र शिवस्वामी) की छाप है, तथा उन दोनों के सिक्कों पर फिर से गोतमिपुत विळिवायकुर (गौतमीपुत्र पुलुमावि) की[4], और उन दोनों राजाओं के नाम हमारे प्रस्तुत वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के ठीक पीछे नहीं प्रत्युत बाद में हैं।

पुराणों के अनुसार, अन्तिम काण्व राजा से मगध का राज्य तथा शुंगों के राज्य का जो कुछ बचा था उन से वह सब भी आन्ध्रों ने ले लिया था। अन्तिम काण्वयन राजा का समय ३१ या २८ ई० पू० आता है, जो कि नहपान के वर्षों को प्राचीन शकाब्द का मानने से वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के राज्य-काल में पड़ता है। महेन्द्र पर्वत के चौगिर्द उड़ीसा का प्रान्त तथा अवन्ति और आकर सातवाहनों के हाथ में आ जाने के बाद महाराष्ट्र से मगध की तरफ़ बढ़ने के सभी रास्ते

[1] तु० सू० का सं० ९९४।

[2] दे० ऊपर § १४९—विशेषतः पृ० ७१० टि० २ में उल्लिखित अभिलेख।

[3] आ० च० सि० सू० पृ० ५-६, सं० १३—२१।

[4] वहीं, पृ० ७-८, १४।

उन के काबू में थे, इसी लिए इस समय उन का मगध जीत लेना बहुत स्वाभाविक और संगत था। खारवेल के वंशजों से महेन्द्र पर्वत को छीन लेने वाली, सुराष्ट्र और उज्जैन से शकों का उन्मूलन करने वाली तथा तीन समुद्रों के बीच समूचे दक्खिन की स्वामिनी शक्ति ऋक्ष पारियात्र और विन्ध्य पर्वतों को पूरी तरह काबू कर लेने और अवन्ति और आकर में पैर जमा लेने के बाद अपने सामने पड़े हुए अन्तर्वेद और मगध के निःशक्त तुच्छ किन्तु समृद्ध राज्यों पर दखल न करती, यह एक विचित्र और स्वाभाविक बात होती।

इस प्रकार वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के समय वह प्रक्रिया पूरी हुई जिसे गौतमीपुत्र सातकर्णि ने शुरू किया था। और तब सातवाहनों का साम्राज्य उत्तर और दक्खिन समूचे भारत की एकमात्र प्रमुख राजनैतिक शक्ति बन गया, इस में सन्देह नहीं। पुराण तो स्पष्ट कहते ही हैं कि भारतवर्ष की प्रमुख शक्तियों में मौर्यों और शुंगों के उत्तराधिकारी सातवाहन थे। सातवाहनों की वह स्थिति उत्तर भारत में लगभग ५०—६० ई० तक बनी रही, जब कि ऋषिक-तुखार राजा विम ने उत्तर भारत पर चढ़ाई की (§ १७८)।

इस बीच, जायसवाल के संशोधित वंश-क्रम के अनुसार, पहली शताब्दी ई० की पहली चौथाई में सुप्रसिद्ध सातवाहन राजा हाल हुआ जिस का नाम भारतीय साहित्य में सातवाहन का पर्याय सा बन गया है। वह प्राकृत साहित्य का प्रसिद्ध आश्रयदाता और स्वयं प्राकृत कवि था; उस की गाथासप्तशती प्रसिद्ध है। उसी वंश-क्रम के अनुसार बृहत्कथा के प्रसिद्ध लेखक गुणाढ्य का आश्रयदाता सातवाहन राजा पहली शताब्दी ई० की तीसरी चौथाई में हुआ (§ १७९)। इस वंशक्रम में कुछ भूलचूक और सुधार की गुंजाइश हो सकती है, और उसे अभी आरज़ी तौर पर ही स्वीकार करना चाहिये। तो भी पहली शताब्दी ई० में जब कि सातवाहन लोग भारतवर्ष की प्रमुख राज-शक्ति थे,

उन का दरबार साहित्य और वाङ्मय का आश्रयदाता रहा हो, एक तो यह बात स्वतः युक्तिसंगत है; दूसरे, भारतीय वाङ्मय के इतिहास और विशेष कर तामिल भारत की अनुश्रुति और इतिहास से यह बात पुष्ट होती है, सो भी हम देखेंगे (§ १८५)। इस वंशक्रम में कोई छोटा मोटा परिवर्त्तन अगली खोज के कारण भले ही करना पड़े, मोटे तौर पर यह बात निश्चित माननी चाहिए कि ५७ ई० पू० से लगभग ६० ई० तक का समय सातवाहनों के चरम उत्कर्ष और समृद्धि का तथा समूचे भारत में अग्रणी राजशक्ति रहने का समय था।

तामिल राज्यों पर भी इस युग में सातवाहनों का अधिपत्य था, और उन के आधिपत्य में उन राज्यों को यथेष्ट आन्तरिक स्वतन्त्रता थी। सिंहल पर सातवाहन प्रभुत्व नहीं पहुँचा। वहाँ के राजा दुट्ठ गामणी अभय का उल्लेख पीछे (§ १५९) कर चुके हैं। दुट्ठ गामणी के बाद उस के भाई सद्धातिस्स ने १८ बरस राज्य किया, और फिर उस के तीन बेटों ने क्रमशः। तीसरे बेटे उल्लाटनाग के पीछे उस का भाई वट्ट-गामणी अभय राजा बना। उसे राज करते अभी पाँच ही महीने बीते थे जब सात साहसी तामिल योद्धाओं ने सिंहल पर चढ़ाई कर उस से राज्य छीन लिया (४४ ई० पू०)। वट्टगामणी देश के अन्दर के पहाड़ों में भाग गया। पाँच तामिलों के एक के बाद दूसरे कुल १४ बरस ७ महीने शासन कर चुकने पर पाँचवें को मार कर वट्टगामणी ने फिर अपना राज्य वापिस ले लिया (२९ ई० पू०)। उस के १२ बरस के शासन के बाद खल्लाटनाग के बेटे महाचूलि महातिस्स ने १४ बरस सिंहल का राज्य किया। तब वट्टगामणी के बेटे चोरनाग की बारी आई, और वह सिंहल इतिहास में अपने बुरे शासन के लिए बदनाम है।

चोरनाग की रानी अनुला एक अनोखी स्त्री थी। उस का पति १२ बरस (३ ई० पू०—९ ई०) कुशासन कर पाया था जब अनुला ने उसे विष दे कर मार डाला। तब महाचूलि का बेटा तिस्स सिंहल

के सिंहासन पर बैठा; परन्तु तीस बरस पीछे उस का भी अनुला ने उसी तरह अन्त कर दिया, और राजा के शरीररक्षकों के मुखिया अपने जार शिव को राजा बनाया। १४ महीने पीछे उस ने शिव को भी विष दे दिया, और वटुक नाम के एक तामिल को अपना प्रेम तथा सिंहल का राज्य। १४ मास में वटुक की भी अवधि पूरी हुई, तब तिस्स नाम के एक दारुभतिक अर्थात् लकड़हारे को अनुला ने उस का स्थान दिया। १३ मास में वह उस से भी अघा गई, और तामिल निलिय को उस की जगह बैठाया। उस अभागे को उस गद्दी पर बैठने का निश्चित फल ६ मास में ही मिल गया, और अन्त में पुरुष-मात्र से ऊब कर अनुला सिंहल के सिंहासन पर स्वयं बैठी! वह चार ही महीने राज कर पाई थी जब महाचूलि के छोटे बेटे कुटकरण तिस्स ने उसे युद्ध में मार कर राज्य लिया, और २२ बरस तक सिंहल का सुशासन किया (१६—३८ ई०)।

§ १७४. यवनों शकों पह्लवों का भारतीय बनना

ऊपर §§ १५६, १५९, १६६, १६७, १६९, १७२ में यवनों शकों और पह्लवों के विषय में जो सूचनायें दी गई हैं तथा उन के लेखों से जो अंश उद्धृत किये गये हैं, उन से प्रकट है कि भारतवर्ष में आ कर यवन शक और पह्लव शीघ्र ही पूरी तरह भारतीय बन गये थे। साधारण रूप से इस बात का उल्लेख संस्कृति के इतिहास के प्रसंग में किया जाना उचित होता, किन्तु राजनैतिक इतिहास में भी इस बात का विशेष प्रभाव हुआ इस लिए यहीं इस का उल्लेख किया जा रहा है। यवन स्वयं एक सभ्य जाति थे, पह्लव भी एक सभ्य देश के निवासी थे, तो भी शकों की तरह उन दोनों जातियों को भी हम शीघ्र ही भारतीय नाम भाषा जीवन और धर्म अपनाते तथा भारतवर्ष को अपनी मातृभूमि बनाते

देखते हैं। ऊपर जो दृष्टान्त दिये गये हैं, उन के अतिरिक्त निम्नलिखित कुछ एक उदाहरण रुचिकर होंगे।

(१) नासिक की लेण सं० १७ में से अभिलेख—

"सिद्धि! ओतराह[1] (उत्तरापथ के) दातामितियक (देमित्र की स्थापित की हुई दात्तामित्री नगरी के निवासी) योनक धर्मदेव के पुत्र इन्द्राग्निदत्त का (दान)। (उस) धर्मात्मा ने यह लेण तिरण्हु पर्वत में खुदवाया, और लेण के अन्दर चैत्य गृह तथा पोढ़ियां[2]। माता-पिता के उद्देश से (माता-पिता के पुण्य के लिए) यह लेण बनवाया, सब बुद्धों की पूजा के लिये, चातुर्दिश भिक्षु-संघ को सौंपा, (अपने) बेटे धंमरखित के साथ।"[3]

(२) कार्ले से अभिलेख सं० ७[4]—

"धेनुकाकट से यवन सिहधय (सिंहध्वज) का दान (यह) थंभा।"

(३) वहीं सं० १०—

"धेनुकाकट से यवन धंम का (दान)।"

(४) वहीं सं० ११—

---

[1]औत्तराह शब्द अष्टाध्यायी ४ २. १०४ पर के एक वार्त्तिक से सिद्ध होता है। हिन्दको उतराधी ठीक उस का रूपान्तर है।

[2]§ १७२ में उल्लिखत महाक्षत्रप रुद्र की बेटी के लेख में पोढ़ी के अर्थ में पानीयभाजन शब्द है। महाराष्ट्र में अब नानपोढ़ी—नहाने की पोढ़ी—कहते हैं।

[3]ए० इं० ८, ९०—प्लेट ५, नं० १८।

[4]नासिक के अतिरिक्त अन्य सब स्थानों की लेणों के लेख आ० स० प० भा०—३ इंस्क्रप्शन्स फ्राम दि केव टेम्पलस ऑव वेस्टर्न इंडिया—पच्छिम भारत के गुहामन्दिरों के अभिलेख—बर्जेस तथा भगवानलाल इन्द्रजी पंडित सम्पादित, १८८१, से। संख्यायें उन्हीं के अनुसार।

"धेनुकाकट से उसभदत (उषवदात) के बेटे मितदेवणक का दान थंभा।"

(५) वहीं सं० २०[1]—

"सिद्धि ! राजा वासिठिपुत सिरि पुलमावि के संवत्सर चौबीसवें हेमन्त के पक्ष तीसरे दिन दूसरे को अबुलामा के निवासी सोवसक सेतफरण के बेटे हरफरण का यह देयधर्म (दान) नवगर्भ (नौ कोठरियों वाला) मण्डप महासाँघिकों[2] के चातुर्दिशि संघ के परिग्रह में दिया गया...।"

अबुलामा से अभिप्राय सिन्धु-तट की अम्बुलियम बस्ती[3] से प्रतीत होता है। सेतफरण और हरफरण स्पष्ट पह्लव नाम दीखते हैं।

(६) जुन्नर से सं० ५—

"गतों (Goths) में के यवन इरिल का देयधर्म— दो पोढ़ियाँ।"

यहाँ यवन शब्द व्यापक अर्थ में बर्त्ता गया, और गतों को यवनों की एक शाखा गिना है।

(७) वहीं से सं० ३३—

"गतों में के यवन चिट का भोजन-मण्डप देयधर्म संघ को।"

किन्तु इन दृष्टान्तों से यह परिणाम निकालना कि शक और पह्लव भारतवर्ष में आकर भारतीय संस्कृति में रँगे गये, सम्पूर्ण सत्य न होगा। भारतीय संस्कृति का प्रभाव तब भारतवर्ष की सीमाओं के बाहर उन के अपने मूल अभिजनों में पहुँच रहा था। हरउवती का जो पह्लव राजा अपने को धार्मिक कहता है[4] उस ने अपने देश में ही धर्म का

---

[1]इस अभिलेख की चर्चा ऊपर § १७३ में हो चुकी है।

[2]महासांघिक बौद्धों का एक सम्प्रदाय था। दे० ऊपर परि० इ २—पृ० ३८३। [3]ऊपर § ११६—पृ० ४३४। [4]ऊपर § १७२—पृ० ७६०-६१।

सन्देश पाया होगा। हम अभी देखेंगे कि इस समय तक बाख्त्री के ऋषिक लोग बौद्ध धर्म को इतना अपना चुके थे कि उन के राजा ने चीन में भी बौद्ध धर्म की पुस्तकें भेजीं। अशोक और सम्प्रति के समय जो धर्म्मविजय का कार्य शुरू हुआ था, वह भिक्खु-संघ द्वारा बराबर जारी रहा दीखता है और उस का वास्तविक प्रभाव अब तक समूचे उत्तरापथ और मध्य एशिया तक पहुँच गया था।

कालकाचार्य के कथानक का प्रायः यह अर्थ समझा जाता है कि कालक ख़ास तौर पर शकों को बुलाने के लिए ही शकस्थान गया था। किन्तु शकों का वहाँ कोई स्वतन्त्र राज्य तो तब था नहीं। उस कथानक से तो जान पड़ता है कि वह शकस्थान में मौजूद था, जब कि वहाँ ऐसी स्थिति पैदा हो गई कि शक साहियों को अपना देश छोड़ भागना पड़ा। और शकस्थान जाने का उस का शायद वही प्रयोजन था जो अशोक के समकालीन बौद्ध भिक्खुओं का गान्धार और हिमालय जाने का, या सम्प्रति के समय के जैन साधुओं का अनार्य देशों में जाने का था। बौद्धों की धर्मविजय-नीति का जैन भागवत आदि दूसरे भारतीय सम्प्रदायों ने भी अनुसरण किया दीखता है।

§ १७५. ऋषिक-तुखारों के देश में चीन और भारत का प्रभाव

(दूसरी—पहली शताब्दी ई० पू०)

ऋषिक और तुखार लोग किस प्रकार नीया चर्चन और तरीम के काँठे से वंक्षु के काँठे तक आ गये थे, सो देख चुके हैं। हम ने उन्हें वहीं छोड़ कर उन के साथी शकों का साथ पकड़ लिया था। सभ्य जातियों के संसर्ग में आकर ऋषिक-तुखारों में बड़ा परिवर्त्तन आ गया था; अब तक वे खेती करना और टिक कर रहना सीख गये थे।

पहले जब ये जातियाँ अपने मूल देश में रहती थीं, तब भी शायद इन का अपने पड़ोसी भारत और ईरान के आर्यों से थोड़ा बहुत दूर-सम्पर्क होता रहा हो। सीर दरिया का काँठा जब हखामनी साम्राज्य के अन्दर रहा, तब वहाँ के शकों में ईरानी सभ्यता का कुछ प्रवेश हुआ, जिस का कुछ प्रभाव परम्परा से ऋषिक-तुखारों तक भी पहुँचा होगा। बाख्त्री में करीब पौने दो सौ बरस तक जो सुसभ्य यवनराज्य बना रहा, और जिस ने सीर के काँठे के शकों को बहुत बार अपने अधीन रक्खा, तथा एक आध बार तरीम के काँठे तक अपनी सत्ता पहुँचाई, उस के विषय में भी वही बात कही जा सकती है। तुखार और ऋषिक जब बाख्त्री में आबाद हुए तब भी यूनानी सभ्यता का बहुत कुछ प्रभाव वहाँ मौजूद था।

किन्तु ऋषिक-तुखारों के देश में सीधे और प्रत्यक्ष रूप से सभ्यता का प्रवेश यदि कहीं से हो रहा था तो भारत और चीन की तरफ़ से। अशोक के समय से भारतीय धम्मविजय की और शी-हुआंग-ती के बाद चीनी दिग्विजय की लहर उन के देश के आरपार पहुँच रही थी, और यदि वे जातियाँ मध्य एशिया से हट कर कुछ पच्छिम न गई होतीं तो भी उन पर उन लहरों का प्रभाव पड़े बिना न रहता।

चीन की गद्दी पर १४० से ८५ ई० पू० तक हान वंश का प्रतापी सम्राट् वू-ती बैठता था। उस के राज्य के आरम्भ-समय तक चीन के पच्छिमी सीमान्त पर हियंगनू कब्जा किये हुये थे; कानसू प्रान्त की ऊपर बढ़ी हुई बाँह में लिआऊ-चिऊ कानचित सूचिऊ तुएन-हुआंग आदि जो बस्तियाँ हैं, वे सब हियंगनू के हाथों में थीं। वू-ती ने अपने परम्परागत शत्रुओं के विरुद्ध ऋषिकों की मदद लेने के ख्याल से चाँग किएन नामी अपने दूत को पच्छिम भेजा (१३८ ई० पू०)। चाँग किएन को राह में हियंगनू लोगों ने पकड़ लिया, पर दस बरस की कैद भोगने के बाद वह पच्छिम जा सका। वह वंक्षु नदी के उत्तर ऋषिकों के डेरे तक

पहुँचा। उस का अभीष्ट तो सिद्ध न हुआ, किन्तु उस की यात्रा से एक बड़ा भारी फल निकला। चाँग किएन को और उस के द्वारा चीन के लोगों को पहले पहल पच्छिम के देशों का पता मिला। सुग्ध-देश के पूर्वी भाग में जिसे अब फ़रगाना कहते हैं एक छोटा सा राज्य था; उस के परे बाख्त्री पार्थव आदि कई नये देश थे। बाख्त्री में चाँग किएन ने क्या देखा कि चीन के दक्खिनी प्रान्तों का बाँस और कपड़ा वहाँ मौजूद है! पूछने से उसे मालूम हुआ कि बाख्त्री के दक्खिन काबुल तक शिन्-तू (सिन्धु, भारतवर्ष) देश फैला है, और उस के अन्दर से हो कर वह माल आता है।

चांग किएन के आविष्कार से चीन में एक नया युग शुरू हुआ। पच्छिमी देशों का रास्ता काबू रखना और पच्छिम से सम्बन्ध बनाये रखना अब चीन की विदेशी राजनीति का मुख्य ध्येय हो गया। बूती ने ११५ ई० पू० तक तुएन-हुआंग तक का पच्छिमी प्रदेश हूणों से जीत कर उन्हें उत्तर खदेड़ दिया, और तारीम के काँठे तक चीन की सत्ता पहुँचा दी। उस काँठे में उस समय छत्तीस छोटे छोटे राज्य तुखार आदि फिरन्दर लोगों के और शायद भारतीय उपनिवेशकों के भी गिन कर थे। उन के साथ सम्बन्ध स्थापित कर तथा उन पर अपना प्रभाव जमा कर अब चीन-साम्राज्य ने अपना पच्छिमी रास्ता खोल लिया। खोतन के राज्य ने बहुत जल्द चीन के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लिया; कूचा को काबू करना सब से अधिक कठिन होता था। इस प्रकार पहली शताब्दी ई० पू० में चीन का रेशम का व्यापार सुदूर पच्छिम के देशों तक से—जहाँ अब यूनान के बजाय रोम का प्रभुत्व स्थापित हो गया था—चलने लगा। इस युग में चीन का इन पच्छिमी देशों से ऐसा जीवित सम्पर्क हो गया कि चीन के सम्राट् चेंग-ती (३२—७ ई० पू०) के राज्य-काल में कपिश के भारतीय शकों ने अपने एक प्रबल शत्रु के विरुद्ध, जिस का हम अभी उल्लेख करेंगे, चीन से मदद मांगी!

खोतन की अनुश्रुति, जो तिब्बती ग्रन्थों में सुरक्षित है, बतलाती है कि वहाँ का राजा येउल के बाद राजा विजयसम्भव राज्य करने लगा। विजयसम्भव के राज्य के पाँचवें बरस में आर्य वैरोचन ने खोतन के पशु-पालकों को धर्म सिखाया, और उन की बोली के लिए एक लिपि बना दी। विजयसम्भव के वंश का राज्य खोतन में आगे कई शताब्दियों तक बना रहा। उस के वंश के तेरहवीं पीढ़ी पर राजा विजयकीर्त्ति हुआ जो सुप्रसिद्ध राजा कनिष्क (७८ ई०)[1] का समकालीन था। इस लिए विजयसम्भव अन्दाजन पहली शताब्दी ई० पू० के आरम्भ में या उस से कुछ पहले रहा होगा। ठीक नहीं कहा जा सकता कि वह भारतीय प्रवासियों में से, जो खोतन में आ बसे थे, अथवा खोतनी लोगों में से ही, जो कि भारतीय धर्मविजय के प्रभाव में आ कर भारतवर्ष की भाषा सीखने और भारतीय नाम रखने लगे थे, कोई। किन्तु भारतीय धर्म-विजय इस देश में किस प्रकार हो रहा था, उस की कुछ झलक इस अनुश्रुति से मिलती है। भारतवर्ष की परिष्कृत वर्णमाला और लिपि एक ऐसी वस्तु थी जिसे भारतीय प्रवासी सब जगह अपने साथ ले जाते और जिस के द्वारा वे असभ्य जातियों में शीघ्र नई ज्योति पहुँचा देते थे। जहाँ जहाँ हम भारत के दिग्विजय या धर्मविजय को बढ़ता देखेंगे, वहाँ वहाँ भारतीय वर्णमाला को पहुँचता देखेंगे। और उस के द्वारा असभ्य जातियाँ पढ़ना लिखना सीख जातीं, उन की बोलियों में वाङ्मय का विकास होने लगता, और धीरे-धीरे वे सभ्य परिष्कृत भाषायें बन जातीं, और उन के बोलने वाले सभ्य मनुष्य।

शक और ऋषिक-तुखार आज स्वतन्त्र और पृथक् जाति के रूप में नहीं बचे हैं। उन के इतिहास को पढ़ कर उन के विषय में यही कहना पड़ता है कि उन्हों ने स्वयं किसी ऊँची सभ्यता और संस्कृति का भले

---

[1] दे० नीचे § १८०।

ही विकास न किया हो, पर उन की ग्रहण शक्ति अनुपम थी, और उन का प्रक्रम कर्तृत्व सचेष्टता और जागरूकता अद्वितीय। संकीर्ण दृष्टि उन की नहीं थी; जहाँ जो कुछ अच्छा देखते वही वे अपना लेते, और बहुत जल्द दूसरों की सभ्यता को ग्रहण कर लेते। भिन्न भिन्न जातियों के बीच वस्तुओं का और सभ्यता का विनिमय करना तो उन का मुख्य धन्धा ही था। चीन का रेशम जैसे पहले पहल उन्हीं की मार्फ़त पच्छिमी जगत् तक पहुँचा, वैसे ही भारतवर्ष से बुद्ध के सन्देश को भी पहले वही चीन ले गये।

ऋषिक-तुखार अब भारतवर्ष की ठीक उत्तरी सीमा तक पहुँच चुके थे, और हम देखेंगे कि हिन्दूकुश के झरोखों से वे दक्खिन तरफ़ भी धीरे धीरे सरक रहे थे। पहली शताब्दी ई० पू० के अन्त में वे एक सभ्य जाति बन चुके थे। उन्हीं के कम्बोज देश के राज्य से चीन के राजदूत पहले-पहल बौद्ध धर्म की एक पोथी और भगवान् बुद्ध का सन्देश ले गये (२ ई० पू०)।

§ १७६. सुवर्णभूमि में पहली आर्य बस्तियाँ और राज्य

(लग० १५० ई० पू०—५० ई०)

तीसरी शताब्दी ई० पू० के बाद से जिस प्रकार उपरले हिन्द में भारतवर्ष और चीन अपने अपने हाथ बढ़ा कर एक दूसरे से मिलने को झुक रहे थे, उसी प्रकार परले हिन्द के विशाल प्रायद्वीप में भी वे दूसरे के नज़दीक पहुँच रहे थे।

२१४ ई० पू० में शी-हुआंग-ती ने नानलिंग पर्वतशृङ्खला के दक्खिन युई लोगों[1] को जीत उन के प्रदेश से साम्राज्य के कई प्रान्त बना दिये थे। उन दक्खिनी प्रान्तों में चीन के आधुनिक क्वाङ-सी और

---

[1] ऊपर § १२६ अ— पृ० ४४८।

काङ-तुङ प्रान्तों के अतिरिक्त आधुनिक तौनिकन तथा उत्तरी आनाम शामिल थे। शी हुआंग ती के बाद उन प्रान्तों के एक शासक ने स्वतन्त्र हो कर नान-युई (=दक्खिनी युई) नाम के एक स्वतन्त्र चीनी राज्य की स्थापना की, जिस में वे सभी प्रान्त सम्मिलित रहे। हान वंश के सम्राटों के समय (१९६—१११ ई० पू० में) वे प्रदेश फिर चीन-साम्राज्य की अधीनता में रहे। उन में सब से दक्खिनी प्रान्त जे-नान कहलाता; और उस की दक्खिनी सीमा आधुनिक बिन्ह दिन्ह के दक्खिन उस पर्वतशृङ्खला तक थी जो वरेला अन्तरीप पर समाप्त होती है,—अर्थात् आधुनिक फ्रांसीसी हिन्दचीन के आनाम प्रान्त का उत्तरी तीन-चौथाई उस समय चीन के शासन में चला गया था। वास्तव में युई लोगों की दक्खिनी सीमा काङ-नाम तक अर्थात् आधे आनाम तक थी, काङ-नाम से वरेला तक युई नहीं प्रत्युत आग्नेय जातियाँ रहतीं थीं, जो वहाँ से भारतवर्ष के पूर्वी सीमान्त तक फैली हुईं थीं। उन के विषय में अभी कहा जायगा। युई लोगों का बड़ा अंश बाद में चीनी जाति में मिल गया;—काङसी और काङतुङ आजकल शुद्ध चीनी प्रदेश हैं। किन्तु तौनकिन और उत्तरी आनाम के युई चीनियों में नहीं मिले; उन के वंशज आनामी लोग हैं, जो कि आधुनिक परिभाषा के अनुसार स्यामचीनी वंश[1] के हैं। मध्यकाल में जा कर आनामियों की बड़ी शक्ति हो गई। परन्तु दूसरी शताब्दी ई० पू० में आनामी युई स्वतन्त्र न थे, और उन की दखिनी सीमा काङनाम तक ही थी।

पूर्वी बंगाल और मणिपुर के पूरब तौनकिन की खाड़ी तक के समूचे विशाल प्रायद्वीप को जिस में अब बरमा स्याम मलायु प्रायद्वीप और फ्रांसीसी हिन्दचीन के राज्य हैं, हम परला हिन्द या हिन्दचीन कहते हैं। हिन्दचीन शब्द से इस देश का भारतवर्ष और चीन से सम्बन्ध सूचित

---

[1] दे० ऊपर §§ २०-२१।

होता है। वास्तव में चीन की सत्ता इस प्रायद्वीप के केवल पूरबी आँचल में उतनी ही थी जिस का अभी उल्लेख किया गया है; पीछे उतनी भी नहीं रही। इस प्रायद्वी में जो कुछ सभ्यता का उदय और विकास हुआ वह सब प्राचीन भारतीयों के ही किये। प्राचीन जगत् के लोग इसे भारतवर्ष का ही एक बढ़ाव और अंश मानते थे। यूनान और रोम के लोग इसे गंगा पार का हिन्द कहते, और स्वयं चीनी लोग भी इसे शिन-तू (सिन्धु यानी हिन्दुस्तान) अथवा थियेन-चू (देवताओं के देश अर्थात् भारतवर्ष) का एक भाग मानते थे।

प्राचीन भारतवासियों को इस विशाल प्रायद्वीप के पच्छिमी तट का धुँधला परिचय छठी-पाँचवीं शताब्दी ई० पू० (जातक-ग्रन्थों के युग) से था[1]। धीरे धीरे वे इधर व्यापार करने लगे। इन देशों को वे सुवर्णभूमि कहते। इरावती या साल्वीन नदी सुवर्ण-नदी कहलाती थी, और उन नदियों के मुहानों से ले कर मलायु प्रायद्वीप और सुमात्रा तक सब देश सुवर्णभूमि। इन देशों में, विशेष कर मलायु प्रायद्वीप के पहाङ राज्य में, सोने की खानें हैं, और जान पड़ता है उन खानों का पता मिलने से ही उधर आर्यों की बस्तियाँ बसने लगीं थीं। प्राचीन यूनान और रोम के लोग भी इन देशों को जिस नाम से पुकारते वह सुवर्णभूमि का ही शब्दानुवाद था। कई बार हम समूचे परले हिन्द को और उस के दक्खिन के मलायु द्वीप-पुंज को भी सुवर्णभूमि कह देते हैं।

आजकल सुवर्णभूमि में जो जातियाँ प्रमुख हैं वे चीन-किरात नस्ल[2] की हैं। किन्तु ये जातियाँ वहाँ दसवीं शताब्दी ई० में तथा उस के बाद—अर्थात् आर्यों के प्रवेश के प्रायः १२-१३ सौ बरस पीछे—तिब्बत के पठार से अथवा तिब्बत के पूरब लगे हुए चीन के स्सेछुआन प्रान्त से उतरी हैं।

---

[1] ऊपर §§ ८२, ८४ उ—पृ० २१८, २२७—३०।

[2] दे० ऊपर §§ २०—२२।

बहुत पहले वहां एक नीग्रोई जाति रहती थी, जिसे बाद में आने वाली जातियाँ राक्षस कहतीं। फिर आग्नेयद्वीपी[1] लोग आये। उन के भी बहुत कम अंश अब प्रायः केवल तट पर बचे रह गये हैं। उन के बाद इस प्रायद्वीप में आग्नेयदेशी मोन ख्मेर[1] जाति आई। चीन किरातों के आने तक वही यहाँ की मुख्य जाति थी, और उसी ने आर्यों की सहायता से सुवर्णभूमि में सभ्यता का विकास किया। पगू के मोन और कम्बुज देश के ख्मेर उस जाति के दो मुख्य अंश हैं; मध्य बर्मा (श्वेबो, यमेथिन, मग्वे, मोन्युआ ज़िलों) के पुराने निवासी प्यू भी, जो अब बरमियों में घुल मिल गये हैं, उसी जाति के थे। उसी जाति के रिश्ते-नाते की चर्चा पीछे[1] की जा चुकी है। आर्यों के प्रवेश से पहले उसी जाति के लोग समूचे सुवर्णभूमि में फैले हुए थे। थे वे उस समय तक एकदम असभ्य दशा में; पत्थर के हथियार बर्त्तते तथा धातुओं का प्रयोग न जानते।

सुवर्णभूमि को जाने वाले पराक्रमी भारतीयों के दल स्थल तथा जल दोनों मार्गों से जाते। मगध अंग और वंग के लोग ताम्रलिप्ति बन्दरगाह से सुवर्णभूमि के लिए रवाना होते। कलिंग-तट से आर्यों का एक दूसरा प्रवाह उधर जा रहा था। तीसरा केन्द्र जहाँ से भारतीय उपनिवेशक रवाना होते, कृष्णा-गोदावरी के मुहानों में था। कृष्णा के मुहाने में आधुनिक मछलीबन्दर के पास कुड्डूर नाम का एक गाँव है। वह उस समय एक बड़ा नगर था, और उस के निकट घण्टशाल नाम की मंडी थी। कृष्णा-काँठे का सब प्रदेश कुड्डूरहार कहलाता। कुड्डूरहार के बन्दरगाहों में खास तौर पर सुवर्णभूमि को जाने वाले जहाज़ लादे जाते थे। इरावती और सल्वीन के मुहानों में रंगून थतोन स्वान्ते आदि बस्तियों के निवासी पुराने समय में भी तलैंग लोग थे। अब तलैंग बरमी जाति का एक बड़ा अंश हैं। तलैंग और तैलंग परस्पर-सम्बद्ध शब्द हैं, और उन का वह सम्बन्ध

---

[1]दे० ऊपर § १६।

हमारे तेलंगण का प्राचीन सुवर्णभूमि से सम्बन्ध सूचित करता है। पच्छिम तट के सुराष्ट्र और अपरान्त (कोंकण) के बन्दरगाहों अर्थात् भरुकच्छ-शूर्पारक (सोपारा) अदि का भी सुवर्णभूमि के साथ लगातार सम्बन्ध बना हुआ था।

इन जलमार्गों के अतिरिक्त पूर्वी बंगाल तथा मणिपुर से स्थल द्वारा भी इरावती सालवीन मेकौङ और लाल नदी (सोंग कोई) की उपरली दूनों में आर्यों का प्रवाह लगातार जा रहा था।

ब्रह्मपुत्र के काँठे से तौनकिन खाड़ी तक छोटे छोटे क्षत्रिय राज्य धीरे धीरे स्थापित होने लगे। अराकान की यह अनुश्रुति है कि वहाँ का पहला राजा बनारस से आया, और उस ने पहले पहल रामावती द्वीप को बसाया था, जो अब राम्य्री या रामरी कहलाता है। अराकान के तट पर आधुनिक सन्दोवई एक पुरनी हिन्दू बस्ती को सूचित करता है, उस के अन्दर की तरफ़ वेसाली नाम की एक दूसरी प्राचीन बस्ती थी। मध्य बर्मा में प्यू के देश में तथा उत्तरी बर्मा में भी अनेक हिन्दू राज्य और बस्तियाँ थीं जिन सब के मूल नाम तथा वृत्तान्त अब उपलभ्य नहीं हैं। दक्खिन बर्मा से विषय में ऊपर कहा जा चुका है। आधुनिक चीन के युइ-नान प्रान्त का प्राचीन हिन्दू नाम गान्धार था; १३ वीं-१४ वीं सदी तक विदेशी लोग भी उसे उसी नाम से जानते थे; वहाँ की जनता तब तक मिश्रित भारतीय तथा चीनी थी। मेनाम तथा मेकौङ के काँठे में आजकल जो लओ (Laos) प्रदेश है, उस का प्राचीन नाम मालवा था। उस का पूरबी भाग, आधुनिक लुआङ फ़ा बाँग, दशार्ण कहलाता था।

पूरबी हिन्दचीन में सब से प्राचीन आर्य राज्य कौठार और पाण्डुरङ्ग (आधुनिक पनरान) थे। पाण्डुरङ्ग कौठार के दक्खिन था, और ये दोनों दक्खिनी आनाम में थे। ये दोनों राज्य ईसवी सन् के आरम्भ के साथ स्थापित हो चुके थे। न्हतरङ बन्दर पर पोनगर नामी स्थान में अब भी

भगवती का एक मन्दिर है जहाँ दूसरी या तीसरी शताब्दी ई० का एक शुद्ध संस्कृत अभिलेख है। उस लेख में कौठार के श्रीमार राजकुल का कुछ वृत्तान्त है।

कौठार और पाण्डुरङ्ग छोटे राज्य थे। किन्तु आधुनिक कम्बुज में मेकौङ नदी के काँठे में उसी समय (लगभग ईसवी सन् आरम्भ में) एक विशाल आर्य राज्य स्थापित हुआ, जिस की पच्छिमी सीमा तेनासरीम तक, दक्खिनी मलायु प्रायद्वीप के अन्दर तक और उत्तरी १५° अक्षांश- रेखा तक थी। समूचा कोचीन-चीन, कम्बुज, दक्खिन लओ, स्याम, और मलायु प्रायद्वीप का एक अंश उस में सम्मिलित था। उस राज्य का मूल नाम दुर्भाग्य से हम नहीं जान पाये, चीनी लोग उसे फ़ू-नान कहते थे। फ़ू-नान राज्य का एक बड़ा सामुद्रिक वेड़ा था, और चीन साम्राज्य के साथ उस का दूत-सम्बन्ध बना रहता था। फ़ू-नान की स्थापना दक्खिन भारत के कौण्डिन्य नामक एक ब्राह्मण ने की थी, जिस ने उस देश में जा कर सोमा नाम की एक नागी से विवाह किया था। जिस नाग जाति की वह थी, वह कोई जड-जन्तु पूजक आग्नेयदेशी जाति रही होगी। सोमा के नाम से फ़ूनान का राजवंश सोम वंश कहलाता। उस वंश की राजधानी मेकौङ के तट पर थी।

सुवर्णभूमि प्रायदीप की तरह मलायु द्वीपावली में भी हिन्दू बस्तियाँ बस रहीं और राज्य खड़े हो रहे थे। वाल्मीकि-रामायण में जहाँ सुग्रीव सीता की तलाश के लिए वानरों की मण्डलियों को भिन्न भिन्न दिशाओं में भेजता है वहाँ सुवर्णद्वीप और यवद्वीप का भी उल्लेख है। सुवर्णद्वीप मलायु प्रायद्वीप का या सुमात्रा का नाम था। उस के आगे यवद्वीप और फिर शिशिर पर्वत थे। यवद्वीप से अब जावा समझा जाता है; विद्वानों का विचार है कि उस समय वह सुमात्रा का नाम था, या कम से कम सुमात्रा का कुछ भाग उस में अवश्य सम्मिलित था; क्योंकि यवद्वीप में सोने की ख़ानों का उल्लेख है जो सुमात्रा में ही थीं, जावा में नहीं। वाल्मीकि

रामायण का विद्यमान रूप पहली शताब्दी ई० के पीछे का नहीं है, इस लिए तब तक ये-बस्तियाँ बस चुकी थी।

ध्यान रहे कि सुवर्णभूमि और सुवर्णद्वीपों के ये पहले आर्य राज्य-संस्थापक बौद्ध नहीं थे। वे प्रायः शैव थे। आगे चल कर बौद्ध धर्म का भी वहाँ खूब प्रचार हुआ, पर बौद्ध धर्म ने ही आर्यों को उधर जाने की प्रेरणा न दी थी।

नये देश खोजने नये उपनिवेश बसाने और नये राज्य स्थापित करने की प्रवृत्ति भारतीय आर्यों के इतिहास में बौद्ध धर्म से बहुत पुरानी थी। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार गंगा-जमना के काँठों से आर्य लोग धीरे धीरे समूचे भारत में फैल गये थे। उन के इस नये फैलाव में भी वही प्रेरणा काम कर रही थी। पाण्ड्य और सिंहल राष्ट्रों की स्थापना के साथ गंगा-काँठे से उठी हुई आर्य लहर भारतवर्ष के अन्तिम छोरों तक जा पहुँची थी। भारतवर्ष की सीमाओं तक पहुँचने के बाद वह शान्त नहीं हो गई, प्रत्युत अब उन सीमाओं को लाँघ कर सुवर्णभूमि में पहुँची, और उस ने वहाँ भी नये राष्ट्रों को और एक नई सभ्यता को जन्म दिया। इन राष्ट्रों के आरम्भिक मोनख्मेर निवासी भी आर्यों की शिक्षा-दीक्षा पा कर शीघ्र ही उन के रंग में रँगे तथा उन में घुल मिल गये।

विद्वानों का यह निश्चित मत है कि ईसवी सन् की पहली शताब्दी में सुमात्रा के भारतीय-मिश्रित मलायुओं ने मदगास्कर तथा पूरबी आफ्रीका में भी बस्तियाँ बसाईं। दुर्भाग्य से उन के इतिहास की अभी तक कुछ खोज नहीं हुई।

[ग्रन्थनिर्देश अगले करण के साथ।]

बीसवाँ प्रकरण

सातवाहन और ऋषिक-तुखार—पैठन और पेशावर के साम्राज्य

(लग० २५ ई० पू० से लग० २२५ ई०)

§ १७७. ऋषिक राजा कुशाण

(लग० २५ ई० पू०—लग० ३५ ई०)

हम ने ऋषिक-तुखारों को पीछे (§ १६२) कम्बोज-वाह्लीक में छोड़ा था। वहाँ रहते हुए वे बहुत कुछ सभ्यता सीख गये थे सो भी हम ने देखा। वहाँ से वे धीरे धीरे हिन्दूकुश के दक्खिन भी सरक रहे थे। ऐसा जान पड़ता है कि वे मुख्यतः कम्बोज देश अर्थात् बदख्शां और पामीर से दोरा बरोग़ील दरकोट घाटों द्वारा हिन्दूकुश के इस पार उतरे, और काष्कार (चितराल) तथा दरद देश के पच्छिमी आँचल से उड्डीयान (उपरली स्वात दून) और उरशा (हज़ारा) के रास्ते सीधे गान्धार के करीब तक जा पहुँचे। ता-हिया (तुखार-देश) में उन की पाँच छोटी छोटी रियासतें हो गयीं थीं, जिन में से प्रत्येक एक हि-हू अर्थात् साहू या साहि के अधीन थी। उन रियासतों के नाम एक चीनी ऐतिहासिक ने यों लिखे हैं—हिऊ-मी, शुआंग-मी, कुएई-शुआंग, ही-तुं और काओ-फू। दूसरे ने काओ-फू के बजाय तु-मी लिखा है। वास्तव

में तू-मी ही ठीक है। जर्मन विद्वान् मार्कार्ट ने इन की पहचान यों की है—हिउमी=वखाँ; शुआंग-मी=चितराल; कुएई-शुआँग=गान्धार का उत्तरी भाग; ही-तूं=परवाँ, पंजशीर की उपरली दून में जो कि हिन्दू-कुश पार से भारत आने के मुख्य रास्ते काओशां घाटे के ठीक नीचे तथा चरीकर के उत्तर है; और तू-मी=बामियाँ। काओफू माने काबुल। यदि मार्कार्ट की ये शिनाख्तें ठीक हैं—और उन्हें सभी विद्वानों ने ठीक मान रक्खा है—तो दो बातें स्पष्ट सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि ताहिया अर्थात् तुखार देश में अब हिन्दूकुश के दक्खिन दरदिस्तान गान्धार और कपिश देश के उत्तरी अंश भी गिने जाने लगे थे, और दूसरी यह कि समूचा तुखार-देश इन पाँच छोटी छोटी रियासतों में पूरा न हो जाता था।

ताहिया में युइशि की स्थापना के सौ से अधिक बरस बाद अर्थात् अन्दाज़न २५—२० ई० पू० में उक्त रियासतों में से तीसरी की गद्दी कुशाण नाम के एक व्यक्ति को मिली। कुशाण को प्रायः सभी विद्वान् ऋषिकों की उस खाँप का नाम मानते हैं जिस में कि वह राजा पैदा हुआ; पर वास्तव में वह उस राजा का व्यक्तिगत नाम है[1]।

कुशाण एक ज़बरदस्त आदमी था। चीनी ऐतिहासिक का कहना है कि उस ने बाकी चार रियासतों को भी जीत कर अपनी रियासत में

---

[1]जायसवाल ने यह बात अभिलेखों के आधार पर भली प्रकार सिद्ध की है—ज० बि० ओ० रि० सो०, १९२०, पृ० १७-१८; १९३०, पृ० २६४-५७। उन का कहना है कि चीनी कुएई-शुआंग और कुशाण एक वस्तु नहीं है, कुएईशुआंग स्थान का नाम प्रतीत होता है। यदि चीनी लेख का वह अभिप्राय हो भी कि ऋषिकों की एक खाँप कुएई-शुआँग थी, तो भी वह लेख तीन शताब्दी पीछे का होने से इस अंश में प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

मिला लिया, अन-सी पर चढ़ाई कर काओफू ले लिया, पु-त्ता और कि-पिन् को पूरी तरह वश में किया, और एक लम्बे शासन के बाद अस्सी से अधिक बरस की आयु में उस का देहान्त हुआ। अन-सी का अर्थ होता है पार्थव राज्य, और यहाँ हरउवर्ती वाले पह्नवों से ही अभिप्राय है। कुशाण ने उन से काबुल ले लिया। किपिन् माने कपिश देश; पु-त्ता का अर्थ अब तक नहीं जाना गया। कपिश के शक सरदार ने चीन-सम्राट् चेंग-ती (३२—७ ई० पू०) से जिस प्रबल शत्रु के विरुद्ध मदद माँगी थी[1], वह कुशाण ही होगा।

काबुल के अन्तिम यूनानी राजा हेरमय के कुशाण के साथ सम्मिलित सिक्के पाये गये हैं; जिन के एक तरफ़ बड़े बड़े पदों के साथ हेरमय का और दूसरी तरफ़ कुशाण का नाम होता है। उन सिक्कों की व्याख्या करने को विचित्र विचित्र कल्पनायें की गई हैं[2]। स्पष्ट बात यह है कि ऋपिकों के पाँच साहियों में से कम से कम अन्तिम दो के

---

[1] ऊपर § १७५-पृ० ८०४।

[2] पहले यह माना जाता था कि कुशाण ने ही हेरमय के राज्य की समाप्ति की और उस के सिक्कों के दूसरी तरफ़ अपना नाम छापा—मा० मु० § ६५। अब इस बात पर सब की सहमति है कि पह्नवों ने काबुल के यवन राज्य का अन्त किया; इस दशा में उन सिक्कों की समस्या उपस्थित होती है। कैं० इ० पृ० ५६२ में तो लिखा है कि हेरमय के ७० बरस पीछे कुशाण उस का चित्र अपने सिक्कों पर झूठमूठ देता रहा; पर वहीं पृ० ५८४ पर गुदुव्हर और कुशाण की समकालीनता अन्दाज़ की गई है—जब गुदुव्हर तक्षशिला में राजा था तब कुशाण काबुल में। रा० इ० में यह कल्पना की गई है कि हेरमय और कुशाण एक दूसरे के मित्र थे, इस लिए सिक्कों पर दोनों के नाम इकट्ठे हैं! केवल मैत्री के कारण साझे सिक्के क्यों निकाले जाते?

प्रदेश हेरमय के राज्य के ठीक अन्दर थे; शुरू में वे नाम को उस के अधीन रहे होंगे, किन्तु जब कुशाण ने पाँच ऋषिक रियासतों को एक कर लिया तब काबुल-दून की वास्तविक राज-शक्ति भी उस के हाथ में आ गई, और हेरमय केवल नाम का राजा रहा। वह एक किस्म का द्वैराज्य था[1]। कुशाण ने हेरमय को हटाया नहीं, प्रत्युत उस के और अपने नाम से सम्मिलित सिक्के चलाये; कहने को हेरमय ही राजा था पर असल में कुशाण। जब हरउवती के पह्लवों ने हेरमय को गद्दी से उतारा, तब अपनी शक्ति कम देखते हुए कुशाण चुप रहा; किन्तु गुदुव्हर के बाद उस ने पह्लवों से उन का राज्य छीनना शुरू कर दिया (लग० ३ ई० पू०)[2]। २ ई० पू० में ऋषिक राजा के दूत चीन के हान वंश के सम्राट् ऐ-ती के दरबार में पहले-पहल बौद्ध सुत्तों का अनुवाद ले कर पहुँचे थे। कुशाण निश्चय से बौद्ध था; अपने सिक्कों पर वह अपने को ध्रमथिद (धर्म-स्थित) कहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस ने अपने राज्य की स्थापना होते ही उस की सूचना देने के लिए चीन को दूत भेजे थे।

काबुल से कुशाण के जो पहले सिक्के—हेरमय के साझे वाले—पाये गये हैं, उन में उस का नाम इस प्रकार है—कुजुल कसस कुषणय-व्रुगस ध्रमथिदस, कुयुल कउस कुषणस, खुषणस यउअस कुयुल कपसस सच-ध्रमथितस, खुषणस...कुयुल कदफस, आदि।

इन लेखों में राजा के नाम के साथ जो कुजुल या कुयुल विशेषण है, वह उसी कुसुलुक या कुजूलुक शब्द का रूपान्तर है जिसे हम शक सरदारों

[1] ऊपर § १७२—पृ० ७६२।

[2] एक दूसरी व्याख्या यह हो सकती है कि पह्लवों ने काबुल का यवन राज्य समाप्त कर दिया, और बाद में उस राजवंश के हेरमय का पक्ष ले कर कुशाण पह्लवों से लड़ा।

की एक पदवी के रूप में देख चुके हैं[1]। उसी प्रकार यवुग या यवुग्र भी शक पदवी जउव[1] का रूपान्तर है। कस कफस काठ या कद्फ़स भी कोई शक पदवी है; अभिलेखों में उसी शब्द को हम कप या कद्फिस रूप में भी पाते हैं। यह पदवी राजा कुषाण और उस के बेटे दोनों की थी; और इसी से अभी तक उन दोनों राजाओं को कफस पहला और कफस दूसरा कहने की चाल है। किन्तु यह भूलना न चाहिए कि यह भी उन का नाम नहीं, पदवी ही थी। सिक्कों के उक्त पाठों से यह प्रकट है कि शुरू में कुषाण केवल एक छोटी सी रियासत का यवुग था। तक्षशिला वाले उन के बाद के सिक्कों पर उस का नाम बड़े बड़े पदों के साथ यों लिखा रहता है—महरजस रजतिरजस कुषणस यवुगस, महरजस रजतिरजस कुयुल कफसस, महरजस महतस कुषण कुयुल कफस, महरजस रजरजस देवपुत्रस कुयुल कर कफसस[2], महरजस रजतिरजस कुयुल कर कफस।

इन नई पदवियों में से देवपुत्र ध्यान देने योग्य है। राजाधिराज जैसे पार्थव राजाओं के पद का अनुवाद था, वैसे ही देवपुत्र चीन-सम्राटों के। ऋषिकों का साम्राज्य पार्थव और चीन के ठीक बीच था, और दोनों से उन का सम्पर्क था।

राजा कुषाण का उल्लेख दो-तीन अभिलेखों में भी है, और सिक्कों की तरह एक अभिलेख से भी यह सिद्ध होता है कि उस के पिछले

---

[1]ऊपर §§ १६७, १६९—पृ० ७६६, ७७०। यवुग शब्द को तुर्की माना जाता रहा है, पर यह निरा भ्रम था; ऋषिक लोग उस देश से आये थे जिसे हम अब तुर्किस्तान कहते हैं, पर उस युग में वहाँ तुर्कों का नाम-निशान भी न था।

[2]अब तक यह माना जाता रहा है कि कुज़ूल कर कप और कुज़ूल कप दो भिन्न व्यक्ति थे। डा० कोनो का कहना है कि कर भी कुज़ूल कप कुषाण की एक पदवी-मात्र है। यही ठीक बात है।

समय में पूरबी गान्धार अर्थात् तक्षशिला-प्रदेश भी उसके राज्य में था।

सं० १०३ वाले गुदुव्हर के समय के तख्त-ए-बाही के जिस अभिलेख की ऊपर चर्चा की गई है[1], उसी में दाता का कहना है कि उस ने वह दान एर्भ्रुण कपस पुयए अर्थात् एर्भ्रुण कप की पूजा या पुण्य के लिए किया था। एर्भ्रुण शब्द प्राकृत में स्पष्ट विदेशी है; डा० कोनौ का कहना है कि वह उपरले हिन्द के खोतनदेशी अभिलेखों में पाये जाने वाले अल्यसानइ या एय्सानइ शब्द का रूपान्तर है। संस्कृत-प्राकृत में ज़ के उच्चारण वाला कोई चिन्ह न था, और जब पहले-पहल उस उच्चारण के चिन्ह की ज़रूरत पड़ी तब भ्र या य्स से काम लिया गया। इस प्रकार वे शब्द वास्तव में एर्ज़ुन, अल्ज़ानइ और एज़ानइ हैं; उन सब का मूल रूप अर्ज़ानक हो सकता है। अल्यसानइ, एय्सानइ शब्दों का प्रयोग खोतनदेशी[2] भाषा में संस्कृत-प्राकृत के कुमार का अनुवाद करने को होता है; इस लिए सं० १०३ वाला पेशावर ज़िले का वह मन्दिर-दान राजा गुदुव्हर के राज्य-काल में कुमार कप के आदर के लिए उस के किसी मित्र ने किया था। तो भी यह कहना होगा कि वह उल्लेख बहुत धुँधला है।

[1]§ १७२—पृ० ७८६, ७६२।

[2]इस से प्रकट है कि ऋषिकों की भाषा खोतनदेशी थी। कुलूल और जउव-यवुग शब्दों से सूचित है कि ऋषिकों और शकों की भाषा प्रायः एक थी। ये परिणाम कनिष्क के सिक्कों के लेखों और उपरले हिन्द के अभिलेखों से पुष्ट होते हैं। ऊपर लिखा गया है कि तुखारी और खोतनदेशी में से शकों की भाषा कौन सी थी इस पर विवाद है (§ १६१—पृ० ७५०); डा० लुइउर्स ने पहले-पहल यह कहा था कि खोतनदेशी शकों की भाषा थी; और अब उन का मत बहुत कुछ प्रमाणित हो चुका है। फलतः हम खोतनदेशी को शक भाषा कह सकते हैं।

सं० १२२ और १३६ के दो अभिलेखों में महाराजा कुशाण का नाम स्पष्ट रूप से है। १२२ का लेख पेशावर ज़िले में सिन्धु नदी के पच्छिम तट के पंजतार नामक पहाड़ी गाँव से पाया गया है। उस का अभिप्राय यों है—"सं० १२२ श्रावण मास का दिन १, महरय गुषण के राज्य में, कसुअ का पूरब प्रदेश उरुमुज परिवार[1] के मोइक ने शिवस्थल बनवा दिया। और वहाँ मेरे दान के दो पेड़ हैं······ ।"[2]

सं० १२६ वाला लेख सन् १९१४ में तक्षशिला की चीर ढेरी की खुदाई में धर्मराजिका स्तूप के पच्छिम की एक कोठरी में से मिला था। उस कोठरी में एक पत्थर के सन्दूक के अन्दर एक चाँदी का मद्रघट बन्द था, और उस घट के भीतर एक शरीर-धातु-युक्त स्वर्ण-मंजूषा तथा चाँदी की एक लिपटी हुई पत्री। उसी चाँदी की पत्री पर यह लेख था—"सं० १३६ पहले आषाढ़ मास के १५ वें दिन। इस दिन प्रतिष्ठापित किये भगवान् के धातु इंतव्लिय परिवार के बाह्लोक णोअच्च नगर के रहने वाले उरसक ने। उस ने ये भगवान् के धातु प्रतिष्ठापित किये तक्षशिला के धर्मराजिका-(प्रांगण) में अपने बोधि-सत्त्व-गृह में महाराज राजा-तिराज देवपुत्र खुषण की आरोग्य-दक्षिणा के लिए, सब बुद्धों की पूजा के लिए, प्रचेगबुधों[3] की पूजा के लिए, अरहतों की पूजा के लिए, सब सत्वों की पूजा के लिए, माता-पिता की पूजा के लिए, मित्रों अमात्यों ज्ञातियों और सलोहितों (रुधिर-सम्बन्धियों ?) की पूजा के लिए, अपनी अरोगदक्षिणा के लिए। निर्वाण के लिए हो तेरा यह सम्यक् परित्याग (दान) !"[4]

---

[1]उरुमुज-पुत्र। इन लेखों में पुत्र शब्द सदा इसी अर्थ में बर्त्ता जाता है। मिलाइये ऊपर § २९—पृ० १२७।

[2]मा० अ० स० २, १, पृ० ७०।

[3]पच्चेकबुद्ध या प्रत्यग्बुद्ध। दे० पीछे परि० इ ३—पृ० ३८३।

[4]मा० अ० स० २, १, पृ० ७७।

इन अभिलेखों से प्रकट है कि सं० १२२ तक पश्चिम गान्धार और सं० १३६ तक पूरबी गान्धार भी राजा कुशाण के राज्य में सम्मिलित हो चुका था। यदि वह १८ और २१ बरस के बीच किसी आयु में अपनी रियासत की गद्दी पर बैठा हो, और वह घटना लग० २५—२० ई० पू० में हुई हो, तो ३६—४१ ई० के लगभग कभी उस का देहान्त हुआ होगा।

§ १७८. विम कफ्स
(लग० ३५—६५ ई०)

कुशाण का उत्तराधिकारी उस का बेटा विम या उविम हुआ। अपने पिता के समान उस की पदवी भी कफ्स कथफिश या कव्थिस थी; जिस से कुशाण को प्रायः कफ्स पहला, और विम को कफ्स दूसरा कहा जाता है। चीनी ऐतिहासिक का कहना है कि उस ने तिएन-चू (हिन्द) को फिर से जीता, और वहाँ अपनी तरफ़ से एक शासक नियुक्त किया। "तब से युइशि की शक्ति बहुत बढ़ गई; उन्हों ने भारतवर्ष के राजाओं को मार डाला और उन के स्थान में अपने प्रतिनिधि नियत किये।"

ऋषिक भी शकों के भाई-बन्द थे, और भारतवर्ष में वे शक ही कहलाते थे। इसी लिए विम का ६० ई० के करीब उत्तर भारत के पच्छिमी अंश को जीतना हिन्द को फिर से जीतना माना गया। पहली बार उसे १०० ई० पू० के करीब शकों ने जीता था, किन्तु लगभग चालीस बरस बाद ही उन्हें निरवशेष कर दिया गया था। उस के करीब सवा सौ बरस बाद विम ने फिर से उत्तर भारत को जीता। इस बीच की शताब्दी में वहाँ स्वतन्त्र गण और सातवाहनों का राज्य रहा।

सातवाहनों का वह राज्य जिस की जीवनशक्ति खारवेल और शकों के मुकाबले में परखी जा चुकी थी, इस नये हमले से भी एकदम पछड़ने

वाला नहीं था, इस समय से उस की ऋषिक-तुखारों के साथ एक लम्बी उठकपठक शुरू हुई जो प्रायः सवा शताब्दी तक लगातार जारी रही।

विम के समय का केवल एक खण्डित अभिलेख सं० १४८ या १८७ का दरद-देश के पूरबी छोर पर की खलचे[1] नामक बस्ती से पाया गया है। उस में पहली पंक्ति में संवत् दर्ज है, और दूसरी में लिखा है—महरजस उविम कव्थिसस[2]। बस कुल इतना ही लेख है। दरद-देश और उस के साथ साथ कश्मीर भी शायद राजा कुशाण के समय से ही ऋषिकों के राज्य में रहा हो। समूचे पञ्जाब काबुल और हरउवती से विम के सिक्के पाये गये हैं। उन पर महरजस रजदिरजस सर्वलोग इश्वरस महिश्वरस विम कथफिशस त्रतरस या इन से मिलते जुलते शब्द लिखे रहते हैं। उन के अतिरिक्त उस समूचे इलाके से उन सिक्कों से मिलते जुलते ऐसे सिक्के बड़ी संख्या में पाये गये हैं जिन पर राजा के नाम के बिना ग्रीक भाषा में केवल उस के पद दिये होते हैं, और किसी किसी में उन का प्राकृत अनुवाद महरजस रजदिरजस महतस त्रतरस लिखा रहता है। उन में से बहुतों पर वि संकेत भी होता है जिस से विम का अभिप्राय हो सकता है। जो भी हो वे नामहीन राजा के सिक्के विम के किसी क्षत्रप द्वारा चलाये हुए ही माने जाते हैं। पह्लव राजवंश का मूल प्रदेश हरउवती भी राजा कुशाण ने ही शायद उन से छीन लिया हो, और नहीं तो उक्त सब सिक्कों से प्रकट है कि विम ने निश्चय से ले लिया। सिन्ध में पेरिप्लस के लेखक के समय तक अर्थात् लगभग ८० ई० तक तुच्छ पह्लव सरदार आपस में लड़ा करते थे[3], जिस से यह ख्याल होता है कि उस तरफ कुशाण और विम ने ध्यान नहीं दिया। किन्तु हरउवती और

---

[1]दे० ऊपर § ७ अ—पृ० २६। [2]मा० अ० स० २, १, पृ० ८१।
[3]§ ३८।

पञ्जाब दोनों जिस के राज्य में हों, उस के अधीन सिंध न रहा हो यह सम्भव नहीं दीखता। यह हो सकता है कि ८० ई० में उस का राज-दंड किसी कारण से शिथिल हो जाने से स्थानीय सरदार उत्पात करने लगे हों। विम का मुख्य कार्य यह था कि उस ने पञ्जाब से मथुरा की तरफ़ अपने राज्य को बढ़ाया। उस के सिक्के आगे बनारस तक पाये गये हैं। मथुरा में उस के उत्तराधिकारी के छठे बरस का इन राजाओं का एक देवकुल पाया गया है[1], जिस में एक मूर्त्ति विम की है और दूसरी बहुत सम्भवतः कुशाण की। विम वाली मूर्त्ति के नीचे महाराजो राजातिराजो देवपुत्रो कुशाणपुत्रो शाहि वेम'''इत्यादि शब्द खुदे हैं। इस ब्राह्मी लेख में वेम के पिता का नाम कुशाण लिखा है, इसी से यह जाना गया है कि खरोष्टी लेखों के कुषण को भी कुषाण ही पढ़ना चाहिए।

हिन्दूकुश के उत्तर सुग्ध बाख्त्री और कम्बोज देश ऋषिकों के मूल राज्य में थे ही; उस के दक्खिन दरद-देश कपिश-कश्मीर काबुल गान्धार और शायद पक्थ[2] और हरउवती भी राजा कुषाण के समय तक उस साम्राज्य में सम्मिलित हो गये थे; विम ने उस में समूचा पञ्जाब और पच्छिमी मध्यदेश भी मिला लिया। कुशाण के समय में भी ऋषिक राज्य शायद हेरात पर पार्थव राज्य को छूता होगा; अब विम का साम्राज्य एक तरफ़ चीन-साम्राज्य को और दूसरी तरफ सातवाहन साम्राज्य को भी छूने लगा। उस के अतिरिक्त विम के साम्राज्य का रोम-साम्राज्य के साथ भी घनिष्ट व्यापार-सम्बन्ध था; उसी व्यापार की खातिर विम ने ठीक रोम के सिक्के के तोल के अपने सोने के सिक्के चलाये।

चीनी ऐतिहासिक के ऊपर उद्धृत कथन से यह भी प्रकट है कि

---

[1] ज० बि० ओ० रि० सो० १९२०, पृ० १२ प्र।

[2] यदि पु-ता का अर्थ पक्थ हो सके।

विम के विशाल साम्राज्य की राजधानी हिन्दूकुश के उत्तर तुखार देश (बदख्शाँ) में ही थी; और भारतवर्ष का शासन वह अपने क्षत्रपों द्वारा करता था।

ईसवी सन् के आरम्भ में चीन की सत्ता मध्य एशिया में लुप्त हो गई थी, इसी कारण राजा कुशाण के समय उस के राज्य और चीन-साम्राज्य के बीच के सब छोटे छोटे राज्य स्वतन्त्र थे। किन्तु ५८ ई० के बाद चीन का प्रभाव वहाँ फिर स्थापित होने लगा। ६८ ई० में ऋषिकों के भारतीय राज्य में से कश्यप मातङ्ग और धर्मरत्न नामक दो भिक्खु चीन के राजदूतों के साथ चीन गये; और वहाँ की राजधानी सीङानफू में, जो अब शेनसी प्रान्त का मुख्य नगर है, उन के लिए पो-मा-सी अर्थात् श्वेताश्व-विहार नाम का एक विहार स्थापित किया गया। वह चीन में बौद्ध धर्म की पहली बुनियाद थी।

यद्यपि विम का पिता बौद्ध था, और विम के समय चीन में बौद्ध धर्म की वह नींव रक्खी गई, तो भी विम की श्रद्धा शैव मार्ग में रही दीखती है। उस के सिक्कों पर भगवान् शिव और नन्दी की मूर्त्ति तथा त्रिशूल बना रहता है।

मथुरा में देवपुत्र विम की जो मूर्त्ति है, उस में उस की वेषभूषा ठीक वैसी है जैसी प्राचीन लेखकों ने शकों की बतलाई है, और जैसी सर्दियों में अमृतसर आने वाले यारकन्द-काशगर के व्यापारियों की आज भी होती है—लम्बा चोगा, कमरबन्द, घुटनों तक के मुलायम जूते और उन में टँका हुआ पायजामा, तथा ऊँची नुकीली टोपी।

§ १७९. महेन्द्र और कुन्तल सातकर्णि

(अन्दाज़न ७२—८३ ई०)

हमारे देश के ज्योतिष-पंडितों में परम्परा से यह बात चली आती है कि राजा विक्रमादित्य के शकों को जीत कर संवत् चलाने के बाद उस

के वंश में राज्य बना रहा; किन्तु १३५ वें बरस (७८ ई० में) उस के वंशज सालवाहन को फिर शकों से लड़ना पड़ा, और उस ने फिर से शकों को हराया। यह परम्परागत जनश्रुति शायद पूर्ण सत्य नहीं है[1], तो भी पहली शताब्दी ई० पू० से पहली शताब्दी ई० तक के भारतवर्ष के राजनैतिक इतिहास का ठीक सार इस जनश्रुति में आ गया है। क्षहरात शकों का संहार होने अथवा महाराष्ट्र सुराष्ट्र अवन्ति और मथुरा से उन के निकाले जाने के बाद, तथा मगध में काण्वायनों का राज्य समाप्त हो जाने के बाद, पूरबी पंजाब से तामिलनाड के उत्तरी छोर तक सातवाहनों का मुकाबला करने वाली कोई राजशक्ति भारतवर्ष में न थी। वह सातवाहनों के चरम उत्कर्ष का युग था जब कि उन का दरबार, विशेषतः राजा हाल के समय में, साहित्य और संस्कृति का का आश्रय बन गया था। उन के राज्य में उस युग में प्रायः समूचा भारत था, यह बात पेरिप्लस के एक निर्देश से पुष्ट होती है। उस के लेखक के अनुसार भरुकच्छ बन्दरगाह से आर्यक (Ariaca) प्रान्त शुरू होता था जिस से कि मम्बेर (Mambarus) के राज्य का तथा समूचे हिन्द का प्रारम्भ होता था[2]। मम्बेर किसी भारतीय नाम का अपपाठ है सो सब मानते हैं। आर्यक कोंकण का नाम है सुदूर दक्खिन के दामिरक तट के मुकाबले में, अथवा सिन्ध के हिन्दी शकस्थान के मुकाबले में। वहाँ से किसी सातवान राजा का राज्य तो शुरू होता ही था, किन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि सातवाहन राज्य का आरम्भ ही समूचे हिन्द का आरम्भ था—अर्थात् समूचा हिन्द तब सातवाहन राज्य में था। मम्बेर उस पाश्चात्य यात्री का ठीक समकालीन या उस से कुछ ही पहले का प्रसिद्ध राजा हो। उस नाम का मूल रूप अभी तक पहचाना नहीं जा सका। जायसवाल जी की संशोधित वंशतालिका में

---

[1] दे० नीचे § १८० अ। [2] § ४१।

७२ से ७५ ई० तक सम्राट् महेन्द्र सातकर्णि का राज्य काल आता है। मम्बेर जिस यूनानी शब्द का अपपाठ है, वह कहीं महेन्द्र का ही रूपान्तर तो न था ? जो भी हो भरुकच्छ और कोंकण का राजा तब समूचे भारत का राजा था, सो बात तो निश्चत है।

पुराने शकों के बाद फिर से भारतवर्ष पर जो चढ़ाई की वह ऋषिक-तुखार राजा विम ने। क्षहरात नहपान का अन्तिम उल्लेख ४६ वें बरस के अभिलेख में है, और उविम कथ्फिस का नाम जिस अभिलेख में है वह १८४ या १८७ वें बरस का है। नहपान और विम के समय के बीच प्रायः सवा शताब्दी तक सातवाहनों का अक्षुण्ण अधिकार भारत-वर्ष के मुख्य भाग में बना रहा था। इस लिए शक राजा ने पच्छिमी मध्यदेश पर अब फिर से जो चढ़ाई की, वह विक्रमादित्य के वंशज सालवाहन के राज्य पर ही थी, यह जनश्रुति सर्वथा संगत है। उस राजा का व्यक्तिगत नाम कुछ ही रहा हो, किन्तु वह विक्रमादित्य का वंशज सालवाहन था, इस में सन्देह नहीं। प्रत्युत वह भी पीछे विक्रमादित्य कहलाया।

महमूद गज़नवी के समकालीन प्रसिद्ध विद्वान् यात्री अल्बेरूनी ने अपने भारत-विषयक ग्रन्थ में शक राजा और दूसरे विक्रमादित्य के युद्ध की बात इस प्रकार लिखी है—

"शक-संवत् अथवा शक काल का आरम्भ विक्रमादित्य के संवत् से १३५ बरस पीछे पड़ता है। प्रस्तुत शक ने उन (हिन्दुओं) के देश पर, सिन्ध नदी और समुद्र के बीच, आर्यावर्त्त के उस राज्य को अपना निवास-स्थान बनाने के बाद, बड़े अत्याचार किये।···कइयों का कहना है वह अलमन्सूरा नगरी का[1] शूद्र था, दूसरे कहते हैं वह हिन्दू था ही नहीं

---

[1]अर्थात् सिन्ध प्रान्त का; क्योंकि अरब शासन काल में सिन्ध की राजधानी का वह अरबी नाम था।

और भारत में पच्छिम से आया था। हिन्दुओं को उस से बहुत कष्ट सहने पड़े। अन्त में उन्हें पूरब से सहायता मिली जब कि विक्रमादित्य ने उस पर चढ़ाई की, उसे भगा दिया, और मुलतान तथा लोनी के कोटले के बीच करूर प्रदेश में उसे मार डाला। तब यह तिथि प्रसिद्ध हो गई, क्योंकि लोग उस प्रजापीडक की मौत की खबर से बहुत खुश हुए, और उस तिथि से एक संवत् शुरू हुआ जिसे ज्योतिषी विशेषी रूप से वर्त्तने लगे। ......किन्तु विक्रमादित्य-संवत् कहे जाने वाले संवत् के आरम्भ और शक के मारे जाने के बीच बड़ा अन्तर है, इस से मैं समझता हूँ कि उस संवत् का नाम जिस विक्रमादित्य के नाम से पड़ा है वही शक को मारने वाला विक्रमादित्य नहीं है, केवल दोनों का नाम एक है।"[1]

अल्बेरूनी हमें युद्ध का स्थान तक बतलाता है, और उस का वृत्तान्त ठीक इतिहास जान पड़ता है। करूर स्पष्ट ही मुलतान के पास का करोड़-पक्का है, न कि मुज़फ़्फ़रगढ़ ज़िले का करोड़। यह बात ध्यान देने योग्य है कि विक्रमादित्य वहाँ पूरब से आया था, जिस का यह अर्थ है कि अन्तर्वेद और मगध उस के राज्य में थे।

पंजाब की दन्तकथाओं में इस युद्ध की याद आज तक बनी है। राजा सिर-कप के बेटे रिसालू तथा राजा सालवाहन की लड़ाई की कहानी पच्छिमी पंजाब के गाँव गाँव में प्रसिद्ध है। सालवाहन विक्रमादित्य का वंशज था, और सिरकप की राजधानी रावलपिंडी की तरफ़ कहीं थी। सिरकप उस का नाम इस कारण पड़ा था कि वह लोगों के सिर काटता था। रिसालू उस का बेटा था। उन के जुल्मों से जब पंजाब की प्रजा पीडित हो उठी तब राजा सालवाहन ने आ कर करोड़ में उन्हें मार कर उस का उद्धार किया[2]।

---

[1] ज़ख़ो (Sachau) का अनुवाद, जिल्द २, पृ० ६।

[2] मैंने यह कहानी अपने कस्बे के मेरे परम स्नेही बुज़ुर्ग, पुराण और

सिरकप का अर्थ सिर काटने वाला आधुनिक पंजाबी व्युत्पत्ति के अनुसार है। वह स्पष्ट ही राजा सिरिकप अर्थात् श्री कफ्स का नाम है। तक्षशिला की जो ढेरी कुशाण और विम के समय की है, वह अब भी सिरकप कहलाती है, और स्पष्टतः उसी राजा के नाम से। रिसालू ऋषिक या ऋषि का तुच्छता-द्योतक रूप है। सिरकप का बेटा रिसालू माने कफ्स पहले का बेटा ऋषिक विम। बाकी सब स्पष्ट है।

किन्तु रिसालू शक को मारने वाला सातवाहन राजा कौन था? दुर्भाग्य से अभिलेखों या सिक्कों से इस पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। जायसवाल जी का कहना है कि वह राजा पुराणों और संस्कृत साहित्य का प्रसिद्ध कुन्तल सातकर्णि था, जिस का समय उन की संशोधित वंश-सीढ़ी के अनुसार ७५—८३ ई० बनता है। विक्रमादित्य का वह वंशज भी विक्रमादित्य कहलाया; हम उसे विक्रमादित्य दूसरा कह सकते हैं। पैशाची प्राकृत के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ बृहत्कथा के लेखक गुणाढ्य ने अपने ग्रन्थ के अठारहवें (अन्तिम) लम्बक में राजा विषमशील विक्रमादित्य की जो कहानी लिखी है, वह जायसवाल के अनुसार कुन्तल सातकर्णि के इतिहास पर ही निर्भर है। उस विक्रमादित्य के पिता का नाम वहाँ महेन्द्रादित्य है, और उस की रानी का मलयवती। पुराणों की वंशावली के अनुसार कुन्तल सातकर्णि का पिता महेन्द्र सातकर्णि था, और वात्स्यायन के कामसूत्र के अनुनार कुन्तल सातकर्णि की रानी मलयवती थी।

वैद्यक के विद्वान् तथा प्राचीन दन्तकथाओं और परम्पराओं के जीवित भण्डार गोस्वामी यशोदानन्दन जी से सुनी थी। उस समय मैंने इस का कुछ महत्त्व न जाना था। दुर्भाग्य से अब जब कि मैंने इस की असलीयत को पहचान कर सारी कहानी फिर से लिख भेजने को उन्हें लिखा, तब मुझे उत्तर में यह समाचार मिला कि गंगोत्री की तीर्थयात्रा में उन्हें किसी दुष्ट ने क़तल कर दिया है!

गुणाढ्य का कहना है कि वह राजा सातवाहन की सभा में था; उसे राजा के मन्त्री सर्ववर्मा ने राजा से परिचित कराया था; सातवाहन की रानी जब संस्कृत बोलती सातवाहन उसे ठीक से समझ न पाता; राजा के लिए संस्कृत भाषा को सुगम बनाने के प्रयोजन से तब शर्ववर्मा ने कातन्त्र व्याकरण लिखा; शर्ववर्मा को पुरस्कार रूप में भरुकच्छ-विषय का शासन दिया गया[1]। गौतमीपुत्र सातकर्णि के समय से भरुकच्छ सातवाहनों के शासन में था ही, और वह दूसरी शताब्दी ई० के नये क्षत्रपों[2] के उदय तक उन के शासन में रहा। कातन्त्र-व्याकरण-विषयक पिछले लेखक राजा सातवाहन की उस रानी का नाम मलयवती ही बतलाते हैं, जिस से प्रकट है कि जिस सातवाहन के लिए कातन्त्र लिखा गया था, वही गुणाढ्य का विक्रमादित्य था। प्रामाणिक विद्वानों ने कातन्त्र का समय ५० ई० और १५० ई० के बीच निश्चित किया है[3]। बृहत्कथा आज नहीं मिलती; सोमदेव का किया हुआ उस का संस्कृत सारानुवाद कथासरित्सागर तथा क्षेमेन्द्र की उस के आधार पर लिखी बृहत्कथामञ्जरी पायी जाती हैं। वे दोनो कश्मीरी कवि कश्मीर के राजा अनन्त (१०२८—१०८० ई०) के समय हुए, और सोमदेव ने उस की सुप्रसिद्ध रानी सूर्यमती की प्रेरणा से ही अपना अनुवाद किया था। नेपाल से पाई गई बुधस्वामी की कृति का नाम बृहत्कथासार नहीं, बृहत्कथाश्लोकसंग्रह है। उस की जो पोथी पाई गई है, वह १२ वीं शताब्दी ई० की लिखी हुई है; इस लिए ग्रन्थकार और पहले हो चुका होगा। इन कश्मीरी संस्कृत संस्करणों के अतिरिक्त उस का एक नेपाली संस्कृत संस्करण भी बृहत्कथासार नाम से पाया गया है, जिसे

---

[1] कथासरित्सागर, तरंग ६-७।

[2] दे० नीचे §§ १८२-१८३।

[3] सं० व्या० प० पृ० ८३, तथा तालिका (चार्ट)। नीचे § १६०।

फ्रांसीसी विद्वान् लाकोते ने छपवाया है। सोमदेव का कहना है कि उस ने मूल में ज़रा भी अतिक्रम नहीं किया, केवल भाषा बदल दी और संक्षेप कर दिया है[1]। तो भी गुणाढ्य के समय से सोमदेव के समय तक मूल बृहत्कथा ज्यों की त्यों बनी रही हो, सो बहुत सम्भव नहीं है। विद्यमान कथासरित्सागर में, जो कि ग्यारहवीं शताब्दी ई० में प्राप्य बृहत्कथा का सारानुवाद है; कुछ ऐसी बातें अवश्य हैं जो कि पहली शताब्दी ई० के बाद की हैं; उदाहरण के लिए बोधिसत्त्व सिद्ध-रसायन नागार्जुन की कथा (तरंग ४१); क्योंकि नागार्जुन का समय अन्दाज़न १५० ई० है[2]। किन्तु वे बातें पीछे की मिलावट हो सकती हैं, और उन के कारण गुणाढ्य की इस बात पर कि वह कातन्त्र-कार शर्ववर्मा के समकालीन सातवाहन राजा की सभा में था, अविश्वास करना उचित नहीं है। ओलन्देज़ (डच) विद्वान् स्पेयर ने कथासरित्सागर का विशेष अध्ययन करने के बाद बृहत्कथा का समय तीसरी से पाँचवीं शताब्दी तक माना है। किन्तु उसे कातन्त्र का समकालीन मानना ही उचित है।

गुणाढ्य के कथन की सचाई के पक्ष में एक बहुत बड़ा प्रमाण तामिल वाङ्मय से मिला है। प्रो० कृष्णस्वामी ऐयंगर ने बतलाया है कि बृहत्कथा का एक तामिल अनुवाद—उदयनन् कदै या पेरुंगदै—भी है, तामिल साहित्य में वह काव्य का पहला नमूना था, और उसी से काव्य शब्द का चलन हुआ। वह तामिल बृहत्कथा तीसरे संगम् से पहले की और मध्य संगम् की है;—संगम् तामिल राष्ट्रों की पुरानी साहित्यपरिषदें थीं जिन का उल्लेख हम आगे[3] करेंगे। तीसरा संगम् प्रो० कृष्णस्वामी ऐयंगर के अनुसार केरल के राजा शेंगुट्टुवन चेर के समय शुरू हुआ था, और उस राजा का समय उन्हीं के अनुसार दूसरी शताब्दी ई० है;

---

[1] तरंग १ श्लो० १०। [2] दे० नीचे § १८०।
[3] नीचे §§ १८९, १८०।

इसी कारण मूल बृहत्कथा को वे ईसवी सन् के आरम्भ का मानते हैं[1]। प्रो० ऐयंगर की स्थापनायें सामान्य रूप से बहुत युक्तिसंगत हैं। शेंगुट्टुवन चेर का राज्यकाल लगभग ११० ई० से होना चाहिये[2]; और सातवाहनों का तामिल राष्ट्रों से जैसा घनिष्ठ सम्पर्क था, उसे देखते हुए यह पूरी तरह सम्भव है कि बृहत्कथा का तामिल अनुवाद मूल के लिखे जाने के बहुत जल्द बाद ९०—१०० ई० के बीच ही हो गया हो। यह देखते हुए कि ५७ ई० पू० से ७८ ई० तक सातवाहन साम्राज्य भारतवर्ष की प्रमुख राजशक्ति था, और कि दक्खिन के तामिल राष्ट्रों पर उस का सीधा और गहरा प्रभाव था, मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि राजा हाल के समय से ७८ ई० के विक्रमादित्य के समय तक सातवाहन दरबार में प्राकृत साहित्य का जैसा पोषण और समर्थन हो रहा था उसी की एक प्रतिध्वनि तामिल राष्ट्रों का संगम् था। आरम्भिक तामिल साहित्य में संस्कृत और प्राकृत साहित्य की पूरी प्रतिध्वनि है इस में कुछ भी सन्देह नहीं। इस दशा में सातवाहन दरबार में तैयार हुए उस अत्यन्त रुचिकर और मौलिक ग्रन्थ का तामिल संगम् के किसी लेखक ने तुरंत अनुवाद कर डाला हो इस में कुछ भी अस्वाभाविकता नहीं है। इतना ही नहीं, मुझे तो इस बात की बड़ी सम्भावना दीखती है कि संगम्-साहित्य में जो पुरप्पोरुळ अर्थात् वीर-गाथात्मक ऐतिहासिक काव्यों की शैली थी, वह बृहत्कथा के ही नमूने पर चली। उस दशा में बृहत्कथा की राजा विक्रमादित्य की कहानी को दूसरे पुरप्पोरुळ काव्यों की कहानियों की तरह समकालीन घटनाओं पर निर्भर एक ऐतिहासिक कहानी ही मानना उचित होगा; उस कहानी की पूरी सम्भाव्यता जायसवाल जी ने यों भी दिखलाई है।

---

[1] बिगिनिंग्स् पृ० ४४—४७।

[2] नीचे § १८५।

उस के अनुसार विक्रमादित्य के सेनापति ने अपरान्त-सहित दक्षिणापथ, सुराष्ट्र-सहित मध्यदेश तथा वंग और अंग-सहित पूरब दिशा का विजय किया था, और कश्मीर-सहित उत्तर दिशा को करद बनाया था। अनेक दुर्ग और द्वीप जीते तथा म्लेच्छों का संहार किया था[1]। उन सब देशों के राजा उज्जयिनी में लाये गये, और वहाँ म्लेच्छों के पराजय के उपलक्ष्य में विक्रमादित्य के साथ उन का जुलूस निकला। गौड (बंगाल), कर्णाटक, लाट (दक्खिन गुजरात), कश्मीर और सिन्ध के राजा, विन्ध्यबल नाम का भील राजा और निर्मूक नामक एक पारसीक राजा उस जुलूस में शामिल थे। बाद में कलिंग का राजा कलिंगसेन भी जो शबरों और भिल्लों का स्वामी था, विक्रमादित्य की अधीनता मानने को तथा अपनी लड़की उसे विवाह देने को बाधित हुआ। कलिंगराज के मन्त्री का नाम एकाकिकेसरी था।

उक्त सब देशों का सातवाहन के अधीन होना सर्वथा संगत है। कश्मीर का राजा ऋषिकों से हार कर सातवाहन की शरण में आया हो सो सम्भव है, और पारसीक राजा निर्मूक कोई ऋषिक हो सकता है। जायसवाल जी का अन्दाज़ है कि विक्रमादित्य सातवाहन और ऋषिक राजा का युद्ध गुजरात में कहीं हुआ होगा; पर हम देख चुके हैं कि वह युद्ध करोड़ में हुआ था; और इस लिए यहाँ अन्दाज़ करने की कोई गुंजाइश न थी[2]।

७८ ई० के करीब सातवाहन राजा ने ऋषिक राजा को हरा कर एक बार मध्यदेश से निकाल दिया, यह बात इस कारण भी ठीक जान पड़ती है कि विम के उत्तराधिकारी को उपरले हिन्द के एक राजा की

---

[1]तरंग १२०, श्लो० ७७-७८।

[2]सन् १९३१ के अन्त में यह लिखने के बाद मैंने उक्त बात जायसवाल जी को पत्र में लिख दी थी; उस के अतिरिक्त सिरकप-रिसालू

मदद ले फिर से मध्यदेश पर चढ़ाई करनी पड़ी। उस का वृत्तान्त हमें अभी सुनाना होगा।

§ १८०. देवपुत्र कनिष्क

(७८—१०० ई०)

अ. कनिष्क संवत्

हम ने देखा कि महाराज विम या उविम का नाम जिस अभिलेख में है वह प्राचीन शक संवत् के १८४ या १८७ वें बरस का है। तक्षशिला की सिरकप ढेरी की खुदाई में एक चाँदी का सुन्दर भद्रघट पाया गया है; जिस की गर्दन पर एक पंक्ति का एक लेख है[1]। उस में सं० १९१ तथा महाराज के भाई मणिगुल के पुत्र, चुक्ष के क्षत्रप जिहोनिक का (राज्यकाल) दर्ज है। गान्धार से मणिगुल क्षत्रप के पुत्र क्षत्रप जिहोनिअ के सिक्के भी अनेक पाये गये हैं। वह मणिगुल किस महाराज का भाई था? और वह और उस का बेटा उस महाराज के राज्य-काल में ही चुक्ष के क्षत्रप थे या उस के बाद? रजत-घट-अभिलेख वाला महाराज खलचे-अभिलेख का महाराज विम ही प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों की तिथियों में केवल सात या चार बरस का अन्तर है; किन्तु रजत-घट-अभिलेख से ऐसी ध्वनि होती है कि महाराज उस समय जीवित

वाली कहानी और मम्बेर वाली बात भी। ज० बि ओ० रि० सो० १९३२, पृ० ८५ में उन का उसी विषय पर एक और लेख निकला है, जिस में करोड़ वाली बात उन्हों ने मान ली है; तथा मम्बेर = महेन्द्र वाली बात पूरी विवेचना के साथ निश्चित कर डाली है। उस के अतिरिक्त अरबी में अनुवादित सिन्ध के एक प्राचीन इतिहास को उन्हों ने खोज निकाला है जिस से इस युग की घटनाओं पर बहुत प्रकाश पड़ा है।

[1] भा० अ० स० २, १, सं० ३०।

न था, और उस का कोई उत्तराधिकरी भी महाराज-पद पर न बैठा था, क्योंकि कोई महाराज उपस्थित होता तो उसी का राज्य-काल कहा जाता,—विशेष कर तक्षशिला-प्रदेश में जो कि राज्य के केन्द्र से विशेष दूर न था[1]। इस से यह अन्दाज़ होता है कि सं० १८८ के करीब कभी महाराज विम की मृत्यु हुई, और उस के बाद कुछ समय के लिए उस का कोई उत्तराधिकारी उस के साम्राज्य को सँभाल न सका। आगे जिस महाराजा के अभिलेख और सिक्के गान्धार से तथा उत्तर भारत के अन्य भागों से मिलते हैं, उस का नाम कनिष्क है; किन्तु उस के समय के अभिलेखों में एक नया संवत् वर्त्ता जाता है जिस के पहले और तीसरे बरस के कनिष्क के राज्यकाल के लेख पेशावर और बनारस से पाये गये हैं। यदि पुराने शक संवत् का आरम्भ १२३ ई० पू० में हुआ हो और यह नया संवत् प्रसिद्ध शक-संवत ही हो तो विम और कनिष्क के बीच प्रायः १२ बरस का व्यवधान रहा। किन्तु उक्त दोनों स्थापनायें जिन से यह परिणाम निकलता है, विवादग्रस्त हैं।

तो भी यह निश्चत है कि एक तो कनिष्क का कुशाण और विम के वंश से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य था, और दूसरे, विम और कनिष्क के बीच कुछ व्यवधान अवश्य था। कनिष्क सिक्कों पर अपने को शाउनान-शाउ कनेष्कि कोशानु—अर्थात् शाउओं का शाउ कनिष्क कौशाण—कहता है। जेहलम के पच्छिम माणिकियाला नामक गाँव में एक पुराने स्तूप की ढेरी है जिसे महाराजा रणजीतसिंह के समय फ्रांसीसी सेना-नायकों ने खोदा था। उस की एक कोठरी पर के पत्थर के ढक्कन पर सं० १८ का लेख है, जिस में महाराज कणेष्क के (राज्यकाल में) गुषण-वंश-संवर्धक लल दण्डनायक (सेनापति) द्वारा बुद्ध की धातुएँ स्थापित

---

[1]डा० कोनौ का यही मत है।

किये जाने की बात है[1]। इस से यह प्रकट है कि कनिष्क की सेना में कुशाण-वंशजों का प्रमुख स्थान था। फिर मथुरा के देवकुल में जहाँ विम की मूर्त्ति पाई गई है, उस के पड़ोस से ही कनिष्क की प्रतिमा भी मिली है। एक और पुरानी प्रतिमा भी वहाँ है जो शायद राजा कुशाण की हो। इस से यह स्पष्ट ही सिद्ध है कि कनिष्क विम के वंश का और उस का उत्तराधिकारी था।

तो भी विम और कनिष्क के बीच कुछ व्यवधान भी अवश्य था। यह बात एक तो सं० १९१ वाले रजत-घट के उक्त लेख से प्रकट होती है। दूसरे, अल्बेरूनी के ग्रन्थ तथा पंजाबी दन्तकथाओं के आधार पर सातवाहन राजा द्वारा विम के परास्त होने और मारे जाने की जो बात ऊपर लिखी गई है, वह भी उसी परिणाम पर पहुँचाती है। तीसरे, महाराज राजाधिराज महान् त्राता के बिना नाम के जिन सिक्कों का ऊपर[2] उल्लेख किया गया है, वे भी उस परिणाम को पुष्ट करते हैं, क्योंकि वे सम्भवतः उस समय के सिक्के हैं जब कि ऋषिक-साम्राज्य का सिंहासन रीता था। चौथे, कनिष्क-विषयक खोतनी अनुश्रुति, जो अब तिब्बती रूपान्तर में उपलभ्य है, उस परिणाम को और पुष्ट करती है। उस के अनुसार खोतन के राजा विजयसिंह के बेटे विजयकीर्त्ति ने गुज़ान राजा तथा राजा कनिक के साथ मिल कर भारत पर चढ़ाई की, और सोकेद (साकेत) नगरी जीती थी[3]। सातवाहनों द्वारा विम के मारे जाने पर कनिष्क को खोतन से मदद लानी पड़ी, और उसी मदद के सहारे उस ने उत्तर भारत को फिर जीता, ऐसा परिणाम उक्त दोनों

---

[1] भा० अ० स० २,१ सं० ७६। डा० कौनो की व्याख्यानुसार गुषण-वंश संवर्धक लल का विशेषण है, कणिष्क का नहीं।

[2] § १७८—पृ० ८२०।

[3] रौकहिल— बुद्ध, पृ० २४०।

अनुश्रुतियों के मिलाने से स्पष्ट निकलता है। और वे एक दूसरे को पुष्ट करती हैं, क्योंकि कनिष्क को खोतन से मदद लाने की ज़रूरत ऋषिकों की शक्ति एक बार तोड़ी जाने के कारण ही हुई दीखती है।

किन्तु विम और कनिष्क के बीच व्यवधान कितना था, इस बात का निर्विवाद उत्तर नहीं दिया जा सकता। इस का उत्तर पुराने शक-संवत् की ठीक आरम्भ-तिथि और नये शक-संवत् के आरम्भ का निर्णय होने पर निर्भर है। ७८ ई० वाले शक-संवत् का प्रवर्त्तक कौन था? जेम्स फ़र्ग्युसन ने सन् १८८० में पहले पहल यह मत चलाया था कि वह संवत् कनिष्क का है, और अधिकांश विद्वान् अब तक उसी मत को मानते आते हैं। ओझा, राखालदास आदि विद्वानों का यही मत रहा है। किन्तु कुछ विद्वानों की सम्मति में कनिष्क का समय शकाब्द से अन्दाज़न ५० बरस पीछे का है। डा० कोनौ और वान विज्क ने कनिष्काब्द का आरम्भ १२८-२९ ई० में निश्चित किया है। यदि शकाब्द कनिष्क का न हो तो वह किस का है? इस सम्बन्ध में अनेक कल्पनायें की गई हैं; और उन में से पुरानी कल्पनाओं के दोष भी प्रकट किये जा चुके हैं। डा० फ़्लीट ने नहपान को शकाब्द-प्रवर्त्तक माना था, और प्रो० दुब्रिऊल ने चष्टन[1] को। किन्तु नहपान के संवत् ४२,४६ तथा चष्टन का सं० ५२ ही सूचित करता है कि उन का किसी संवत् के ठीक आरम्भ-समय में होना बहुत कठिन है; उस के अतिरिक्त वे किसी अधिराज के क्षत्रप थे। सब से नई कल्पना डा० कोनौ की है जो शकाब्द चलाने का श्रेय विम कफ़िसस को देते हैं। राजा कुशाण पुराने शक-संवत् के १२६ वें तथा विम १८४ या १८७ वें बरस में विद्यमान था। डा० कोनौ के हिसाब से वे बरस ५२ ई० तथा १०३-४ ई० बनते हैं। सं० १०३ वाले तख़्त-ए-बाही के जिस अभिलेख में गुदुव्हर का नाम

---

[1]नीचे § १८२।

है, वह डा० कोनौ के हिसाब के १९ ई० का है। यदि १९ ई० में कुमार कप की आयु अन्दाज़न २३ बरस की रही हो तो वह लग० ७७ ई० में मरा होगा। इस प्रकार विम कफ्स का ७८ ई० में गद्दी पर बैठना सर्वथा संगत है। किन्तु ये सब स्थापनायें पुराने शकाब्द का आरम्भ ८३ ई० पू० में मानने पर निर्भर हैं; और उस मत को हम त्याग चुके हैं। कनिष्काब्द के विषय में मैं हाल तक डा० कोनौ का कट्टर अनुयायी था[1] और पुराने शकाब्द का आरम्भ भी पहले मैंने आरज़ी तौर पर ८३ ई० पू० मान लिया था। किन्तु वे दोनों बातें स्वीकार करते समय भी, और विम का समय लग० ७५ ई० मान लेने पर भी मैंने उसे शकाब्द का प्रवर्त्तक स्वीकार न किया था[2] वह कोनौ की युक्तिशृङ्खला में सब से कच्चे तन्तुओं में से एक है। विम यदि किसी नये संवत् का प्रवर्त्तक था तो उसी के राज्य के उस के नाम वाले अभिलेख में उस के संवत् के बजाय पुराने संवत् का प्रयोग क्यों है? और उस के अपने उत्तराधिकारी जहाँ कनिष्काब्द का, जो कि डा० कोनौ के मत में शकाब्द से भिन्न है, प्रयोग करते रहे, वहाँ उज्जैन के क्षत्रपों[3] ने शक-संवत् का प्रयोग जारी रक्खा, यह क्या स्पष्ट विसंवाद नहीं है!

पुराने शक-संवत् का आरम्भ १२३ ई० पू० में मानने से विम की मृत्यु का समय ६१ या ६४ और ६८ ई० (सं० १८४ या १८७ और १९१) के बीच आता है। उस के बाद कुछ समय ऋषिक राजगद्दी रीती रही, और फिर कनिष्क ने अपना संवत् चलाया। इस दशा में ७८ ई० में शुरू होने वाले संवत् को कनिष्क का संवत् मानना उचित

---

[1] दे० ज० बि० ओ० रि० सो० १९२९ पृ० ४७ प्र में मेरा लेख—कनिष्क की तिथि।

[2] वहीं पृ० ५९-६० ।

[3] नीचे §§ १८२-१८३, १८६ ।

दीखता है। हम देखेंगे कि कनिष्क के वंश और उज्जैन के क्षत्रपों के वंश में परस्पर-सम्बन्ध था[1]; उस दशा में दोनों वंशों का एक ही संवत् का प्रयोग करना सर्वथा संगत है। उज्जैन के क्षत्रपों के लेखों में उस संवत् को कहीं शकाब्द कहा नहीं है, तो भी उस के शकाब्द होने में कोई सन्देह नहीं है; क्योंकि एक तो महाक्षत्रप चष्टन के अभिलेख में ५२ संवत् है, और ५२ शकाब्द अर्थात् १३० ई० के करीब चष्टन का रहना अन्य प्रकार से भी प्रमाणित है[1]; दूसरे चष्टन के वंशज लगातार उसी संवत् का नाम लिये विना प्रयोग करते जाते हैं, और उन में से अन्तिम का राज्य गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त दूसरे ने छीना था; चन्द्रगुप्त दूसरे के साथ अन्तिम क्षत्रप की समकालीनता क्षत्रप लेखों के बरसों को शकाब्द मानने से ही होती है। यदि उज्जैन क्षत्रप-लेखों के बरस और कनिष्क-वंशज-लेखों के बरस एक ही संवत् के हैं तो उस संवत् का प्रवर्त्तक निश्चय से कनिष्क था क्योंकि उस के समय के लेखों में पहले और तीसरे बरस दर्ज हैं।

इस पर एक शंका उपस्थित होती है शालिवाहन वाली अनुश्रुति के कारण। अल्बेरूनी स्पष्ट कहता है कि ७८ ई० का संवत् राजा विक्रमादित्य (सातवाहन) ने शक को मारने की यादगार में चलाया। वैसी बात ज्योतिषी भट्टोत्पल (९६६ ई०) और ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) ने भी लिखी है। वह संवत् अब भी पञ्चाङ्गों में शालिवाहन-शक अर्थात् शालिवाहनाब्द कहलाता है। वह वस्तुतः शालिवाहनाब्द है या शकाब्द ? और शकों की हार का सूचक है। या उन की पुनःस्थापना का ? इस सम्बन्ध में यह जानना चाहिए कि पुराने अभिलेखों में उस संवत् को न शकाब्द कहा जाता है, न शालिवाहनाब्द; उस के साथ शक नाम जुड़ा हुआ हम भारतीय वाङ्मय और अभिलेखों में पहले-पहल वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका में शक-

[1] नीचे § १८२।

संवत् ४२७ (५०५ ई०) में तथा ५०० श० सं० के एक अभिलेख में पाते हैं; तब से १२६२ श० सं० तक के लेखों में वह शक-काल या शक-नृपति-काल कहलाता है; और उसी शताब्दी के आरम्भ से वह शालिवाहनाब्द भी कहलाने लगता है[1]। किन्तु अल्बेरूनी और ब्रह्म-गुप्त के उक्त निर्देशों से सूचित है कि चौदहवीं नहीं प्रत्युत सातवीं शताब्दी ई० में भी उसे शालिवाहनाब्द माना जाता था। दूसरी तरफ़ हम यह स्पष्ट रूप से देखते हैं कि कनिष्क के समय से एक नया संवत् शुरू होता है, तथा उस संवत् का आरम्भ भी अन्दाज़न ७८ ई० में प्रतीत होता है। शालिवाहन का संवत् और कनिष्क का संवत् एक कैसे हो सकते हैं? इस शंका का समाधान मैं फिलहाल यह करता हूँ कि अल्बेरूनी वाली अनुश्रुति मुझे पूर्ण सत्य नहीं प्रतीत होती। पहले विक्रमादित्य के प्राय: सवा सौ बरस बाद दूसरे विक्रमादित्य ने करोड़ में शक राजा को मारा, यह बात ठीक जान पड़ती है; किन्तु शकाब्द का प्रवर्त्तन उसी घटना से होने की बात शायद ठीक नहीं है। वह घटना शायद ६५ ई० पू० में हुई, और शकाब्द का प्रवर्त्तन उस के १३ बरस पीछे कनिष्क ने किया; किन्तु शक राजा की मृत्यु और शक-संवत् के प्रवर्त्तन की घटनायें एक दूसरे के बहुत नज़दीक होने के कारण पीछे उन के समय को भ्रम से एक ही मान लिया गया।

तो भी यह विषय अभी निर्विवाद नहीं कहा जा सकता, और जो तिथिक्रम यहाँ स्वीकार किया गया है उसे आरज़ी ही मानना होगा[2]।

इ. कनिष्क का वृत्तान्त

कनिष्क की मृत्यु के कुछ समय बाद कुमारलात नामक बौद्ध पंडित ने कल्पनामंडितिका नाम की पुस्तक लिखी थी, जिस का चीनी अनुवाद

---

[1]प्रा० लि० मा० पृ० १७१-७२।

[2]और विवेचना के लिए दे० २६।

अब उपलभ्य है तथा मूल का भी कुछ अंश उपरले हिन्द से मिला है। उस में कनिष्क के विषय में लिखा है कि उस ने पूरब भारत पर चढ़ाई की, उसे जीता और शान्त किया; उस की शक्ति अदम्य थी; पूरब जीतने के बाद वह अपने देश को वापिस लौटा। श्रीधर्मपिटक-निदान-सूत्र नामक एक और ग्रन्थ का चीनी अनुवाद ४७२ ई० में हुआ था। उस में लिखा है कि कनिष्क ने पाटलिपुत्र पर चढ़ाई कर वहाँ के राजा को हराया, और उस से पहले तो भारी हरजाना माँगा, पर पीछे वह बौद्ध विद्वान् अश्वघोष और भगवान् बुद्ध का कमडलु ले कर सन्तुष्ट हो गया और लौट आया। उस के बाद पार्थव राजा ने पच्छिम से कनिष्क पर चढ़ाई की, और एक घोर युद्ध कर के कनिष्क ने उस का पराभव किया। अन्त में अश्वघोष ने कनिष्क को धर्मोपदेश दिया। तिब्बती में अनुवादित खोतनी ग्रन्थों में कनिष्क की साकेत-चढ़ाई के विषय में जो लिखा है उस का उल्लेख पहले ही हो चुका है।

इन अनुश्रुतियों की बात सिक्कों और अभिलेखों से पुष्ट होती है। कनिष्क के सिक्के राँची ज़िले तक से पाये गये हैं; उस का नाम लेने वाले अभिलेख पेशावर और बहावलपुर से मथुरा होते हुए सारनाथ तक। इस से यह प्रकट है कि मध्यदेश और मगध उस ने सातवाहन साम्राज्य से निश्चित रूप से ले लिये थे।

उस के नाम का सब से पहला अभिलेख पेशावर के गञ्ज दरवाजे के बाहर शाह जी की ढेरी के रूप में खँडहर हुए हुए उस के स्तूप की खुदाई में पाई गई मूर्त्तियों-युक्त सन्दूकची[1] पर है। उस में सं० १

---

[1]आ० स० इं० १९०८-९, प्लेट १२-१३।

दर्ज है, और सर्वास्तिवादी आचार्यों के प्रतिग्रह में दिये गये कनिष्क-विहार तथा महासेन के संघाराम का उल्लेख है[1]।

सारनाथ वाले अभिलेखों में, जो तीसरे बरस के हैं, भिक्षु बल द्वारा बोधिसत्व की मूर्ति और छत्रयष्टि प्रतिष्ठापित करने की बात है। वह मूर्त्ति आगरे के लाल पत्थर की है, और मथुरा से बनारस भेजी गई होगी। उन अभिलेखों में महाक्षत्रप खरपल्लान और क्षत्रप वनस्पर के नाम आये हैं[2]। पुराण में वनस्पर को मगध का म्लेच्छ शासक कहा है; उस के नाम से आज भी राजपूतों की एक जात बनाफरे राजपूत कहलाती है। महाक्षत्रप खरपल्लान कनिष्क की तरफ़ से मथुरा का, तथा वनस्पर मगध का क्षत्रप रहा दीखता है।

बहावलपुर रियासत के सुए-विहार नामक स्थान से ११वें बरस का भिक्षु नागदत्त का एक वैसा ही लेख मिला है[3]। उस में भी महाराज राजाधिराज देवपुत्र कनिष्क का नाम है। सुए-विहार ठीक जोहिया-बार में अर्थात् यौधेय गण के पुराने राज्य में है; इस से प्रकट है कि यौधेयों से भी कनिष्क ने उनका देश छीन लिया। हम देखेंगे[4] कि अपना देश छिन जाने पर भी वे शायद उस के अधीन हो कर नहीं रहे, प्रत्युत राजपूताने की मरुभूमि की तरफ़ प्रवास कर गये।

सुए-विहार के दक्खिन-पच्छिम सिन्ध का प्रान्त भी कनिष्क के अधीन रहा होगा। अधिक सम्भव तो यह है कि उसे राजा कुशाण या विम ने ही पह्लवों से जीत लिया था। लग० ८० ई० में पेरिप्लस के लेखक

---

[1] भा० अ० स० २, १ का सं० ७२।

[2] ए० इं० ८०, पृ० १७६।

[3] भा० अ० स० २, १ का सं० ७४।

[4] नीचे § १८२।

ने जो सिन्ध में तुच्छ पह्लव सरदारों के परस्पर झगड़ा करने की बात लिखी है, मेरे विचार में उस में केवल विम और कनिष्क के बीच के समय में हुई अव्यवस्था की स्मृति है।

सं० ११ का ही एक और अभिलेख सिन्ध नदी के पच्छिम तट पर ओहिंद के पास ज़ेदा गाँव से मिला है[1]। वह 'सर्वास्तिवाद की वृद्धि के लिए' खुदवाये गये एक कुएँ के विषय में है, और उस में मुरोड मर्भ्क कणिष्क के राज्य का उल्लेख है। मुरोड वही शक शब्द है जिस का रूपान्तर मुरुण्ड है, और जिस का अर्थ है स्वामी। खोतनी शक भाषा की संस्कृत से अनुवादित एक पुस्तक में गृहपतिरत्न का अनुवाद करने को नल्यसकि अर्थात् मल्जकि शब्द वर्त्ता गया है; संस्कृत का वह विशेषण ऐसे चक्रवर्त्ती राजा के लिए प्रयुक्त होता है जिस के राज्य में अनेक रत्ननिधियाँ हों; मर्भ्क उसी मल्जकि का रूपान्तर है।

माणिकिआला वाले १८ वें बरस के अभिलेख की चर्चा हो चुकी है। उस में वेश्पशि क्षत्रप के होरमुर्त का उल्लेख है। डा० लुइडर्स ने सिद्ध किया है कि होरमुर्त एक शक शब्द है जो संस्कृत दानपति का अनुवाद है। कनिष्क के सिक्कों पर जो शाउ शब्द है वह भी खोतन-देशी शक भाषा का है, पच्छिमी शकों की भाषा में उस का रूप साहि होता था।

कल्हण की राजतरंगिणी में कनिष्क और उस के वंशजों को तुरुष्कान्वयोद्भूत अर्थात् तुर्क-जातीय लिखा है[2]। कनिष्क और उस के पूर्वज जिस देश से आये थे, कल्हण के समय तक उस देश में तुर्क बस चुके थे; कल्हण को यह पता न था कि ऐसा भी एक युग था जब तुर्कों का उस देश में नाम भी न था, और इसी लिए उस ने उस देश से आने

---

[1] भा० अ० स० सू० २, १ का सं० ७५।

[2] १. १७०।

वालों को तुर्क मान लिया। आधुनिक विद्वान् भी एक अरसे तक ऋृषिकों को तुर्क या मंगोल जातीय मानते रहे हैं। असलीयत का पता उन्हें भी हाल में ही मिला है।

कनिष्क के समय का अन्तिम अभिलेख सं० २३ के ग्रीष्म के पहले मास का है,[1] और फिर सं० २४ के ग्रीष्म के चौथे मास के एक अभिलेख में[2] उस के उत्तराधिकारी वासिष्क का नाम है। फलतः अन्दाज़न २३ सं० (= १०१ ई०) में कनिष्क का देहान्त हुआ।

भारतवर्ष में कनिष्क ने प्रायः समूचे उत्तर भारत को सातवाहनों से जीत लिया; उधर मध्य एशिया पर भी उस का प्रभाव बना हुआ था। उपरले हिन्द में ६० ई० से खोतन का राज्य सब से अधिक शक्तिशाली हो उठा था, और नीया से काशगर तक १३ राज्य खोतन के राजा का आधिपत्य मानने लगे थे। चीन के सम्राट् भी उपरले हिन्द के सब राज्यों को अपने आधिपत्य में रखने की चेष्टा बराबर करते थे। ७३ ई० में चीनी सेनापति पान छाओ ने खोतन को चीन के पक्ष में कर लिया; और उस की सहायता से पहली शताब्दी ई० की अन्तिम चौथाई में चीन का साम्राज्य पच्छिम तरफ़ खूब फैल कर अपनी चरम उत्कर्ष-सीमा पर पहूँच गया। सेनापति पान-छाओ ने मध्य एशिया के सब छोटे छोटे राज्यों को जीत कर (७३—१०२ ई०) कूचा को अपना शासन-केन्द्र बनाया, और क्षीर के काँठे को लाँघ कर वर्कान (कास्पियन) सागर के तट पर चीन का झण्डा गाड़ दिया, जिस से रोम और चीन के साम्राज्यों की सीमायें एक दूसरे के बहुत निकट आ गईं।

उसी सिलसिले में ८० ई० के बाद कभी पान-छाओ ने काशगर के

---

[1] आ० स० इं० १९२०-२१, पृ० ३५।

[2] म० सं० पृ० १८६।

राजा को गद्दी से उतार उस के स्थान में नये राजा को बैठा दिया। पुराना राजा सुग्ध के राजा की शरण में चला गया, और उस के द्वारा उस ने ऋृषिक सम्राट् की सहायता लेने का जतन किया। पान-छाओ ने ऋृषिक सम्राट् को कीमती उपहारों के साथ अपना मैत्री का सन्देश भेज अपने पक्ष में किये रक्खा। ऋृषिक सम्राट् ने बदले में बढ़िया उपहार भेजे, और अपने दूत के दारा चीन-सम्राट् की पुत्री को पाने की प्रार्थना की। पान-छाओ ने इस उद्धत माँग को सुन ऋृषिक दूतों को अपने पास से हटा दिया। इस पर दोनों पक्षों में झगड़ा हो गया। ९० ई० में ऋृषिक राजा ने सत्तर हज़ार सवारों का एक दल अपने एक साई (=साहि) के नेतृत्व में ऊँचे पहाड़ों के पार चीनी सेना के खिलाफ़ भेजा। ऋृषिक साहि को कूचा से रसद पाने की आशा थी, किन्तु पान-छाओ ने उस की रसद रोक दी, और उस भूखी सेना पर झपट कर उसे बुरी तरह हराया।

दुर्भाग्य से उस ऋृषिक राजा का नाम चीन के इतिहास में नहीं दिया; किन्तु यदि कनिष्क का संवत् प्रसिद्ध शक-संवत् ही है, तो कहना होगा कि वह राजा कनिष्क ही था।

कनिष्क ने बदख्शां वाली पुरानी ऋृषिक राजधानी को छोड़ पुरुषपुर (पेशावर) को अपने विशाल साम्राज्य की राजधानी बनाया। उस नगरी की स्थापना भी शायद उसी ने की थी; उस से पहले पुष्करावती पच्छिम गान्धार की राजधानी हुआ करती थी; अब पेशावर ने सदा के लिए उस का स्थान ले लिया। अपनी उस राजधानी को कनिष्क ने अनेक इमारतों से भूषित किया, और सातवाहनों के दरबार की स्पर्धा कर उसे विद्या और वाङ्मय का केन्द्र बनाने की चेष्टा की। पाटलिपुत्र से बौद्ध विद्वान् अश्वघोष को तो वह ले ही आया था। उस के अतिरिक्त सुप्रसिद्ध वैद्य चरक के भी उस की सभा में रहने का चीनी

ग्रन्थों में उल्लेख है। अनेक युगों से गान्धार देश आयुर्वेद-ज्ञान का केन्द्र था[1], और चरक का उसी देश में प्रकट होना बहुत संगत था।

कनिष्क के सिक्कों पर मिथ्रो (मिथ्र अथवा मित्र=सूर्य की उपासनापरक प्राचीन पारसी धर्म-सम्बन्धी) जरथुस्त्री यूनानी और भारतीय सभी तरह के देवी-देवताओं के चित्र पाये जाते हैं। पारसी आतश (अग्नि) माह (चन्द्र) और मिहिर (सूर्य), यूनानी हेलिय (सूर्य), अश्शुर-युग के प्राचीन एलम (=फ़ारिस के सूसा प्रदेश) की देवी नाना या ननैया, वैदिक या पौराणिक ईश (शिव) स्कन्द और वात (वायु), तथा बुद्ध—सभी के नामों और चित्रों से अंकित उस के सिक्के उपस्थित हैं।

तो भी कनिष्क मुख्यतः भगवान् बुद्ध का अनुयायी था। बौद्ध धर्म की सेवा करने के लिए वह अशोक की तरह प्रसिद्ध है। बौद्धों की चौथी संगीति अशोक के बाद उसी ने बुलवाई; उस में ५०० विद्वान् जुटे; और अश्वघोष के गुरु पार्श्व तथा वसुमित्र ने उस में विशेष भाग लिया। वह संगीति कश्मीर की राजधानी श्रीनगर के पास कुण्डलवन विहार में अथवा जलन्धर के पास कुवन में हुई। उस संगीति की समूची कृति ताँबे के पत्रों पर संस्कृत में अंकित की गई, और उन ताम्रपत्रों की पुस्तक को एक स्तूप के अन्दर जो उसी के लिए बनवाया गया था, स्थापित किया गया। वही महाविभाषा नाम का त्रिपिटक का भाष्य था। उस पुस्तक का चीनी अनुवाद मिलता है। किन्तु उस स्तूप के अवशेषों का अभी तक पता नहीं चला। स्तूपों विहारों और चैत्यों की स्थापना करने में भी कनिष्क ने अशोक का अनुसरण किया। उस की राजधानी पुरुषपुर में उस का बनवाया एक चार सौ फुट ऊँचा तेरह मंजला स्तूप नौवीं शताब्दी तक था; वह यदि आज होता तो संसार की अद्भुत वस्तुओं में गिना जाता।

---

[1] ऊपर § ८६ उ।

बौद्ध धर्म के प्रचार को कनिष्क से बड़ी सहायता मिली। तिब्बत खोतन और मंगोलिया तक के वाङ्मयों और जनश्रुतियों में कनिष्क को बड़े आदर और गौरव का स्थान मिल चुका है। किन्तु चौथी सङ्गीति ने जिस धर्म का प्रवचन किया, जिसे कनिष्क ने स्वीकार किया और जिस का उत्तरी देशों में प्रचार हुआ, उस में बौद्ध धर्म के उन वादों की प्रधानता थी जो कुछ समय बाद महायान या बड़े पंथ के नाम से प्रसिद्ध हुए। पुराना थेरवाद जो दक्खिन में बना रहा, और जिस का मुख्य केन्द्र अब सिंहल है, उस के मुकाबले में हीन यान या छोटा पन्थ कहलाने लगा।

पहली शताब्दी ई० में भारतवर्ष का रोम-साम्राज्य के साथ व्यापार खूब चलता था। दक्खिन भारत में तो रोम के सिक्कों के बड़े ढेर पाये गये हैं; और उत्तर भारत के ऋषिक राजाओं के सिक्कों की बनावट और तोल रोम के सिक्कों के नमूने पर हैं; जिस से सिद्ध होता है कि दक्खिन और उत्तर दोनों के साथ जल-और स्थल-मार्ग से रोम का अच्छा खासा व्यापार चलता था। ९९ ई० में रोम के सम्राट् त्राजन के पास भारतवर्ष के किसी राजा ने अपने दूत भेजे थे। वह राजा या तो ऋषिक और या सातवाहन होगा।

कनिष्क की एक मूर्त्ति मथुरा के पास माट गाँव में पाई गई है; अब उस का सिर नहीं है, किन्तु बाकी वेषभूषा भली प्रकार दीख पड़ती है। वह मूर्त्ति कुशाणवंशी राजाओं के उसी देवकुल की होगी, जिस की स्थापना स्वयं कनिष्क ने करवाई थी।

§ १८१. पैठन और पेशावर साम्राज्यों की पच्छिम भारत में पहली कशमकश

(लग० १००—१०८ ई०)

कनिष्क के समय से मध्यदेश और मगध में भी ऋषिक-तुखारों का

शासन दृढतापूर्वक स्थापित हो गया; और कम से कम एक शताब्दी तक ज्यों का त्यों बना रहा। पंजाब सिन्ध अफगानस्थान और बलख भी उस साम्राज्य में सम्मिलित थे।

कनिष्क और उस के उत्तराधिकारियों के जो अभिलेख अब तक पाये गये हैं, उन से उन के राज्यकाल इस प्रकार प्रकट हुए हैं—

कनिष्क	—	वर्ष ३ से २३ तक,
वासिष्क या वासेष्क	—	,, २४ से २८,,
हुविष्क	—	,, ३३ से ६० ,,
वाझेष्क-पुत्र कनिष्क	—	,, ४१
वासुदेव	—	,, ७४ से ९८ ,,

राजतरंगिणी के पूर्वोक्त प्रकरण में हुष्क जुष्क और कनिष्क नाम के तीन राजाओं के कश्मीर में राज्य करने की बात लिखी है[1]। हुष्क स्पष्ट ही हुविष्क है, और जुष्क वासिष्क वासेष्क या वाझेष्क का रूपान्तर। राजतरंगिणी के उस सन्दर्भ से कई विद्वानों ने उन तीनों के संयुक्त शासन की कल्पना की है, और हुविष्क के राज्यकाल के बीच ४१ वें बरस का जो कनिष्क का लेख है, उस की व्याख्या संयुक्त शासन से करनी चाही है। कनिष्क के विषय में चीनी-तिब्बती वाङ्मय में जो कथायें प्रसिद्ध हैं, उन में एक यह भी है कि उस के युद्धों से उस की सेना तंग आ गई थी, उत्तर के लम्बे युद्धों के कारण वह अपनी राजधानी से बहुत अरसे तक अनुपस्थित रहता, और एक उत्तरी प्रवास में ही उस की सेना ने उसे मार डाला था। विन्सेंट स्मिथ कनिष्क के ४१ वें बरस के अभिलेख की व्याख्या इसी से करते थे; २३ वें और ४१ वें बरस के बीच अभिलेखों में उस का नाम न पाया जाना उन की सम्मति में उस के उत्तरी लड़ाइयों में अनुपस्थित रहने के कारण था। किन्तु डा० लुइडर्स और

[1] १. १६८।

कोनौ दो कनिष्क मानते हैं, और वही मत ठीक है। यद्यपि पहले कनिष्क के पिता का नाम हमें मालूम नहीं है, तो भी ४१ वें बरस के लेख में हां खास तौर पर वाझेष्कपुत्रस कनिष्कस कहने से प्रतीत होता है कि वहाँ पिता का नाम इस कनिष्क को पहले कनिष्क से भिन्न करने के लिए ही दर्ज किया गया है। हुविष्क के राज्यकाल के बीच कनिष्क दूसरे का राज्यवर्ष भी क्यों आया, यह प्रश्न फिर भी बाकी है। इस सम्बन्ध में कोनौ का कहना है कि ४० वें बरस से पहले हुविष्क अपने को राजाधिराज कहीं नहीं कहता, वह केवल महाराज देवपुत्र रहता है, और तब शायद केवल पूरबी प्रान्तों का शासक रहा होगा। पीछे वह समूचे साम्राज्य का स्वामी हुआ इस में सन्देह नहीं।

चीनी ऐतिहासिक इन सब राजाओं का युइशि अर्थात् ऋषिक ही कहते रहे और हमारे पुराणों में उन्ही को तुखार कहा है; स्पष्टता की खातिर ऋषिक-तुखार समास का प्रयोग अच्छा है। उन दोनों शब्दों का परस्पर सम्बन्ध पीछे प्रकट हो चुका है।

सातवाहन साम्राज्य इस के बाद पहले की तरह केवल दक्खिनी शक्ति बना रहा। उस की और तुखार साम्राज्य की लड़ाई अब मध्यदेश से हट कर पच्छिम-खण्ड में चली आई। फिर वही उज्जैन और सुराष्ट्र के प्रदेश साम्राज्यों की कशमकश की रंगस्थली बन गये। इस बार लड़ने वाली शक्तियाँ चार के बजाय केवल दो थीं। मध्यदेश और मगध उत्तरापथ के साम्राज्य में सम्मिलित हो चुके थे और पूरब अर्थात् कलिंग दक्षिणापथ के। उज्जैन और सुराष्ट्र की तरफ़ बढ़ने को ऋषिक-तुखारों के दो रास्ते रहे दीखते हैं—एक तो पंजाब से सिन्धु-सौवीर और कच्छ हो कर, दूसरे मध्यदेश से विदिशा हो कर। मथुरा से चम्बल-कांठे के साथ साथ चढ़ने का जो सब से सीधा रास्ता दीखता है उसे शायद मालव आदि गण विकट बनाये हुए थे। सिन्धु-सौवीर वाले रास्ते का उपरला सिरा कनिष्क के ११ वें बरस (८९ ई०) तक निश्चय से उन के अधीन हो

हो चुका था, और शायद उस के पहले भी ऋषिकों के हाथ में था। इधर २८ वें बरस (१०६ ई०) तक विदिशा भी राजतिराज देवपुत्र शाहि वासष्क के अधीन हो चुकी थी सो साँची के एक अभिलेख[1] से सूचित होता है।

इस समय सातवाहन राजा कब से कब तक ठीक कौन कौन थे सो आरज़ी तौर पर ही कहा जा सकता है। जायसवाल की तालिका में कुन्तल सातकर्णि के बाद सुन्दर सातकर्णि का केवल एक बरस (८३-८४ ई०) का राज्य है, और उस के बाद तीन राजाओं के जिन का पौर्वापर्व सिक्कों से निश्चित है। सिक्कों पर उन के नाम तथा जायसवाल की तालिका के अनुसार उन के राज्यकाल यों हैं—

वासिठीपुत विळिवायकुर—८४ से ८८ ई०,
माढरिपुत सिवलकुर—८८ से ११६ ई०,
गोतमिपुत विळिवायकुर—११६ से १४४ ई०।

सिवलकुर ने वासिठीपुत विळिवायकुर के सिक्कों को फिर से छापा है, और गोतमिपुत विळिवायकुर ने दोनों के। विळिवाय और कुर द्राविड या आन्ध्र शब्द हैं, जिन का संस्कृत-प्राकृत रूप है—पुलोमावी और स्वामी रोमन भूगोल-लेखक तोलमाय ने १०४ और १४७ ई० के बीच कभी अपना भूगोल लिखा; उस के समय में एक पुलोमावी पैठन में राज्य करता था। उक्त हिसाब से वह गौतमीपुत्र पुलोमावी ही है[2]। इस आरज़ी वंशानुक्रम के आधार पर हम कह सकते हैं कि कुन्तल

[1]लु० सू० का १६१।

[2]अब तक तोलमाय के समकालीन पुलुमावी को गौतमी बालश्री का पोता सुप्रसिद्ध वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी माना जाता था।

सातकर्णि के बाद दो राजाओं का थोड़ा थोड़ा समय राज्य करना अशान्ति और आपत्ति-काल को सूचित करता है, और कि शिवस्वामी के समय तक विदिशा का प्रदेश भी सातवाहनों से छिन चुका था।

§ १८२. कनिष्क (२), हुविष्क, चष्टन और गौतमीपुत्र पुलुमावि (३)

(लग० १०८—१४५ ई०)

हम ने देखा कि वासिष्क का अन्तिम लेख २८वें बरस का और हुविष्क के ३३ से ६० वें बरस तक के हैं[1]; फिर वासुदेव के ७४ वें से शुरू होते हैं। जब तक बीच के बरसों का कोई लेख न मिलें, हम सुभीते के लिए यह मान सकते हैं कि वासिष्क ने ३० वें बरस तक राज्य किया और हुविष्क ने ६७ तक। हुविष्क के राज्यकाल के बीच कनिष्क (दूसरे) का ४१ वें बरस का लेख पड़ता है। उस सम्बन्ध में भी हम पिछले परिच्छेद में की गई व्याख्या के अनुसार यह माने लेते हैं कि ३० वें से ४२ वें बरस तक कनिष्क पुरुषपुर में राजाधिराज था, और हुविष्क मथुरा में उस के अधीन महाराज, तथा ४२ वें बरस से हुविष्क समूचे साम्रज्य का राजाधिराज हुआ। शक-संवत् के हिसाब से इन सब बरसों को गिनने से हमारा कामचलाऊ तिथिक्रम यों बनता है—

वासिष्क—१०१ से १०८ ई०,

कनिष्क (२) }
हुविष्क } ——१०९ से १२० ई०,

हुविष्क——१२० से १४५ ई०।

---

[1] हुविष्क के समय के एक लेख पर सं० ३१ होने का सन्देह किया गया है;—म० सं० सू० पृ० ६२।

४१वें बरस का अभिलेख[1] सिन्धु नदी के दक्खिन किनारे पर अटक से १० मील नीचे आरा नाम के एक नाले में से मिला है। उस में महाराज राजाधिराज देवपुत्र कइसर वाझेष्कपुत्र कनिष्क के राज्य-काल में पोषपुरिपुत्र—'पेशावरियों के बेटे' (=पेशावरी) दशव्हर के एक कुआँ खुदवाने की बात है। इस में राजा की पदवियाँ ध्यान देने योग्य हैं। महाराज भारतीय पदवी थी जिसे हम खारवेल के अभिलेख में पाते हैं; राजाधिराज ईरानी पदवी का अनुवाद था, और देवपुत्र चीनी का; कनिष्क दूसरे ने रोमन सम्राटों की पदवी कइसर (Caesar) भी अपना ली ! इस से भी भारत और रोम-साम्राज्य के उस समय के घनिष्ट सम्बन्ध की एक झलक मिलती है।

ऋषिक-तुखारों को अपने मूल देश में पेशावर के ऋषिक सम्राटों ने अपनी सत्ता अब फिर स्थापित कर ली। सेनापति पान-छाओ की मृत्यु के बाद चीन का पच्छिमी देशों पर कब्ज़ा ढीला हो गया, और बाद में तो उन से एक-दम सम्बन्ध टूट गया। काशगर को चीनी इतिहास लेखक सू-ले या शु-लेक कहते हैं, जो मार्क्वार्ट की सम्मति में संस्कृत सरक का रूपान्तर है। चीनी इतिहास में लिखा है कि शु-लेक के राजा अं-कुओ ने ११४—११६ ई० के बीच अपने मामा छेन-फान को निर्वासित कर दिया; उस ने ऋषिक राजा की शरण ली, और अं-कुओ की मृत्यु के बाद ऋषिकों ने उसे शु-लेक का राजा बना दिया। ऋषिक राजा का नाम वहाँ भी नहीं दिया। किन्तु चीनी यात्री य्वान च्वाङ ने लिखा है कि कनिष्क की शक्ति चीन के पच्छिमी सीमान्त राज्यों तक पहुँचती थी, वहाँ के सब राज्य उस से डरते थे, और एक राज्य से वहाँ के राजा के कुमार को वह ओल रूप में ले आया था[2] इस से प्रतीत होता है कि ११६ ई० के बाद शु-लेक के राज्य में दखल

[1] भा० अ० सू० २, १ का सं० ८९। [2] १, पृ० १२४।

देने वाला ऋषिक राजा कनिष्क ही था, और उस दशा में वह वही कनिष्क था जिस का ४१वें बरस के लेख में नाम है। सम्राट् हुविष्क के समय के लेख काबुल के पच्छिम वर्दक से ले कर गया तक पाये गये हैं। हुविष्क और कनिष्क दोनों के सिक्के झाड़खंड के राँची ज़िले से मिले हैं।

कश्मीर में वराहमूल द्वार (बारामूला दर्रा) के ठीक अन्दर हुविष्क ने अपने नाम से एक हुविष्कपुर बसाया था, जिस के चिन्ह अब उस्कूर गाँव के रूप में मौजूद हैं। मथुरा में उस ने अपने वंश के देवकुल की मरम्मत करवाई थी।

काबुल के तीस मील पच्छिम वर्दक या खवत नामक स्थान में एक स्तूप के खंडहरों की खुदाई में ताँबे का एक भद्रघट मिला था। उस पर जो ५१ वें बरस का हुविष्क के समय का लेख है, वह विशेष मनोरञ्जक है—

"सं० २० २० १० १ अर्थमिसिय[1] मास प्रविष्टा १० ४ १ (=१५) इस घड़ी में कमगुल्य-पुत्र (=कमगुल्य वंश का बेटा या कमगुल्य समूह का सदस्य) वग्रमरेग— उस ने यहीं खवद को अपना घर बना लिया है— वग्रमरिग-विहार में स्तूप में भगवान् शाक्यमुनि का शरीर प्रतिष्ठापित करता है। इस कुशलमूल से, यह महाराज राजाधिराज हुवेष्क के अग्र-भाग के लिए हो, मेरे माता-पिता की पूजा के लिए हो, मेरे भाई हष्थुन मरेग की पूजा के लिए हो, और फिर जो मेरे ज्ञाति मित्र और साथी हैं उन की पूजा के लिए हो, और मुझ वगमरेग के अग्र-भाग पाने के लिए हो, सब सत्वों की अरोग-दक्षिणा के लिए हो! और क्या, नरक पर्यन्त जितना भवाग्र (संसार) है, इस के अन्दर जो अंडज

---

[1] उत्तरपच्छिम के यवन-शक-युगों के लेखों में बहुत बार मकदूनी महीनों के नाम पाये जाते हैं।

जरायुज हैं, और यहाँ तक कि जो अरूप सत्तायें हैं, सब की पूजा के लिए हो······यह विहार महासांघिक आचार्यों का परिग्रह।"[1]

इस लेख से जहाँ दूसरी शताब्दी ई० के अफ़ग़ानिस्तान की जातीय और धार्मिक अवस्था पर प्रकाश पड़ता है, वहाँ यह भी सूचित होता है कि राजाधिराज हुविष्क का अपने दूर के प्रान्तों पर भी सुदृढ़ अधिकार बना हुआ था—उन प्रान्तों की प्रजा की पारलौकिक कमाई में से भी उसे अग्रभाग मिलता था[2]।

और न केवल अफ़ग़ानिस्तान में प्रत्युत उपरले हिन्द में भी इस युग में भारतीय ऋषिकों का पूरा प्रभाव रहा, और उन की छत्रच्छाया में वहाँ आर्य सभ्यता का वह पौदा पनपता रहा जिस का अंकुर अशोक ने लगाया था। उपरले हिन्द से कीलमुद्रा कहलाने वाली लकड़ी की तख्तियों पर लिखे हुए प्राचीन खरोष्ठी अभिलेख बड़ी संख्या में मिले हैं। उन में से बहुत से राजकीय लेख हैं, और उन की शैली सर्वथा भारतीय लेखों की सी है, उन का आरम्भ प्रायः महानुभाव महाराज लिखता है से होता है[3]। उन सब की भाषा गान्धार की प्राचीन प्राकृत है, यद्यपि उस में स्थानीय शक (खोतनदेशी) भाषा के कोई कोई शब्द आ गये हैं। इस से यह सूचित है कि उपरले हिन्द की राजकाज की भाषा उन अभिलेखों के युग में—अर्थात् दूसरी से चौथी शताब्दी

---

[1] भा० अ० स० २, १, पृ० १६१।

[2] यह विचार हम पूर्व-नन्द-युग के वाङ्मय में पा चुके हैं; ऊपर § ११४ इ—पृ० ४४८।

[3] दे० खरोष्टी इन्स्क्रिप्शन्स डिस्कवर्ड बाइ सर औरेल स्टाइन इन चाइनीज़ तुर्किस्तान (सर औरेल स्तीन द्वारा चीनी तुर्किस्तान में आविष्कृत खरोष्टी अभिलेख); बौयर, रैप्सन और सेनार द्वारा लिप्यन्तरित और सम्पादित; भाग १, २; आक्सफ़र्ड १९२०-२७।

ई० तक—एक आर्यावर्त्ती प्राकृत थी, और वह भी ठीक उस गान्धार जनपद की जहाँ के निवासियों को निर्वासित कर के अशोक ने वहाँ पहला आर्यावर्त्ती उपनिवेश बसाया था। इस विषय की अधिक चर्चा हम आगे (§ १८८ अ) करेंगे।

उधर पच्छिम की रंगस्थली में सातवाहनों और तुखारों की मुठ-भेड़ जारी थी। अन्दाज़न ११० ई० में उज्जैन में फिर एक क्षत्रप वंश स्थापित हो गया। उस वंश का पहला शासक महाक्षत्रप चष्टन था। वह और उस के वंशज शक कहलाते हैं। उस के बाप का नाम ज़ामोतिक था; उस समय तक हमारे देश की लिपि में ज़ उच्चारण को प्रकट करने वाला कोई अक्षर न था, इसी कारण चष्टन के लेखों में उस का नाम य्सामोतिक लिखा होता है[1]। मथुरा के पूर्वोक्त कुशाण-वंशी देवकुल की एक मूर्त्ति के नीचे श्रीयुत विनयतोष भट्टाचार्य ने षस्तन नाम पढ़ा, और ओझा हरप्रसाद शास्त्री, ल्यूनर्स और जायसवाल ने उस पाठ को स्वीकार किया है[2]। इस के प्रकट है कि चष्टन का ऋषिक राजवंश से निकट सम्बन्ध था। रोमन भूगोल-लेखक तोलमाय ने उज्जैन में चष्टन के राज्य का उल्लेख किया है, इसी लिए उस का समय अन्दाज़न ११०—२० ई० मानना चाहिये। कच्छ में अन्धौ नामक स्थान से पाँच अभिलेख पाये गये हैं, जिन में से चार के अन्त में यों पाठ है[3]—

राज्ञो चष्टनस य्सामोतिकपुत्रस राज्ञो रुद्रदामस जयदामपुत्रस वर्षे द्विपंचाशे ५० २।

---

[1]दे० ऊपर §§ १७७, १८० इ—पृ० ८१७, ८४०। चष्टन के बाप का नाम पहले घ्सामोतिक पढ़ा जाता था; लुइडर्स ने उसे य्सामोतिक पढ़ा, और पहले-पहल उस का अर्थ पहचाना।

[2]ज० बि० ओ० रि० सो० १९२०, पृ० ५१-५३।

[3]ए० इं० १६, पृ० २३—२५।

इन अभिलेखों से एक विचित्र पहेली उपस्थित होती है। चष्टन का बेटा जयदामा और पोता रुद्रदामा था। किन्तु उस पंक्ति का क्या अर्थ किया जाय? ५२ वें बरस अर्थात् १३० ई० में कच्छ में कौन राज्य कर रहा था? चष्टन या रुद्रदामा? या दोनों साथ साथ? स्वर्गीय राखालदास बैनर्जी का मत था कि उस पंक्ति के मध्य में पौत्रस शब्द ग़लती से छुट गया है—अर्थात् वह लेख ज़ामोतिक के पुत्र चष्टन के पोते रुद्रदामा के समय का है। दूसरे कई विद्वान् पंक्ति के मध्य में एक च (और) जोड़ते हैं; उन के मत में ५२ वें बरस चष्टन और रुद्रदामा दोनों साथ साथ राज्य करते थे।

रुद्रदामा के सुप्रसिद्ध जूनागढ़ अभिलेख से, जिस की चर्चा अभी की जायगी, जाना जाता है कि उस के वंश से समूचा राज्य छिन गया और उस ने उसे फिर से जीता था। वह राज्य छीनने वाला निश्चय से चष्टन का समकालीन सातवाहन राजा ही होगा, जिस का नाम प्तोलमाय ने पुलोमावी लिखा है और जो जायसवाल की वंशतालिका के अनुसार पुलुमावी तीसरा अर्थात् गौतमीपुत्र पुलोमावी उर्फ़ गौतमीपुत्र विळिवायकुर था। रुद्रदामा ने एक राजा सातकर्णि को अपनी लड़की ब्याह में दी थी[1], और वह सातकर्णि वंशतालिका के अनुसार गौतमीपुत्र पुलुमावी का बेटा प्रतीत होता है। युद्ध में हारे हुए राजाओं की विजेता या उस के किसी सम्बन्धी को अपनी बेटी देने की चाल है। चष्टन-वंश का अपना राज खोना और रुद्रदामा का अपनी लड़की अपने वंश के शत्रु को देना, दोनों बातों का स्पष्टतः परस्पर-सम्बन्ध था। इस से यह परिणाम निकलता है कि चष्टन ने सातवाहनों के जितने प्रदेश पर अधिकार कर लिया था, उस के जीते जी या उस के मरने के शीघ्र बाद—हर हालत में ५२ शक-सं० (= १३० ई०) से पहले

[1] नीचे § १८३।

—पुलुमावी ने उस से वह सब वापिस ले लिया। चष्टन का बेटा जयदामा इसी कारण कभी राजा न बन सका। रुद्रदामा को पुलुमावी के बेटे के लिए अपनी बेटी देनी पड़ी, और दोनों वंशों में इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर पुलुमावी ने उसे अपने साम्राज्य के उत्तरी छोर पर कच्छ में बना रहने दिया। १३० ई० में रुद्रदामा का शासन, या चष्टन और रुद्रदामा दोनों का शासन, केवल उसी कच्छ के टापू में बाकी था।

§ १८३. महाक्षत्रप रुद्रदामा

(लग० १३०—१५५ ई०)

किन्तु ७२ शकाब्द (१५० ई०) से पहले रुद्रदामा अपने जमाई सातकर्णि से बहुत सा प्रदेश जीतकर और प्रजा से अपने को राजा वरण करवा के अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर चुका था। अपने जमाई को उस ने दो लड़ाइयों में हराया था। उन लड़ाइयों को हम अन्दाजन १४५ ई० के आस-पास रख सकते हैं। चन्द्रगुप्त और अशोक मौर्य ने गिरनार के पास जो सुदर्शन तालाब बनवाया था, उस का बाँध इस समय टूट गया था। रुद्रदामा ने बड़े जतन से उस की मरम्मत करवाई, और उस मरम्मत की याद में उस तालाब के किनारे उसी चट्टान पर जिस पर कि अशोक के १४ लेख खुदे थे, उन लेखों के नीचे ललित ओज-भरी और सुन्दर संस्कृत में अपना एक लेख खुदवा दिया। प्राचीन भारत का सब से पहला संस्कृत का बड़ा अभिलेख वही है; उस से पहले के सब अभिलेख प्राकृत के हैं। उस लेख[1] का शब्दानुवाद यों है—

---

[1] ए० इं० ८, पृ० ४२, कीलहार्न द्वारा सम्पादित।

"यह तालाब सुदर्शन (नामक) गिरिनगर (गिरनार) से भी दूर[1] ··· ·········[2] मिट्टी-पत्थरों की विस्तृत लम्बी ऊँची सन्धि-हीन सब दृढ़ पाळियों से बँधा होने के कारण, पर्वत के चरण की प्रतिस्पर्धा करने वाले सुश्लिष्ट·········अकृत्रिम सेतुबन्ध (बाँध) से उपपन्न, भली प्रकार बनी हुई नालियों मोरियों और मैला निकालने के रास्तों[3] से युक्त, तीन स्कन्ध वाला·········आदि अनुग्रहों से (अब) बड़ी अच्छी हालत में है। सो यह (तालाब) राजा महाक्षत्रप सुगृहीतनामा स्वामि-चष्टन के पोते······बेटे राजा महाक्षत्रप, बुजुर्ग लोग भी जिस के नाम को जपा करते हैं ऐसे, रुद्रदामा के बहत्तरवें ७०२ बरस में मार्गशीर्ष कृष्ण प्रति······बादल के बहुत बरसने से पृथिवी के एक समुद्र की तरह हो जाने पर ऊर्जयत् (नामक) पहाड़ से सुवर्णसिकता पलाशिनी आदि नदियों के बहुत ही बढ़े हुए वेगों से सेतु··· अनुरूप प्रतिकार किये जाने पर भी, पहाड़ के शिखरों वृक्षों अट्टालिकाओं उपतल्पों (उपरली मंज़िलों) दरवाजों तथा शरण लेने को बनाये हुए ऊँचे स्थानों का विध्वंस कर देने वाले युग-निधन सदृश परम घोर-वेग वायु द्वारा मथे हुए पानी से फेंके गये और जर्जर किये गये·········पत्थरों पेड़ों झाड़ियों लताओं के फेंके जाने से ठीक नदी की तलैटी तक उखड़ गया था। बीस ऊपर चार सौ हाथ लम्बा उतना ही चौड़ा पचहत्तर हाथ गहरा दराड़ हो जाने से सब पानी निकल जाने के कारण मरु और बांगर के समान बहुत ही दुर्दर्शन (बुरा दीखने वाला)

[1]अपि दूरम् के बजाय अविदूरम् (=नज़दीक) पाठ होता तो ठीक था।

[2]इस चिह्न का यह अर्थ है कि बीच में पाठ लुप्त है।

[3]मीढ का अर्थ मैला किया गया है। पर कहीं वह हिन्दी मेंड का वाचक तो नहीं?

······(।)······के लिए मौर्य राजा चन्द्रगुप्त के राष्ट्रीय (=राष्ट्र या जनपद के शासक, प्रान्तिक शासक) वैश्य पुष्यगुप्त का बनवाया, अशोक मौर्य के लिए यवनराज तुषास्फ ने अपने अधिष्ठातृत्व में जिसे नालियों से अलंकृत किया था ऐसा, और उस की बनवाई राजाओं के अनुरूप सब इन्तज़ाम वाली, उस दराड़ के बीच दीख पड़ी नाली से विस्तृत सेतु···(।)···गर्भ से लेकर अविहत और समुदित राजलक्ष्मी के धारण के गुण के कारण सब वर्णों के द्वारा रक्षण के लिए पति (राजा) रूप में वरे गये युद्ध के सिवाय मरते दम तक कभी पुरुष का वध न करने की अपनी प्रतिज्ञा को सत्य कर दिखलाने वाले, सामने आये हुए बराबर के शत्रु को चोट दे कर निकम्मे शत्रु······करुणा धारण करने वाले, अपने आप शरण में आये झुके जनपद को आयु और शरण दान देने वाले, डाकू व्याळ जंगली जन्तु रोग आदि जिन्हें कभी छू नहीं पाते ऐसे नगर-निगमों और जनपदों की अपने वीर्य से अर्जित अनुरक्त प्रजाओं से आबाद पूरबी पच्छिमी आकर अवन्ति अनूप नीवृत् आनर्त्त सुराष्ट्र श्वभ्र (श्वभ्रमती=साबरमती का काँठा) मरु (मारवाड़) कच्छ सिन्धु सौवीर कुकुर अपरान्त निषाद आदि······ सब प्रदेशों के—जो कि उस के प्रभाव से······अर्थ काम विषयों को ······—स्वामी, सब क्षत्रियों में प्रकट की हुई (अपनी) वीर पदवी के कारण अभिमानी बने हुए और किसी तरह काबू न आने वाले यौधेयों को ज़बरदस्ती उखाड़ देने वाले, दक्षिणापथपति सातकर्णि को दो बार खुली लड़ाई में जीत कर भी निकट सम्बन्ध के कारण न उखाड़ने से यश पाने वाले,···विजय पाने वाले, गिरे राजाओं के प्रतिष्ठापक, अपने हाथ को यथार्थ रूप से उठा कर (=लगातार ठीक ठीक न्याय करते रहने के कारण)[1] दृढ़ धर्मानुराग का अर्जन करने

[1]राजा हाथ उठा कर अपना न्याय-निर्णय सुनाता था। दे० मनु ८. २ (कीलहार्न द्वारा उद्धृत)।

वाले, शब्द (व्याकरण) अर्थ (अर्थशास्त्र) गान्धर्व (संगीत) न्याय (तर्कशास्त्र) आदि बड़ी बड़ी विद्याओं के पारण (पारंगत होने) धारण (स्मरण) विज्ञान (समझने) और प्रयोग से विपुल कीर्ति पाने वाले, घोड़े हाथी रथ चलाने तलवार-ढाल के युद्ध आदि······ अत्यन्त बल फुर्ती सफ़ाई दिखाने वाले, दिन-ब-दिन दान मान करने तथा अनुचित बर्ताव से परहेज रखने वाले, स्थूल लक्ष वाले, उचित रूप से पाई बलि (मालगुजारी) शुल्क (चुंगी) और भाग (राजकीय अंश) से—सोना चाँदी वज्र वैडूर्य रत्नों के ढेरों से भरपूर कोश वाले, स्फुट लघु मधुर विचित्र कान्त शब्द-संकेतों द्वारा उदार अलंकृत गद्य पद्य···· , लम्बाई चौड़ाई ऊँचाई स्वर चाल रंग सार बल आदि उत्तम लक्षणों और व्यञ्जनों से युक्त कान्त मूर्त्ति वाले, अपने आप पाये महाक्षत्रप नाम वाले, राजकन्याओं के स्वयम्वरों में अनेक मालायें पाने वाले महाक्षत्रप रुद्रदामा ने हज़ारों बरसों के लिए, गो ब्राह्मण··· के लिए और धर्म और कीर्त्ति की वृद्धि के लिए, पौर जानपद जन को कर विष्टि (बेगार) प्रणय (=प्रेम-भेंट के नाम से धनी प्रजा से लिए हुए उपहार)[1] आदि से पीडित किये बिना, अपने ही कोश से बड़ा धन लगाकर थोड़े ही काल में (पहले से) तीन गुना दृढ़तर लम्बाई चौड़ाई वाला सेतु बनवा कर सब तरफ़··· · पहले से सुदर्शनतर (अधिक सुन्दर) कर दिया। महाक्षत्रप के मतिसचिवों (सलाह देने वाले पारिषद्यों) और कर्मसचिवों (कार्यकारी मन्त्रियों) की, यद्यपि वे सब अमात्य-गुणों से युक्त थे तो भी, दराड़ के बहुत बड़ा होने के कारण इस विषय में अनुत्साह के कारण सहमति नहीं रही; उन के इस के आरम्भ में विरोध करने पर, फिर से सेतु बाँधने की आशा न रहने से प्रजा में हाहाकार मच जाने पर, इस अधिष्ठान में पौर-जानपदों के अनुग्रह के लिए, समूचे आनर्त्त और सुराष्ट्र के पालन के लिए,

---

[1] दे० ऊपर ❀ २६—पृ० ६८६।

राजा की तरफ़ से नियुक्त पह्लव कुलैप के पुत्र—अर्थ धर्म और व्यवहार को ठीक ठीक देखते हुए (प्रजा का) अनुराग बढ़ाने वाले, शक्त, दान्त (संयमी), अचपल, अविस्मित (अनभिमानी), आर्य, न डिग सकने (रिश्वत न लेने) वाले—अमात्य सुविशाख ने भली प्रकार शासन करते हुए, अपने भर्त्ता का धर्म कीर्त्ति और यश बढ़ाते हुए बनवाया । इति ।"

इस अभिलेख से यह प्रकट है कि दक्षिणापथ-पति सातकर्णि और महाक्षत्रप रुद्रदामा निकट सम्बन्धी थे । कान्हेरी-लेण के एक खण्डित अभिलेख[1] में जो अमात्य सतेरक द्वारा एक पानीयभाजन (पोढी) दिये जाने के विषय में है, वासिष्ठीपुत्र श्री सातकर्णि की देवी कार्द्दमक राजाओं के वंश में उत्पन्न महाक्षत्रप रु की बेटी का नाम है । इस से इस बात में कोई उचित सन्देह बाकी नहीं रहता कि वासिष्ठीपुत्र सातकर्णि रुद्रदामा का जमाई था । अर्थशास्त्र २०.११ में कार्दमिक मोतियों का उल्लेख है[2] । टीकाकार ने उस की व्याख्या करते हुए लिखा है कि कदम पारस की एक नदी थी । वह नदी पारस की रही हो या उपरले हिन्द की, इस विषय में पिछले टीकाकार को भ्रम हो सकता है, पर भारत के बाहर किसी पड़ोसी देश की वह नदी होगी, और कार्द्दमक राजा उसी के काँठे के निवासी रहे होंगे । पुराणों में एक सातवाहन राजा का नाम चकोर, चकर या चतरवाटक है । नानाघाट का एक अभिलेख[3] राजा वाशिष्ठीपुत्र चतरपन शातकर्णि के १३ वें बरस का है । जायसवाल का कहना है कि चकोर, चतरवाटक या चतरपन सातकर्णि एक ही व्यक्ति था, और वही रुद्रदामा का दामाद था । उस का समय वे अन्दाज़न १४४—५७ ई० रखते हैं ।

---

[1] लु० सू० का ९९४; इं० आ० १२, पृ० २७२ । [2] पृ० ७५ ।
[3] लु० सू० का ११२० ।

रुद्रदामा जिन विषयों (प्रदेशों) का स्वामी था उन में से नीवृत् और निषाद के सिवाय सब के नाम स्पष्टार्थक हैं। निषाद शायद निषध, अर्थात् विदर्भ के पच्छिम बागलान प्रदेश, हो। उन सब विषयों में से आकर अवन्ति अनूप सुराष्ट्र कुकुर और अपरान्त गौतमीपुत्र सातकर्णि के भी अधीन थे। आकर २८ कनिष्काब्द (१०६ ई०) से पहले भी वासिष्क के अधीन हो चुका था, अवन्ति से कच्छ तक चष्टन के समय भी जीता गया था; रुद्रदामा ने फिर से इन सब विषयों को जीत कर स्वयं महाक्षत्रप नाम प्राप्त किया। और वह सब वर्णों अर्थात् समूची प्रजा से पति-रूप में वरा गया। सुराष्ट्र और गुजरात पर पहली बार शकों की चढ़ाई होने के बाद से वहाँ के पुराने स्थानीय गण-राज्य—वृष्णि और कुकुर—सदा के लिए समाप्त हो गये दीखते हैं, वे फिर नहीं उठे। गौतमीपुत्र सातकर्णि के समय से वह जनपद पहले तो सातवाहनों के अधीन रहा, पर अब जब सातवाहन उसे बाहरी आक्रमण से बचा न सके, और पिछले ४० एक बरस से वहाँ लगातार उत्तरी और दक्षिणी शक्तियों का सम्मर्द रहा, तब अन्त में प्रजा ने एक ऐसे व्यक्ति को राजा चुन लिया, जिस ने अपने को पूरी तरह भारतीय बना लेने के बावजूद देश की रक्षा और सुशासन में अपूर्व चरित-दृढ़ता दिखलाई। रुद्रदामा ने अपने जीवन के प्रत्येक पहलू में आर्यावर्त्ती सभ्यता को किस प्रकार अपना लिया था, सो इस लेख के अक्षर अक्षर से ध्वनित होता है। और न केवल अपने जीवन में प्रत्युत अपने राज्य के अनुशासन में भी उस ने देश की राज्य-संस्था को पूरी तरह अपनाया, सो इस लेख के पौर-जानपदों विषयक तथा मतिसचिवों और कर्मसचिवों विषयक निर्देशों से प्रकट है। उस के राज्य में पौर-जानपद संस्था थी; और वह मति-सचिवों अर्थात् मन्त्रिपरिषद्[1] से प्रत्येक बात में सलाह लेकर चलता तथा

[1] ऊपर § १४४ अ।

कर्मसचिवों की सहायता से शासन करता था। देश का राजा बदल गया तो भी राज्य-संस्था बनी रही।

§ १८४. यौधेय गण

जिन यौधेयों को रुद्रदामा ने ज़बर्दस्ती उखाड़ डाला, उन के इतिहास के उतार-चढाव पर विचार करने की ज़रूरत है। रुद्रदामा कहता है कि सब क्षत्रियों में वीर प्रसिद्ध हो जाने के कारण उन के दिमाग फिर गये थे, और वे अविधेय थे—किसी के काबू न आते थे। उन की वह प्रसिद्धि और वह धाक आखिर कुछ घटनाओं का—अनेक लड़ाइयों में विजयी होने और अनेक चढ़ाइयों का सफलतापूर्वक मुकाबला करने का—ही परिणाम होगी। रुद्रदामा के लेख का यह स्पष्ट अर्थ है कि पहले पहल उसी ने उन का दमन किया। जान पड़ता है कि प्रसिद्ध और बड़े गणों में से केवल एक यौधेय गण भी ऐसा था जिस ने पिछली सवा तीन शताब्दियों की उथलपुथल और मारकाट में भी अपनी स्वतन्त्रा अक्षुण्ण बनाये रक्खी थी।

सिकन्दर की यौधेयों के साथ लड़ाई न हुई थी, क्योंकि वह उन के देश तक न पहुँचा था। उस के बाद दूसरी शताब्दी ई० पू० में दिमेत्र या मेनन्द्र का मुकाबला उन्हें करना पड़ा हो सो सम्भव है। लग० ७० ई० पू० के बाद जब सिन्ध से शक लोग पञ्जाब की तरफ बढ़े तब रास्ते में उन्हों ने यौधेयों के देश पर हमला किया हो सो बहुत सम्भव है। रुद्रदामा के समय जो उन की वीर और अदम्य होने की ख्याति थी, वह यदि यवन-युग की नहीं तो कम से कम शक-युग की स्मृतियों पर अवश्य निर्भर होगी। और उसी से सिद्ध होता है कि यौधेय शकों के मुकाबले में हारे नहीं। सिन्ध के पड़ोस में रहने के कारण उन की शकों से लगातार लड़ाई होती रही होगी। किन्तु उन लड़ाइयों में उन्हों ने

अपनी स्वतन्त्रता निश्चय से बनाये रक्खी यह इस से भी जाना जाता है कि उन के जो पुराने गोल छोटे पीतल के सिक्के पाये गये हैं वे पहली शताब्दी ई० पू० के[1] अन्दाज़ किये गये हैं।

शकों के पतन (५७ ई० पू०) से विम या कनिष्क के समय तक लगभग एक शताब्दी के लिए उन का कोई विरोधी न था; किन्तु कनिष्क के समय तक उन का देश छिन चुका था सो हम ने पीछे[2] देखा है। किन्तु ऋषिकों के मुकाबले में भी उन्हों ने अपनी वीर और अदम्य होने की ख्याति बनाये रक्खी सो निश्चित है, क्योंकि यदि रुद्रदामा के समय से कुछ ही पहले उस ख्याति में बट्टा लग चुका होता तो रुद्र उस का उल्लेख न करता। और वे अपना देश छोड़ कर मरुभूमि में चले आये सो भी रुद्रदामा के लेख से ही सूचित है; क्योंकि रुद्र के अधीन उन का पुराना देश तो नहीं था, और दूसरे किस देश में वह उन को उखाड़ सकता था? उस ने जितने प्रदेशों पर अपना अधिकार लिखा है, उन में से सिन्धु देश की सीमा पर या मरु में ही उसे यौधेयों से वास्ता पड़ सकता था। रुद्रदामा के समय यौधेय गण मानों चक्की के दो पाटों के बीच था—उस के एक तरफ़ ऋषिक साम्राज्य था और दूसरी तरफ़ रुद्रदामा। और हम देखेंगे कि रुद्रदामा भी उन्हें केवल अपने जीवन-काल तक ही दबा सका; उस की उन्हें उखाड़ फेंकने की डींग थोथी थी।

कैसी जीवन-मरण की कशमकश में वे लगे थे, तथा उन के प्रत्येक दृढ़ मुकाबले और प्रत्येक विजय का कितना गौरव था, इस बात को स्वयं यौधेय लोग खूब अनुभव करते; अपनी अदम्य स्वतन्त्रता का उन्हें उचित

---

[1] आ० स० रि० १४ पृ० १४१।

[2] § १८० इ—पृ० ८३९।

अभिमान था। उन के रुद्रदामा के बाद के जो सिक्के पाये गये हैं उन में दो नमूने बड़े महत्त्व के हैं। एक पर यौधेयगणस्य जय (यौधेय गण की जय) लिखा रहता, तथा एक हाथ में भाला लिए और दूसरा हाथ कमर पर रक्खे—त्रिभंग मुद्रा में—एक यौधेय योद्धा का चित्र रहता है। दूसरे नमूने पर एक तरफ़ युद्ध और वीरता के देवता कार्त्तिकेय का चित्र रहता है, और दूसरी तरफ़ एक स्त्री मूर्त्ति।

§ १८५. तामिल और सिंहल राष्ट्रों की रंगस्थली

(लग० ८०—१६० ई०)

ऋषिक-तुखार राजाओं और उन के शक क्षत्रपों ने जब सातवाहनों का ध्यान उत्तर और पच्छिम भारत की रंगस्थली में जुटा रक्खा था, तब उन के दक्षिणी छोर पर तामिल और सिंहल राष्ट्र भी एक राजनैतिक गौरव समृद्धि और उच्च संस्कृति के युग में से गुज़र रहे थे। उन राष्ट्रों के राजनैतिक भूगोल और आर्थिक दशा का कुछ पता हमें एरुथ्र् सागर की परिक्रमा से तथा प्लिनु (७७ ई०) सोलमाय (१०४—४७ ई० के बीच) आदि रोमन लेखकों के ग्रन्थों से मिलता है। उन के आन्तरिक जीवन की एक पूरी तस्वीर और राजनैतिक इतिहास की भी एक झलक प्राचीन तामिल साहित्य के तीसरे संगम् के ग्रन्थों में पायी जाती है।

अ. तामिल राष्ट्रों का राजनैतिक चित्र

परिक्रमा के लेखक के अनुसार बरुगज़ (भरुकच्छ) से अरियक (Ariaca) प्रदेश शुरू होता जो कि सातवाहनों के राज्य और समूचे भारत का आरम्भ-सूचक था। सातवासन राजा का नाम परिक्रमा में अब सम्बेर पढ़ा जाता है; उस के विषय में ऊपर[1] कह चुके हैं। उस

---

[1]ऊपर § १७१—पृ० ८२३-२४, ८३१।

राजा का देश पच्छिम समुद्र से आने वालों के लिए समूचे भारत का आरम्भसूचक था, इस से यह भी प्रतीत होता है कि अरियक का राजा ही समूचे भारत का राजा था;—वह सातवाहनों के चरम उत्कर्ष का समय था। बरुगज़ के दक्खिन का देश दछिनाबद (दक्षिणापथ) कहलाता, उस के अन्दर कुछ दूर बाद विशाल जंगल फैला हुआ था; वह जंगल संस्कृत साहित्य का सुप्रसिद्ध दण्डकारण्य था।

अरियक-तट के अन्तिम दक्खिनी छोर पर नौर (Naura) और तुन्दि (Tyndis) बन्दरगाह थे, जिन से दामिरिक प्रदेश शुरू होता था। दामिरिक निःसन्देह तामिल या द्राविण देश था। अरियक के ठीक अर्थ के विषय में आधुनिक विद्वानों ने अनेक कल्पनायें और विवेचनायें की हैं। सब से अधिक युक्ति-संगत बात प्रो० कृष्णस्वामी ऐयंगर की है;—उनके अनुसार अरियक दामिरिक के मुकाबले का शब्द है, और वह तामिल साहित्य के वडुकरों (उत्तर वालों) के देश—या आर्यों के देश—को सूचित करता है। सिन्ध को हिन्दी शकस्थान कहा गया है, उस के मुकाबले में भी कोंकण का नाम अरियक हो सकता है। जो भी हो उस का आर्य या अरिय शब्द से सम्बन्ध है। नौर के बजाय प्लिनु और प्तोलमाय नित्र लिखते हैं। परिक्रमा के सुप्रसिद्ध सम्पादक और अनुवादक डा० शौफ़ का कहना है कि वह आधुनिक कनानोर का सूचक है; पर यूल महाशय के मत में वह प्राचीन मंगलोर था। यूल का मत ही ठीक है क्योंकि मंगलोर नेत्रवती नदी के मुहाने पर बसा है, और उसी के नाम से नित्र या नेत्र बन्दरगाह का नाम रहा होगा।

परिक्रमा और प्लिनु दोनों ही के अनुसार नेत्र बन्दरगाह समुद्री डाकुओं का अड्डा था। परिक्रमा के समय आधुनिक कारबार से नेत्र या मंगलोर तक समुद्री डाकुओं का तट था। प्तोलमाय के समय वहाँ

डकैती न चलती थी, तो भी वह हिंस्त्रिकाओं[1] का अरियक (Ariaka Andoron Peiraton) कहलाता था।

तुन्दि आधुनिक कालीकट के पास कदलुन्दि नामक स्थान है। वह चेरबोथ्र (=चेरपुत्र, केरलपुत्र) के राज्य में था। उस के और दक्खिन एक नदी के मुहाने पर मुज़िरि (Muziris) नाम का प्रसिद्ध और भारी बन्दरगाह था। वह तामिल लोगों का मुयिरि या मुज़िरि—आधुनिक क्रांगानोर—था। ५० मील और दक्खिन, तट के दस मील अन्दर, निलकुन्द (Nelcunda) नाम का एक और नगर और उस के सामने बचरा (Bacara) बन्दरगाह था। सुप्रसिद्ध स्वर्गीय तामिल विद्वान् कनकसभै पिल्लै ने उन की शिनाख्त निर्कुण्रम् और वैक्करै नामक बस्तियों से की थी। वे दोनों पाण्ड्य देश में थीं।

वैक्करै के दक्खिन अर्गवानी रंग के पहाड़ और परलिया (Paralia) प्रदेश (तामिल—पुरल तट) था, जिस में बलित (Balita = वर्क्कलि या जनार्दनम्) नाम का सुन्दर बन्दरगाह था। उस के आगे सुप्रसिद्ध कुमारी तीर्थ और बन्दरगाह था। कुमारी का प्रदेश पूरब तरफ़ कोर्कई बन्दरगाह के मोती-क्षेत्रों तक पहुँचता, जिन में दण्ड-पाये क़ैदी काम करते थे। ताम्रपर्णी (चित्तार) नदी के मुहाने पर कोर्कई पाण्ड्यों का अत्यन्त प्रसिद्ध और समृद्ध बन्दरगाह था। उस के उत्तर के तट से दूसरा प्रदेश शुरू होता; उस का जो नाम परिक्रमा में दिया है वह चोलों की राजधानी उरैपुर या उरगपुर (आधुनिक त्रिचनापल्ली) का रूपान्तर प्रतीत होता है। वह तट कृष्णा के मुहाने के करीब तक पहुँचता था।

---

[1] समुद्री डाकू जहाज़ों के लिए संस्कृत शब्द हिंस्त्रिका है; दे० अर्थ० पृ० १२६।

इ. संगम-साहित्य और उसका राजनैतिक नकशा

संगम्-साहित्य के ग्रंथों का समय पिछली शताब्दी ई० के आरम्भ में कम्पैरेटिव ग्रामर आव दि ड्राविडियन लैंग्वेजेस् (द्राविड भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण) नामक प्रसिद्ध अंग्रेजी ग्रन्थ के लेखक डा० काल्ड्वेल ने नौवीं-दसवीं शताब्दी ई० अन्दाज़ किया था। स्वर्गीय सुन्दरम् पिल्लै और कनकसभै पिल्लै ने क्रमशः सन् १८९० और १९०३ ई० में पहले-पहल उस मत का विरोध किया; उस के बाद से उस पर लम्बा विवाद चलता रहा है। प्रो० कृष्णस्वामी ऐयंगर ने पिछले समूचे वादविवाद का सिंहावलोकन और उस विषय की विवेचना कर के जो स्थापनायें की हैं, उन्हें अनेक अंशों में अन्तिम सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया जा सकता है। संगम् ग्रन्थों में तामिल देश का एक पूरा राजनैतिक चित्र मिलता है। प्रो० ऐयंगर का कहना है कि उस चित्र में उस प्रसिद्ध पल्लव राज्य को कोई स्थान नहीं है जो तीसरी शताब्दी ई० में काञ्ची में स्थापित हो गया था, और जो उस के बाद से, विशेष कर छठी शताब्दी ई० से, तामिल भारत का प्रमुख राज्य था। उस चित्र की बारीकी से विवेचना कर के प्रो० ऐयंगर ने दिखलाया है कि वह परिक्रमा और प्तोलमाय के समय के नक्शे से पूरा पूरा मिलता है। संगम्-ग्रंथों के अन्य ऐतिहासिक, आर्थिक और सामाजिक निर्देशों की छानबीन भी उसी परिणाम पर पहुँचाती है[1]।

संगम्-साहित्य के अनुसार तामिल देश के तट के मैदान में तीन प्रमुख राज्य थे, और उनके बीच के पहाड़ी प्रदेशों में कभी सात कभी आठ सरदारों की छोटी छोटी रियासतें। तामिल राष्ट्रों का व्यक्तित्व इस

---

[1] एयंगर—एंश्येंट इंडिया (प्राचीन भारत, मद्रास १९११); बिगिनिंग्स्, अ० ४।

समय तक स्पष्ट हो चुका था—बहुत सम्भवतः वह मौर्यों के समय ही प्रकट हो चुका था, पर इस युग के विषय में हमारे पास निश्चित प्रमाण हैं। तामिल साहित्य के अनुसार उन की उत्तरी सीमा तिरुपति पर्वत और आधुनिक मद्रास के ज़रा उत्तर वेङ्कोडु नाम की तट की बस्ती थी। वेङ्कोडु का शब्दार्थ है—बिल्व-वन; अब वह स्थान पलवेङ्कोडु[1] अर्थात् पुराना बिल्ववन कहलाता है। वह बस्ती वडुकर अर्थात् उत्तर वालों के देश के अन्त को सूचित करती थी; उस के उत्तर मोक्तिपेयर्त्तीन् अर्थात् दूसरी भाषा का क्षेत्र था। पच्छिम तट पर तामिल राष्ट्रों की उत्तरी सीमा तुलुनाडु (कोडगु प्रदेश के साथ लगे तुलु भाषा के प्रदेश) और कोंकाणम् (कोंकण) तक पहुँचती थी।

तुलुनाडु और उसके साथ लगे कोंकण-तट में, अर्थात् तामिल राष्ट्रों की ठीक पच्छिमोत्तर सीमा पर, संगम्-ग्रन्थों के समय नन्नन् का राज्य था, जिसे उन ग्रन्थों में एक डाकू सरदार के रूप में अंकित किया गया है। उस के राज्य के प्रसिद्ध पहाड़ों में से एक एक्किल्मलै भी था, जो कनानोर के १६ मील उत्तर के सप्तशैल का दूसरा नाम है। इस प्रकार उस डाकू सरदार का राज्य करीब करीब उसी इलाके में प्रतीत होता है जिसे पच्छिमी लेखक समुद्री डाकुओं का तट कहते थे।

तीन प्रमुख राज्यों में से चोल पूरबी तट पर था; उस की दक्खिनी सीमा पुद्दुकोटै की वेल्लार नदी थी। चोल देश की राजधानी उरैपुर (उरगपुर) अर्थात् आधुनिक त्रिचनापल्ली थी; किन्तु चोलों का एक उप-राज काञ्ची में रहता था। काञ्ची और उरैपुर के बीच आधे रास्ते पर तिरुकोइलुर का पहाड़ी प्रदेश था, जिस का सरदार प्रायः चोलों का सामन्त होता था। चोल देश के दक्खिन, पूरब तट पर केलिमेर से पच्छिम तट पर कोट्टयम् तक पाण्ड्य राष्ट्र था। आधुनिक मदुरा तिरुनेवली त्रावंकोर

[1] अँग्रेज़ी पुलिकट उसी का बिगाड़ा हुआ रूप है।

और कोच्चि प्रदेश उस में सम्मिलित होते थे। पाण्ड्यदेश के उत्तर-पच्छिमी तट पर चेर राष्ट्र था; पालघाट में से लाँघते हुए उस का इलाका कोयम्बटूर और सेलम तक पहुँचता। चेर राष्ट्र की राजधानी पेरियार नदी के मुहाने पर वंजी तथा उस का मुख्य बन्दर तोंदि था।

छोटे सरदारों में से तीन तो पाड्य राष्ट्र के पूरबी और पच्छिमी तट के बीच थे। एक कोर्कई बन्दर पर, दूसरा मदुरा के दक्खिनपच्छिम पोद्दियील पहाड़ के प्रदेश में, और तीसरा पळ्ळनी पहाड़ियों में। वे सब पाण्ड्यों के प्रभाव-क्षेत्र में और प्रायः उन के अधीन रहते। बाकी चार उत्तरी छोर पर आधुनिक दक्खिनी मैसूर में थे, और वे जिस किसी प्रबल पड़ोसी के अधीन हो जाते थे। उन में से एक तो तुलुनाडु के नन्नन् के राज्य के पूरब, पच्छिमी घाट के ठीक पूरब लगे अरैयम् प्रदेश का सरदार था; दूसरा उस के दक्खिन, पच्छिमी और पूरबी घाट के संगम पर परम्बु-नाडु का; तीसरा पूरबी घाट पार कर तगडूर (सेलम ज़िले के बारामहल तालुके में आधुनिक धर्मपुरी) का; और चौथा उस के दक्खिनपूरब कोल्लिमलै का, जिस के पूरब तरफ़ सामने तिरुकोइलूर का पूर्वोक्त प्रदेश था। एक संगम्-ग्रन्थ में तुलुनाडु के साथ लगे हुए कोडगु प्रदेश या कुडुनाडु के राजा एरुमै का उल्लेख है। उस राजा का नाम उस देश पर चपक गया, और वह एरुमैयूरान् कहलाने लगा। उसी का शब्दानुवाद महिषमण्डल है।

स्पष्ट है कि सातवाहन राज्य और इन तामिल राष्ट्रों के बीच सीमान्त पर नन्नन् के राज्य के अतिरिक्त इन पहाड़ी सरदारों के प्रदेश थे, और जब काञ्ची-प्रदेश सातवाहनों के हाथों में रहता तब दक्खिनी चोल देश और सातवाहन-राज्य के बीच तिरुकोइलूर का पहाड़ी किला भी व्यवधान का कारण होता। चोल पाण्ड्य चेर और सातवाहनों में से जो भी अपना राज्य दूसरे की तरफ़ बढ़ाता, उस के लिए पहले इन छोटे छोटे सरदारों का दमन करना आवश्यक होता।

काञ्ची से उरैपुर (त्रिचनापल्ली) का रास्ता तिरुक्कोइलूर हो कर जाता। उरैपुर से तांजौर ज़िला और पुद्दुकोटै लाँघ कर तीन शाखाओं में वह मदुरा पहुँचता। मदुरा से वंजी को पहले वैगै नदी के साथ साथ पळ्ळनी पहाड़ों तक, फिर पहाड़ चढ़ उतर कर पेरियार के साथ साथ वंजी तक जा निकलता। इन प्रमुख राजपथों के सिवा और कई रास्ते भी थे; एक वंजी से सीधे कावेरी के काँठे में आधुनिक करूर तक पहुँच कर तिरुक्कोइलूर चला जाता था। सब रास्ते एक समान सुरक्षित न रहते।

उ. राजा करिकाल

तीसरे संगम् के कवियों में मामूलनार नामक एक ब्राह्मण प्रसिद्ध है। संगम् के ४९ साहित्यिकों में परणर मुख्य था; मामूलनार परणर का जेठा समकालिक था। टीकाकारों के अनुसार वह अगस्त्य का वंशज था, और अगस्त्य का स्थान अर्थात् मदुरा के दक्खिनपच्छिम पोद्दियील पर्वत का प्रदेश उस का अभिजन था। मामूलनार सुप्रसिद्ध चोल राजा करिकाल का और स्त्री-घातक नन्नन् का ठीक समकालिक था। राजा करिकाल के पिता का नाम इळंजेत-चेन्नि था, और उस का पिता सम्भवतः पेरुविर-क्किल्लि अर्थात् पेरुविरल चोल था। उन दोनों चोल राजाओं का समय सातवाहनों के चरम उत्कर्ष-युग में पड़ता है। इन सब राजाओं के नाम संगम्-कवियों के ग्रन्थों में ही मिलते हैं। पेरुविरल के समय से तामिल देश में चोलों की प्रधानता का युग शुरू हुआ था। करिकाल का राज्य-काल अन्दाज़ से ७०—१०० ई० रक्खा जा सकता है। वह इन आर-म्भिक चोल राजाओं के सब से अधिक गौरव का युग था। करिकाल ने चेर राजा इमयवरम्बन् पेरुंशेरल आदन् और पाण्ड्य राजा नेडुंजेळियन[1]

[1] बाद में भी कई नेडुंजेळियन पाण्ड्य राजा हुए हैं; पूरे विशेषणों के साथ इस पहले राजा का नाम है—आर्य्यप्पडै कडन्द नेडुंजेळियन।

को एक साथ वेरिण्णल (तांजोर ज़िले में आधुनिक कोइलवेरिण्ण) नामक स्थान पर हराया। तामिल राष्ट्रों में चोलों की प्रधानता का युग करिकाल के एक पुश्त बाद तक अर्थात् कुल चार पीढ़ी अथवा अन्दाज़न पौन या एक शताब्दी तक रहा।

करिकाल और उस के समकालीन चेर और पाण्ड्य राजा तीनों के विषय में कहा जाता है कि उन्हों ने उत्तर वालों—वड वडुकरों या वम्ब वडुकरों—के हमलों का निवारण किया और उन्हें हराया। तामिल लोग अपने से ठीक उत्तर के आन्ध्र लोगों को वडुकर (उत्तर वाले) तथा उन से उत्तर के लोगों को वड-वडुकर कहते थे; वम्ब वडुकर का अर्थ नये उत्तर वाले;—मौर्यों की पोद्दियील पर्वत तक की जिस चढ़ाई की इन्हीं संगम्-ग्रन्थों में याद मौजूद है, उस के मुकाबले में सातवाहनों की ये चढ़ाइयाँ वम्ब वडुकरों की थीं। नन्नन्राज्य का पहाड़ी किला पाळि इन नये वडुकरों ने ले लिया, और वहाँ से उन्हें करिकाल के बाप ने वापिस खदेड़ा था, ऐसा उल्लेख भी इन्हीं ग्रन्थों में है। मामूलनार कवि अपने समकालीन तिरुकोइलूर के सरदार मलयमान पर आर्यर अर्थात् किसी आर्य के हमला करने और हराये जाने का निर्देश करता है। वह भी करिकाल के समय की बात होगी; और उस से प्रकट होता है कि सातवाहन राज्य चोल देश का उत्तरी आधा हिस्सा—काञ्ची का प्रदेश—ले कर तिरुकोइलूर तक पहुँच गया था। प्रत्युत चेर और पाण्ड्य राजा भी उन के विरुद्ध लड़े, इस से तो यह अनुमान होता है कि वे कावेरी के दक्खिन तक आ पहुँचे थे। और बहुत सम्भवतः उन के वापिस जाने में या इस तरफ़ पूरा ध्यान न दे सकने में उत्तर के ऋषिक-तुखारों की लड़ाइयाँ कारण हुई होंगी।

करिकाल ने सिंहल पर चढ़ाई की हो सो भी सम्भव है। पहली शताब्दी ई० पू० में भी चोलों ने सिंहल पर चढ़ाइयाँ की थीं। एक बार वे १२००० कैदी ले गये थे जिन से उन्हों ने कावेरी पर काम

कराया था। यह बात करिकाल के समय की प्रतीत होती है, क्योंकि उसी ने कावेरी का बन्दरगाह बनवाया था।

करिकाल का नाम उस के सुशासन के लिए भी प्रसिद्ध है। उस का राज्य-काल दीर्घ था। उस ने कावेरी के बाँध बँधवाये, और सिंचाई का बहुत अच्छा प्रबन्ध किया। इस काम के लिए उस का नाम संसार के इतिहास में अमर हो गया है, क्योंकि नदी के मुहाने में बाँध लगा कर डेल्टा में सिंचाई करने का जो ख़ास तरीका है, उस का आविष्कार पहले पहल चोल-मण्डल में ही हुआ, और समूचे जगत् ने यह वहीं से सीखा।

कावेरी का प्रसिद्ध प्राचीन बन्दरगाह पुहार या कावेरीपट्टम् भी करिकाल ने ही बसाया। वह व्यापार का भारी केन्द्र बन गया। कहते हैं कि पुहार के महल बनाने के लिए तामिल स्थपतियों के अतिरिक्त मगध के कारीगर, मराडम् अर्थात् महाराष्ट्र के यन्त्रकार, अवन्ति के लोहार और यवन देश के बढ़ई भी बुलाये गये थे। वहाँ अनेक देवी-देवताओं के मन्दिर थे, और यह एक रुचिकर बात है कि उन में से एक मन्दिर सातवाहन का भी था[1]।

ऋ. लाल चेर और गजबाहु

राजा करिकाल के उत्तराधिकारी के समय पुहार बन्दर के नष्ट हो जाने से चोल राज्य को बड़ा धक्का लगा। तामिल राष्ट्रों की प्रधानता

[1]यह बात प्रो० ऐयंगर ने मणिमेखलै के आधार पर लिखी है; किन्तु इसी सिलसिले में वे लिखते हैं कि वहाँ गुर्ज्जरों ने एक बड़ा सुन्दर मंदिर बनाया था;—बिगिनिंग्स् पृ० १२७। क्या गुर्ज्जरों का उल्लेख मणिमेखलै में है? यह बात उन्हें स्पष्ट करनी चाहिए, क्योंकि गुर्ज्जरों का नाम भारतीय वाङ्मय और इतिहास में मध्य काल में आ कर सुना जाता है।

करिकाल के उत्तराधिकारियों के हाथों से चेर राजा शेंगुट्टुवन अथवा लाल चेर के पास चली गई। शेंगुट्टुवन के चचा ने उस से पहले कोंगु-देश अर्थात् कोयम्बटूर ज़िला, जो पच्छिम तट और त्रिचनापल्ली के बीच पड़ता है, जीत लिया था। उस के बाद चेर राज्य पूरब तट तक फैल गया। शेंगुट्टुवन या लाल चेर और उस के बाप तथा चचा के विषय में तामिल साहित्य का कहना है कि वे सात मुकुटों की माला पहनते थे—जिस का अर्थ किया जाता है कि वे सात सरदारों के अधिपति थे।

दूसरे, उस के बाप के विषय में कहा जाता है कि उस ने 'समुद्र पार कर कडम्बु को काटा और शत्रुओं का दमन किया'। कडम्बु एक शक्तिशाली पेड़ था जिसे साधारण मनुष्य न काट सकते थे। लाल चेर के पिता ने समुद्र-तट पर उसे नष्ट किया। लाल चेर के समय चेर बेड़ा समुद्र पर प्रभुता-पूर्वक सुरक्षित घूमता था। कारवार से मंगलोर तक समुद्री डाकुओं के प्रदेश को तामिल साहित्य में कडर्क-कडम्बु का प्रदेश कहा है; स्त्री-घातक नन्नन् की राजधानी का नाम कडम्बिन् पेरुवायिल अर्थात् कडम्ब देश का बड़ा और खुला दरवाजा था। नन्नन् को भी एक चेर सरदार ने घोर लड़ाई के बाद मार डाला।

प्रो० कृष्णस्वामी ऐयंगर का कहना है कि कडम्बु उस लुटेरी जाति का नाम था जो सामुद्रिक डकैती करती थी, और जो बाद में सभ्य हो जाने पर कादम्ब कहलाई। नन्नन् उन्हीं का सरदार था। कडम्बु शायद कोई ताड़ या खजूर का पेड़ होगा जो उस जाति का टोटम रहा होगा। इस लिए उक्त सब काव्य-निर्देशों का अर्थ प्रो० ऐयंगर के मत में यह है कि लाल चेर और उस के पिता ने कर्णाटक-तट की सामुद्रिक डकैती का दमन कर व्यापार को सुरक्षित किया। यही उन का प्रमुख कार्य था जिस के लिए इतिहास में उन की याद बनी रहेगी।

अपने इस परिणाम की पुष्टि प्रो० ऐयंगर रोमन लेखकों से करते

हैं। उन के लेखों से प्रकट होता है कि किसी समय कर्णाटक-तट पर डकैती बहुत थी, बाद में प्तोलमाय के समय तक वह न रही, केवल उस की याद रह गई। इस प्रकार प्तोलमाय का भूवर्णन-ग्रन्थ लाल चेर का प्रायः समकालिक होना चाहिए। इस स्थापना के पक्ष में एक और प्रमाण भी पेश किया जाता है। सो यह कि उस भूवर्णन में दक्खिन भारत का जो नक्शा है वह परिक्रमा के नक्शे से ज़रा बदलता है। एक तो प्तोलमाय ने निकुंणरम् और कुमारी तीर्थ के बीच आइ (Aioi) के देश और करै (Kareoi) के देश का उल्लेख किया है। करै या करैयर मछुओं की एक जाति है जो उस तट पर पायी जाती है। फिर पूरब तरफ़ चोल तट तथा मैसलिया-प्रदेश (मसुलीपट्टम् की नदी अर्थात् कृष्णा का काँठा) के बीच उस ने अर्वर्नु या अरुवर्नु (Arvarnoi या Arouvarnoi) का प्रदेश रक्खा है—वह तामिल लोगों का अरुवलर जाति का प्रदेश है, जिस के दो हिस्से थे, एक अरुवानाडु, दूसरा अरुवा-वड-तलै अर्थात् उत्तरी अरुवा जो कृष्णा तक पहुँचता था प्तोलमाय ने जिसे आइ का देश कहा है, प्रो० ऐयंगर का कहना है कि वह तामिल साहित्य का आय सरदारों का देश है जो पोदियील पर्वत पर था; आय किसी वंश या जाति का नहीं प्रत्युत दो सरदारों का ही नाम था, और उन सरदारों का उल्लेख लाल चेर के ठीक समकालीन साहित्य में ही है।

इस के अतिरिक्त लाल चेर के विषय में तामिल साहित्य का यह कहना है कि उस ने अपनी राजधानी वंजी में जब पट्टिनी देवी के मन्दिर की स्थापना की और अनेक यज्ञ किये, तब सिंहल का राजा गजबाहु भी उस के निमन्त्रण पर वहाँ आया था। सिंहल के पालि इतिहास महावंस में तो नहीं, किन्तु सिंहली ऐतिहासिक काव्य राजरत्ना-चरि तथा राजावळिय में भी गजबाहु के शेंगुट्टुवन के यहाँ जाने का उल्लेख है। गजबाहु चोलों से लड़ा भी था क्योंकि वे कावेरी पर काम

कराने को १२००० कैदी ले गये थे। यदि कैदी ले जाने की बात करिकाल के समय हुई हो, जैसा कि अन्दाज़ किया गया है, तो गजबाहु का राज्यकाल उस के ठीक बाद रहा होगा। महावंस के अनुसार वह ११३ से १३५ ई० तक था। लाल चेर का उस का समकालीन होना पूरी तरह सम्भव है। सिंहल में पट्टिनी देवी की पूजा अब भी बहुत प्रचलित है; बौद्ध धर्म में उस पूजा का कोई स्थान नहीं; वह द्राविड भारत की एक कल्पित या ऐतिहासिक देवी थी जो अपने पति की हत्या होने पर सती हो गई थी; उस की पूजा का सिंहल में द्राविड भारत के अभ्युदय-काल में वहीं से जाना अधिक सम्भव है।

लाल चेर अपने युग के सातवाहन और अन्य तामिल राजाओं की तरह साहित्य का आश्रयदाता भी था। तीसरे संगम् का कार्य सब से अधिक उसी के समय हुआ प्रतीत होता है। कवि परणर उस का ठीक समकालिक था, और उस ने लाल चेर के विषय में ही मुख्यतया लिखा है। परणर के काव्यों में चोल और चेर राजाओं की ही कीर्त्ति का बखान है, पाण्ड्यों की नहीं जो कि बाद में प्रमुख हुए। तामिल के दो सुप्रसिद्ध काव्यों—शीलप्पति-कारम् और मणिमेखलै—का शेंगुट्टुवन चेर से सीधा सम्बन्ध बतलाया जाता है। पहले का कर्त्ता उस का अपना छोटा भाई तथा दूसरे का उस का मित्र शात्तन था।

ऌ: नेडुंजेलियन पाण्ड्य (दूसरा)

चेरों की प्रधानता केवल एक ही पुश्त तक रही। लाल चेर का उत्तराधिकारी हाथी की शकल वाला चेर था। उस के समय में करिकाल के बेटे या पोते पेरुनर ने राजसूय यज्ञ किया। किन्तु पाण्ड्य राजा नेडुंजेळियन दूसरे ने उन दोनों को मदुरा के युद्धक्षेत्र में हराया। फिर उस ने तलैयालंगानम् नामक स्थान (तांजोर जिले में निडामङ्गलम् रेलवे स्टेशन के निकट एक गाँव) पर अपने समय के तामिल राजाओं

और सरदारों को एक साथ करारी हार दी। इसी लिए उसे तलैयालंगा-नत्-तुप्-पाण्ड्यन् नेडुंजेळियन अर्थात् तलैयालंगानम् का विजेता पाण्ड्य नेडुंजेळियन कहते हैं; और इस लम्बे विशेषण से उस का पहले और पिछले नेडुंजेळियन से भेद होता है। इस समय से ले कर तीसरी शताब्दी में पल्लवों का उदय और फिर छठी में उन की प्रमुखता होने तक तामिल राष्ट्रों में मदुरा के पाण्ड्यों की ही प्रधानता रही।

हस्तिदर्शन चेर और राजसूय-यागी चोल दूसरे नेडुंजेळियन के समकालीन थे, किन्तु साहित्य के अन्तिम सात संरक्षक पुराने राजाओं के रूप में याद किये जाते थे। तीसरा संगम् इस नेडुंजेळियन के समय जारी था, और इस के समय या इस के बाद इस के उत्तराधिकारी किसी उग्र पाण्डय के समय संगम्-ग्रन्थों के विद्यमान संस्करण हुए। नक्कीरर नामक प्रसिद्ध तामिल कवि तथा अन्य अनेक साहित्यिक प्रो० ऐयङ्गर के अनुसार तलैयालङ्गानम्-विजेता के समकालीन थे। तामिल व्याकरण के तीसरे खण्ड इरैयनार अहपोरुळ पर नक्कीरर का लिखा एक भाष्य अभी तक पाया जाता है; उस के विषय में यह अनुश्रुति है कि वह तीसरे संगम् के समय पाण्डय राजा ने लिखवाया था। तलैयालङ्गानत्-तुप्-पाण्ड्यन् का समय हम अन्दाज़ से १४५—६५ ई० रख सकते हैं।

संगम्-ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि इन सभी तामिल राजाओं के समय तामिल राष्ट्रों का पूरब तरफ़ जाव्हम् (जावा), कटाह और सम्भव या कर्पूरसम्भवम् (दोनों सुवर्णभूमि के प्रदेश), और काळहम् या काळकम् (बरमा) से तथा पच्छिम तरफ़ यवन देशों से बहुत समृद्ध व्यापार चलता था। पाश्चात्य लेखकों के कथनों से तथा इन राष्ट्रों में पाये गये उस काल के रोम के स्वर्ण-सिक्कों के अनेक ढेरों से संगम्-साहित्य की यह बात पूरी तरह पुष्ट होती है।

§ १८६. वासुदेव कौशाण और यज्ञश्री सातकर्णि

(लग० १५०—१८० ई०)

भारतवर्ष में कौशाण वंश का अन्तिम सम्राट् वासुदेव था। उस के ७४ से ९८ संवत् तक के लेख पाये गये हैं; अर्थात् यदि कनिष्क का राज्यकाल ७८ ई० में शुरू हुआ हो तो वासुदेव १५२ से १७६ ई० तक निश्चय से राज्य करता था, और सम्भवतः उस का राज्य ५-७ बरस और पहले शुरू हुआ होगा। उस के समय तक तुखार साम्राज्य प्रायः अक्षुण्ण बना हुआ था।

काबुल और मथुरा दोनों में वासुदेव का राज्य था। उन के ढेरों ताँबे के सिक्के पेशावर से तथा काबुल के पच्छिम बेग्राम से पाये गये हैं। विम की तरह वह भी अपने सिक्कों पर पाश-त्रिशूल-धारी नन्दी-सहित शिव की मूर्त्ति छपवाता था। उस नमूने के वासु नाम के तरह के सिक्के सीस्तान से भी पाये गये हैं[1]। तीसरी शताब्दी के फ़ारिस के सासानी राजाओं को भी हम वासुदेव की नकल कर शिव और नन्दी छाप वाले सिक्के निकालते पाते हैं[2]। इस से प्रकट है कि वासुदेव का साम्राज्य सीस्तान और फ़ारिस की सीमा तक रहा। मगध में तीसरी शताब्दी ई० के पूर्वार्ध तक भी ऋषिकों का आधिपत्य माना जाता था सो हम आगे देखेंगे[3]।

---

[1]क० सं० सि० सू० पृ० ६४, ८४-८५; प्लेट १३ सं० ११।

[2]भा० मु० प्लेट २ सं० १५।

[3]यह बात प्रमाणसहित रूपरेखा के बाइसवें प्रकरण में आती, किन्तु वह प्रकरण अब छप नहीं रहा है इस लिए यहाँ उस का संकेत करना आवश्यक है। २४०-४५ ई० के बीच सुवर्णभूमि के फू-नान उपनिवेश का दूत भारत आया था। पाटलिपुत्र में उस ने मु-लुन (=मुरुण्ड)

कनिष्क के समय से गान्धार और उस के पड़ोसी प्रदेशों से खरोष्ठी लिपि धीरे धीरे लुप्त होने लगी और उस का स्थान आर्यावर्त्त की अपनी ब्राह्मी लेने लगी थी। साथ ही प्राकृतों के स्थान में संस्कृत का प्रयोग बढ़ने लगा था। सन् १९२६-२७ ई० में सर औरेल स्तीन को ब्रिटिश बिलोचिस्तान के लोरालाई ज़िले की थल दून में डुकि तहसील के ७ मील दक्खिनपूरब तोर ढेरई नामक स्थान पर एक प्राचीन बौद्ध बस्ती के खँडहरों में ५० अभिलिखित ठीकरे मिले, जिन में से ५ पर ब्राह्मी तथा ४५ पर खरोष्ठी लेख है। ब्राह्मी वाले ठीकरों में से एक पर गुप्त-युग की लिपि है; बाकी सब ठीकरों पर की लिपि के अक्षर वासुदेव कौशाण के समय के या उस से कुछ पीछे के हैं। ब्राह्मी ठीकरों में से एक पर विहारस्वामिस्य मीर पढ़ा गया है, दूसरे पर सर्व्वसत्वान हित···, तथा तीसरे पर चातुर्दिशे अ··· । खरोष्ठी ठीकरों को जोड़ कर डा० कोनौ ने एक इबारत पढ़ डाली है जो इस प्रकार है—

पहियोलमिरस विहरस्वमिस देयधर्मोयं प्रप स्वकियंयोलमिरपहिविहरे संघे चतुर्दिशे अचर्यनं सर्वस्तिवदिनं प्रतिग्रहे (।) इतो च समपरित्यगतो अग्रे मतपित्रिनं प्रतियंशो सर्वसत्वनं अग्रे प्रतियंशो धर्मपतिस च दिर्घयुत भवतु।[1]

अर्थ—विहार के स्वामी पाहि योल मीर का अपने योल-मीर-षाहि-विहार में यह प्याऊ का दान सर्वास्तिवादी आचार्यों के प्रतिग्रह में। इस सम्यक्-परित्याग (दान) से आगे (भविष्य में) माता-पिता को (पुण्य का) अंश मिले, सब सत्त्वों को अंश मिले, और धर्मपति की दीर्घायुता हो!

योल नाम की तुलना खोतनी येउल[2] से की गई है। मीर भी शक

को राज्य करते पाया, और भारत के उस राजा ने उस दूत को लौटाते हुए युइशि के देश के चार घोड़ों सहित अपने दूत के उस को साथ फ़ूनान भेजा। इं० हि० क्वा० १, पृ० ७१२।

[1] भा० अ० स० २,१, पृ० १७३-७६। [2] ऊपर § १७४—पृ० ८०४।

शब्द है सो इस से प्रकट हुआ। प्राचीन शक-संवत् १०३ वाले पूर्वोक्त तख़्त-ए-बाही लेख[1] में भी वह शब्द है। षाहि योल मीर कोई खोतनी सरदार होगा जो वासुदेव या उस के किसी उत्तराधिकारी की तरफ़ से उस प्रदेश का शासक रहा होगा। लोरालाई ब्रिटिश बिलोचिस्तान में है, किन्तु हम देख चुके हैं कि वह असल अफगानस्थान में—पठानों के ठेठ देश में—है[2]।

पिछले सातवाहनों में राजा यज्ञश्री सातकर्णि बहुत प्रसिद्ध हुआ। मत्स्य पुराण की वंशावली में उस का नाम अन्तिम सातवाहन से ऊपर चौथी पीढ़ी पर तथा शिवश्री और शिवस्कन्द सातकर्णि के बाद है; जायसवाल उसे उन दोनों से पहले तथा अन्तिम से सातवीं पीढ़ी ऊपर चतुरपन के ठीक बाद १५७—८६ ई० में रखते हैं। सच बात यह है कि उस के ठीक समय का निश्चय अभी नहीं किया जा सकता; किन्तु वह दूसरी शताब्दी ई० के अन्त के करीब था इस पर सब की सहमति है। पुराणों में उस का राज्यकाल २९ बरस का दिया है—अभिलेखों में उस का १७ वां बरस तक दर्ज है। उस के राज्यकाल के अभिलेख नासिक कान्हेरी तथा कृष्णा ज़िले में चिन्न नामक स्थान से पाये गये हैं। नासिक वाले अभिलेख[3] में महासेणापति भवगोप की भार्या महासेणापतिणी वासु के द्वारा एक लेण दिये जाने का उल्लेख है। नासिक और कान्हेरी में यज्ञश्री का राज्य रहने से प्रकट है कि कम से कम अपरान्त उस ने उज्जैन के क्षत्रपों से अवश्य वापिस ले लिया था। उस के सिक्के आन्ध्रदेश से, चाँदा ज़िले से, सोपारा से तथा सुराष्ट्र से मिले हैं, जिस से यह सम्भव दीखता है कि उस ने सुराष्ट्र भी वापिस ले लिया था।

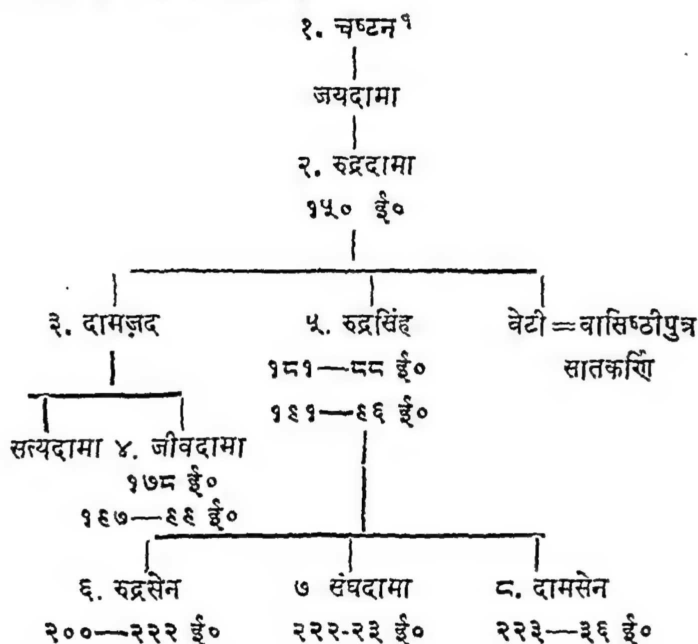
रुद्रदामा के दो बेटों—दामज़द और रुद्रसिंह—में परस्पर लड़ाई रही दीखती है; दामज़द और उस के पुत्र जीवदामा के राज्य करने के बाद रुद्रसिंह

---

[1]ऊपर § १७२—पृ० ७८९। [2]ऊपर §§ ७ लृ, १० उ (२ क)—पृ० ३९, ४८। [3]ए० इं० ८, पृ० ९४।

ने दो बार राज्य किया, फिर जीवदामा दूसरी या तीसरी बार महाक्षत्रप बना, और उस के पीछे रुद्रसिंह के बेटे रुद्रसेन ने राज्य किया। रुद्रसेन ने २२ बरस राज्य किया; किन्तु उस के पिता ताऊ और भाई के राज्य-कालों के एक दूसरे के बीच पड़ने से घरेलू लड़ाई सूचित होती है। या तो यज्ञश्री के दखल देने से यह अवस्था पैदा हुई होगी, और यदि वैसा नहीं तो यज्ञश्री ने इस अवस्था से लाभ उठाया होगा।

जीवदामा के राज्यकाल से उज्जैन के महाक्षत्रपों के सिक्कों पर शकाब्द दर्ज रहने लगा, इस से उन का वंशानुक्रम और उन का काल ठीक निश्चित है। वह इस प्रकार है—



---

[1]संख्यायें उन्हीं नामों के आगे लगी हैं जो महाक्षत्रप बन पाये।

रुद्रसिंह की महाक्षत्रपी के समय का १०३ शक सं० (=१८१ ई०) का एक अभिलेख[1] काठियावाड़ के हालार ज़िले के गुन्दा स्थान से पाया गया है। उस में आभीर सेनापति रुद्रभूति के एक दान की सूचना है। जयदामा के किसी पोते के राज्य काल का उल्लेख जूनागढ़ के पास से पाये गए एक खण्डित अभिलेख में भी है[2]। फिर १२२ और १२६ शकाब्द के रुद्रसेन के समय के दो अभिलेख काठियावाड़ के पच्छिमी और उत्तरी हिस्सों से मिले हैं[3]।

यह कहा जा सकता है कि कनिष्क के समय से प्रायः एक शताब्दी तक अर्थात् लगभग ८० ई० से १८० ई० तक समूचे उत्तर भारत में ऋषिक-तुखारों का राज्य था। और समूचे दक्खिन भारत में सातवाहनों का। तुखार-साम्राज्य के दक्खिनी छोर पर शक क्षत्रपों का राज्य था, और उसी प्रकार सातवाहन-साम्राज्य के दक्खिन छोर पर तामिल राष्ट्र। १८० ई० के बाद और आधी शताब्दी तक भी यह अवस्था प्रायः बनी रही, किन्तु उस बीच उत्तरी और दक्खिनी साम्राज्य शिथिल होते गये, और उन का स्थान लेने वाली नई शक्तियाँ भी उसी अरसे में उठ खड़ी हुईं।

§ १८७. तुखार और सातवाहन साम्राज्यों का ह्रास और अन्त

हम ने देखा[4] कि वासुदेव के बाद तीसरी शताब्दी ई० तक भी ऋषिकों का राज्य उत्तर भारत के विशेष अंशों में किसी रूप में बना हुआ था; किन्तु वह उस के पतन और ह्रास का युग था। उत्तर

[1]ए० इं० १६, पृ० २३५।

[2]वहीं, पृ० २४१।

[3]लु० सू० का ९६२; तथा ए० इं० १६, पृ० २३८।

[4]ऊपर § १८६—पृ० ८७५।

भारत में तीसरी शताब्दी ई० के आरम्भ अथवा दूसरी के अन्त में ही कौशाणों के स्थान में यौधेय गण और नाग-वंशी राजाओं के राज्य स्थापित हो गये। वे नाग राजा कौन थे, किन दशाओं में उन्हों ने राज-शक्ति पाई, इत्यादि प्रश्नों पर हाल तक कुछ भी प्रकाश न पड़ा था; इसी कारण तीसरी शताब्दी ई० को भारतीय इतिहास का अन्धकार-युग कहने का रिवाज था। हाल ही में जायसवाल जी की नई खोजों ने उसे पूरी तरह प्रकाशित कर दिया है, किन्तु वह हमारे बाइसवें प्रकरण का विषय है।

दक्खिन का इस युग का इतिहास भी धुंधला है। अन्तिम सातवाहनों में से राजा शिवश्री सातकर्णि और चन्द्रश्री सातकर्णि के सिक्के केवल आन्ध्र देश से पाये गए हैं। अमरावती के एक अभिलेख[1] में राजा श्रीशिवमक शात का नाम है, वह शिवश्री ही होगा।

उधर नासिक से इसी युग का एक अभिलेख[2] पाया गया है जो राजा माढरिपुत्र शिवदत्त-आभीर-पुत्र आभीर ईश्वरसेन के राज्यकाल के नौवें बरस का है। इस से प्रकट है कि उत्तरी महाराष्ट्र अब आभीरों के हाथ में था। उज्जैन के क्षत्रपों के एक आभीर सेनापति का उल्लेख ऊपर आया है[3]। महाक्षत्रप दामसेन के बाद ईश्वरदत्त नाम के एक आदमी ने क्षत्रपों का राज्य हथिया लिया, यद्यपि उसके बाद क्षत्रप वंश फिर जारी हो गया। ईश्वरदत्त के सिक्कों पर शकाब्द के बजाय उस के राज्य-वर्ष दर्ज हैं, इसी से उस के समय का अन्दाज़ करना पड़ता है; और वह २३६-३९ ई० माना गया है[4]। ईश्वरदत्त भी कोई आभीर सेनापति प्रतीत होता है।

---

[1] लु० सु० का १२७९।

[2] ए० इं० ८, पृ० ८८।

[3] उपर § १८६—पृ० ८७६।

[4] आ० च० सि० सू०, ऐतिहासिक भूमिका पृ० १३५-३६।

आन्ध्रों के समकालीन राज्य करने वाले वंशों के राजाओं की संख्यायें पुराण में यों दी हैं—७ आन्ध्रभृत्य, १० या ७ आभीर, ७ गर्दभिन्, १६ या १८ शक, ८ यवन, १४ तुषार, १३ या १० मुरूण्ड और ११ या १८ मौन। यवन पहले सातवाहनों के समकालीन थे, शक बिचलों के, तथा तुषार पिछलों के। राजा गर्दभिल्ल भी शकों के आने से ठीक पहले था, इस लिए वह जिस वंश में था वह भी पहले सातवाहनों का समकालिक था। मुरुण्ड भी स्पष्टतः कोई शक या तुषार वंश था; मौन के विषय में जायसवाल जी का कहना है कि वह यौव अर्थात् जउव का अपपाठ है, और यदि वैसा हो तो वह भी कोई शक-तुषार-वंश था। जायसवाल जी का कहना है कि तुषारों मुरुण्डों और यौवों का एक ही वंश पुराण को वास्तव में अभिप्रेत है।

बाकी रहे आन्ध्रभृत्य और आभीर, जिन के कुल बरस क्रमशः ५२ और ६७ लिखे हैं। त्रैकूट वंश का २४८ ई० में उदय होने के साथ आभीर राज्य का अन्त हो जाता है; फलतः आभीर शासन का उदय अन्दाज़न १८० ई० में रखना चाहिए। क्षत्रपों के सेनापति रुद्रभूति आभीर का अभिलेख ठीक १८१ ई० का ही है। जिस महाक्षत्रप ईश्वरदत्त के सिक्के मालवा गुजरात और काठियावाड़ से पाये गये हैं वह शायद रुद्रभूति का ही कोई वंशज हो। विद्वानों का यह भी अन्दाज़ है कि नासिक-अभिलेख वाला ईश्वरसेन और वह ईश्वरदत्त एक ही व्यक्ति है। यदि ये अन्दाज़ ठीक हों तो, यह कहना होगा कि आभीर लोग, जिन का अभिजन पच्छिमी राजपूताना में सिन्ध की सीमा पर था, रुद्रदामा के मरु जीतने पर उस के राज्य में सम्मिलित हुए; धीरे धीरे वे क्षत्रपों के राज्य में ऊँचे पद पाने लगे; शीघ्र ही उन्हों ने क्षत्रप-राज्य का पच्छिमी भाग ले कर उस में अपना राजवंश स्थापित कर लिया; और अन्त में कुछ समय के लिए उन्हों ने समूचे क्षत्रप राज्य तथा उत्तरी महाराष्ट्र को भी हथिया लिया।

उत्तर महाराष्ट्र में जैसे आभीर सातवाहनों के उत्तराधिकारी बने वैसे ही दक्खिनी मराठा देश अथवा उत्तर कर्णाटक में—अर्थात् सातवाहनों के असल अभिजन में—सातवाहनों के ही सगे-सम्बन्धियों का एक वंश उठ खड़ा हुआ। आन्ध्रभृत्य उन्हीं का विशेषण प्रतीत होता है।

वैजयन्ती (वनवासी) से एक महाभोजी की बेटी महाराजबालिका का दानपरक अभिलेख[1] मिला है, जिस में महाराज का नाम हारितीपुत विराहुकड चुटुकुलानन्द सातकरिण है; दायिका का नाम उस लेख में नहीं है, पर उस का दान कुमार सिवखंदनाग-सिरि के साझे में है। कान्हेरी से एक और अभिलेख[2] मिला है, जिस में नागमुलिनका के दान का उल्लेख है; वह अपने को महारठिनी अर्थात् महारठि की स्त्री, महाभोजी और महाराज की बेटी तथा खंदनाग-सातक की माँ बतलाती है इस लेख में महाराज का नाम नहीं है। इस में कोई उचित सन्देह नहीं हो सकता कि दोनों लेख एक ही दायिका के है; उस का नाम नागमुलिनका था, उस की मां महाभोजी और बाप राजा हारितिपुत्र चुटु कुल का सातकर्णि था, और उस का बेटा स्कन्दनाग सात था। फिर मैसूर के शिमोगा ज़िले के मलवल्ली नामक स्थान के एक थंभे पर दो और अभिलेख[3] हैं। उन में से पहले में वैजयन्ती-पुर-राजा के एक दान का उल्लेख है; दूसरा अभिलेख पहले के ही नीचे खुदा है, और उस में वैजयन्ति पुर के धर्म-महाराजा कादम्बों के राजा द्वारा उसी गाँव के फिर से दिये जाने की बात है जो पहले हरितिपुत्र वैजयन्ति-पति सिवखद-वम्मा ने दिया था। दोनों अभिलेखों की लिपि में विशेष अन्तर नहीं है। इन अभिलेखों से चुटु-सात-कर्णियों का वंशवृक्ष यों बनता है—

---

[1]लु० सु० का ११८६। [2]वहीं १०२१।
[3]वहीं ११९५, ११९६; एपिग्राफ़िया कर्णाटिका ७, पृ० २५१-५२।

राजा हारितीपुत्र सातकर्णि = महाभोजी
|
महारठि = नागमुलनिका
|
हारितीपुत्र शिवस्कन्द वर्मा

यह भी प्रकट है कि कान्हेरी से मैसूर तक समूचा पच्छिमी दक्खिन इन के अधीन था, और कि इन के हाथ से वह राज्य कादम्बों के हाथ गया। कादम्बों की बात आगे[1] कही जायगी।

पच्छिमी दक्खिन में जैसे आभीरों और चुटु कुल ने सातवाहनों का स्थान लिया, वैसे ही पूरबी दक्खिन अर्थात् आन्ध्रदेश में इक्ष्वाकुओं और बृहत्फलायनों ने। कृष्णा ज़िले के जग्गयपेट्टा के स्तूप से राजा माठरीपुत्र इक्ष्वाकु वंश के श्री वीरपुरुषदत्त के बीसवें राज्यवर्ष के तीसरी शताब्दी ई० की लिपि के अभिलेख[2] मिले हैं। बृहत्फलायन राजा जयवर्मा के समय की लिपि भी सातवाहनों के ठीक बाद की है; उस वंश के हाथ में सुप्रसिद्ध कुडूरहार[3] का राज्य था; उन की चर्चा भी आगे[4] की जायगी।

इस प्रकार लग० २४० ई० तक समूचे दक्खिन से सातवाहनों का राज्य उठ गया। तामिल राष्ट्रों में नेडुंजेळियन् दूसरे के समय से पाण्ड्यों का आधिपत्य चला आता था। वह भी प्रायः उसी समय समाप्त हुआ —तामिल देश में उन के उत्तराधिकारी पल्लव[5] उठ खड़े हुए। प्रायः उसी समय उत्तर भारत से तुखारों का अन्तिम चिन्ह मिट गया।

---

[1] प्रकरण २३-२४ में जो कि अब छप नहीं रहे हैं।

[2] इं० आ० १८८२, पृ० २५८-९।

[3] दे० ऊपर § १७६—पृ० ८०८।

[4] बाइसवें प्रकरण में जो अभी नहीं छपेगा।

[5] नीचे § १९८। वह परिच्छेद बाइसवें प्रकरण में है, जो अब नहीं छपेगा।

फ़ारिस के पार्थव राज्य का उदय प्रायः सातवाहन राज्य के साथ ही साथ तीसरी शताब्दी ई० पू० में हुआ था। २२६ ई० में उस का स्थान भी सासानी वंश ने लिया। इस प्रकार उस का और सातवाहन राज्य का अन्त भी प्रायः साथ ही साथ हुआ। उसी प्रकार चीन के इतिहास में हान सम्राटों का युग (२०५ ई० पू०—२२२ ई०) भी हमारे सातवाहन युग के प्रायः बराबर ही बराबर चला। पच्छिमी जगत् में यूनान का स्थान रोम ने प्रायः तभी लिया था जब हमारे यहाँ मौर्यों का सातवाहनों ने; अब २११ ई० में सम्राट् सेवरस के साथ रोम के वैभव-युग का भी अन्त हुआ, और उस के बुरे दिन शुरू हुए। तीसरी शताब्दी ई० का पूर्वार्ध प्राचीन जगत् के इतिहास में एक भारी परिवर्त्तन-काल था। उन सब परिवर्त्तनों या राज्य-क्रान्तियों की जड़ में यदि कोई विश्वव्यापिनी प्रेरणा रही हो तो उसे हम अभी तक पहचान नहीं पाये।

§ १८८. ऋषिक-सातवाहन-युग का बृहत्तर भारत

(लग० ५०—२२५ ई०)

अ. उपरला हिन्द

भारतवर्ष के बाहर भारतीय उपनिवेशों का बीज पहले पहल अशोक के धम्मविजय से बोया गया था। सुवर्णभूमि के क्षेत्र को भले ही उस से पहले महाजनपद-युग के सामुद्रिक व्यापार ने उस बीज के लिए तैयार कर रक्खा था, किन्तु उपरले हिन्द में पहले पहल अशोक के समय ही भारतीय साम्राज्य की एक शाखा रोपी गई थी। उस शाखा के पनपने का वृत्तान्त भी पीछे[1] कहा जा चुका है। बरगद की शाखा जब फिर से ज़मीन में अपनी जड़ें छोड़ कर परिपक्क हो जाती है, तब उस का और

---

[1] § १७९।

मुख्य तने का भेद करना भी कई बार कठिन हो जाता है। ऋषिक-तुखारों के साम्राज्य के समय उपरले हिन्द और भारतवर्ष में उसी प्रकार कुछ भेद न रहा था। दोनों देश एक ही वंश के और बहुत बार एक ही व्यक्ति के शासन में रहते। अशोक के समय यदि मगध का शासन उपरले हिन्द तक पहुँच गया था, तो कनिष्क और विजयकीर्त्ति के समय उपरले हिन्द का शासन मगध तक आ पहुँचा। ऋषिकों का मगध और उत्तर भारत पर शासन रहने का परिणाम प्रायः वही हुआ जो मगध का शासन ऋषिकों के देश पर रहने का होता। भारतवर्ष का प्रभाव मध्य एशिया पर और भी अधिक स्थापित हो गया। दूसरी शताब्दी ई० में तारीम के समूचे दक्खिनी काँठे में, पूरब में लोब-नौर[1] तक, राज-काज की भाषा गान्धार की प्राकृत थी जो खरोष्ठी लिपि में लिखी जाती। दूसरी से चौथी शताब्दी तक वह अवस्था जारी रही। उस प्रदेश की पुरानी बस्तियों से लकड़ी की तख्तियों पर—जिन्हें कीलमुद्रा कहते थे—लिखे हुए प्राकृत भाषा के उस समय के राजकीय कारोबार के सैकड़ों लेख पाये गये हैं। खोतन के नज़दीक गोशृङ्ग विहार नामक स्थान के खँडहरों में उसी प्राकृत में भोजपत्रों पर दूसरी शताब्दी ई० की लिखी हुई धम्मपद की एक प्रति पाई गई है। उत्तरी तारीम-काँठे के तुर्फ़ान शहर से अश्वघोष के नाटक शारिपुत्रप्रकरण की दूसरी शताब्दी ई० की लिखी हुई एक प्रति के अंश मिले हैं। भारतीय पुस्तकों की सब से पुरानी हस्तलिखित प्रतियाँ वही दोनों हैं। अढ़ाई तीन शताब्दी तक भारतीय प्राकृत का तारीम-काँठे की राज-भाषा होना यह सूचित करता है कि वहाँ भारतीय प्रवासियों का एक अच्छा बड़ा उपनिवेश था, और वहाँ की स्थानीय जनता पूरी तरह उस के प्रभाव में थी। और गान्धार की ही प्राकृत के वह पद पाने से उस अनुश्रुति की सचाई सर्वथा सिद्ध

---

[1] नौर माने सर, झील।

होती है जिस के अनुसार अशोक ने गान्धार के लोगों को खोतन निर्वासित किया था[1] ।

मध्य एशिया के इतिहास में सचमुच वह स्वर्ण-युग था, वैसी सभ्यता और समृद्धि का समय उस देश के इतिहास में न पहले कभी आया था, न फिर कभी आया ।

उपरले हिन्द से भारतवर्ष का प्रभाव चीन तक पहुँचता । चीन में बौद्ध धर्म के पहुँचने और पो-मा-सी विहार की स्थापना का वृत्तान्त पीछे[2] कह चुके हैं । १४८ ई० में उस विहार में लोकोत्तम नामक एक भिक्खु बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए पहुँचा; वह भिक्खु जन्म से एक पार्थव युवराज था, और पार्थव राज्य की गद्दी को छोड़ कर उस ने भगवान् बुद्ध की शरण ले ली थी । वह भारी विद्वान् था । उस से पहले चीन में साधारण रूप से बौद्ध धर्म की शिक्षा दी गई थी; लोकोत्तम ने पहले पहल संस्कृत के ग्रन्थों का शृङ्खला-बद्ध रीति से चीनी भाषा में अनुवाद करना आरम्भ किया । उस के तीन बरस पीछे उसी विहार में एक भारतीय शक भिक्षु उसी उद्देश से पहुँचा । उस का नाम था लोकक्षेम । वह वहाँ १८८ ई० तक कार्य करता रहा । लोकोत्तम ने चीन में बौद्ध अध्ययन की पक्की नींव डाल दी । उस के शिष्यों में एक चीनी विद्वान् भी था, जिस ने चीन में पहले पहल संस्कृत पढ़ी थी ।

इ. सुवर्णभूमि और भारतीय द्वीपों के राज्य, चम्पा उपनिवेश की स्थापना

इधर परला हिन्द और भारतीय महासागर के द्वीप भी पिछले सातवाहन युग में पूरी तरह, एक छोर से दूसरे छोर तक, भारतीय उपनिवेशों से ढक गये और भारतीय बन गये ।

---

[1] ऊपर § १२२—पृ० ५६६ । [2] ऊपर § १७८—पृ० ८२२

सन् १३२ ई० में यवद्वीप[1] के एक राजा ने जिस का नाम शायद देववर्मा (चीनी रूप—तिआओ-पियेन) था, चीन को अपने राजदूत भेजे थे।

रोमन भूगोल-लेखक प्तोलमाय के ग्रन्थ से जाना जाता है कि यवद्वीप और भारत के बीच बहुत से छोटे द्वीपों में उस समय भी पुरुषादक राक्षस रहते थे। ताम्रलिप्ति के पूरब से तौनकिन की खाड़ी तक लगातार भारतीय बस्तियाँ और बन्दरगाह थे। आधुनिक क्रा की स्थलग्रीवा में तक्कोल नाम का एक बन्दर था; उस के निकट ही एक तक्षशिला थी। सुमात्रा के दक्खिन-पूरबी छोर पर वंग-द्वीप था जो अब बंका कहलाता है।

किन्तु सब से अधिक महत्त्व की बस्ती, जो दूसरी शताब्दी ई० के अन्त में एक सुदृढ़ स्वतन्त्र और उन्नतिशील राज्य बन कर उठ खड़ी हुई, चम्पा की थी। वह परले हिन्द के पूरबी छोर पर थी। उस चम्पा का नामकरण स्पष्टतः अंग देश की प्राचीन राजधानी चम्पा के नाम पर हुआ था। महाजनपद-युग में भी उस पहली चम्पा (भागलपुर) के लोग विशेष रूप से सुवर्णभूमि के व्यापार में लगे हुये थे, सो हम देख चुके हैं[2]। उन में से जो उधर बस गये उन्ही ने इस नई चम्पा की स्थापना की। इस चम्पा ने कौठार और पाण्डुरङ्ग को जीत कर अपने अधीन कर लिया। कौठार के उत्तर चीन साम्राज्य का जेनान प्रान्त था। हम देख चुके हैं कि उस के दक्खिनी छोर में—क्वाँग नाम से वरेला अन्तरीप तक—चीनी यूई लोग नहीं प्रत्युत परले हिन्द के स्थानीय मोन-ख्मेर लोग रहते थे। उन का प्रदेश अब चम्पा के आर्य उपनिवेश में आ चुका था, और वे लोग भी आर्यों की शिक्षा-दीक्षा पा

---

[1] यवद्वीप के विषय में दे० ऊपर § १७६—पृ० ८१०-११।

[2] ऊपर §§ ८२, ८४ उ—पृ० ३१, ३२७।

रहे थे। चम्पा उपनिवेश के आर्य-प्राण तथा आर्यों की शिक्षा-दीक्षा पाये हुये उन आदिम निवासियों के वंशज अब भी चम कहलाते हैं। जेनान के दक्खिन के स्वतन्त्र चम बार बार चीन-साम्राज्य पर ठेठ दक्खिनी चीन तक हमले किया करते, और जेनान प्रान्त के अन्तर्गत जो चम थे वे भी प्रायः विद्रोह कर उठते। चीन की सेनायें उन के हमलों से बहुत डरतीं, और चीन का इन दक्खिनी प्रान्तों पर शासन नाम को था। १०० ई० में चम्पा ने एक विद्रोह किया जो सफल न हुआ; १९२ ई० में उनका अन्तिम विद्रोह हुआ जिस से स्वतन्त्र चम्पा राज्य की स्थापना हुई। कौठार के उत्तर चम्पा का विजय नाम का प्रान्त था, और उस के उत्तर आम्रवती। उसी आम्रवती में चम्पा की पहली राजधानी इन्द्रपुर थी। अगली नौ शताब्दियों तक चम्पा का राज्य बड़ी उन्नत और समृद्ध अवस्था में बना रहा; उसके बाद तीन शताब्दियों तक सफलता से और फिर गिरते पड़ते अपने शत्रुओं का मुकाबला करता रहा उस का अन्तिम चिह्न मिटे (१८२२ ई०) आज सौ से कुछ ही ऊपर बरस हुये हैं।

इस प्रकार ऋषिक-सातवाहन-युग में भारतवर्ष के साथ उस के उपनिवेश मिला कर एक बृहत्तर भारत बन चुका था। उस का एक छोर वंक्षु और तारीम के काँठों पर था, और दूसरा पूरबी सरयू (जावा की मुख्य नदी) और पूरबी चम्पा पर।

—०—

परिशिष्ट ऋ

सातवाहन राजाओं की वंश-तालिका

"यह वंशावली मत्स्य पु० में पूरी दी है, वायु और ब्रह्माण्ड के वृत्तान्त बहुत अधूरे हैं। भागवत और विष्णु यद्यपि राजाओं की सूची पूरी नहीं देते, तो भी आरम्भ और अन्त में कुछ विशेष बातें बतलाते हैं।.........वायु ब्रह्माण्ड, भागवत और विष्णु सभी कहते हैं कि कुल ३० राजा थे, यद्यपि वे ३० नाम नहीं देते। वा० की पोथियों में १७, १८ या १९ नाम हैं, एक पोथी में २३। मत्स्य कहता है कि १९ राजा थे, पर उस की ३ पोथियों में पूरे ३० नाम हैं, और औरों में २८ से २१ तक।"—पुराणपाठ पृ० ३५-३६।

पार्जीटर ने आगे जो सूची दी है, वह मत्स्य और दूसरे पुराणों के आरम्भिक समन्वय से बनाई गई हैं। वायु की प्रमाणिकता अधिक है; मत्स्य में जहाँ कहा है कि कुल राजा १९ थे, वहाँ मूल पाठ शायद २९ था, १९ उस का अपपाठ है; दे० आ० च० सि० सू०, भूमिका, पृ० ६४ टि ४।

सं०	पार्जीटर की सूची		वायुपुराण की सूची	टिप्पणी
		वर्ष		
१	सिमुक	२३	सिमुक	
२	कृष्ण (१ का भाई)	१० या १८	कृष्ण	
३	श्री शातकर्णि	१०	श्री शातकर्णि	मत्स्य में मल्लकर्णि
४	पूर्णोत्संग	१८		
५	स्कन्धस्तम्भि	१८		
६	शातकर्णि	५६	शातकर्णि	
७	लम्बोदर	१८	लम्बोदर	ब्राह्मण्ड पु० में शातकर्णि के बाद आपो-लव, बीच में लम्बोदर नहीं। वायु की एक प्रति में भी; दे० आ० व० सि० सू०, भूमिका, पृ० ६६।
८	आपीलक	१२	आपोलवा १२ वर्ष	
९	मेघस्वाति	१८	पदुमावि २४ वर्ष	

सं०	जायसवाल की सूची	वर्ष	जायसवाल के अनुसार तिथियाँ	टिप्पणी
१	सिमुक सातवाहन	२३	२०५/२१३ — १८२/१९० ई० पू०	११८ई०पू० जायसवाल ने १८ लिखे पर हिसाब में ८ गिने हैं। १८ गिनने से ऊपर की सब तिथियाँ १० वर्ष पीछे हटेंगी।
२	कृष्ण	१० या १८	१८२/१९० —१७२ई०पू०	
३	शातकर्णि (१)	१०	१७२—१६२ई०पू०	
४	पूर्णोत्सङ्ग	१८	१६२—१४४ई०पू०	
५	स्कन्धस्तम्भि	१८	१४४—१२६ई०पू०	
६	लम्बोदर	१८	१२६—११८ई०पू०	
७	मेघस्वाति	१८	११८—१००ई०पू०	८ ई० पू० वायु का आपोलव और पदुमावि जायस- के मत में एक व्यक्ति है। हाल के बाद वायु की एक प्रति में कहा है कि उपर्युक्त सातों राजा बड़े शक्तिशाली थे; यह ७ गिनतीतब बनती है यदि आपोलव-पदुमावि एकगिना जाय, और लम्बोदर को, जो गौण था, छोड़ दिया जाय।
८	(गौत०)शातकर्णि(२)	५६	१००—४४ई०पू०	
९	(वासि०)पुलोमावि१	३६	४४—८ ई० पू०	

सं०	पार्जीटर की सूची		वायुपुराण की सूची	टिप्पणी
१०	स्वाति	१८	नेमिकृष्ण	मत्स्य की एक प्रति में गौरकृष्ण
११	स्कन्दस्वाति	७	हाल	मत्स्य के १०—१४ को जायसवाल वायु ब्रह्माण्ड के और मत्स्य की एक प्रति के प्रमाण पर पुरिकसेन के बाद ले जाते हैं।
१२	मृगेन्द्र स्वातिकर्ण	३	पत्तलक	
१३	कुन्तल स्वातिकर्ण	८	पुरिकसेन	
१४	स्वातिकर्ण	१		
१५	पुलोमावि	३६		
१६	अरिष्टकर्ण(नौविकृष्ण)	२५		
१७	हाल	५	शातकर्णि	
१८	मन्तलक	५	चकर ६ वर्ष	
१९	पुरिकषेण	२१	शिवस्वामी	=वायु का पदुमावि
२०	सुन्दर शातकर्णि	१		=वायु का नेमिकृष्ण
२१	चकोर शातकर्णि	६ मास	गौतमीपुत्र	वायु में गौतमीपुत्र को इक्कीसवाँ कहा है। मत्स्यकी कुछ प्रतियों में भी।
२२	शिवस्वाति	२८		=शिवस्वामी
२३	गौतमीपुत्र	२१	यज्ञश्री	मत्स्य के २३,२४ जायसवाल के मत में एक व्यक्ति हैं, जो उनकी तालिका में सं० २१ है।
२४	पुलोमा	२८		

सं०	जायसवाल की सूची	जायसवाल के अनुसार तिथियाँ	टिप्पणी
१०	कृष्ण(२)(गौरकृष्ण)२५	८ ई० पू०—१७ई०	=मत्स्य का सं० १६
११	हाल　५	१७—२१ ई०	
१२	पत्तलक　५	२१—२६ ई०	
१३	पुरिकसेन　२१	२६—४७ ई०	
१४	स्वाति (साति)　१८	४७—६५ ई०	
१५	स्कन्दस्वाति　७	६५—७२ ई०	
१६	महेन्द्र शातकर्णि　३	७२—७५ ई०	
१७	कुन्तल शातकर्णि　८	७५—८३ ई०	
१८	सुन्दर (शातकर्णि)　१	८३—८४ ई०	=मत्स्य का सं० १४ और २० (पुनरुक्त) सिक्कों का वासिठीपुत विळिवायकुर
१९	(वासि०)पुलोमावि(२)४	८४—८८ ई०	
२०	(माठ०)शिवस्वामी१ २८	८८—११६ ई०	सिक्कों का माढरिपुत सिवलकुर
२१	गौतमीपुत्रपुलामावि३ २८	११६—१४४ ई०	सिक्कों का गौतमिपुत विळिवायकुर

सं०	पार्जीटर की सूची	वायुपुराण की सूची	टिप्पणी
२२	(वासि०)चतरवङ्ग शातकणि १३	१४४—१५७ ई०	पुराणों में चकोर का राज्यकाल ६ मास या ६ वर्ष है, पर चतरपन का अभिलेख १३ वें वर्ष का पाया गया है; दे० ऊपर पृ० ८५८। चतरपन और यज्ञश्री को लिपि के प्रमाण से एक दूसरे के निकट होना चाहिए—आ० च० सि० सू० भूमिका, पृ० ४१।
२३	(गौत०) यज्ञश्री शातकर्णि २६	१५७—१८६ई०	
२४अ	शातकर्णि २६		
२५	शिवश्री ७		
२६	शिवस्कन्द कुछ नहीं		
२७	यज्ञश्री २६		
२८	विजय ६	विजय	
२९	चन्द्रश्री शातकर्णि १०	दण्ड-श्री शातकर्णि ३ वर्ष	
३०	पुलोमामि ७	पुलोमावि	

सं०	जायसवाल की सूची		जायसवाल के अनुसार तिथियाँ	टिप्पणी
२४	शातकर्णि (३)	२६	१८६—२१५ ई०	
२५	(वासि०) शिवश्री (२)	७	२१५—२२ ई०	
२६	शिवस्कन्द	०	२२२ ई०	
२७	विजय	६	२२२—२८ ई०	
२८	(वासि०) चन्द्रश्री शातकर्णि	३	२२८—३१ ई०	
२९	पुलोमावि (४)	७	२३१—३८ ई०	

ग्रन्थनिर्देश

प्राचीन शक आदि जातियों के विषय में हमारे ज्ञान का सब से प्राचीन उपादान हखामनी अभिलेख तथा ईरानप्रवासी यूनानी यात्री हिरोदोत का ग्रन्थ हैं, जिन का पीछे (§§ १०४-१०५) उल्लेख किया जा चुका है। सिकन्दर के साथी यात्रियों के लेखों में सुग्ध शकों का उल्लेख-मात्र हो सकता था। बाख्त्री के पिछले यवन राज्य से सम्पर्क में आने वाली शक तुखार आदि जातियों के विषय में पिछले यूनानी लेखकों के बहुत कुछ पता मिलता है; उन के संकलित लेखों का अनुवाद मैक्रिंडल के अंग्रेज़ी ग्रन्थ में है जिस का उल्लेख अठारहवें प्रकरण के ग्रन्थनिर्देश में किया जा चुका है। किन्तु इस युग में मध्य एशिया की फिरन्दर जातियों के वृत्तान्त पर तथा मध्य एशिया और वायव्य भारत के इतिहास पर सब से अधिक प्रकाश चीनी इतिहास-ग्रन्थों से पड़ता है। वैसे तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

(१) स्सि-मा-छिएन का शी-की जो लग० ९१ ई० पू० में पूरा हुआ। प्राचीन इतिहास की यह सब से कीमती खान है। स्सि-मा-छिएन को पाश्चात्य विद्वान् चीन का हिरोदोत कहते हैं। उस के ग्रन्थ का फ्राँसीसी अनुवाद शावान (Chavannes) ने किया है। उस के केवल १२३ वें अध्याय का, जिस में चाँग-खिएन की यात्रा का वर्णन है, प्रामाणिक अंग्रेज़ी अनुवाद फ्रेडरिख हिर्थ का किया हुआ ज० अ० ओ०सो० १९१७, पृ० ८९ प्र में है।

(२) पान-कू का चिएन-हान शू अर्थात् पहले हान वंश का इतिहास' जिसे पान-कू के पीछे उस की बहन ने ९२ ई० में पूरा किया। उस में २४ ई० तक का इतिहास है।

(३) फ़ान-ये का हिऊ-हान-शू अर्थात् दूसरे हान वंश का इतिहास,

जिस में २४—२२० ई० का इतिहास है। फ़ान-ये की मृत्यु ४४५ ई० में हुई थी, पर उस का इतिहास भी घटनाओं के प्रत्यक्षदर्शी सरकारी प्रतिवेदकों के वृत्तान्तों पर निर्भर है।

इन चीनी ग्रन्थों के अनुवाद और विवेचन अधिकतर फ्राँसीसी और जर्मन विद्वानों ने किये हैं। खेद की बात है कि अभी तक किसी भारतीय विद्वान् ने उन का मूल से अध्ययन कर किसी भारतीय भाषा में अनुवाद नहीं किया।

कालकाचार्य-कथानक का सम्पादन याकोवी ने त्साइट ३४, पृ० २४८ प्र में किया था। उस कथानक के एक नये रूप का उद्धरण जायसवाल ने अपने नीचे निर्दिष्ट लेख में किया है।

मध्य एशिया में लुप्त आर्य भाषाओं के लेख तथा सभ्यता के चिन्ह पाये जाने और वहाँ की शक तुखार आदि जातियों का आर्यत्व जाने की कहानी अत्यन्त मनोरञ्जक है। इस आधुनिक खोज का सिलसिलेवार वृत्तान्त भी हिन्दी में लिखा जाना चाहिए। सब से पहले सन् १८६० में ब्रिटिश भारतीय सेना के लैफ़्टिनेंट बावर नामक एक अफ़सर को एक दूसरे अंग्रेज़ के घातक की खोज में घूमते-फिरते चीनी तुर्किस्तान के उत्तरपूरबी छोर की कुचार (=कूचा) नामक बस्ती से एक स्तूप के खँडहरों में से निकाली गई भोजपत्रों पर लिखी एक पोथी मिली। वह अब बावर-पोथी कहलाती है। वह कलकत्ते में डा० हार्नली के पास भेजी गई, और गुप्त युग ब्राह्मी में लिखी संस्कृत की पोथी निकाली! वह वैद्यक का ग्रन्थ है जिस के पहले अंश में लहसुन के गुण बखाने गये हैं! उसके बाद तो हार्नली के पास वहाँ से अनेक वैसे अवशेष आने लगे। और ब्रिटिश दूत जैसे कलकत्ते को सामग्री भेजने लगे, वैसे ही रूसी दूत अपनी राजधानी को। बावरपोथी अब ऑक्सफ़र्ड में है; उस के पूरे फ़ोटो लिप्यन्तर और अनुवाद हार्नली ने आ० स० इं० जि० २२ में प्रकाशित किये। जो और सामग्री उन के पास आई उस के विषय में एक रिपोर्ट—रिपोर्ट ऑव दि ब्रिटिश कलेक्शन आव ऐंटिकि-

टीज़ फ्रौम सेन्ट्रल एशिया नाम से—प्रकाशित की (कलकत्ता १९०२)। उधर १८९२ में तिब्बत जाने वाले फ्राँसीसी दूतों के मुखिया दुत्रुइल-द-रीं को खोतन के पास से भोजपत्रों पर लिखी एक और पोथी मिली; उसी पोथी के एक अंश को काशगर-स्थित रूसी दूत पेत्रोवस्की अपनी राजधानी को भेज चुका था। और पड़ताल होने पर वह ग्रन्थ दूसरी शताब्दी ई० की खरोष्ठी में लिखा हुआ। गान्धारी प्राकृत का धम्मपद निकाला!

इस आरम्भिक सामग्री के हाथ लगने के बाद तो आधुनिक खोजियों ने पुरातत्त्व-खोज के लिए अनेक बाकायदा चढ़ाइयाँ मध्य एशिया पर शुरु कर दीं। सब से पहली चढ़ाई भारत-सरकार की मदद से सुप्रसिद्ध जर्मन संस्कृतज्ञ डा० स्तीन ने १९००-०१ में की। कश्मीर के प्राचीन इतिहास की खोज से तथा बुनेर पर चढ़ाई करने वाली ब्रिटिश भारतीय फ़ौज के साथ पुरातत्त्व-खोज करने को जा कर स्तीन प्राचीन उत्तरापथ की खोज के सम्बन्ध में पहले ही नाम कमा चुके थे। उन की पहली चढ़ाई का वृत्तान्त उन के एन्श्यॅट खोतन (प्राचीन खोतन) नामक ग्रन्थ (औक्सफ़र्ड, १९०७) में प्रकाशित हुआ। १९०६ में उन्हों ने दूसरी चढ़ाई की, और उस का वृन्तान्त सरिंदिया (उपरला हिन्द) नामक पाँच जिल्दों के भारी ग्रन्थ में निकला। उन के तीसरे अमर ग्रन्थ इनरमोस्ट एशिया (ठेठ भीतरी एशिया) में उन की सन् १९१३-१५ वाली तीसरी चढ़ाई के परिणाम हैं; और वे एक चौथी यात्रा भी कर चुके हैं।

सरिंदिया नामकरण का श्रेय फ्राँसीसी विद्वानों को है। इस बीच जर्मन फ्राँसीसी रूसी और जापानी संस्थाओं और सरकारों की मदद से उन देशों के अनेक विद्वान् भी वैसी ही कई कई संगठित चढ़ाइयाँ कर चुके हैं। उन में से प्रत्येक के वृत्तान्त उन उन भाषाओं में प्रकाशित हो चुके हैं; और उस सिलसिले में जर्मन प्रो० ग्रुइनवेडल तथा डा० फ़ौन ल कौक, फ्राँसीसी प्रो० पोलियो, जापानी सरदार ओतानी, स्वीडन के प्रसिद्ध भौगोलिक खोजी डा० स्वेन हेडिन आदि बड़ी कीर्ति कमा चुके हैं। उपरले हिन्द से सैकड़ों

प्राचीन पोथियाँ अभिलेख आदि उन उन देशों की राजधानियों और विद्या-पीठों में पहुँच चुके हैं । तरुण चीनियों की भी अन्त में आँखें खुलीं, और विदेशियों का उन के साम्राज्य में इस प्रकार चढ़ाई कर अमूल्य ज्ञान-सामग्री लूट ले जाना उन्हें अखरने लगा । अब वे वैज्ञानिक खोजियों को वहाँ आने तो देते हैं, पर उन्हें अपने साथ चीनी वैज्ञानिकों को भी रखना पड़ता है, और सब सामग्री चीन के संग्रहालयों को भेजनी पड़ती हैं । इसी कारण स्तीन को अन्तिम यात्रा में उन्हों ने आगे बढ़ने से रोक दिया । चीनी और पाश्चात्य वैज्ञानिकों के एक सम्मिलित दल ने पिछले बरसों मध्य एशिया की पूरी वैज्ञानिक पड़ताल की है; वे अपने परिणाम जर्मन भाषा में प्रकाशित कर चुके हैं; अंग्रेज़ी में उन की यात्रा-वृत्तान्त का सार मात्र डा० स्वेन हेडिन ने ऐक्रॉस दि गोबी डेज़र्ट (गोबी मरु के आरपार) नाम से हाल में प्रकाशित किया है (लंडन, १६३१) । प्राचीन लोप-समुद्र के पाट की खोज इन वैज्ञानिकों ने की है; आधुनिक लोपनोर उस समुद्र का अंश-मात्र है ।

इन चढ़ाइयों के फल-स्वरूप न केवल संस्कृत और प्रकृत के ग्रन्थ और लेख, प्रत्युत संस्कृत ग्रन्थों के सुग्धी और तुर्की भाषाओं में अनुवाद तथा पहले अज्ञात नई आर्य भाषाओं के ब्राह्मी में लिखे अनेक खेल भी पाये गये ! हार्नली ने उन की पूरी वर्णमाला खोज कर ज० रा० ए० सो० १६११ पृ० ४७७ प्र में अन-नोन लैंग्वेजेस ऑव ईस्टर्न तुर्किस्तान (पूर्वी तुर्किस्तान की अज्ञात भाषायें) शीर्षक लेख में प्रकाशित की । पड़ताल से पता चला कि वे लेख दो भाषाओं के हैं—एक उत्तरपूर्वी जो कूचा-प्रदेश की प्राचीन बोली थी, दूसरी दक्खिनी जो खोतन-प्रदेश की थी । जर्मन विद्वान् मुइलर ने पहले-पहल उत्तरपूरबी भाषा का नाम तुखारी रक्खा । प्रो० सीग और डा० सीगलिंग् (दोनों जर्मन) ने कहा कि वही भारत में आने वाले शकों की भाषा थी; प्रो० सीग ने पहले-पहल यह खोज निकाला (१६१८) कि उस भाषा के अपने लेखों में उस का

नाम आर्षी है। दक्खिनी भाषा का व्यक्तित्व पहले पहल ल्युमान (जर्मन) ने पहचाना और उन्हों ने उस का नाम उत्तरी आर्य भाषा (Nord-arische) रक्खा (१९१२); पेलियो ने उसे पूर्वी ईरानी कहा (१९-१३); जर्मन और फ्रांसीसी विद्वानों में क्रमशः वही नाम चल पड़े। किस्ट (जर्मन) ने उसे खोतनी कहना अधिक उचित माना (१९१३), मैं उसे खोतनदेशी कहता हूँ। डा० लुइडर्स (जर्मन) ने कहा कि वही भारतीय शकों की भाषा थी (१९१२); और अब उन की वह स्थापना प्रायः सिद्धान्त बन चुकी है।

डा० स्तीन के उपरले हिन्द से लाये हुये खरोष्ठी अभिलेखों का सम्पादन तीन विद्वानों ने किया है; उस ग्रन्थ का उल्लेख हो चुका है। नीलकण्ठधारिणी नामक संस्कृत बौद्ध पोथी सुग्धी अनुवाद के साथ स्तीन को मिली थी; उसे महायान के बेल्ज विद्वान् पूसों तथा सुग्धी के फ्राँसीसी विद्वान् गोथियो ने, जो महा-युद्ध में मारे गये, फ्रांस की राजधानी से प्रकाशित किया। वैसे ही तुर्की में तिषस्वस्तिक नामक बौद्ध ग्रन्थ का अनुवाद पाया गया, जिसे रैडलौफ़ और स्टाएल होलस्टीन नामक रूसी विद्वानों ने सेंट पीटर्सबर्ग (आधुनिक लेनिनग्राड) से निकलने वाली बिबिलौथिका बुद्धिका (बौद्ध ग्रन्थमाला) में प्रकाशित किया। आज के तरुण तुर्क भी अब अपनी भाषा को अरबी प्रभाव से मुक्त करने की धुन में संस्कृत से अनूदित अपने उन प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन में जुट गये हैं। तुखारी में भी संस्कृत से अनूदित पुस्तकें पाई गईं। ऐसी पुस्तकों के सहारे सुग्धी तुखारी आदि के व्याकरण भी सन् १९१३-१४ तक तैयार हो गए।

इस विषय की तथा प्राचीन शकों की और चर्चा निम्नलिखित लेखों में मिलेगी।

सिल्व्याँ लेवी—मध्य एशिया-विषयक विमर्श, ज० रा० ए० सो० १९-१४, पृ० ९३३ प्र।

स्टेन कोनौ—खोतन-विषयक विमर्श, वहीं पृ० ३२९ प्र।
—भारतीय शक वंश और उन का सभ्यता के इतिहास में स्थान, मौडर्न रिव्यू, अप्रैल १९२१।
—आरा अभिलेख, ए० इं० १४, पृ० २९३ प्र।
टामस—सकस्तान, ज० रा० ए० सो० १९०६, पृ० १८१ प्र। बहुत कीमती लेख; शकों विषयक जानकारी को पहले-पहल शृङ्खलाबद्ध और विवेचनापूर्ण शैली से इसी में पेश किया गया है।
निरंजनप्रसाद चक्रवर्त्ती— इन्डिया ऐंड सेंट्रल एशिया (भारत और मध्य एशिया), बृहत्तर भारत परिषद्, कलकत्ता १९२७।
लौफ़र-कृत लैंग्वेज आव दि युइशि (युइशि की भाषा) मुझे देखने को नहीं मिली।

भारतवर्ष में शकों पह्लवों और ऋषिकों तथा उन के समकालीन सातवाहनों के वृत्तान्त के लिए—

भगवानलाल इन्द्रजी और रैप्सन—उत्तरी क्षत्रप, ज० रा० ए० सो० १८९४, पृ० ५४१ प्र।
रैप्सन—भारतीय सिक्कों और मोहरों पर टिप्पणियाँ, ज० रा० ए० सो० १९०५, विशेष कर पृ० ७९२ प्र—खरओस्त के विषय में।
लेवी—भारतीय शकों विषयक टिप्पणियाँ, इं० आ० १९०३, पृ० ३८१ प्र; विशेषतः कनिष्क-विषयक, संस्कृत से चीनी में अनूदित ग्रन्थों के आधार पर।
वि० स्मिथ—आन्ध्र इतिहास और सिक्के, जाइट १९०२ पृ० ६४९ प्र; १९०३ पृ० ६०५ प्र।
पर्सी गार्डनर—दि कौइन्स ऑव दि ग्रीक ऐंड सिथिक किंग्स आव बैक्ट्रिया ऐंड इंडिया इन दि ब्रिटिश म्यूजियम (भारत और बलख के यूनानी और शक राजाओं के ब्रिटिश संग्रहालय में उपस्थित सिक्के), लंडन १८८६।

शक-संवत् के विषय में फ्लीट के भारतीय ज्योतिष-विषयक लेख ज० रा० ए० सो० १९१० पृ० ८१८ प्र; १९११ पृ० ६६४ प्र; १९१२ पृ० ७८६ प्र। कीलहार्न के इं० आ० २५ पृ० २६६ प्र, २९९ प्र; २६ पृ० १४६ प्र। क० सं० सि० सू०।

आ० ज० सि० सू०; ऐतिहासिक भूमिका विशेष काम की है।

राखालदास बैनर्जी—भारतीय इतिहास का शक युग, इं० आ० १९०८ पृ० २५ प्र। शक-पह्लवों के पेचीदा इतिहास को पहले-पहल बहुत कुछ सुलझाने वाला लेख यही था।

पुराणपाठ—काण्वों और आन्ध्रों विषयक अंश।

म० सं० सि० सू०; मथुरा के अनेक शक और ऋषिक अभिलेखों के पाठ इस में हैं।

मार्शल—तक्षशिला की खुदाई, आ० स० इं० १९१२-१३ पृ० १ प्र।

व्हाइटहेड—कैटालोग ऑव कौइन्स इन दि पञ्जाब म्यूजियम, लाहौर, जि० १; औक्सफ़र्ड १९१४। यवनों शकों पह्लवों के सिक्कों का शायद सब से अच्छा संग्रह लाहौर में है; और इस ग्रन्थ में उस की बहुत अच्छी विवेचना है।

कुशाण-वंश के सिक्कों के प्राप्तिस्थानों के विषय में आ० स० रि० की विभिन्न जिल्दें।

क़निष्क-काल के विषय में ज० रा० ए० सो० १९१३ पृ० ६२७ प्र, ९११ प्र में अनेक विद्वानों का विवाद; तथा उसी विषय पर १९१४ पृ० ९७३ प्र, ९८७ प्र पर मार्शल तथा टामस के लेख। ऋषिकों के भारत-प्रवेश के रास्ते के विषय में १९१३ वाले उक्त विवाद में से विशेष कर पृ० ९२९-३०, ९५८-६०, १०२३।

अ० हि० अ० ८ (पृ० २२० के बाद), ९, १०।

अ० हि० द० अ० २।

कैं० इ० अ० १७, २२ (दोनों के अन्तिम भाग), २३। मार्शल ने यह

कल्पना की थी कि विक्रम-संवत् पह्लव राजा अय ने चलाया था ! इस ग्रन्थ में उसे सिद्धान्त मान लिया गया है। इस से अधिक अनर्गल और निर्मूल स्थापना भारतीय इतिहास की खोज में शायद ही कोई चली हो। शकों का आक्रमण हिन्दूकुश के नहीं प्रत्युत सिन्ध के रास्ते हुआ, डा० टामस की यह स्थापना बहुत ठीक है; तो भी हिन्दूकुश पार कपिश (किंपिन्) में उन की कम से कम एक शाखा का आना मानना पड़ता है।

रा० इ० पृ० २६६—३२१। किन्तु मिथ्दात के भारत-आक्रमण की बात (पृ० २६६) का कैं० इ० में प्रत्याख्यान किया गया है; और वनान के वंश ने हरउवती में यवन शासन का अन्त किया (पृ० २७०) यह लिखने में भी विद्वान् लेखक से चूक हो गई है, क्योंकि हेरात और हरउवती को उस से पहले यवनों से मिथ्दात (पहला) ले चुका था, और उस के बाद वे प्रान्त पार्थव राज्य में ही रहे, यवनों के हाथ नहीं गये।

दे० रा० भण्डारकर—सातवाहन-युग के दक्खिन, इं० आ० १९१८ पृ० ६६ प्र, १४६ प्र, १९१९ पृ० ७७ प्र, १९२० पृ० ३० प्र।

विनयतोष भट्टाचार्य—चष्टन की प्रतिमा, ज० बि० ओ० रि० सो० १९२०, पृ० ५१ प्र।

जायसवाल—विम कफ्स की प्रतिमा और कुशाण कालगणना, वहीं पृ० १२ प्र।

राखालदास बैनर्जी—नहपान और शक-संवत्, ज० रा० ए० सो० १९२५, पृ० १ प्र।

नीलकण्ठ शास्त्री—पिछले सातवाहन और शक, वहीं १९२६, पृ० ४३ प्र।

स्टेन कोनौ—भारतीय खरोष्ठी अभिलेखों के संवत्, ऐ० ओ० २, पृ० ५२ प्र।

—नौया अभिलेखों में राजकीय तिथियाँ, वहीं २, विशेष कर पृ० १२० प्र।

जयचन्द्र विद्यालंकार—कनिष्क की तिथि, ज० वि० ओ० रि० सो० १९२९, पृ० ४७ प्र।

रमेश चन्द्र मजूमदार—गौतमीपुत्र सातकर्णि और उस के बेटे की तिथि; सर आशुतोष मेमोरियल वौल्यूम (आशुतोष-स्मारक-ग्रन्थ) १९२६-२८, भाग २, पृ० १०७ प्र।

हरिचरण घोष—कनिष्क की तिथि, इं० हि० क्वा० १९२९, पृ० ४९ प्र।

समूचे विषय की फिर से विवेचना डा० कोनौ द्वारा सम्पादित भा० अ० स० जि० २ भाग १—खरोष्ठी अभिलेख (कलकत्ता १९२९), तथा जायसवाल के लेख—शक-सातवाहन इतिहास की समस्यायें, ज० वि० ओ० रि० सो० १९३० पृ० २२७ प्र में हुई है। ये दोनों कृतियाँ रूपरेखा का अधिकाँश लिखा जा चुकने के बाद प्रकाशित हुई हैं, तो भी इन के अनुसार यथेष्ट परिवर्त्तन कर लिए गये हैं, और विशेष कर जायसवाल जी के उक्त निबन्ध ने मुझे यह समूचा विषय फिर से लिखने को बाधित किया है।

गण-राज्यों के विषय में—

हिं० रा० अ० १८, तथा पृ० ७४ टि० ३।

गणों के सिक्कों के विषय में—

आ० स० रि० १४ पृ० १३४ प्र।

क० सं० सि० सू०; तथा प्रा० भा० मु०।

यौधेयों के विषय में मेरे कनिष्क वाले उक्त लेख में पृ० ६० प्र।

तामिल राष्ट्रों, सिंहल, परले हिन्द और चीन के सम्पर्क के विषय में—

बिगिनिंग्स्।

महावंस ।

गणशेखर शास्त्री—राजावलिय और ए हिस्टौरिकल नैरेटिव औव सिंहालीज़ किंग्स फ्रौम विजय टु विमलधवल सूरिय २ (सिंहली राजावलिय का अंग्रेज़ी अनुवाद), कोलम्बो १६०० ।

फ़ीनो—हिन्दचीन में हिन्दू राज्य; इं० हि० का० १ पृ० ६०१ प्र ।

जेरिनी—रिसर्चेस औन टौलमीज़ जिओग्रफ़ी ऑव ईस्टर्न एशिया (ताल-माय के पूर्वी एशिया के भूवर्णन विषयक खोज), लंडन १६०६ ।

अ० हि० द० ६ § २ ।

हार्वी—हिस्टरी आव बर्मा (बर्मा का इतिहास), लंडन १६२५, अ० १ ।

रमेश चन्द्र मजूमदार—एंश्यंट इंडियन कौलोनीज़ इन् दि फ़ार ईस्ट (सुदूर पूर्व में प्राचीन भारतीय उपनिवेश), जि० १—चम्पा; लाहौर १६२७ ।

प्रबोधचन्द्र बाग्ची—इंडिया ऐंड चाइना (भारत और चीन), बृहत्तर भारत परिषद्, कलकत्ता १६२७ ।

बिजनराज चैटर्जी—इंडियन कल्चर इन् जावा ऐंड सुमात्रा (जावा और सुमात्रा में भारतीय संस्कृति), बृ० भा० प०, कल० १६२७ ।

बृ० भा० प० के ये दोनों निबन्ध तथा पूर्वोक्त उपरले हिन्द विषयक निबन्ध बहुत अच्छे हुए हैं, विशेष कर डा० बाग्ची का निबन्ध तो बहुत ही विद्वत्तापूर्ण विशद और मनोरंजक है । किन्तु परिषद् का पाँचवाँ निबन्ध—अफ़गानिस्तान में प्राचीन भारतीय संस्कृति—जो डा० घोषाल से लिखवा कर १६२८ में प्रकाशित कराया गया है, मुझे पसन्द

नहीं आया। उस में लेखक की अपेक्षा सम्पादक का दोष अधिक है, क्योंकि अफ़गानिस्तान को, जो मूल भारतवर्ष का अंश है, बृहत्तर भारत में गिनना और उस से भारत का केवल संस्कृति-सम्बन्ध दिखलाने का जतन करना एक बुनियादी गलती है। फिर उस में लेखक की त्रुटि यह है कि वे अफ़गानिस्तान के स्वरूप को स्पष्ट नहीं कर सके। आधुनिक अफ़गानिस्तान में कपिश भी है, गान्धार पक्थ और कम्बोज के अंश भी, तथा हरउवती हेरात और बलख भी; दूसरी तरफ़ असल अफगानस्थान का बहुत सा अंश आज दूसरे नामों में छिपा है। उन विभिन्न प्रदेशों में भारतीय प्रभाव विभिन्न रूप से रहा है।

इक्कीसवाँ प्रकरण

सातवाहन समृद्धि सभ्यता और संस्कृति

§ १८९. भारतीय इतिहास में सातवाहन-युग

हम ने जिसे भारतीय इतिहास का अश्वमेध-पुनरुद्धार-युग कहा है, वह लग० २१२ ई० पू० में शुरू हुआ, और लग० ५३३ ई० में समाप्त हुआ। पच्छिमी जगत् के इतिहास में २०१ ई० पू० से ४७६ ई० तक रोम-युग था; उस की अवधि हमारे अश्वमेध-पुनरुद्धार-युग के प्रायः बराबर थी। इस युग के फिर दो स्पष्ट हिस्से हो जाते हैं—एक सातवाहन-युग, गुप्त-युग। पहला लग० २३८ ई० तक रहा, दूसरा ३२० ई० से शुरू हुआ; दोनों के बीच एक सन्ध्या-काल था। हम देख चुके हैं कि भारतीय इतिहास के इस सातवाहन युग के प्रायः बराबर बराबर ईरान के इतिहास में पार्थव-युग (लग० २५० ई० पू०—२२६ ई०), चीन के इतिहास में हान-युग (२०५ ई० पू०—२२२ ई०), तथा रोम के इतिहास में उस की उन्नति और वैभव का युग (२०१ ई० पू०—२११ ई०) चलता रहा।

सातवाहन-युग की घटनावली का पिछले तीन प्रकरणों में जो दिग्दर्शन किया गया है, उस पर ध्यान देने से फिर उस युग के पाँच अंश पृथक् पृथक् दीख पड़ते हैं। पहले लग० २१२ ई० पू० से लग० १०० ई० पू० तक प्रायः एक शताब्दी भर चार शक्तियों में परस्पर होड़ थी; उसे हम शुंग-युग अथवा चेदि-सातवाहन-यवन-शुंग-युग कह सकते हैं; उस काल में अन्य तीन शक्तियों के मुकाबले में सातवाहनों की कुछ विशेषता नहीं रही। उस के

बाद १०० ई० पू० से ५८ ई० पू० तक आधी शताब्दी के करीब शकों की प्रधानता रही; सातवाहनों के सिवा अन्य तीनों शक्तियाँ उस काल में समाप्त हो गईं; वह शक-युग या शक-सातवाहन-युग था। फिर ५७ ई० पू० से ७८ ई० तक सातवाहन-समृद्धि-युग अर्थात् सातवाहनों के चरम उत्कर्ष का युग रहा; उस बीच गान्धार-देश में पहले पह्लव और फिर ऋषिक उन के बराबर राज्य करते रहे, बाकी प्रायः समूचा भारत सातवाहनों की प्रभुता में रहा। रोम के इतिहास में ३१ ई० पू० से ९८ ई० तक साम्राज्य के उदय का युग था, वह सातवाहन-समृद्धि-युग से प्रायः बीस बरस पीछे शुरू और उतना ही पीछे समाप्त हुआ। ७८ ई० से १८० ई० तक पेशावर और पैठन साम्राज्यों का युग अथवा तुखार-सातवाहन-युग रहा; उस समय उत्तर भारत में ऋषिक-तुखारों की प्रभुता रही, सातवाहनों की केवल दक्खिन में; और दोनों के बीच उज्जैन में शक क्षत्रपों। की अन्त में लग० १८० ई० से २३८ ई० तक आधी शताब्दी के लिए सातवाहन-साम्राज्य के बुढ़ापे का युग था, जिस में आभीर शक्ति ने सिर उठाया; उसे हम आभीर-सातवाहन-युग कह सकते हैं। इस प्रकार इन पाँच युगों में से एक शताब्दी और आधी शताब्दी के दो युग शुरू में, तथा एक और आधी शताब्दी के युग अन्त में रहे, जिन के बीच सातवाहनों के चरम उत्कर्ष का युग रहा। प्रो० देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर ने सातवाहन-युग में दक्खिन शीर्षक से इस समूचे युग पर विद्वत्तापूर्ण लेख लिखे हैं; किन्तु इसे केवल दक्खिन के सातवाहन-युग के बजाय भारतीय इतिहास का सातवाहन-युग कहना चाहिए; क्योंकि समूचे भारत पर सातवाहनों का आधिपत्य चाहे इस युग के केवल बीच के अंश में रहा, तो भी सातवाहन राज्य और उस का प्रभाव लगातार साढ़े चार सौ बरस तक ऐसी स्थिरता साथ बना रहा कि उस के नाम से भारतीय इतिहास के एक अंश का नाम पड़ना सर्वथा उचित है। वही पुराणों का आन्ध्र-युग है।

§ १९०. उक्त युग का ज्ञान और वाङ्मय

उचित यह होता कि पहले उस युग में भारतीय राष्ट्रों के आर्थिक जीवन राज्यसंस्था समाज और धर्म की विवेचना की जाती, और उस के अन्त में वाङ्मय साहित्य और कला का दिग्दर्शन किया जाता; क्योंकि किसी भी राष्ट्र-वृक्ष की जड़ उस का आर्थिक संगठन होता है, राज्य-संस्था को उस का तना कह सकते हैं, वाङ्मय और कला तो केवल उस का पुष्प-विकास होते हैं। किन्तु इस युग के आर्थिक जीवन राज्यसंस्था आदि की जानकारी भी हम इस के वाङ्मय और वास्तु के अवशेषों में पाये जाने वाले अभिलेखों के अधार पर ही पा सकते हैं, इस कारण पहले उन्हीं का दिग्दर्शन करना पड़ता है।

अ. स्मृति ग्रन्थ

यों तो वाङ्मय का प्रत्येक अंश समकालीन इतिहास पर कुछ न कुछ प्रकाश डालता ही है, तो भी समाज के आचार और व्यवहार के नियमों का सीधा प्रतिपादन करने वाले स्मृति ग्रन्थों का इतिहास की दृष्टि से सब से अधिक महत्त्व है; और पहले हम उन्हीं पर ध्यान देंगे। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य-स्मृति जो भारतीय समाज के जीवन को अनेक पहलुओं में आज तक नियन्त्रित करती आती हैं, इसी सातवाहन-युग की कृतियाँ हैं। मनुस्मृति के विषय में डा० जौली ने सन् १८८३ के अपने कलकत्ता विश्वविद्यालय के टागोर-व्याख्यानों में यह फ़ैसला किया था कि वह याज्ञवल्क्य-स्मृति से पहले की है, और कि याज्ञवल्क्य-स्मृति "ईसवी सन् की पहली शताब्दियों से पहले की नहीं है"। डा० बुइलर ने और विवेचना कर के यह परिणाम निकाला कि मनुस्मृति दूसरी शताब्दी ई० में विद्यमान थी, और दूसरी शताब्दी ई० पू० तथा दूसरी शताब्दी ई० के आरम्भ के बीच (२०० ई० पू० —१०० ई०) कभी

बनी[1]। जायसवाल ने अपने टागोर-व्याख्यानों में उस मत को स्वीकार किया और उस की तीन शताब्दियों की अवधि को तीन दशाब्दियों तक सिकोड़ दिया। उन के अनुसार मनुस्मृति के लेखक ने उसे १५० ई० पू० और १२० ई० पू० के बीच कभी लिखा था[2]।

उन की मुख्य युक्तियाँ इस प्रकार हैं। अश्वघोष ने जो कनिष्क का समकालीन था, अपने ग्रन्थ वज्रच्छेदिका में जातपाँत के विचार का खण्डन करते हुए पूर्वपक्ष रूप में मनु के श्लोक उद्धृत किये हैं। इस लिए अश्वघोष के समय अर्थात् १०० ई० तक मानव धर्मशास्त्र की प्रामाणिकता मानी जा चुकी थी। उसे वह प्रतिष्ठित पद मिलने में कुछ अरसा लगा होगा, इस लिए सम्भवतः ईसवी सन् के आरम्भ में वह विद्यमान था। दूसरी तरफ़ वह पतञ्जलि के महाभाष्य से पहले का नहीं हो सकता। पतञ्जलि पुष्यमित्र का समकालीन था; उस के अनुसार शक और यवन शूद्र थे, तो भी आर्य लोग अपने बर्त्तनों में उन्हें भोजन कराते थे[3]। मनु का कहना है कि शक और यवन पहले कभी क्षत्रिय थे, पर उस के समय तक शूद्र हो चुके थे। मनु और पतञ्जलि दोनों की दृष्टि शक-यवनों के विषय में एक सी है। किन्तु शकों और यवनों के साथ मनु ने पह्लवों का नाम भी दिया है[4], जिन का पतञ्जलि को पता नहीं था। पह्लव पार्थव जाति के अपने नाम का पारसी रूप है। पार्थव राज्य तो २४८ ई० पू० में स्थापित हो गया था, पर पह्लव नाम भारतवर्ष में उस के कुछ समय बाद, जब कि वे लोग पारसी सभ्यता

[1] मनुस्मृति का अनुवाद, प्रा० ध० ग्र० २५, भूमिका पृ० ९७-९८।

[2] मनु और याज्ञ० पृ० ३२।

[3] महाभाष्य २.४.१०।

[4] १०. ४४।

अपना चुके और उन का राज्य काफ़ी फैल चुका था, आया होगा। मिथ्रदात पहले (१७१—१३८ ई० पू०) के समय लग० १५० ई० पू० में पार्थवों ने यूनानियों से भारतवर्ष की सीमा के प्रान्त छीने थे, और तभी पह्लव नाम का भारतवर्ष में प्रचलित होना बहुत सम्भव है। पतञ्जलि का समय उस के ठीक पहले है, इसी लिए महाभाष्य में पह्लवों का नाम नहीं है। मनु का समय १५० ई० के बाद है, और उस के ठीक बाद ही होना चाहिए, कारण कि मनु में कुरुक्षेत्र और शूरसेन प्रदेशों को आचार-व्यवहार में आर्यावर्त्त का अग्रणी माना गया है[1], किन्तु वे प्रदेश १०० ई० पू० के करीब शक म्लेच्छों की सत्ता में जा चुके थे। यह परिणाम मनुस्मृति की आन्तरिक परीक्षा से भी पुष्ट होता है क्योंकि उस में शुंग-युग के आदर्श और विचार बड़े उग्र रूप में भरे हैं।

मनुस्मृति या मानव धर्मशास्त्र का कर्त्ता या प्रवक्ता भृगु था, सो उस के प्रत्येक अध्याय के अन्त में लिखा रहता है। भृगु से प्रयोजन स्पष्टतः किसी भार्गव या भृगु-वंशी ब्राह्मण से है। जायसवाल ने बतलाया है कि नारदस्मृति में, जो चौथी शताब्दी ई० की है, मनुस्मृति को सुमति भार्गव की कृति कहा है। उस के लेखक ने अपने ग्रन्थ को मानव धर्मशास्त्र शायद इस कारण कहा हो कि वह स्वयं मानव चरण या सम्प्रदाय का था।

मानव धर्मशास्त्र का वैदिक मानव सम्प्रदाय से सम्बन्ध है, और वह उस सम्प्रदाय के किसी धर्मसूत्र पर निर्भर है, ऐसी स्थापना मैक्स-मुइलर बुइलर और जौली ने की थी; और यह बहुत दिनों तक सिद्धान्त मानी जाती रही है। कृष्णयजुर्वेदियों का मानव चरण और उन का मानव गृह्यसूत्र पच्छिमी भारत में अब तक प्रचलित है। किंतु स्वयं जौली ने यह भली

---

[1] २. १७ प्र।

प्रकार दिखलाया है कि मानव गृह्यसूत्र और मानव धर्मशास्त्र में कोई सम्बन्ध नहीं है। मानव गृह्य के टीकाकार अष्टावक्रदेव का कहना है कि उस सूत्र का मूल नाम बृहद्धर्म था, और मानवाचार्य की कृति होने से वह मानव गृह्यसूत्र कहलाया। इस प्रकार बृहद्धर्म के कर्त्ता मानवाचार्य के नाम से ही मानव चरण का नाम पड़ा; और उस चरण का गृह्यसूत्र ही बृहद्धर्म कहलाता था, इस से प्रतीत होता है कि उस का कोई अलग धर्मसूत्र न था। जौली और बुइलर ने एक और युक्तिपरम्परा से मानव धर्मसूत्र की कल्पना की थी। विष्णुस्मृति और मनुस्मृति में परस्पर बहुत समानता है; विष्णुमृति कृष्ण यजुर्वेद के कठ या काठक चरण के धर्मसूत्र पर निर्भर है; इस से यह कल्पना की गई कि काठक धर्मसूत्र और मानव धर्मसूत्र में परस्पर बड़ी समानता रही होगी जिस के कारण उन दोनों पर आश्रित स्मृतियों का सादृश्य है। इस स्थापना में कल्पना-गौरव दोष है। विष्णुस्मृति मनुस्मृति से पीछे की है, उस का जो अंश मनु से मिलता है वह उस ने सीधा मनु से ही लिया होगा। काठक धर्मसूत्र आज उपलभ्य नहीं है जिस से यह कहा जा सके कि विष्णुस्मृति का कितना अंश उस धर्मसूत्र पर आश्रित है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अर्थशास्त्र के एक मानव सम्प्रदाय के उद्धरण हैं; कामन्दक के नीतिसार में या अन्य ग्रन्थों में उस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक मनु के नाम से जो मत उद्धृत किये हैं, उन का भी मनुस्मृति से या बृहद्धर्म के कर्त्ता मानवाचार्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। महाभारत में मनुमृति स्वायम्भुव मनु के नाम पर मढ़ी गई है, और वह राजशास्त्र (अर्थशास्त्र) प्राचेतस मनु के नाम पर। इस प्रकार दोनों का अन्तर स्पष्ट है।

उसी प्रकार श्राद्धकल्प नाम का एक वैदिक ग्रन्थ भी मनु नामक किसी लेखक का है। भास ने अपने प्रतिमा नाटक में उसे भी प्राचेतस मनु की कृति कहा है, जिस का यह अर्थ है कि मनुस्मृति को और उसे

अलग अलग लेखकों की कृति माना जाता था। उस में और मनुस्मृति में सात श्लोक साझे हैं, और उसे कई बार मानव चरण के वाङ्मय में सम्मिलित किया जाता है; इस परम्परा से मनुस्मृति का मानव चरण से सम्बन्ध सिद्ध करने का जतन किया गया था; किन्तु उस का मानव वाङ्मय का अंग बनना आधुनिक काल की बात प्रतीत होती है, और सो भी सदा नहीं होती। दोनों ग्रन्थों में काफ़ी मतभेद है; सात श्लोक श्राद्धकल्प ने मनुस्मृति से सीधे लिए होंगे।

इस प्रकार जायसवाल ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि मनुस्मृति का सम्बन्ध किसी विशेष वैदिक चरण से नहीं है, और न वह किसी विशेष धर्मसूत्र पर निर्भर है। उस की दृष्टि धर्म सम्प्रदाय की सी है, किन्तु उस में उस ने एक महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन किया है। धर्मसूत्रकारों की तरह उस का लेखक वर्णों और आश्रमों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का प्रतिपादन करता है; किन्तु क्षत्रियों के धर्माधर्म का विचार करते हुए धर्मसूत्रकार जहाँ राजा नामक क्षत्रिय-विशेष के दो चार धर्म कह देते थे, वहाँ मनु (सुमति भार्गव) ने राजधर्म का बहुत विस्तार कर दिया और समूचे व्यवहार का निदर्शन उसी सिलसिले में कर डाला है। इस प्रकार राजधर्म और व्यवहार को, जो कि अर्थशास्त्र का अंग था, धर्मशास्त्र में टांक कर धर्म का अनुचर बना दिया। यह उस का एक विशेष कार्य था, और बाद में उस की नकल दूसरे लेखकों ने भी की। वसिष्ठ-धर्मसूत्र अब जिस रूप में मिलता है, उस में भी व्यवहार-अंश सम्मिलित है। जायसवाल का कहना है कि मनुस्मृति की रचना के बाद मूल वसिष्ठ-धर्मसूत्र का यह रूपान्तर किया गया। उस के बाद विष्णुस्मृति बनी; उस का मूल एक धर्मसूत्र—बहुत सम्भवतः काठक—था; उस धर्मसूत्र में व्यवहार-अंश मिला कर वह एक स्मृति बनी; उस पर वैष्णव रंग और भी पीछे—याज्ञवल्क्य-स्मृति के बाद—चढ़ाया गया। आगे दूसरी शताब्दी ई० के सम्भवतः पिछले अंश में याज्ञवल्क्य-

स्मृति बनी; उस में भी धर्म और व्यवहार दोनों सम्मिलित रहे। आगे चल कर गुप्त काल में नारद बृहस्पति और कात्यायन ने अपनी स्मृतियों में धर्म से स्वतन्त्र शुद्ध व्यवहार का फिर से प्रतिपादन किया; किन्तु याज्ञवल्क्य के प्रचार को वे स्मृतियाँ कम न कर सकीं।

बुइलर का कहना था कि दूसरी शताब्दी ई० के आरम्भ मनुस्मृति अपने उपस्थित रूप में विद्यमान थी। किन्तु जायसवाल कहते हैं कि १००-१५० ई० के बीच कभी उस का एक संस्करण हुआ और वही उस का उपस्थित रूप है, क्योंकि अश्वघोष की वज्रच्छेदिका आदि में उस के जो उद्धरण हैं वे सब के सब उपस्थित मनुस्मृति में ज्यों के त्यों नहीं पाये जाते। तो भी उस संस्करण में विशेष फेरफार नहीं किया गया, कुछ श्लोक निकाल दिये गये और कुछ जो पहले त्रिष्टुभ् आदि पुराने छन्दों में थे अनुष्टुप् में कर दिये गये; मनु का नाम भी शायद तभी जोड़ा गया।

जैसा कि अभी कहा गया है कि याज्ञवल्क्य-स्मृति भी धर्म-व्यवहार-स्मृति है; तो भी याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में धर्म और व्यवहार को बिलकुल अलग अलग कर दिया। उस में तीन अध्याय हैं—आचाराध्याय, व्यवहाराध्याय और प्रायश्चित्ताध्याय, जिन में से पहला और तीसरा धर्मविषयक हैं। तीसरे अध्याय का योग-विषयक अंश पीछे का प्रक्षिप्त है, याज्ञवल्क्य को उपनिषदों वाला याज्ञवल्क्य मान कर उस अंश के लेखक ने उसे याज्ञवल्क्य-स्मृति में जोड़ दिया। याज्ञवल्क्य-स्मृति, मनुस्मृति विष्णुस्मृति और कौटिलीय अर्थशास्त्र पर निर्भर है। जायसवाल का कहना है कि उस पर सातवाहन-युग की समृद्धि की छाप है। उस के सिक्के के अर्थ में नाणक शब्द आया है (२.२४०-४१); मृच्छकटिक में भी उस अर्थ में वही शब्द है (नाणकमूषिका, १.२३); और उस के टीकाकार ने अर्थ किया है—नाणं शिवाङ्कं टंकादि—नाण यानी शिव के चिह्न वाला टंका। कनिष्क के सिक्कों पर अन्य अनेक देवी-देवताओं की तरह नाना नाम की देवी का भी नाम है। वह प्राचीन

अशुर राज्य के एलम प्रदेश (=पारस के सूसा-प्रदेश) की देवी थी। नाना के नाम से सिक्के का नाम नाणक हुआ, और कनिष्क-वंशजो के सिक्के क्योंकि शैव थे इस कारण नाणक का अर्थ शिवाङ्क सिक्का हो गया। इन कारणों से याज्ञवल्क्य-स्मृति का समय अन्दाज़न १५०—२०० ई० मानना चाहिए।

उस में गणपति विनायक की पूजा का विधान है (१.२७१ आदि), इस आधार पर सर रामकृष्ण गो० भण्डारकर का कहना था[1] कि उस का समय छठी शताब्दी ई० से पहले का नहीं है; क्योंकि गृह्यसूत्रों के समय तक चार विनायक माने जाते थे, जब कि याज्ञवल्क्य-स्मृति में एक ही विनायक के कई रूप कहे गये हैं; और दूसरे, विनायक की सब से प्राचीन मूर्त्तियाँ वेरुळ[2] की दो गुहाओं में हैं, जो ८ वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध की हैं, उस से बहुत पहले विनायक की पूजा न चली होगी। यह युक्ति-परम्परा बहुत कच्ची है; जायसवाल का कहना है कि गुप्त काल में गणपति एक मंगलकारी देवता बन चुका था, किन्तु याज्ञवल्क्य में वह गृह्यसूत्रों की तरह एक दुष्ट आत्मा है जो लोगों पर चढ़ कर उन के काम बिगाड़ देता था। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य में ग्रहों की पूजा विधान है (१.२९५ प्र); पहले यह मान लिया गया था कि ग्रहों का ज्ञान भारतवासियों ने यूनानियों से ४०० ई० के बाद लिया; यूनानियों में ग्रहगणित पहले पहल दूसरी शताब्दी के ज्योतिषी और भूवर्णनकार तोलमाय ने चलाया था। इस स्थापना की विवेचना आगे की जायगी; इस का अब पूरी तरह प्रत्याख्यान हो चुका है।

स्मृति-ग्रन्थों के विषय में एक आवश्यक प्रश्न यह है कि वे कहाँ तक समकालीन समाज के वास्तविक कानून को सूचित करते हैं। उन

---

[1] वै० शै०, पृ० १४८।

[2] बिगाड़ा हुआ अंग्रेज़ी रूप—एलोरा!

के विधान क्या अपने समय के वास्तविक कानून हैं, या उन के लेखकों की समकालीन कानून के विषय में सम्मतियाँ ? अर्थात् वे कानून बनाने वाली शक्ति की आज्ञाओं का समुच्चय हैं, या स्वतन्त्र लेखकों की कानून-विषयक मीमांसा-आलोचना के ग्रन्थ ? पहली बात के लिए कोई प्रमाण नहीं है, इस लिए हमें दूसरी ही माननी चाहिए। इस सम्बन्ध में जायसवाल का निम्नलिखित कथन विचारणीय है—"पहली शताब्दी (ई०) के अन्त में धर्मशास्त्र कहने से मनुस्मृति ही समझी जाती है। महाभाष्य के समय में किसी पुस्तक की ऐसी हैसियत होने का कोई इशारा नहीं मिलता। उस का इतनी जल्दी प्रामाणिक बन जाना सम्भवतः राजकीय स्वीकृति के कारण था। प्रो० जौली ने इस बात के दृष्टान्त दिये हैं (जौली—टागोर-व्याख्यान, पृ० २७-२८) कि पिछले हिन्दू काल में स्मृतियाँ किस प्रकार चालू की जाती थीं। राजाओं अमात्यों या धर्मामात्यों के लिखे कानून-ग्रन्थ राज्य में प्रमाण मान लिए जाते थे। कभी कभी वे ग्रन्थ पड़ोसी मित्र-राज्यों में भी भेज दिये जाते और वहाँ भी स्वीकार कर लिए जाते थे। बहुत सम्भवतः मानव धर्मशास्त्र शुंग राज्य की स्वीकृत स्मृति बन गया था।"[1] किन्तु प्रो० जौली ने जो दृष्टान्त दिये हैं वे सब मध्य काल के हैं, जब भारतीय समाज में प्रवाह और प्रगति क्षीण हो कर सड़ाँद शुरू हो चुकी, जीवित संस्थाओं के करने का काम पूर्वजों के निर्जीव ग्रन्थों को सौंप दिया जाता, और प्रत्येक विधि की अन्तिम प्रामाणिकता उन्हीं ग्रन्थों पर निर्भर होती थी। प्राचीन काल के जीवित भारतीय समाज के विषय में जब तक हमें स्पष्ट प्रमाण न मिले कि अमुक कानून बनाने वाली शक्ति ने अमुक समय अमुक ग्रन्थ को समूचा अपना लिया, तब तक हम उन ग्रन्थों की वैसी प्रामाणिकता स्वीकार नहीं कर सकते। किन्तु यदि उन ग्रन्थों में स्वतन्त्र

---

[1] मनु और याज्ञ०, पृ० ४३-४४।

लेखकों को अपने समय के कानून की आलोचना और मीमांसा है तो वे अपने समय की वस्तु-स्थिति पर बहुत प्रकाश डाल सकते हैं।

इ. महाभारत-रामायण

स्मृति-ग्रन्थ बड़े महत्त्व के हैं, तो भी सातवाहन-युग की शायद सब से अधिक महत्त्व की रचनायें महाभारत के अनेक अंशों में सुरक्षित हैं। भारत किसी रूप में तो पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में भी उपस्थित था[1]। किन्तु वह जो भारतीय संस्कृति का एक पूरा विश्वकोष सा बन गया सो इसी युग में। यद्यपि उस के कोई कोई अंश गुप्त-काल तक के हैं, तो भी उस का विद्यमान रूप मुख्यतः सातवाहन-युग में ही तैयार हुआ। उस के कुछ अंशों का समय हम स्पष्टता से निश्चित कर सकते हैं। सभापर्व के अन्तर्गत दिग्विजय-पर्व, जिस में कि पाण्डवों के चारों दिशाओं के सब देशों और जातियों को जीतने का वर्णन है, प्राचीन भूविभाग की दृष्टि से महाभारत का शायद सब से महत्त्वपूर्ण अंश है। उस में अर्जुन के उत्तर-दिग्विजय में काम्भोजों अर्थात् पामीर के पूरब तरफ़ ऋषिकों के देश का उल्लेख है[2]। वह ऋषिकों का मूल देश था जहाँ से कि वे १७६ ई० पू० में भगा दिये गये थे। यद्यपि उस के बाद भी छोटे ऋषिक उपरले हिन्द में बने रहे, तो भी जब बड़े ऋषिक बलख या गान्धार में चले आये तब उन्हीं देशों को ऋषिक कहा जाता न कि मूल ऋषिक देश को। इस कारण महाभारत का उक्त सन्दर्भ, और शायद समूचा दिग्विजय-पर्व सम्भवतः १७६ ई० पू० से पहले का है। साथ ही वह मौर्य-साम्राज्य-युग के बाद का प्रतीत होता है; इस लिए वह पिछले मौर्यों या आरम्भिक शुंगों के युग का है।

---

[1] ऊपर § ११२ लृ—पृ० ४२३।

[2] दे० नीचे ‡ २८ ए।

हमारी दृष्टि से महाभारत का शायद सब से अधिक महत्वपूर्ण अंश शान्तिपर्व का राजधर्म-पर्व है। अर्थशास्त्र और मनु के बाद प्राचीन राज्य-संस्था पर प्रकाश डालने वाली स्मृति वही है। जायसवाल ने मनु और याज्ञवल्क्य के तुलनात्मक अध्ययन में उस के जिन सन्दर्भों पर विचार किया है, उन में पिछले सातवाहन-युग के जीवन के विभिन्न पहलुओं की स्पष्ट झलक मिलती है, और इसी से उस का काल निश्चित होता है। युद्ध में योद्धाओं के सत्रास्त्र और सन्नाह कैसे हों, युधिष्ठिर के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भीष्म विभिन्न जनपदों की चाल-ढाल बतलाते हैं। उसी प्रसंग में कहा है—

तथा यवनकाम्भोजा मधुराममितश्च ये।
एतेऽश्वयुद्धकुशलाः

(शान्तिपर्व १०१.५)

—मधुरा के चारों तरफ़ जो यवन-काम्भोज रहते हैं, वे अश्वयुद्ध में कुशल होते हैं। इस प्रकार यह सन्दर्भ तब का है जब काम्भोज[1] अर्थात् शक या तुखार लोग मथुरा-प्रदेश को ले कर उस में बस चुके थे— अर्थात् लग० ९८ ई० पू० से १८० ई० के बीच कभी का। यह श्लोक एक और दृष्टि से भी मनोरञ्जक है। शकों और उन के भाईबन्दों को प्राचीन काल की सभी सभ्य जातियाँ अश्व-युद्ध में विशेष चतुर मानती थीं[2]। पार्थव शकों में ही गिने जाते थे, और चीन वालों ने पार्थव सवारों के सन्नाह की अपने यहाँ पूरी नकल की थी। उसी प्रकार शकों के भाई-बन्द सर्माती लोग रोम-साम्राज्य के उत्तर आधुनिक रूस में रहते थे; रोमनों ने अश्वयुद्ध-कला में उन से बहुत कुछ सीखा था। प्राचीन भारतवासियों ने भी मध्य एशिया की अर्धसभ्य जातियों से इस अंश में

---

[1] दे० ऊपर § १६७—पृ० ७६५ टि० २।

[2] दे० ऊपर § ११६—पृ० ५३१।

कुछ सीखा, और उन के सलाह पर विशेष ध्यान दिया, सो इस श्लोक से प्रतीत होता है। इसी प्रकार निम्नलिखित श्लोकों में यवन-शक-और ऋषिक-युगों की उथलपुथल का स्पष्ट प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है—

अथ तात यदा सर्वाः शस्त्रमाददते प्रजाः।

(७८.१२)

—"हे तात, जब सब प्रजायें शस्त्र धारण कर उठ खड़ी होती हैं", तथा

उन्मर्यादे प्रवृत्ते तु दस्युभिः संकरे कृते।
सर्वे वर्णा न दुष्येयुः शस्त्रवन्तो युधिष्ठिर॥

(७८.१८)

—"मर्यादा टूट जाने पर दस्युओं से संकर कर दिये जाने पर सभी वर्ण शस्त्र उठाने से दूषित नहीं होते।" उसी प्रकार

ब्राह्मणो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम।
दस्युभ्यो यः प्रजा रक्षेद्दण्डं धर्मेण धारयेत्॥
अपारे यो भवेत्पारमप्लवे यः प्लवो भवेत्।
शूद्रो व यदि वा ऽप्यन्यः सर्वथा मानमर्हति॥
यमाश्रित्य नरा राजन् वर्त्तयेयुर्यथासुखम्।
अनाथास्तप्यमानाश्च दस्युभिः परिपीडिताः॥

(७८, ३६, ३८-३९)

—"हे राजश्रेष्ठ, ब्राह्मण वैश्य या शूद्र जो कोई भी दस्युओं से प्रजा की रक्षा करे, वही धर्म से दण्ड का धारण (देश का अनुशासन) कर सकता है। आरपार-हीन अथाह में जो पार लगा दे, जहाँ से तर जाने का कोई ढंग नहीं दीखता वहाँ तरा दे,—हे राजन्, जिस का आश्रय ले कर दस्युओं से परिपीडित अनाथ सताये गये लोग सुख से रह पांय—वह शूद्र हो या कोई और, सर्वथा मान पाने योग्य है।"

राजधर्मपर्व को मोटे तौर पर पहली दूसरी शताब्दी ई० का कहा जा सकता है। रामायण का भी शुंग-युग में पुनः-संस्करण हुआ, और वही उस का अन्तिम संस्करण था।

उ: संस्कृत-प्राकृत काव्य-साहित्य

रामायण महाभारत के अतिरिक्त स्वतन्त्र काव्य-साहित्य का भी इस युग में पहले पहल स्पष्ट उदय हुआ। सुप्रसिद्ध भास कवि, जो नाटककार-रूप में कालिदास और भवभूति को मात नहीं करता तो उन से किसी तरह पीछे भी नहीं रहता, और जिस के छोटे छोटे बिना नान्दी के सुन्दर और ललित नाटक पहले पहल सन् १९१२ में त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित हुए थे, जायसवाल के मत में नारायण कण्व के राज्यकाल में मगध में हुआ था[1]। दूसरे विद्वान् उस का समय कुछ पीछे, तीसरी शताब्दी ई० तक रखते हैं। जो भी हो वह मनु से ज़रूर पीछे हुआ, क्योंकि मानवीय धर्मशास्त्र का उल्लेख करता है, पर कामसूत्रकार वात्स्ययान और भरत के नाट्य-शास्त्र से अवश्य पहले था[2]। कामसूत्र से पहले होने का अर्थ है कि तीसरी शताब्दी के पूर्वार्ध से पहले। जो भी हो भास का सातवाहन-युग में होना सर्व-स्वीकृत है। किन्तु उस का ठीक समय इस प्रकार निश्चित न होने के कारण यह कहा नहीं जा सकता कि रामायण-महाभारत के बाद लौकिक काव्यों के कर्त्ताओं में पहला स्थान उसे दिया जाय या अश्वघोष को। अश्वघोष कनिष्क का समकालीन था; उस का बुद्धचरित काव्य प्रसिद्ध है; उस के शारिपुत्र-प्रकरण नामक नाटक की दूसरी शताब्दी ई० की एक हस्तलिखित प्रति तुर्फ़ान से मिली है, सो

---

[1] ज० ए० सो० बं० १९१२ पृ० २९६ प्र।

[2] दे० अनन्तप्रसाद बैनर्जी शास्त्री का लेख, ज० बि० ओ० रि० सो० ९, पृ० ७७।

भी कह चुके हैं। शूद्रक कवि का मृच्छकटिक नाटक भी नाणक सिक्के के युग का, और इस लिए याज्ञवल्क्य-स्मृति के युग का, है। भरत मुनि के सुप्रसिद्ध नाट्यशास्त्र में शकों और यवनों के साथ पह्लवों का भी उल्लेख है, इस लिए उस का समय भी १५० ई० पू० से २०० ई० तक कभी—बहुत सम्भवतः गान्धार से पह्लवों का राज्य उठने से पहले —होना चाहिये। वात्स्यायन के कामसूत्र का समय, प्रो० हाराण चन्द्र चकलादार ने उस के भूविभाग की बड़ी बारीकी से छानबीन कर के तीसरी शताब्दी ई० निश्चित किया है। उस में आभीर और आन्ध्र राज्यों का साथ साथ उल्लेख है; और वैसी स्थिति भारतवर्ष के इतिहास में केवल एक ही युग में थी जिसे हम ने सातवाहन-युग का अन्तिम अंश या आभीर-सातवाहन-युग कहा है।

शास्त्रीय या लौकिक संस्कृत के साथ साथ कई प्राकृतें भी इस युग में साहित्यिक भाषायें बन चुकी थीं, और उन में भी अच्छे साहित्य का विकास हुआ। हम देख चुके हैं कि अश्वमेध-पुनरुद्धार-युग के आरम्भ से ले कर प्रायः १५० ई० तक, अर्थात् करीब चार शताब्दियों तक एक ही प्राकृत समूचे भारत की राष्ट्रभाषा थी[1]। सातवाहनों के दरबार में प्राकृत साहित्य को विशेष आश्रय मिला। गाथासप्तशती का रचयिता स्वयं सातवाहन राजा हाल था सो प्रसिद्ध है। गुणाढ्य की सुप्रसिद्ध बृहत्कथा का भी, जो मूल रूप में दुर्भाग्य से अभी तक नहीं पाई गई, उल्लेख हो चुका है। उपरले हिन्द से पाये गये गान्धारी प्राकृत के धम्मपद का भी। उसी प्राकृत के किसी बौद्ध ग्रन्थ का एक उद्धरण कुर्रम दून से पाये गये ताँबे के एक स्तूप पर के कनिष्क-सं० २० के अभिलेख में भी है[2]।

---

[1]ऊपर § १५४—पृ० ७२८-२९।

[2]भा० अं० स० २, १ का सं० ८०।

ऋ. तामिल वाङ्मय

तामिल-संगमों का उल्लेख भी पीछे हो चुका है। संगम्-युग तामिल साहित्य का स्वर्ण-युग था। तिरुवल्लुवर का सुप्रसिद्ध सूक्ति-संग्रह कुरल जो विश्व-साहित्य में एक अनुपम रत्न गिना गया है, उसी युग की उपज है। संगम्-साहित्य का प्रमुख अंश ऐतिहासिक काव्य हैं। मणि-मेखला और शीलप्पतिकारम् नामक प्रसिद्ध महाकाव्य प्रो० कृष्णस्वामी ऐयंगर के मतानुसार तीसरे संगम् अन्तिम समय के हैं। यह बात उल्लेखयोग्य है कि पहले तामिल वाङ्मय के विकास में जैनों का विशेष भाग था। तिरुवल्लुवर को सब पन्थों वाले अपना अपना बतलाते हैं, पर काल्ड्वेल का कहना है कि उस की कृति में जैनपन अधिक झलकता है। तिरुवल्लुवर की बहन कहलाने वाली प्रसिद्ध तामिल लेखिका अव्वैयार, जिस की कृति तामिल कव्यों में बहुत प्रशस्त है, जैन बतलाई जाती है। तामिल भाषा पहले-पहल ईसवी सन् के आरम्भ के करीब जैनों के किये वाङ्मय-पुष्पित हुई, यह बात अत्यन्त संगत है; कारण कि जैन साधुओं के मौर्य-काल में सुदूर दक्खिन प्रवास करने की अनुश्रुति है ही,[1] और संस्कृत के बजाय स्थानीय भाषाओं को प्रोत्साहित करना तो जैनों के मानों धर्म का ही अंग था; इस लिए तामिल देश में जैन धर्म पहुँचने के दो अढ़ाई शताब्दी बाद ही तामिल भाषा में वाङ्मय का विकास होना सर्वथा संगत था। इस से प्रो० कृष्णस्वामी ऐयंगर ने संगम्-साहित्य का जो काल निश्चित किया है उस की भी पुष्टि होती है।

लृ. व्याकरण और कोश

काव्य-साहित्य के साथ साथ व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन भी जारी रहा। पतंजलि के महाभाष्य का उल्लेख किया जा चुका है। वह भाष्य

---

[1] ऊपर § १२१—पृ० ५६०।

पाणिनि की अष्टाध्यायी पर है, और पाणिनि की पद्धति अत्यन्त पूर्ण और शास्त्रीय है। पूर्ण और शास्त्रीय होने के साथ साथ वह कठिन और दुरूह भी है। ज्यों ज्यों बोलचाल की प्रकृत शास्त्रीय संस्कृत से दूर होती गई, वह सर्वसाधारण के लिए अधिक कठिन होती गई। पाणिनि से पहले जो प्रातिशाख्य नामक वैदिक व्याकरण थे, या ऐन्द्र व्याकरण था, अपूर्ण रहते हुए भी उन की परिभाषायें अधिक सरल थीं। अब "स्वल्पमति और दूसरे शास्त्रों (के अध्ययन) में लगे हुओं के क्षिप्र-प्रबोध के लिए" उसी सरल ऐन्द्र पद्धति पर कातन्त्र-व्याकरण की रचना हुई जिस का पीछे उल्लेख कर चुके हैं। बृहत्तर भारत में कातन्त्र विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ; उपरले हिन्द के तुखार लोग मध्य युग में उसी की सहायता से संस्कृत पढ़ते थे। वास्तव में कातन्त्र इस युग में बढ़ते हुए भारत की माँग की ही उपज था। कच्चायन का पालि व्याकरण कातन्त्र पर निर्भर है। संगम्-युग में तामिल का प्रसिद्ध व्याकरण तोल्कप्पियम् बना, सो भी उसी पद्धति पर।

सुप्रसिद्ध अमरकोश के देव-प्रकरण में सब से पहले बुद्ध के नाम हैं, फिर ब्रह्मा और विष्णु के। विष्णु के जो ३९ नाम हैं, उन में राम का नाम नहीं है, कृष्ण के बहुत से हैं। इस लिए उस के समय तक रामावतार की कल्पना न हुई थी। इसी लिए अमरकोश के कर्त्ता अमरसिंह का समय सम्भवतः पहली शताब्दी ई० पू० है। प्रायः उसी समय बौद्धों ने संस्कृत में लिखना शुरू किया था, और अमरसिंह भी बौद्ध था।

ए. जैन-बौद्ध वाङ्मय

साम्प्रदायिक वाङ्मयों का उल्लेख अभी बाकी है। मौर्य-काल में जब जैन वाङ्मय का पहला संकलन हुआ, तब कुछ अंग उस में आने से रह गये थे; खारवेल के समय उन का भी पुनरुद्धार किये जाने की

बात खारवेल के अभिलेख में लिखी है। किन्तु आश्चर्य है कि जैन वाङ्मय में कहीं खारवेल का नाम नहीं है! जैन अनुश्रुति के अनुसार स्थूलभद्र तक जैनों की आचार्य-परम्परा का उल्लेख पीछे[1] किया जा चुका है। जम्बुस्वामी के बाद स्थूलभद्र तक जो छः आचार्य हुए, वे श्रुतकेवली थे, क्योंकि उन्हें पूर्ण ज्ञान—श्रुत—था, और वही उन का कैवल्य था। उस के बाद के सात आचार्य दशपूर्वी कहलाते हैं, क्योंकि उन्हें १२ वें अंग के दस पूर्वों का ज्ञान था। सम्प्रति मौर्य को जैन बनाने वाला सुहस्ती[2] उन्ही में दूसरा था। अन्तिम दशपर्वी आचार्य वज्रस्वामी का समय जैन अनुश्रुति के अनुसार ७० ई० के करीब आता है। कहते हैं कि उसी के शिष्य आर्यरक्षित ने सूत्रों को अंग उपांग आदि चार भेदों में विभक्त किया। यदि यह बात ठीक हो तो इस का यह अर्थ है कि मौर्य युग में जैन सूत्र तो थे, पर वे इस रूप में विभक्त न थे। और सच बात यह है कि मौर्य युग में थोड़े ही सूत्र होंगे; अधिक होने पर ही उन के विभाग की ज़रूरत हुई। सातवाहन-युग में जैन वाङ्मय के विभिन्न अंशों का लगातार विकास हो रहा था।

बौद्ध-वाङ्मय-विषयक परिशिष्ट में कहा जा चुका है कि पिछले मौर्यों और शुंगों के समय मे सर्वास्तिवादी महासांघिक आदि सम्प्रदाय बहुत उन्नति पर थे। पहले शकों के समय (९८ ई० पू०) से वासुदेव के समय तक भी उन का लगातार उन्नत दशा में रहना ऊपर के परिच्छेदों में उद्धृत अभिलेखों[3] से प्रकट है। इन सम्प्रदायों के ग्रन्थ या तो संस्कृत में और या प्राकृत और संस्कृत की एक विचित्र मिश्रित भाषा में थे।

---

[1] § १४६ इ—पृ० ६६२-६३।

[2] ऊपर § १३६—पृ० ६१६

[3] §§ १६७, १७४, १८० इ, १८१, १८६;—पृ० ७६६, ८००, ८३९, ८४०, ८५१।

महावस्तु उसी मिश्रित संस्कृत में है। सर्वास्तिवाद के ग्रन्थों में से अवदानशतक विशेष उल्लेखयोग्य है। अवदान का मूल अर्थ है कोई महान् उदार त्याग का कार्य; वैसे कार्यों का वृत्तान्त देने वाले वे ऐतिहासिक प्रबन्ध या उपाख्यान बड़ी सरल भाषा में लिखे गये हैं। फिर कनिष्क के समय से महायान-वाङ्मय का आरम्भ होता है। सुप्रसिद्ध अश्वघोष केवल कवि ही न था, वह दार्शनिक भी था, और बौद्ध दर्शन का आचार्य भी।

ऐ. वैद्यक और रसायन

अश्वघोष की तरह सुप्रसिद्ध वैद्य चरक भी कनिष्क का समकालीन था। चरक एक वैदिक चरण या सम्प्रदाय का नाम था जिस का घर काठकों की तरह पञ्जाब में ही था; वैद्य चरक उसी सम्प्रदाय का रहा होगा। चरक का जो ग्रन्थ अब हमें मिलता है वह दृढबल पाञ्चनद[1]-कृत उस का पुनः-संस्करण है; दृढबल वाग्भट (छठी शताब्दी ई०) से पहले हुआ; पर चरक संहिता में वाग्भट के बाद तक भी कुछ परिवर्त्तन होते आये हैं। दृढबल ने चरक में सुश्रुत का शल्य-क्रिया-सम्बन्धी ज्ञान सम्मिलित कर दिया; मूल चरक-संहिता सुश्रुत से पहले थी। चरक-संहिता भी अग्निवेश के ग्रन्थ का प्रति-संस्करण थी; अग्निवेश का गुरु आत्रेय पुनर्वसु और उस की तरह कृष्णात्रेय और भिक्षु आत्रेय नामक वैद्यक के प्रचीन प्रसिद्ध आचार्य शायद तक्षशिला विद्यापीठ के गौरव-युग में हो चुके थे[2]। सुश्रुत धन्वन्तरि का शिष्य था, वह चरक से कुछ पीछे हुआ।

---

[1]चरकसंहिता, ३०. २७५। पाञ्चनद का अर्थ 'पञ्जाबी' किया जाता है, पर 'पंजनद (पञ्जाब की नदियों के अन्तिम संगम पर की एक बस्ती) का रहने वाला' भी हो सकता है।

[2]दे० ऊपर §§ ८६ उ, ६४।

किन्तु सुश्रुत आचार्य का जो ग्रन्थ अब हमें मिलता है, वह मूल ग्रन्थ का नागार्जुन-कृत पुनः-संस्करण है; यों तो उस में भी वाग्भट के बाद तक क्षेपक मिलाये जाते रहे हैं।

नागार्जुन का नाम भारतीय दर्शन और विज्ञान के इतिहास में बड़े महत्त्व का है। डा० ब्रजेन्द्रनाथ शील का कहना है[1] कि सुश्रुत का सम्पादक नागार्जुन, सिद्ध (कीमिया-विज्ञ) नागार्जुन, लोहशास्त्रकार नागार्जुन और माध्यमिकसूत्र-वृत्तिकार महायान का आचार्य नागार्जुन एक ही व्यक्ति हो सकता है। महायान का आचार्य नागार्जुन दक्षिण कोशल अर्थात् छत्तीसगढ़ का रहने वाला[2] और एक त्रिसमुद्राधिपति सातवाहन का राजा मित्र था[3]। वह बौद्ध संघ की प्रमुखता में अश्वघोष का दूसरा उत्तराधिकारी था, इस लिए उस का समय लग० १५० ई० है। यदि वही सिद्ध नागार्जुन और लोहशास्त्रकार नागार्जुन हो तो दूसरी शताब्दी ई० तक भारतवासियों का धातुओं विषयक और रासायनिक ज्ञान काफ़ी हो चुका था। रसायन-शास्त्र एक शास्त्र या शृङ्खलाबद्ध विज्ञान भले ही न बना हो; पर शिल्पोपयोगी रासायनिक तजरबा बहुत काफ़ी था। नागार्जुन ने पारे के योग बना कर रासायनिक समासों के ज्ञान को और आगे बढ़ाया। नागार्जुन का एक ग्रन्थ आदिशास्त्र जननविज्ञान के विषय में भी है; उस विषय की विवेचना भारतवर्ष में उत्तर वैदिक काल से थी[4]; और उसकी उन्नत

---

[1]पौज़िटिव साइन्सेज़ ऑव दि एन्श्यंट हिन्दूज़ (प्राचीन हिन्दुओं के शुद्ध विज्ञान, लंडन, १६१५), पृ० ६२।

[2]य्वान च्वाङ २, पृ० २००—२०६।

[3]ह० च० पृ० २५०-५१। सातवाहन राजा का ह० च० में यह विशेषण ठीक वैसा ही है जैसा बालश्री के अभिलेख में। दे० ऊपर § १७०—पृ० ७७४, ७७८।

[4]ऊपर § ७८—पृ० २६८।

अवस्था मनु-और याज्ञवल्क्य-स्मृतियों के विवाह-विषयक विधानों से भी सूचित होती है।

पतञ्जलि का मूल लोहशास्त्र अब नहीं पाया जाता, पर उस के जो उद्धरण पाये गये हैं, उन से, डा० शील के मत में, उस का एक भारी धातुवेत्ता होना सूचित होता है। उन्हीं के अनुसार पतञ्जलि के ग्रन्थ का अन्तिम संस्करण नागार्जुन के ग्रन्थ से पीछे का प्रतीत होता है;[1] किन्तु वह पतञ्जलि कौन था और कब हुआ सो कुछ मालूम नहीं है। संस्कृत के पुराने पण्डित महाभाष्यकार पतञ्जलि और योगसूत्रकार पतञ्जलि को एक ही व्यक्ति मानते हैं, और उसे एक वैद्यक ग्रन्थ बनाने का श्रेय भी देते है, यहाँ तक कि मध्यकालीन लेखकों ने उसे चरक से अभिन्न मान लिया है[2]। महाभाष्यकार पतञ्जलि और योगसूत्रकार का एक होना तो बहुत कठिन है, पर पतञ्जलि का जो वैद्यक ग्रन्थ प्रसिद्ध था वह शायद उक्त लोहशास्त्र ही हो। फ़िलहाल केवल इतना निश्चय कहा जा सकता है कि लोहशास्त्रकार पतञ्जलि भी सातवाहन-युग में ही था।

ओ. दर्शन

चरक-संहिता की मूल विचारधारा सांख्य के विचारों पर निर्भर है, उस की तर्क-पद्धति न्याय-वैशेषिक की है, इस लिए इन दार्शनिक पद्धतियों की स्थापना पहली शताब्दी ई० से पहले हो चुकी थी। न्यायसूत्रकार अक्षपाद गौतम और वैशेषिकसूत्रकार कणाद काश्यप शायद पिछले मौर्य युग में हुए हों। किन्तु याकोबी उन दोनो को नागार्जुन के शून्यवाद के बाद का मानते हैं। जैन अनुश्रुति के अनुसार अन्तिम दशपूर्वी

---

[1] पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० ६३।

[2] चरक और पतञ्जलि की अभिन्नता के विषय में दे० चरक-संहिता पर चक्रपाणि की टीका का मङ्गलाचरण।

आचार्य वज्रस्वामी के समय, ७१ ई० में, जिस रोहगुप्त ने जैन सम्प्रदाय में भेद डाल कर नोजीव पन्थ चलाया, वैशेषिक-कार कणाद उसी का शिष्य था। इस दशा में भी उस का समय १०० ई० के करीब—नागार्जुन से पहले—आता है। जैन अनुश्रुति की, और विशेष कर उस की कालगणना की, सचाई पर सन्देह किया जा सकता है। किन्तु चरक से पहले न्याय-वैशेषिक-पद्धति का रहना ज़रूरी है, इसी से यह सन्देह होता है कि शून्यवाद शायद किसी रूप में नागार्जुन से पहले रहा हो[1]।

कणाद के परमाणु-वाद ने, जान पड़ता है, अपने समकालिकों का ध्यान विशेष रूप से खींचा था, और इसी लिए उस का मज़ाकिया नाम कणाद अर्थात् परमाणु खाने वाला पड़ गया। सांख्य का परिणाम-वाद तमाम भौतिक सृष्टि को तीन मूल तत्त्वों—सत्त्व रजस् तमस्—की परिणति अर्थात् विकास से पैदा हुआ देखता है; समूचे भारतीय चिन्तन की जड़ में उस विचार का बड़े महत्त्व का स्थान है। किन्तु सांख्य स्पष्ट अनीश्वरवादी है; वह आत्मा को स्वीकार करता है, परमात्मा को नहीं। उस का आत्मा भी निश्चेष्ट कूटस्थ साक्षि-स्वरूप चिन्मात्र अर्थात् चेतन शक्ति मात्र है। यह बात ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका के आधार पर कही जा रही है, जिस का समय हम देखेंगे[2] कि पाँचवीं शताब्दी ई० के

---

[1]दे० ऊपर § १४६ इ—पृ० ६६५।

[2]यह बात पच्चीसवें प्रकरण में गुप्त युग में आती, जो अब प्रकाशित नहीं किया जा रहा है। ईश्वरकृष्ण गुप्त सम्राटों के समय के पेशावरी बौद्ध आचार्य वसुबन्धु से कुछ ही पहले था, इसी से उस का समय निश्चित है। वसुबन्धु का समय सुप्रसिद्ध जापानी संस्कृतज्ञ ताकाकुसु ने चीनी अनुवादों के आधार पर ४२०-५०० ई० निश्चित किया है; दे० लैनमन-अभिनन्दन-ग्रन्थ में उन का लेख।

आरम्भ में है। तो भी सातवाहन युग के सांख्य के, जो कि चरक से पहले उपस्थित था, बुनियादी विचार इस से विशेष भिन्न न होंगे। योग-दर्शन की समूची पद्धति सांख्य की है, उस में विशेषता केवल इतनी है कि वह परिणामवाद को आस्तिक रूप दे देता[1] और ध्यान आदि मनः-संयम की विधियों पर विशेष बल देता है। किन्तु योग का परमात्मा भी सांख्य के आत्मा की तरह कूटस्थ चेतन मात्र है, क्योंकि सत्व रजस् और तमस् से सृष्टि की परिणति तो स्वयं प्राकृतिक नियम से होती है। परमात्मा की सत्ता सिद्ध करने की योग की केवल एक युक्ति है कि ज्ञानं निरतिशयं सातिशयवृत्तिजातित्वात् परिमाणवत्—ज्ञान कहीं न कहीं निरतिशय रूप में है क्योंकि साधारण रूप से उस का सातिशय होने का स्वभाव है, जैसे परिणाम का। निरतिशय माने ऐसा जिस से अधिक कहीं न हो; सातिशय अर्थात् ऐसा जिस से दूसरा अधिक हो, जो न्यून-अधिक मात्राओं में पाया जाय। जो गुण अनेक सत्ताओं में सातिशय रूप से—आपेक्षिक तारतम्य से—पाया जाय, वह कहीं न कहीं निरतिशय भी होता है; जैसे परिमाण अनेक वस्तुओं का छोटा-बड़ा है, पर एक सत्ता—आकाश—ऐसी है जिस का परिमाण निरतिशय है; उसी प्रकार ज्ञान भिन्न भिन्न पुरुषों में कम-ज़्यादा है, तो किसी एक पुरुष-विशेष में वह निरतिशय—सर्वाधिक—भी होगा। इस दार्शनिक युक्ति को यहाँ इस लिए उद्धृत किया जा रहा है कि प्राचीन भारतीय धार्मिक जीवन पर और प्राचीन भारतवासियों की समूची दृष्टि पर इस का स्पष्ट प्रभाव था—उन का ईश्वरवाद प्रायः इसी रूप का था। वह पुरुष-विशेष जो निरतिशय ज्ञान का भण्डार या ज्ञान-स्वरूप है, कपिल बुद्ध महावीर या वासुदेव हो सकता है! इस प्रकार इस ईश्वरवाद की दार्शनिक कल्पना

---

[1] मिलाइए ऊपर § ११२—पृ० ४२८।

भले ही जो हो, व्यावहारिक जीवन में इस का रूप केवल महापुरुष-पूजा ही रह जाता है।

पतञ्जलि के योग-दर्शन पर व्यास का भाष्य है। उस के काल का निर्णय करने का जतन डा० ब्रजेन्द्र शील ने निम्नलिखित ढंग से किया है[1]। व्यास-भाष्य में दशमलव गणना का ज्ञान सूचित होता है, और उस गणना-शैली का आविष्कार पहले पहल भारतवर्ष में ही ४०० ई० के करीब हुआ;—पुराने अभिलेखों में नौ इकाइयों की तरह नौ दहाइयों और सैकड़ों आदि के भी अलग अलग चिन्ह होते थे[2]; इकाई के साथ शून्य लगा कर दहाई सैकड़ा आदि बनाने की शैली का तब आविष्कार न हुआ था। इस लिए व्यास-भाष्य ४०० ई० से पहले का नहीं है। फिर, व्यास-भाष्य में पञ्चशिख और वर्षगण्य नामक सांख्यमार्गी आचार्यों के ग्रन्थों तथा षष्ठितन्त्र शास्त्र नामक सांख्य-ग्रन्थ के उद्धरण हैं—जिन का समय अन्दाज़न दूसरी से चौथी शताब्दी ई० है—, किन्तु ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका का एक भी उद्धरण नहीं है। फलतः व्यास-भाष्य का समय ईश्वर-कृष्ण से पहले, अर्थात् ठीक ४०० ई० के करीब है। तब पातञ्जल योग-दर्शन का समय अन्दाज़न सातवाहन युग में पड़ना ही चाहिए। किन्तु याकोबी का कहना है कि पातञ्जल योग-दर्शन बौद्ध योगाचार दर्शन के, और इस लिए ४५० ई० के, बाद का है[3]। याकोबी की इस बात पर फ़िलहाल मैं कुछ सम्मति नहीं दे सकता हूँ; यदि यह

---

[1] पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० ४१।

[2] नमूने के लिए दे० ऊपर §§ १६७, १६९, १७०, १७४, १७७, १८१, १८३—पृ० ७६६, ७७०, ७७४, ८१८, ८४०, ८४३, ८४४ में उद्धृत अभिलेख। जहाँ अनुवाद में आधुनिक शैली से संख्या लिखी गई है, वहाँ भी मूल में पुरानी शैली ही है।

[3] ज० अ० ओ० सो० ३१, पृ० २९।

बात ठीक हो तो उन के और डा० शील के परिणामों में सामञ्जस्य करने का उपाय एकमात्र यह मानना है कि योगाचार के विचारों का कोई रूप ४५० ई० से पहले भी उपस्थित था।

छः दर्शनों में से बाकी दो—मीमांसा और वेदान्त—अथवा पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा—जो जैमिनि और व्यास बादरायण की कृति कहे जाते हैं, वास्तव में धर्मसूत्रों और उत्तर वैदिक वाङ्मय की तरह सम्प्रदायों की उपज हैं। जैमिनि और बादरायण दोनों एक दूसरे को उद्धृत करते हैं। स्पष्ट है कि उन की या उन के नाम की रचनाओं का सम्पादन-संशोधन उन की शिष्यसन्तान द्वारा होता रहा है। सन् १८८२ में लिखते हुए स्व० तैलंग ने तो यह अन्दाज़ किया था कि अष्टाध्यायी में जिन पाराशर्य भिक्षुसूत्रों का उल्लेख है, वे व्यास बादरायण का ब्रह्मसूत्र या वेदान्त दर्शन ही हैं[1]। ब्रह्मसूत्रों का उल्लेख भगवद्गीता में भी है[2]; किन्तु वे भिक्षुसूत्र और गीता के ब्रह्मसूत्र बादरायण के ब्रह्मसूत्र नहीं हो सकते। कौटिल्य के समय तक आन्वीक्षकी में वेदान्त की गिनती भी न थी, यद्यपि मीमांसा तब थी[3]। विद्यमान रूप में ये दोनों दर्शन पिछले मौर्य युग से सातवाहन युग के अन्त तक कभी के हो सकते हैं। पूर्व मीमांसा उत्तर मीमांसा से पहले की है, इस में सन्देह नहीं। बादरायण और शङ्कर की स्थापनाओं में एक बड़ा भेद है। बादरायण परिणाम-वादी है—वह ब्रह्म को सृष्टि का उपादान कारण मानता है; शङ्कर के वेदान्त का सार है विवर्त्तवाद—अर्थात् सृष्टि को ब्रह्म की वास्तविक नहीं प्रत्युत काल्पनिक परिणति मानना।

---

[1] प्रा० ध० ग्र० ८, भूमिका, पृ० ३३।

[2] ऊपर § ११३—पृ० ४३८-३९।

[3] ऊपर §§ ११२ उ, १४६ ह—पृ० ४३०, ६६४।

औ. ज्योतिष

गर्गाचार्य का ज्योतिष का प्राचीन ग्रन्थ पिछले मौर्यों और यवन-शक आक्रमणों की घटनाओं का ताज़ा बातों के रूप में वर्णन करता है। इसी लिए उस का शक-युग में या सातवाहन-समृद्धि-युग में रचा जाना बहुत सम्भव है; उस में जो निराशता की सुर है उस से वह शक-युग का ही प्रतीत होता है। पर गर्ग का पूरा ग्रन्थ अब नहीं मिलता, और उस में क्या कुछ था हम नहीं जानते। गर्ग-रचित एक वास्तुशास्त्र और एक वास्तुशास्त्र की हस्तलिखित पोथियाँ भी नेपाल में पाये जाने की बात मैंने नेपाल के श्री ६ मान्यवर राजगुरु हेमराज पंडित ज्यू से सुनी है। ज्योतिष के प्रसिद्ध सिद्धान्त ग्रन्थ भी सातवाहन युग के अन्तिम अंश से लिखे जाने लगे। लल्ल नामक एक पिछले ज्योतिषी ने सिद्धान्त तन्त्र और करण ग्रन्थों का भेद यों स्पष्ट किया है कि जिन ज्योतिष-ग्रन्थों में कल्प (सृष्टि के आरम्भ) से ग्रहों आदि की गिनती की जाती वे सिद्धान्त कहलाते, जिन में युग (कलियुग-आरम्भ) से गिनती की जाती वे तन्त्र, और जिन में शक (राजकीय संवत्) से गिनती की जाती वे करण[1]। सिद्धान्त ग्रन्थों में से सब से प्रसिद्ध और पुराना सूर्य-सिद्धान्त है; किन्तु जिस रूप में अब वह मिलता है, वह बहुत नया है। वराहमिहिर (५५० ई०) ने अपनी पञ्चसिद्धान्तिका में सूर्यसिद्धान्त के नाम से जो बातें उद्धृत की हैं, वे विद्यमान सूर्यसिद्धान्त में नहीं हैं। नेपाल के पूर्वोक्त राजगुरु महोदय से इस सम्बन्ध में मुझे यह मालूम हुआ है कि सुमतितन्त्र नामक एक ग्रन्थ की कम से कम आठ सौ बरस

---

[1] कल्पाद्युगाच्छकाद्यत्र ग्रहाद्यानयनं स्मृतम्।
सिद्धान्ततन्त्रकरणग्रन्थास्ते परिकीर्त्तिताः॥

—शिष्यधीवृद्धितन्त्र, ४२१।

पुरानी हस्तलिखित पोथी नेपाल में पाई गई है; वह ग्रन्थ प्राचीन सूर्य-सिद्धान्त पर निर्भर है[1], तथा उस की गणनापद्धति पञ्चसिद्धान्तिका में उद्धृत सूर्यसिद्धान्त की गणनापद्धति से सर्वथा मिलती है। मूल सूर्य-सिद्धान्त निश्चय से सातवाहन युग का था।

इस प्रसंग में यहाँ प्राचीन ज्योतिष-विषयक एक बात की संक्षिप्त मीमाँसा करना आवश्यक है। आधुनिक पाश्चात्य पुरात्त्ववेत्ताओं में से कइयों का यह विचार रहा है कि वैज्ञानिक ज्योतिष के मूल विचारों का आरम्भ यूनान में ही हुआ। ग्रह-गणित की बुनियाद वहाँ दूसरी शताब्दी ई० के तोलमाय ने डाली। सात ग्रहों को उन की भूमि से आपेक्षिक दूरी के हिसाब के क्रम से गिनना और उन के नाम से सप्ताह के सात दिनों के नाम रखना यह पहले पहल यूनान में ही हुआ। ३५०—७८ ई० के बीच वहाँ पहले पहल सप्ताह-गणना की स्थापना हुई। एक एक वार का प्रभु एक एक ग्रह माना गया। डा० फ्लीट का कहना था कि पाँचवीं शताब्दी ई० में जब भारतवासियों ने यूनानी ज्योतिष अपनाया तभी यह ग्रहों का ज्ञान और वारों की गिनती भी भारतवर्ष में आई। पहले अभिलेखों में कहीं वारों का उल्लेख नहीं पाया जाता, भारतीय शैली में संवत्सर, ऋतु (ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त), उस ऋतु में पहला दूसरा तीसरा आदि पक्ष, और पक्ष के दिवस का उल्लेख रहता[2]; शकों आदि के लेखों में संवत्सर मास और दिन का—पक्ष का नहीं[2]।

---

[1] उस ग्रन्थ की पुष्पिका में यह श्लोक है—

सूर्यसिद्धान्तमध्येषु दध्नो घृतमिवोद्धृतम्।
नाम्ना तु सुमतिं तन्त्रं सिद्धान्तस्य समुद्धृतम्॥

[2] नमूने के लिए दे० ऊपर §§ १६७, १६९, १७०, १७४, १७७, १८२; १८३—पृ० ७६६, ७७०, ७७४, ८००, ८१८, ८४०, ८४५ पर उद्धृत अभिलेख।

जिन ग्रन्थों में वारों का या वारों की कल्पना के आधार-भूत ग्रहों का नाम हो उन्हें डा० फ़्लीट ४०० ई० के बाद का कहते। नमूने के लिए, याज्ञवल्क्य-स्मृति को एक इस कारण भी पाँचवीं शताब्दी ई० या बाद का कहा गया कि उस में ग्रहों की पूजा का विधान है। गाथासप्तशती यद्यपि राजा हाल की कृति प्रसिद्ध है, और बाणभट्ट के एक श्लोक[1] से उस अनुश्रुति की पुष्टि भी होती है, तो भी डा० दे० रा० भण्डारकर ने उसे छठी शताब्दी की रचना इस कारण कहा कि उस में मङ्गलवार का उल्लेख है[2]। डा० बुइलर ने फ़्लीट की स्थापना को मानने में संकोच प्रकट किया था, जो अब सर्वथा युक्तिसंगत सिद्ध हुआ है। कई विद्वानों ने इस विषय की विवेचना की है। डा० कृष्णस्वामी ऐयंगर ने अपने बिगिनिंग्स् आव सौथ इंडियन हिस्टरी (दक्षिण भारतीय इतिहास का आरम्भ) के एक परिशिष्ट में फ़्लीट के मत की पूरी सफ़ाई कर दी है।

भारतीय वाङ्मय में नक्षत्र तारा और ग्रह का भेद स्पष्ट समझा जाता रहा है। पाश्चात्य जगत् में ग्रहों का ज्ञान पहले पहल यूनान में उदय हुआ यह विचार अब खण्डित हो चुका है। बाबुली और अश्शुर लोगों को उन का पूरा ज्ञान था, सो उन के इतिहास की नई सामग्री मिलने से अब सिद्ध हो चुका है। राशियाँ पहले पहल २०८४ ई० पू० में बाबुली लोगों ने ही पहचानीं थीं। ग्रहों को देवता मानने की कल्पना भी शुमेर लोगों की है। भारतवर्ष का ज्योतिष अश्शुर ज्योतिष पर निर्भर था। यहाँ की राशियों और ग्रहों के नाम बाबुली

---

[1] अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोशं रत्नैरिव सुभाषितैः॥
—ह० च० श्लो० १३

[2] भं० स्मा०, पृ० १८१।

नामों के अनुवाद हैं, यूनानी नामों से उन के अर्थ नहीं मिलते। नमूने के लिए हमारे यहाँ मङ्गलवार का देवता यम है जो बाबुली विचार से ठीक मिलता है, जब कि यूनानियों में मङ्गलवार का देवता मृत्यु का नहीं प्रत्युत युद्ध का देवता है। तीसरे संगम् के एक तामिल ग्रन्थ पदिरुप्पतु में लाल चेर के पिता को चन्द्र-सूर्य-सदृश और भौमादि दिनों के सूचक पाँच ग्रहों के सदृश कहा है। डा० फ़्लीट के अनुयायी इसी कारण उस ग्रन्थ या उस पद्य को ५वीं शताब्दी ई० के बाद का मानते; किन्तु एक उल्लेखयोग्य बात यह है कि उस पद्य में पहला वार सोम है और दूसरा रवि; प्राचीन शुमेर लोगों का ग्रह-क्रम भी ठीक वैसा ही था। बाबुली ज्योतिप के दो आधारस्तम्भ थे, एक तो ऋतुओं की विवेचना, दूसरे यह विचार कि ग्रहों का प्रभाव मनुष्यों के जीवन पर होता है। ये दोनों बातें हमारे यहाँ भी बहुत पुराने समय से हैं। वर्ष का विभाग यहाँ भी बारह राशियों के आधार पर छः ऋतुओं में किया गया था; तोल्कप्पियम् से यह बात प्रकट होती है। दूसरे, आस्मान के सितारे पुण्यात्मा पुरखों की ही प्रकृतियाँ हैं, और इस लिए उन का प्रभाव मनुष्यों के जीवन पर होता है, यह भला या बुरा विश्वास हमारे यहाँ उत्तर वैदिक और पूर्व नन्द युगों से विद्यमान था[1]। इस प्रकार ग्रह-गणित का ज्ञान न तो यूनान में पैदा ही हुआ और न भारतवर्ष में वहाँ से आया। बहुत पहले बाबुली और अश्शुर लोगों में उस का उदय

---

[1]सुकृतं वा एतानि ज्योतींषि यन्नक्षत्राणि।

तैत्तिरीय संहिता ५. ४. १. ७. ५।

तत्र ये पुण्यकृतस्तेषां प्रकृतयः परा ज्वलन्त्य उपलभ्यन्ते।

—आप० २. ६. २४. १३।

दिवि नक्षत्रभूतस्त्वं (रामः)...

रामायण ६. ३२. १८-१९।

हुआ था, और वहाँ से उत्तर वैदिक या महाजनपद काल में वह भारतवर्ष में पहुँच चुका था। हम देख चुके हैं कि वेंकटेश बापूजी केतकर का भी यही मत है[1]। प्रो० ऐयंगर का कहना है कि तामिल कालगणना सौर थी, किन्तु मास का वाचक शब्द वहाँ तिंगल है जिस का अर्थ है चन्द्रमा; अर्थात् मास चन्द्रमा की गति से गिना जाता था। इस प्रकार सौरचान्द्र पद्धति तभी स्थापित हो चुकी थी।

किन्तु ग्रहों का परिगणन उन की दूरी के हिसाब से किया जाय यह विचार अवश्य पीछे का था, और यूनान से आया। इस लिए, जैसा कि डा० ऐयंगर की विवेचना से प्रकट है पहले वारों का क्रम कुछ और तरह का था।

§ १६१. वास्तु और ललित कला

सातवाहन-युग की शिल्प और कला की विरासत भी समृद्ध भरपूर और गौरवमयी है। महाराष्ट्र छत्तीसगढ़ और उड़ीसा के पहाड़ों में काटी हुई लेणें अथवा सेलघर (शैलगृह), भारहुत और साँची के सुप्रसिद्ध स्तूपों के बारीक कारीगरी और सजीव दृश्यों से भूषित पत्थर के तोरण और वेदिकायें (बाड़ें) सब इसी युग की देन हैं।

अ. लेण और सेलघर

पहाड़ों को काट कर जो चैत्य (मन्दिर) या विहार (मठ) खोदे गये हैं, उन में अनेक अभिलेख भी हैं, और उन प्राकृत अभिलेखों में उन गुहाओं को लेण या सेलघर [2] कहा गया है। लेण का संस्कृत रूप

---

[1] ऊपर § १८—पृ० ४८२-८४।

[2] कार्ले गुहा का लेख सं० १, बर्जेस और भगवानलाल के पूर्वोक्त ग्रन्थ में।

लयन अर्थात् छिपने की जगह था[1]। मराठी में अब उन्हें लेणी कहते हैं, उड़ीसा में वे गुम्फा कहालाती हैं। महाराष्ट्र में भाजा, कोंडानें, पितलखोरा, अजिंठा, वेडसा, नासिक, कार्ले, जुन्नर में वैसी लेणियाँ हैं। उड़ीसा में उदयगिरि में हातीगुम्फा, मंचापुरी गुम्फा, रानी-गुम्फा, गणेशगुम्फा, जय-विजय गुम्फा और अलकापुरी गुम्फा नाम की गुहायें, तथा खण्डगिरि में अनन्त-गुम्फा है। उन के अतिरिक्त छत्तीसगढ़ में सरगुजा रियासत में रामगढ़ पर्वत की जोगीमारा और सीतावेंगा गुफायें बड़े महत्त्व की हैं। महाराष्ट्र की सब लेणियां बौद्ध विहार हैं, उड़ीसा की गुफायें जैन मन्दिर। जैनों में क्योंकि सामूहिक पूजा की प्रथा न थी, इस लिए उन के विहारों में वे बड़े बड़े चेतियघर या चैत्यगृह और उपठान[2] अर्थात बाहरी समागम-शालायें नहीं है जो महाराष्ट्र में है।

महाराष्ट्र के इन गुहाचैत्यों में से भाजा कोंडानें और पितलखोरा के तथा अजिण्ठा का सं० १० चैत्य सब से प्राचीन माने जाते हैं; उन के बाद वेडसा का, फिर अजिंठा का सं० ९, उस के ठीक बाद नासिक का, तथा अन्तिम कार्ले का। नासिक चैत्य के चौगिर्द जो लेण-विहार हैं उन में से एक (सं० १९) सातवाहन कुल में कण्ह राजा के समय उस के एक महामात्य ने बनवाया था[3]। वह विहार नासिक की गुहाओं में सब से पुराना प्रतीत होता है। कण्ह सिमुक का भाई और दूसरा सातवाहन राजा था। यह बात युक्तिसंगत प्रतीत होती है कि उस के अमात्य ने जब विहार बनवाया तब उस के साथ चैत्य भी उसी ने बनवाया। यदि ऐसा

---

[1]दे० नासिक गुहाओं का लेख सं० २३—देयधर्मोयम् उपासिकाया मम्माया लयनम्।—ए० इं० ८, पृ० ९३।

[2]यह शब्द जुन्नर गुहाओं के अभिलेख सं० २ में है। दे० बर्जेस और भग० का पूर्वोक्त ग्रन्थ।

[3]ए० इं० ८, पृ० ९३।

हो तो नासिक का चैत्य सातवाहन युग के ठीक आरम्भ का है; और उस हिसाब से भाजा आदि की लेणियाँ-तीसरी शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्ध की—पिछले मौर्य-युग की[1]—होनी चाहिएँ, बेडसा की दूसरी शताब्दी ई० पू० के आरम्भ की, तथा, कार्ले की लग० ८० ई० पू० की। पहले यही बात मानी जाती थी, किन्तु सर जौन मार्शल का कहना है कि उन के में से प्रत्येक का समय एक शताब्दी इधर मानना चाहिए। कला के विकास-क्रम को देखते हुए उन्हें वही समय ठीक जान पड़ता है। उस के अतिरिक्त उन की एक युक्ति यह है कि कार्ले-चैत्य के दाता वैजयन्ती के श्रेष्ठी भूतपाल के लेख की लिपि उषवदात के लेखों से मिलती है। यह युक्ति अब उलटा पहली स्थापना को पुष्ट करती है, क्योंकि उषवदात का समय पुराने शक-संवत् के हिसाब से लग० ८० ई० पू० ही होता है[2]। कला के विकास विषयक अपनी स्थापनाओं के अनुसार रचनाओं का समय निश्चित करना घोड़े के आगे गाड़ी जोतना है, और कोई भी व्यक्ति जिसे अपनी सर्वज्ञता का अभिमान न हो यह कहने का साहस न करेगा कि इस प्रकार के अन्दाज़ों में सौ-पचास बरस की गलती नहीं हो सकती।

महाराष्ट्र के इन गुहाचैत्यों और विहारों का आकार-प्रकार साधारण चैत्यों और विहारों के ठीक बराबर है। अशोक और दशरथ के समय के बराबर पहाड़ के लेण छोटे छोटे नमूने मात्र थे; उन के एक शताब्दी बाद तक कारीगरी का इतना विकास हो गया कि चट्टानों के गर्भ में इतने बड़े बड़े चैत्य काटे जाने लगे। इस कारीगरी का अन्तिम परिपाक

---

[1] ऊपर § १४६ लृ—पृ० ६७१।

[2] ऊपर §§ १६३, १६६—पृ० ७५४-५५, ७६२—६४।

कार्ले के चैत्य में प्रकट हुआ[१]। किन्तु इन सभी लेणों के शिल्प के विषय में यह बात उल्लेखयोग्य है कि वे काठ के मन्दिरों की ठीक नकल हैं, यहाँ तक कि जो बातें काठ की रचनाओं में उपयोगी पर पत्थर काट कर बनाई इमारतों में सर्वथा अनुपयोगी थीं उन में भी काठ की इमारतों की नकल की गई है! पहाड़ों में लेण काटने की यह प्रथा महाराष्ट्र में सातवाहन युग के साथ साथ शुरू हुई और शताब्दियों चलती गई। नासिक की राजा कण्ह के समय की गुहा का उल्लेख हो चुका है। उस के बाद एक गुहा (सं० १८) भटपालिका देवी की, जो शायद कुमार शक्तिश्री की पोती[२] थी, बनवाई हुई है। फिर वहीं एक लेण (सं० १०) उषवदात की बनवाई हुई[३], तथा एक (सं० ३) वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के समय उसकी दादी की बनवाई हुई है[४]। एक और (सं०-२०) है जो यज्ञ-सातकर्णि के समय पूरी की गई थी[५]। सातवाहन-युग के बाद भी यह परम्परा जारी रही सो हम देखेंगे[६]।

कलिंग की गुहाओं में से हातीगुम्फा में खारवेल का सुप्रसिद्ध अभिलेख है। उस के बाद मंचापुरी गुम्फा की उपरली मंजिल में खारवेल

---

[१]कार्ले का नाम अभिलेखों में वेलूरक है। श्रेष्ठी भूतपाल का कहना है कि उस का सेलघर भारत भर में उत्तम—जंबुदिपम्हि उतमं—था, और वह कहना ठीक है।—कार्ले का अभिलेख सं० १।

[२]दे० ऊपर § १७०—पृ० ७८३।

[३]दे० ऊपर § १६६—पृ० ७५९-६०।

[४]ऊपर § १७०—पृ० ७७४-७५।

[५]ऊपर § १८६—पृ० ८७७।

[६]वाकाटकों के समय इस कला की कई सर्वोत्तम कृतियां तैयार हुईं; उन का उल्लेख गुप्त-युग के वृत्तान्त में आता।

की रानी का लेख है, और उसी की निचली मंजिल में वकदेवसिरि (वक्रदेव) का, जो खारवेल का कोई वंशज जान पड़ता है। मंचापुरी गुहा की दीवारों में मूर्त्तियाँ भी काटी गई हैं। बाद की गुम्फाओं में भी कई जैन-धर्म-विषयक दृश्य मूर्त्त रूप में काटे गये हैं, पर उन की पहचान आधुनिक विद्वान् अभी तक नहीं कर पाये।

रामगढ़ की सीताबेंगा गुफ़ा इस बात में अद्वितीय है कि उस का किसी धर्म से सम्बन्ध नहीं है। वह एक प्रेक्षागार है, और उस की दीवार पर किसी रसिक कवि का एक छन्द खुदा है। उस के पड़ोस की जोगीमारा[1] की गुफ़ा भी पहले उस प्रेक्षागार की नटियों का विश्रामगृह समझी गई थी; किन्तु उस के अभिलेख का अब जो अर्थ किया गया है उस के अनुसार वह एक वरुण का मन्दिर है, जिस की सेवा में एक देवदर्शिनी (देव प्रेरणा से भविष्यवाणी करने वाली स्त्री) रहती थी[2]। इस के अतिरिक्त उस की दीवारों पर प्राचीन चित्रकला का भी नमूना है। मूल चित्रों की सुन्दर रूपरेखा ध्यान से देखने पर दीख पड़ती है; क्योंकि किसी अनभिज्ञ चित्रकार ने बाद में उस पर दूसरी बार भद्दे तरीके से रंग पोत डाले हैं[3]।

इ. तोरण और ध्वज

इन शैलगृहों की तरह प्रसिद्ध भारहुत और साँची के स्तूपों के चौगिर्द की वेदिकायें (पत्थर के जंगले) और उन में तोरण के (दरवाजे) हैं। साँची के बड़े स्तूप—'सास बहू के भीटे'—की वेदिका प्रत्येक दिशा

---

[1] पृ० ७५४ पर जो लिखा गया है उस का यहां संशोधन किया गया है।

[2] ४० इं० आ० ४८; पृ० १३१।

[3] ऊपर § १४६ लृ—पृ० ६७१।

में एक तोरण है; स्तूप सं० ३ के—जिस में से बुद्ध के प्रमुख शिष्य सारिपुत्त और मोग्गलान के धातु पाये गये हैं—सामने केवल एक तोरण है। उन पाँचों तोरणों के प्रत्येक थंभे प्रत्येक सूची (आड़ी पाटी) और प्रत्येक उष्णीष (ऊपर चढ़े पत्थर) पर सुन्दर मूर्त्तिमय दृश्य कटे हुए हैं। बड़े स्तूप के चौगिर्द वेदिका से घिरा प्रदक्षिणापथ है; स्तूप की कमर पर की मेधि (रौस) पर फिर वैसा ही वेदिका से घिरा प्रदक्षिणापथ है; ऊपर एक पत्थर की हर्मिका में छत्र-यष्टि गड़ी है, वह हर्मिका भी वेदिका से घिरी है। बड़े स्तूप की मेधि वाली वेदिका के और स्तूप सं० २ की—जो कि पहाड़ी से नीचे मैदान में है, तथा जिस में से कासपगोत आदि आचार्यों के धातु पाये गये हैं[1]—वेदिका के भी थंभों और सूचियों पर सुन्दर मूर्त्तियाँ काट कर बनी हैं।

ये तोरण और वेदिकायें यद्यपि पत्थर की रचनायें हैं तो भी इन की बनावट ठीक काठ के नमूनों की नकल पर है। उष्णीषों के जोड़ सब लकड़ी के जोड़ों की तरह तिरछे काटे गये हैं!

तोरणों के थंभों और पाटियों पर के दृश्यों में बुद्ध की जीवनी और जातकों की तथा बौद्ध धर्म और इतिहास की अनेक घटनायें चित्रित हैं; भारहुत के दृश्यों के शीर्षक तो उन के नीचे पत्थर पर लिखे हैं; पर साँचीके दृश्य बड़े जतन के बाद पहचाने गये हैं[2]। इन दृश्यों में से अनेकों का यद्यपि बुद्ध की जीवनी से सम्बन्ध है, तो भी इन में कहीं बुद्ध की मूर्त्ति नहीं पाई जाती; जहाँ कहीं बुद्ध की उपस्थिति सूचित करनी होती है उन के चरण, उन के आसन, बोधि वृक्ष या धर्मचक्र से की जाती है। साँची के बड़े स्तूप के दक्खिन तोरण पर राजा सातकर्णि का नाम है; हम देख चुके हैं कि वह पहली शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्ध में

---

[1] दे० ऊपर § १२६ इ—पृ० ४६२।

[2] नमूने के लिए दे० ऊपर § १२६ अ—पृ० ४६१-६२।

सुप्रसिद्ध गौतमीपुत्र के राज्यकाल में बना था[1]। किन्तु समूचा जंगला और चारों तोरण एक समय के नहीं हैं; अनेक दानियों के दान से जिन के नाम जगह-ब-जगह खुदे हैं, उस के विभिन्न अंश दशाब्दियों तक बनते रहे हैं। वेदिकायें तोरणों से पहले बन चुकीं थीं। तोरणों में से सातकर्णि के नाम वाला सब से पुराना है; उत्तरी पूरबी और पच्छिमी उस के पीछे क्रमशः बने। भारहुत स्तूप का तोरण और जंगला जिस के अवशेष अब कलकत्ता संग्रहालय में पड़े हैं, साँची के तोरणों से एक शताब्दी के करीब पहले के हैं; क्योंकि उस तोरण पर 'शुंगों के राज्य में बने होने का अभिलेख खुदा है[2]। बुद्ध-गया-मन्दिर के चौगिर्द भी वैसा ही एक जंगला तथा उस के उत्तर बुद्ध के चंक्रम (भ्रमण-स्थान) में स्तम्भ खड़े किये गये थे; उन पर अहिच्छत्रा के राजा इन्द्रमित्र और मथुरा के राजा ब्रह्ममित्र की रानियों के नाम हैं। वे दोनों राजा शुंगों के सामन्त थे,[3] और उन के सिक्के पाये गये हैं। इस प्रकार गया के ये स्तम्भ और जंगला भी साँची-तोरणों से प्रायः एक शताब्दी पहले के हुए। पिछले शुंग-युग के बेसनगर के हेलिउदोर-गरुडध्वज का उल्लेख हो चुका है[4]।

उ. मूर्त्ति-कला

सातवाहन-युग की मूर्त्तिकला का सब से पुराना नमूना नानाघाट के देवकुल की मूर्त्तियाँ थीं जो अब दुर्भाग्य से नष्ट हो चुकी हैं। तो भी पूर्वोक्त तोरणों और वेदिकाओं में काटी हुई मूर्त्तियों से उस समय की मूर्त्तिकला

---

[1]दे० ऊपर § १७०—पृ० ७८२।

[2]ऊपर § १५४—पृ० ७२८।

[3]ऊपर § १५६—पृ० ७४०।

[4]वहीं पृ० ७४०-४१।

का पता मिलता है। कलिंग की मंचापुरी रानी-गुम्फा आदि गुहाओं की दीवारों पर भी मूर्त्तियाँ खुदी हैं, और महाराष्ट्र को लेणों में से भी दो एक में। उन के अतिरिक्त पत्थर या धातु की तख़्तियों पर खोदे हुए या मिट्टी की चकियाओं पर बनाये हुए दृश्य भी पाये गये हैं। मथुरा से इस प्रकार के अनेक मूर्त्त दृश्य मिले हैं; और उन में से अन्तिम वे हैं जो शक क्षत्रपों के समय के या उन के ठीक बाद के हैं। पहले नमूनों की मूर्त्तियाँ भारहुत और साँची की तोरण-मूर्त्तियों के सर्वथा दृश्य हैं। अन्तिम नमूनों में एक छोटे तोरण में की मूर्त्तियाँ, मथुरा के शकों का प्रसिद्ध सिंहध्वज का मथेला[1], लाणशोभिका नाम की वेश्या का दान किया हुआ एक जैन आयागपट[2] अर्थात् पूजा की चकिया, एवं अमोहिनी देवी[3] की दान की हुई एक वैसी ही चकिया है। मथुरा की ये जैन मूर्त्तियाँ और कलिंग की जैन गुम्फाओं की मूर्त्तियाँ प्रायः एक सी हैं। दूसरी-पहली शताब्दी ई० पू० में मिट्टी की चकियाओं पर काफ़ी सुन्दर मूर्त्तियाँ साँचे या ठप्पे द्वारा बनने लगीं थीं। प्रयाग के पास सहजाति के भीटे[4] से इस युग की वैसी एक सुन्दर चकिया मिली है जिस पर साँची के दृश्यों की तरह का एक दृश्य बना है। इन प्राचीन मूर्त्ति-दृश्यों में प्रायः चैत्य, दो घोड़े के रथ, बैठे और खड़े मनुष्यों के समूह आदि अंकित किये रहते हैं। सन् १९१४ की खुदाई में कुमराढ़ से एक मिट्टी की चकिया पाई गई थी, जिस पर एक ऊँचे मन्दिर का सुन्दर चित्र अंकित है। डा० स्पूनर के मत में वह गया का प्राचीन मन्दिर है[5]।

---

[1]ऊपर § १६७—पृ० ७६५। [2]ऊपर § १७१—पृ० ७८८।

[3]ऊपर § १६७—पृ० ७६६।

[4]ऊपर §§ ११४ अ, १४२ उ—पृ० ४४६-४७, ६३०।

[5]ज० बि० ओ० रि० सो० १, पृ० १ प्र, २७९ प्र।

ऋ. गान्धारी शैली

शक और पह्लव-युग की रचनाओं में आधुनिक पण्डित कला की एक नई शैली का उदय होते देखते हैं, जो कि कनिष्क के पहले तक परिपक्व हो कर मुरझाने भी लगी थी। गान्धार देश में विकास पाने के कारण उसे गान्धारी शैली कहा जाता है, और उस का उदय भारतीय कला में यूनानी कला की कलम लगने से हुआ माना जाता है। सिकन्दर के बाद और फिर बाख्त्री कपिश गान्धार और मद्र में यूनानी राज्य स्थापित होने पर उत्तरपच्छिम भारत के सिक्कों की बनावट में यूनानी प्रभाव झलकता है। पेशावर के पास पाये गये मिट्टी के बर्त्तनों तथा कई रत्नों पर यूनानी चित्र हैं। वे यवन-युग के होंगे। बाद की कारीगरी में मिश्रित यवन और भारतीय रूप प्रकट होने लगते हैं। यवन-युग की अपनी कोई इमारत सिवाय कुछ सादे घरों के नहीं पाई गई, किन्तु पह्लव राजा अय के समय की तक्षशिला की इमारतों में यूनानी लक्षण टटोले जाते हैं।

अफ़ग़ानिस्तान में जलालाबाद के ६·७ मील पच्छिमोत्तर बीमरान नामक एक गाँव है। सन् १८३४—३७ में मैस्सन नामक एक निडर और पराक्रमी अमरीकन ने अफ़ग़ानिस्तान के प्राचीन अवशेषों को पहले-पहल टटोला था। बीमरान में उसे एक बड़े स्तूप के चौगिर्द अनेक छोटे स्तूप मिले। स्तूप सं० २ खोदने पर उस के अन्दर उसे एक अभिलिखित भद्रघट मिला जिस के अन्दर फिर एक स्वर्णमंजूषा, कुछ मोती, चार ताँबे के सिक्के और शरीर-धातु पाये गये। चारों सिक्कों पर महरजस महतस ध्रमिकस रजतिरजस अयस—महाराज महान् धार्मिक राजाधिराज अय[1] का—नाम है। इस से प्रकट है कि वह

---

[1] दे० ऊपर § १७२ – पृ० ७६० प्र।

स्तूप अय के समय का या उस से पीछे का है। भद्रघट के ढक्कन पर लेख है—शिवरक्षितस मुंजणंदपुत्रस दानमुहे भगवतशरिरेहि—मुंजणंदों के बेटे शिवरक्षित का दान भगवान् के शरीर-धातु के लिए। मुंजणंद को मुंजवंद का अपपाठ माना गया है, और उस से अथर्ववेद में प्रसिद्ध मूजवत् जाति समझी गई है[1]। स्वर्णमंजूषा पर ब्रह्मा और इन्द्र के बीच बुद्ध की मूर्त्ति अंकित है। उन मूर्त्तियों में आधुनिक आलोचक भारतीय और यवन कला के समन्वय का आरम्भ देखते हैं। और उस समन्वय से पैदा हुई गान्धारी शैली का उदय उन्हें कनिष्क की शाहजी की ढेरी वाली मंजूषा[2] की मूर्त्तियों में दीख पड़ता है। गान्धार शैली की जो अन्य हज़ारों मूर्त्तियों के अवशेष पाये गये हैं, दुर्भाग्य से उन में से किसी पर भी कोई तिथि नहीं है। किन्तु बुद्ध की मूर्त्ति बनाना पहले पहल इसी सम्प्रदाय ने शुरू किया सो निश्चित है।

यह सोचा जाता है कि शायद उसी से वह बात मथुरा के कारीगरों ने सीखी, और फिर वह भारत के अन्य प्रदेशों में—आन्ध्र देश में सुदूर अमरावती तक—पहुँची। कनिष्क-सं० ३ में सारनाथ में भिक्षु बल ने जो मूर्त्ति स्थापित की उस का उल्लेख हो चुका है[3]; उस के कुछ आगे-पीछे श्रावस्ती में भी उसी भिक्षु ने महाक्षत्रप खरपल्लान और क्षत्रप वनस्पर की सहायता से एक बोधिसत्त्व-मूर्त्ति स्थापित की थी। फिर हुविष्क के समय सं० ३३ में बल की अन्तेवासिनी (शिष्या) भिक्षुणी बुद्धमित्रा की भानजी धनवती ने मथुरा में एक बोधिसत्त्व-

---

[1] भा० अ० स० २, १, पृ० ५१-५२।

[2] ऊपर § १८० इ—पृ० ८३८।

[3] ऊपर § १८० इ—पृ० ८३९।

मूर्त्ति स्थापित की[1]। वे तीनों मूर्त्तियाँ आगरा के लाल पत्थर की हैं। सारनाथ और श्रावस्ती का बुद्ध के जीवन से विशेष सम्बन्ध था, और उन स्थानों पर बोधिसत्त्व-मूर्त्तियों की स्थापना करने को भिक्षु बल का उत्सुक होना स्वाभाविक था। किन्तु यदि वहाँ के स्थानीय कारीगर बोधिसत्त्व-मूर्त्तियाँ बनाते होते तो सारनाथ में चुनार के पत्थर की रचना पाई जाती, मथुरा से मूर्त्ति बनवा कर ढो ले जाने की ज़रूरत न होती। यह युक्ति पहले-पहल सुनने में तो बड़े मार्के की लगती है, पर विचार करने पर मुझे इस में विशेष तत्त्व नहीं दीख पड़ा। भिक्षु बल मथुरा का था, और उस का आश्रयदाता महाक्षत्रप खरपल्लान भी; मथुरा में उसे अपने परिचय आदि के कारण अपने मन-मुताबिक वस्तु बनवाने में अधिक सुभीता रहा हो। मथुरा से बनारस तक नाव में ढो ले जाना कुछ कठिन भी न था।

मथुरा की गोवर्धन पहाड़ी के नीचे अन्योर[2] गाँव से और भरतपुर रियासत के कामाँ[3] गाँव से पाई गई बुद्ध-मूर्त्तियाँ भी भिक्षु बल वाली बोधिसत्त्व-मूर्त्तियों की लगभग समकालिक हैं। अन्योर वाली खण्डित मूर्त्ति बुद्ध की सब से पुरानी मूर्त्ति है। उक्त चारों मूर्त्तियों के साथ वासिष्क के समय की सं० २८ की मधुरिका देवी की दी हुई साँची वाली[4] मूर्त्ति की गिनती करने से प्राचीनतम बुद्ध और बोधिसत्व मूर्त्तियों का परिगणन पूरा हो जाता है।

---

[1] ए० इं० ८, पृ० १८१-८२। श्रावस्ती वाली मूर्त्ति अब कलकत्ता तथा मथुरा वाली लखनऊ के संग्रहालय में है। मथुरा वाली की टांगें मात्र बची हैं। अभिलेख दोनों के बचे हैं, पर श्रावस्ती वाला खंडित है, उस में संवत् नहीं पढ़ा जाता। [2] म० सं० सू०, पृ० ४८-४९।

[3] ए० इं० २, पृ० २१२। [4] ए० इं० २, पृ० ३६९; १० परिशिष्ट पृ० १७५; ऊपर § १८१—पृ० ८४७।

ध्यान रहे कि खुली मूर्त्ति बनाने की प्रथा भारतवर्ष में पहले की उपस्थित थी; परखम और पटना की मूर्त्तियाँ[1] उस का प्रमाण हैं; हाँ, बुद्ध की मूर्त्ति इस युग से पहले नहीं पाई जाती। बुद्ध-मूर्त्ति के विषय में और अन्य बातों मे गान्धारी शैली का प्रभाव एक तरफ़ यदि दक्खिन भारत तक पहुँचा तो दूसरी तरफ़ उपरले हिन्द द्वारा चीन तक। तुएन-हुआंग के अनेक चित्रों में उस की झलक देखी जाती है। बौद्ध धर्म की वही अन्तिम परिपक्क शैली सब देशों में बनी रही।

§ १९२. सातवाहन युग का आर्थिक जीवन और समृद्धि

आर्थिक दृष्टि से सातवाहन युग भारतवर्ष के लिए बड़ी समृद्धि का युग था। उस के दिग्दर्शन के लिए हम जनता की मुख्य जीविकाओं—कृषि शिल्प और वाणिज्य—पर क्रमशः विचार करेंगे।

अ. खेतों और खानों की उपज तथा स्वत्व

ग्रामों के निवासियों का मुख्य धन्दा कृषि और पशुपालन रहा होगा। ग्राम कहाँ तक संघ-स्वरूप थे, और ग्राम वालों में सामूहिक जीवन कहाँ तक था, यह प्रश्न आर्थिक की अपेक्षा राजनैतिक अधिक है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रामों में राज्य का दखल इस युग में काफ़ी था, ग्रामों सामूहिक जीवन उस से नियन्त्रित था[2]। तो भी कृषकों की ज़मीन उन की अपनी मलकीयत थी, राजा उस का केवल रक्षक था। राजा भूमि का अधिपति है—मनु[3] के इन शब्दों का कई बार यह अर्थ कर दिया गया है कि वह भूमि का मालिक है, किन्तु अधिपति का स्पष्ट अर्थ अध्यक्ष और पालनकर्त्ता है। उसी श्लोक में रक्षा करने के कारण राजा का भाग लेने का अधिकार कहा है, और स्मृतियों में सब जगह वही भाव है।

---

[1]ऊपर § २२ ए, तथा आ० स० रि० २० पृ० ४०।
[2]नीचे § १९४ अ।   [3]८. ३९।

वह अपना भाग वाणिज्य में से भी लेता था,[१] किन्तु उस के कारण वह सब वाणिज्य-पदार्थों का स्वामी न माना जाता। कुछ बड़े किसान मज़दूरों से भी काम लेते रहे हों सो पूरी तरह सम्भव है, पर आजकल की तरह ज़मींदार नाम के मुफ़्तख़ोर विचवानियों का उल्लेख मनुस्मृति में कहीं नहीं है; याज्ञवल्क्य में ठेके पर खेती कराने का निर्देश प्रतीत होता है[२]—शायद वह उस प्रथा का आरम्भ मात्र हो। गाँवों के चारों तरफ़ सामूहिक चरागाह या परीहार छोड़ने की प्रथा थी[३]। भूमि के विनिमय के लिए याज्ञवल्क्य के समय तक लेख की प्रथा आवश्यक हो गई थी, और उन लेखों के निबन्ध या रजिस्टरी कराने की प्रथा भी पहली शताब्दी ई० पू० के अभिलेखों से सूचित होती है[४]।

भूमि के नीचे पाई जाने वाली खानों और निधियों के विषय में मनु और याज्ञवल्क्य के नियम मनोरंजक हैं। मनु कहता है कि किसी को पुरानी गड़ी हुई निधि मिले और वह उसे अपनी सिद्ध कर दे, तो राजा उस में से केवल छठा या बारहवाँ भाग ले; झूठमूठ निधि को अपना बताने वाले को दण्ड मिले; विद्वान् ब्राह्मण यदि पूर्वोपनिहित निधि को पाय तो वह समूची ले सकता है—उस में राजा का भाग न होगा[५]। मेधातिथि अपने भाष्य में कहता है कि ब्राह्मण की अपने पूर्वजों के द्वारा

[१] वहीं ७. १३०-३१। [२] २. १५८।

[३] मनु ८. १३७; याज्ञ० २. १६६-६७।

[४] गौतमीपुत्र सातकर्णि की अपने १८ वें बरस की वैजयन्ती से भेजी आज्ञ (दे० ऊपर § १७०—पृ० ७८०) एक खेत के दान के लिए है। उस के अन्त में कहा है कि इसे बाकायदा निबधापेहि—रजिस्टरी कराओ। इसी प्रकार वासिठीपुत्र पुळुमावि के २२ वें बरस के लेख—नासिक के सं० २—के अन्त में।—ए० इं० ८, पृ० ७१, ६४।

[५] ८. ३९ प्र।

रक्खी हुई निधि से ही अभिप्राय है; कुल्लूक भट्ट अपनी टीका में मेधातिथि का विरोध करता, और नारद तथा याज्ञवल्क्यस्मृति को उद्धृत कर कहता है कि जिस किसी निधि के लिए यह नियम है। ब्राह्मणों का पक्षपात न केवल इस बात में प्रत्युत मनु के समूचे व्यवहार में है, और उसे इस प्रश्न से अलग रक्खा जा सकता है। आगे यह विधान है कि राजा यदि किसी निधि को पाय तो आधा द्विजों को दे कर आधा अपने कोश में डाल दे। फिर उसी बात को बढ़ाया है कि पुरानी निधियों और भूमि के अन्दर की धातुओं में आधा भाग रक्षा करने के कारण राजा का है क्योंकि वह भूमि का अधिपति है। मेधातिथि कहता है कि आधे का अर्थ यहाँ केवल एक अंश है। याज्ञवल्क्य के दो श्लोकों में समूची बात संक्षेप से कह दी है—राजा को यदि निधि मिले तो आधी द्विजों को दे, विद्वान् द्विज (ब्राह्मण) को मिले तो सब स्वयं ले, यदि दूसरे किसी को मिले तो राजा छठा अंश ले[1]। याज्ञवल्क्य का प्रसिद्ध टीकाकार विज्ञानेश्वर मिताक्षरा टीका में इस का खींचातानी से यों अर्थ करता है कि दूसरे किसी को मिले तो छठा अंश पाने वाले को दे कर बाकी राजा ले। तो भी मिताक्षरा की वह व्यवस्था वसिष्ठ और गौतम धर्मसूत्रों[2] के अनुकूल है; उन का वही विधान है; वसिष्ठ में ब्राह्मण के लिए कोई विशेष नियम भी नहीं है।

आधुनिक दृष्टि से हमें दो अवस्थायें स्पष्ट समझ आ जाती हैं,—एक यह कि निधि पायी जाय तो राजा की, दूसरे यह कि पाने वाले की। गौतम ने स्पष्ट शब्दों की पहली बात कही है—निध्यधिगमो राजधनम्; वसिष्ठ भी वही बात कहता है; पाने वाले को जो छठा अंश देने का विधान है वह केवल खोजने का इनाम समझना चाहिए। दूसरी तरफ़ मनु और याज्ञवल्क्य का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि निधि पाने

---

[1] २. ३४-३५।

[2] गौत १०. ४३-४५; वसिष्ठ ३. १३-१४।

वाले की, छठा या बारहवाँ अंश राजा ले, ब्राह्मण से वह भी न ले। यह धर्मसूत्रों की व्यवस्था का स्पष्ट उलट है। किन्तु सब से अधिक विचित्र और समझ न आने वाली बात दूसरी है कि यदि राजा को निधि या खान मिले तो भी उस में से केवल आधा (मेधातिथि के अनुसार एक अंश मात्र !) राजा ले, बाकी द्विजों (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों) को दे दे ! इन विचित्र नियमों की व्याख्या करने का जतन नहीं किया गया। मैं इन्हें इस प्रकार समझ पाया हूँ कि खानों की खोज और खुदाई पहले पहल नन्द-मौर्य-युग में विशेष रूप से बढ़ी, जब कि अर्थशास्त्रकारों ने यह अनुभव किया कि खनिः संग्रामोपकरणयोनिः[1]—खानें युद्ध के उपकरणों को पैदा करती हैं, और जब कि राजकीय आकर-कर्मान्त-प्रवर्त्तन की नींव पड़ी। प्रायः खानें नये इलाकों में पाई जाती रही होंगी। और अज्ञात निधि के समान उन पर राज्य ने अपना स्वत्व जताया। शीघ्र ही इस प्रश्न की मीमांसा शुरू हुई कि उन पर वास्तव में किस का अधिकार होना चाहिए। भूमि सब जनता की है न राजा की, राजा केवल उस की रक्षा का वेतन पाता है, यह बुनियादी विचार उस समय के भारतीय समाज में इतना गहरा जमा हुआ था कि इस ने यह नियम पैदा कर दिया कि यदि राज्य को स्वयं भी कोई खान मिले तो उस में से भी कम से कम आधा अंश द्विज जनता को दे दे ! इसी बुनियादी विचार के कारण समूची पाई हुई खान पर राज्य का दखल करना उस समय के लोगों को बड़ा अयुक्तिसंगत प्रतीत होता। राजा के देते हुए भी मनु को सफ़ाई देनी पड़ती है कि भूमेरधिपतिर्हि सः—वह भूमि का रक्षक जो है ! इस प्रकार इस अंश में मौर्य साम्राज्य के नियमों की स्पष्ट प्रतिक्रिया हुई दीखती है।

राज्य की तरफ़ से आकरों और कर्मान्तों का प्रवर्तन मनुस्मृति के समय में भी जारी रहा दीखता है[2]।

---

[1]अर्थ० ७. १४—पृ० ३०७। [2]७. ६२।

इ. शिल्पियों के निकाय

जनता के शिल्प और वाणिज्य का संगठन इस युग में मौर्य-काल से भी अधिक पुष्ट और परिपक्व था। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने इस युग के अभिलेखों से शिल्पि-श्रेणियों के विषय में जो कुछ जाना जाता है इकट्ठा किया है[1], उस से इस युग के आर्थिक जीवन पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

नासिक की लेण सं० १० के उपवदात और उस की कुटुम्बिनी के तीन अभिलेख उपर[2] उद्धृत किये गये हैं। दक्षमित्रा के लेख के नीचे उपवदात का एक और अभिलेख इस प्रकार है[3]—

"सिद्धि! ४२ वें वर्ष वैशाख मास में राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता दीनीकपुत्र उपवदात ने चातुर्दिश संघ को यह लेण अर्पित किया। और उस ने अक्षयनीवी तीन हज़ार कार्षापण, ३०००, संघ चातुर्दिश को दिये, जो इस लेण में रहने वालों का चिवरिक (कपड़े का खर्चा) और कुशणमुल[4] होगा। और ये कार्षापण गोवर्धन में रहने वाली श्रेणियों में प्रयुक्त (आय के लिए जमा) किये गये—कोलिकों (जुलाहों) के निकाय में दो हज़ार, २०००, एक फ़ी सदी

---

[1]सा० जी०, पृ० २४-३८।

[2]§ १६६—पृ० ७५६-६१।

[3]ए० इं० ८, पृ० ८०-८१।

[4]कुशणमुल का अर्थ यहाँ प्रो० सेनार ने किया था मासिक वृत्ति वर्ष के विशेष महीनों में। वही अर्थ ठीक है। पटना विश्वविद्यालय के प्रो० अनन्तप्रसाद बेनर्जी शास्त्री ने इस सम्बन्ध में मेरा ध्यान ऋ० १. ३५. ४. के कृशन शब्द की ओर खींचा है, जिस का अर्थ सायण ने सुवर्ण किया है। मोनियर विलियम्स के संस्कृतकोश में उस के अर्थ मोती और

(मासिक) वृद्धि पर; दूसरे कोलिकनिकाय में एक हज़ार, १०००, पौन फ़ी सदी वृद्धि पर। और ये कर्षापण अप्रतिदातव्य वृद्धिभोग्य हैं (लौटाये न जायेंगे, केवल इन का व्याज लिया जायगा)। इन में से जो एक फ़ी सदी पर, वे दो हज़ार, २०००, चीवरिक; उन से मेरी लेण में रहने वाले बीस भिक्खुओं में से प्रत्येक को बारह चीवर, जो एक हज़ार पौन फ़ी सदी पर प्रयुक्त हैं उन से कुशन-मूल्य। कापुर आहार (ज़िले) में गाँव चिखलपद्र में नारियल के ८००० पौद भी दिये गये। यह सब निगमसभा में सुनाया गया, और फलकवार (लेखा रखने का दफ़्तर) में चरित्र के अनुसार निवद्ध (रजिस्टरी) किया गया। और उस ने पहले ४१वें वर्ष कार्त्तिक सुदी १५ को जो दान दिया था, वह ४५ वें वर्ष भगवान् देवताओं और ब्राह्मणों के नियुक्त किया; कार्षापण सत्तर हज़ार ७००००, (प्रत्येक) पैंतीस का एक सुवर्ण, कुल दो हज़ार सुवर्ण की पूँजी; फलकवार में चरित्र के अनुसार।''

इस अभिलेख में आर्थिक इतिहास के लिए सब प्रकार की सामग्री है। सूद की दर, कार्षापण की क्रयशक्ति, और कार्षापण और सुवर्ण का अर्थात् ताँवे और सोने के सिक्के का अनुपात (३५:१) सब इस में दर्ज है। यह लेख पहली शताब्दी ई० पू० का है। उसी लेण में आभीर ईश्वर सेन के राज्यकाल का—अर्थात् तीसरी शताब्दी ई० का

सुवर्ण दोनों दिये हैं, पहले अर्थ के लिए ऋ० १. ३५. ४; १०.६८.११; १.१२६.४ तथा अथ० ४. १०.१, ३, ७ के उद्धरण भी दिये हैं। रैप्सन आ० न्ध० सि० सू०, भूमिका, पृ० १८५) तथा उन का अनुसरण करते हुए भण्डारकर (इं० आ० १९१८, पृ० ७६-७७) कुशण का अर्थ कुशाण राजा का सिक्का करते हैं ! किन्तु राजा कुशाण उषवदात से प्रायः आधी शताब्दी पीछे हुआ था, और इस एक शब्द का मनमाना अर्थ कर के उषवदात का काल पीछे नहीं खींचा जा सकता।

का—एक लेख[1] है, जिसमें एक शक उपासिका विष्णुदत्ता द्वारा चातुर्दिश भिक्षु-संघ के गिलान-भेषज (दवा-दारू) के खर्चे के लिए वैसी ही एक अक्षयनीवी प्रयुक्त किये जाने का ब्यौरा है। वह अक्षयनीवी "गोवर्धन की आगत और अनागत (विद्यमान और भविष्य) श्रेणियों में प्रयुक्त की गई, जिस में से कुलरिक (शायद कुलाल अर्थात् कुम्हार) श्रेणियों के हाथ में एक हज़ार कार्षापण, ओदयन्त्रिक (पानी के यन्त्र बनाने वाली) श्रेणि के हाथ में दो हज़ार", एक और श्रेणि के—जिस का नाम मिट गया है—हाथ में पाँच सौ, तथा तिलपिषक (तेली) श्रेणि के हाथ में एक रकम, जिस की मात्रा मिट गई है, दी गई। आगतानागत श्रेणियों के हाथों में देने का अर्थ है कि उन श्रेणियों के उस समय विद्यमान संघों के हाथों से वह नीवी दी गई, और उन के भावी संघों के हाथों में भी उसे सदा बनाये रखना अभीष्ट था।

जुन्नर-लेणों के तीन छोटे-छोटे अभिलेखों में भी श्रेणियों का उल्लेख है। उन में से पहला लेख बड़ा अस्पष्ट सा है—

"कोणाचिक में श्रेणी को, उपासक आडुथुम शक, वडालिका में करंज की पौद के (लिए) निवर्तन बीस, कटपुतक में बरगद की पौद के (लिए) निवर्तन नौ।"[2] इस का अर्थ यह प्रतीत होता है आडुथुम शक वडालिका गाँव की बीस निवर्तन भूमि की आय करंज की पौद लगवाने के लिए तथा कटपुतक गाँव की नौ निवर्तन भूमि की आय बरगद की पौद के लिए कोणाचिक गाँव या शहर की श्रेणी में प्रयुक्त करता है। निवर्तन भूमि का एक माप था, बीघे की तरह।

दूसरा लेख खंडित है—"बसकर (वंशकार=बाँस का काम करने

---

[1]ऊपर § १८७—पृ० ८८० पर उल्लिखित; ए० इं० ८, पृ० ८८।
[2]जुन्नर का सं० १२; बर्जेस और भगवानलाल के पूर्वोक्त ग्रन्थ से।

वालों) की श्रेणी का मासिक पौने दो, कांसकारों (कसेरों) की श्रेणी का सवा...।"[1]

तीसरा केवल इतना है—"धञ्जिक-(धान्य=अनाज के व्यापारियों की) श्रेणी का देयधर्म सप्तगर्भ (सात कोठरी वाला लेण) और पोढि।"[2]

इन अभिलेखों से यह प्रकट है कि श्रेणियों का कार्यक्षेत्र इस युग में पहले से बहुत अधिक विकास पा चुका और उन की हैसियत बड़ी हो गई थी। अपना धन्दा करने के अतिरिक्त वे लोगों के धरोहर जमा कर उन पर रुपये या चीज के रूप में सूद देती थीं। कोणाचिक श्रेणी वाले लेख से सिद्ध है कि वे जायदाद भी धरोहर रूप में पाती थीं। उन की स्थिरता इतनी समझी जाती कि अनेक अक्षयनीवियाँ—स्थायी सनातन निधियाँ—उन्हीं के पास जमा की जातीं, यहाँ तक कि राजा लोग भी अपने दान की उस प्रकार की निधियाँ उन्हीं में जमा कराते। उस समय की निगम-सभायें अर्थात् नगरों की संस्थायें उन की साख मानतीं; जिन धरोहरों की वे रजिस्टरी करतीं वे श्रेणियों में जमा की जा सकती थीं। सार यह कि उस युग की श्रेणियों की साख और उन के कार्य आजकल बैंकों के समान थे, यद्यपि उन का मुख्य धन्दा अपना अपना शिल्प होता था;—मूलतः वे शिल्पियों के निकाय थे न कि साहूकारों के। इस से पहले किसी युग में हम ने श्रेणियों को बैंकों का काम करते नहीं पाया। इस से प्रकट है कि उन के कार्य का यह विकास सातवाहन-युग में ही हुआ।

मनु- और याज्ञवल्क्य-स्मृतियों तथा महाभारत से भी उन के विषय में जो कुछ जाना जाता है उस से उक्त परिणामों की पुष्टि होती है।

---

[1] वहीं सं० १६।

[2] वहीं सं० २१।

दोनों स्मृतियों में श्रेणि आदि संघों का समय-भेद या संविद्-व्यतिक्रम (ठहराव का उल्लंघन) एक बड़ा अपराध है। याज्ञवल्क्य में गणद्रव्य अर्थात् सामूहिक सम्पत्ति का उल्लेख है, और उस का ग़बन करने वाले या संवित् का उल्लंघन करने वाले के लिए सारी जायदाद की ज़ब्ती तथा देशनिकाले के दण्ड का विधान। उस से यह भी सूचित होता है कि समूहों के अपने कार्यचिन्तक अर्थात् अधिकारी होते, और कि राजा की सभा में समूहों के कार्यों के लिए उन के प्रतिनिधि आते जाते और जब वे वहाँ जाते राजा "दान-मान-सत्कार से उन की पूजा कर उन का कार्य हो जाने पर उन्हें विसर्जित" करता[1]। महाभारत में गन्धर्वों से हारने पर दुर्योधन कहता है कि मैं श्रेणिमुख्यों को कैसे मुँह दिखाऊँगा![2]

याज्ञवल्क्य में एक विशेष विधान यह भी है कि राजधानी में एक राजकीय न्यायालय श्रेणि आदि समूहों के ही मामलों पर विचार करने के लिए रहे[3]। इस प्रकार का एक न्यायालय काशी राष्ट्र में महाजनपद युग में भी बना था सो देख चुके हैं[4]। श्रेणियों और अन्य समूहों की राजनैतिक शक्तियों का अगले परिच्छेद में विचार किया जायगा।

उ. वाणिज्य की बढ़ती

शिल्प के साथ साथ वाणिज्य की भी इस युग में बड़ी उन्नति हुई। स्मृतियों के अनेक नियम उस उन्नति और परिपक्वता को सूचित करते हैं।

सब से पहले ऋण देने लेने के नियमों में काफ़ी परिपक्वता दीख पड़ती है। ऋण का लेख या ऋणपत्र, उस के साक्षी, प्रतिभू (ज़ामिन),

---

[1] २. १८७—९१।

[2] मा० भा० ३. २५०. १६; सा० जी० पृ० ४२ पर उद्धृत।

[3] २. १८५।

[4] ऊपर § ८४ इ—पृ० ३३५।

आधि (रहन) और करण (रहने के कागज़) आदि विषयक अनेक नियम मनुस्मृति में भी हैं[1]; याज्ञवल्क्य[2] में उन में और अधिक बारीकी आ गई है, और उन के अतिरिक्त सबन्धक और अबन्धक ऋण का भेद, चरित्र-बन्ध (अपनी इज़्ज़त या साख की गिरवी) और सत्यंकार-बन्ध[3] ('वचन का रहन') आदि का भी विधान है। ध्यान रहे कि इन स्मृतियों में ऐसे प्रसंगों में केवल साक्षियों की चर्चा आती है, कौटिल्य के समय के श्रोता अब नहीं सुनाई देते। दोनों स्मृतियों में विदेशों में लिए ऋणों का जिक्र है[4]; कान्तारग (बड़े जङ्गल पार करने वाले व्यापारियों) और समुद्रयानिकों की अलग सूद की दरों का उल्लेख है[5]। दोनों पहले १¼ फ़ी सदी मासिक सूद बतला कर आगे वर्णों के क्रम से २, ३, ४, ५ फ़ी सदी सूद बतलाते हैं—वह मनु की चलाई हुई बात प्रतीत होती है—, और याज्ञवल्क्य आगे कहता है कि जो जैसा निश्चित कर ले। ऊपर जिन अभिलेखों को उद्धृत कर आये हैं, उन से अच्छी धरोहरों पर ¾ फ़ी सदी और १ फ़ी सदी मासिक सूद जाना जाता है; किन्तु यह वह दर थी जो कि उस समय के बैंक दूसरों की धरोहरों पर देते थे; वे स्वयं अवश्य अधिक दर पर उधार देते रहे होंगे।

विष्णुस्मृति (७. ३) में लेखों या करणों के राजकीय अधिकरण में राजसाक्षिक होने अर्थात् रजिस्टरी कराये जाने का उल्लेख है[6] और हम ने देखा कि समकालीन अभिलेखों में भी शहरों की निगम-सभाओं के

---

[1] ८. १३६ प्र।

[2] २. ३७ प्र।

[3] २. ६१।

[4] मनु० ८. १६७; याज्ञ० २. ६१।

[5] मनु० ८. १५७; याज्ञ० २.३८।

[6] मनु और याज्ञ० पृ० १६०।

फलकवारों अर्थात् लेखा-दफ़्तरों में दान आदि के निबन्धापन या रजिस्टरी का स्पष्ट निर्देश है। फलकवार शब्द की यह व्याख्या की गई है कि उन दफ़्तरों में बहुत से फलक अर्थात् अलमारियाँ रहतीं थीं। इन अभिलेखों से तो यह सिद्ध होता है कि यह निबन्धापन का कार्य राजकीय दफ़्तरों का नहीं, प्रत्युत निगम-सभाओं का था, यहाँ तक कि राजकीय दानों का लेखा भी निगम-सभायें करतीं, और उन्हें उस कार्य का अधिकार चरित्र अर्थात् समय-कृत कानून से मिला था। किन्हीं जनपदों के चरित्र के अनुसार वह काम निगम-सभाओं के हाथों में रहा हो, और किन्हीं में राजकीय अधिकरणों (दफ़्तरों) के हाथों में, सो भी पूरी तरह सम्भव है।

मनुस्मृति में गाड़ियों नावों जहाज़ों आदि के तर (उतराई) के विषय में भी नियम हैं[1]; तर का ठहराव इन स्मृतियों में एक नया मामला है, जो वाणिज्य की वृद्धि को सूचित करता हैं।

सम्भूय-समुत्थान का विषय कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी था, और हम देख चुके हैं कि वहाँ वणिजों (वैदेहकों) की अपेक्षा ऋत्विजों के सम्मिलित कार्य करने की विशेष चर्चा है, और किसानों के सामुदायिक कार्यों का भी उल्लेख है। याज्ञवल्क्य इस विषय की विवेचना "लाभ के लिए समवाय से (मिल कर) काम करने वाले वाणिजों" के उल्लेख से शुरू करता है, और उस समूची विवेचना में वणिजों की ही चर्चा है; केवल अन्त में लिखा है कि ऋत्विक् कर्षक और कर्मियों (किसानों और मज़दूरों) की भी यही विधि है। स्पष्ट है कि समवाय से काम करने का प्रमुख नमूना अब वणिजों का था। समवायों और शिल्पियों के समूहों में याज्ञवल्क्य स्पष्ट भेद करता है,—समूह कानून की दृष्टि में एक व्यक्ति की तरह काम करते, ऋण लेते देते, सम्पत्ति रखते और निपटाते थे,

---

[1] ८. ४०४ प्र।

समवायों का प्रत्येक व्यक्ति अपनी ज़िम्मेदारी पर सब काम करता और केवल सामवायिक कार्य में अपने द्रव्य (पूंजी) के या संविद् के अनुसार अंश देता और पाता था। समूहों का व्यक्तित्व केवल आर्थिक नहीं, प्रत्युत राजनैतिक और सामाजिक जीवन में भी था; इसी लिए समूहों का समय तोड़ना एक भारी अपराध था। किन्तु याज्ञवल्क्य सम्भूय-समुत्थान के विषय का भी फ़ौजदारी प्रसंग में विचार करता है, जिस का शायद यह अर्थ है कि उस विषय के मामलों का विचार भी कण्टक-शोधन अधिकरण (न्यायालय) करते होंगे[1]।

कृषकों के समवायों का उल्लेख कौटिल्य की तरह याज्ञवल्क्य भी करता है। इस से यह प्रतीत होता है कि सहकार का या सामुदायी कृषि का सिद्धान्त किसी न किसी रूप में कुछ न कुछ ज़रूर काम में आता था। कृषक लोग बिखर कर काम करते हैं, और वे प्रायः संकीर्ण विचारों के होते हैं; इसी कारण कृषि जैसे पेशे में समवाय के सिद्धान्त का बर्ता जाना सामूहिक जीवन की उत्कट सचेष्टता को सूचित करता है।

याज्ञवल्क्य विदेश में मरने वाले सम्भूय-समुत्थायी व्यापारी का उल्लेख करता है।[2] मिल कर और जान बूझ कर दाम बढ़ाने या घटाने वाले कारु और शिल्पियों की तथा मिल कर पण्य को रोकने और दाम बढ़ाने वाले व्यापारियों की भी चर्चा है[3]; और उन के अपराध को साहस (डकैती) के सदृश अपराधों में गिना है।

---

[1] मनु और याज्ञ० पृ० १७० ।

[2] २. २६४ ।

[3] २. २४९-५० ।

§ १९३. विदेशी वाणिज्य

अ. सातवाहन भारत सभ्य जगत् का मध्यस्थ

भारतीय अभिलेखों और वाङ्मय के उक्त उद्धरणों से सातवाहन युग की वाणिज्य-समृद्धि का जो अन्दाज़ होता है, विदेशी वाणिज्य के जाने हुए इतिहास से वह पूरी तरह पुष्ट होता है। भारतवर्ष के विदेशी वाणिज्य का क्षेत्र इस युग में बहुत फैल गया था। हम देख चुके हैं[1] कि चीन का भारतवर्ष और पश्चिमी देशों के साथ परिचय पहले पहल इसी युग में हुआ; चीन और भारत के बीच सुवर्णभूमि का जो विशाल प्रायद्वीप और द्वीपावली पहले जंगलों और जंगली जातियों से घिरी पड़ी तथा चीन और भारत के पारस्परिक सम्पर्क को रोके हुए थी उसे भी पहले पहल इसी युग में भारतवासियों ने बसाया। भारतवर्ष के एक तरफ़ अब सुवर्णभूमि और चीन थे तो दूसरी तरफ़ पार्थव तथा रोमन जगत्। इस युग के सभ्य संसार के ठीक केन्द्र में भारत था, इस कारण वह संसार के वाणिज्य का भी केन्द्र था।

इ. सें लें उक-वंशी सीरिया, प्तोलमायों के मिस्र और गणतन्त्र रोम के सम्बन्ध

पच्छिम तरफ़ सिकन्दर के साम्राज्य के उत्तराधिकारियों में से तीन मुख्य थे—एक सीरिया के सें लें उक-वंशियों का साम्राज्य, दूसरे मिस्र के प्तोलमायों का राज्य, और तीसरे मकदूनिया के अन्तिगोन-वंशजों का राज्य। पहले दो राज्यों के तट पर भारतवर्ष का अरुणोदधि (एँरुथ्र सागर) सीधा लगता था; मौर्यों के समय उन दोनों के राजदूत भारत

---

[1] ऊपर § १७५—पृ० ८०३-४; § १७६।

में उपस्थित रहे थे[1], और अशोक के दूत तो मकदूनिया और उस के पड़ोस के छोटे बड़े सभी यवन राज्यों में गये थे[2]।

मिस्र से पहले तोलमाय सोतेर (३२३-२८५ ई० पू०) ने अलक्सान्द्रिया में एक बड़े पुस्तकालय की स्थापना की; उस के उत्तराधिकारी, अशोक के समकालीन, दूसरे तोलमाय फिलादेल्फ[3] (२८५-२४७) तथा तीसरे तोलमाय एवुर्गेत (२४६-२२२) के समय अलक्सान्द्रिया पश्चिमी जगत् में विद्या का प्रमुख केन्द्र बन गया। पश्चिमी जगत् में जिस पेड़ की छाल पर उस युग के ग्रन्थ लिखे जाते उस का आविष्कार पहले पहल ३००० ई० पू० के लगभग प्राचीन मिस्रियों ने ही किया था; इस युग में भी वह केवल मिस्र में ही होता। मिस्र की सहज शस्य-सम्पत्ति के कारण तथा रोम और भारत के ठीक बीच व्यापार-मार्ग के काबू करने के कारण ये तोलमाय बड़े धनी भी थे। इन सब कारणों से उन का देश समृद्धि और संस्कृति का केन्द्र बन गया। उन की राजधानी अलक्सान्द्रिया में पूरबी और पच्छिमी वाणिज्य धाराओं का संगम होता। यूनानी होते हुए भी इन प्तोलमायों ने मिस्र के पुरानी मिस्री राजाओं—फ़राओं—की अपने रहन-सहन शान-शौकत आदि अनेक बातों में नकल की, तथा मिस्री ज्ञान का बहुत कुछ पुनरुद्धार किया। जिसे हम लाल सागर कहते हैं उस के और नील नदी के बीच कम से कम १३वीं शताब्दी ई० पू० से एक नहर थी जिस का वही उपयोग था जो आजकल स्वेज़ का है। मिस्र की स्वाधीनता के अन्तिम युग के कमज़ोर राजाओं के समय मरम्मत न होने से वह बन्द हो गई थी; ६०० ई० पू० के करीब एक फ़राओं ने उसे

---

[1] ऊपर §§ १२६. १३१,—पृ० ५५३, ५६३-६४।

[2] ऊपर § १३५—पृ० ५८६-८७।

[3] ऊपर § १३६ उ—पृ० ५९६।

खोलने का जतन किया; और फिर मिस्र के हखामनियों के अधीन हो जाने पर दारयवहु[1] ने उसे ठीक ठीक खोल कर जारी किया। प्तोलमायों के युग में इस नहर की अवस्था कभी कैसी कभी कैसी रही। जब वह नहर न चलती तब भी लाल समुद्र के उत्तरी छोर से नील नदी तक एक अच्छा रास्ता चलता रहता। भारतीय व्यापारी अलक्सान्द्रिया तक पहुँचते थे। लाल सागर और नील नदी के बीच के उस रास्ते पर सोफोन (=शोभन ?) नामक एक भारतीय का छोटा सा यूनानी अभिलेख पाया गया है[2]।

इन प्तोलमायों के विषय में एक बात और उल्लेखयोग्य है रोम की नई उठती शक्ति से मकदूनिया का जहाँ सदा विरोध रहा, वहाँ इन की सदा मैत्री रही। अशोक के समकालीन प्तोलमाय दूसरे केले समय पहले पहल २७३ ई पू० में रोम और मिस्र की सन्धि हुई; फिर प्तोलमाय चौथे फिलोपातेर के समय २१० ई० पू० में वह दोहराई गई। जब २०५ में वह मरा उस का बेटा पाँचवाँ तोलमाय एपिफान पाँच बरस का बच्चा था; मकदूनिया का राजा फिलिप पाँचवाँ और सीरिया का सम्राट् अन्तिओक तीसरा[3] उस के राज्य को हड़पना चाहते थे; उस दशा में उस के अभिभावकों ने रोम की सेॅनेट (समिति) को उस का संरक्षक बना दिया। मिस्र तभी से रोम का संरक्षित राज्य रहा।

इस तोलमाय एपिफान (२०४—१८१ ई० पू०) के दूसरे उत्तराधिकारी तोलमाय एवुर्गेत दूसरे के समय (१४६—११७ ई० पू०) एक

---

[1]ऊपर § १०५—पृ० ४०८-६।

[2]रालिन्सन की इन्टरकोर्स बिटविन इण्डिया ऐंड दि वेस्टर्न वर्ल्ड (भारत और पच्छिमी जगत् के बीच सम्पर्क, २य संस्क०, कैम्ब्रिज १९२६); पृ० ९९ पर उद्धृत।

[3]ऊपर § १४८—पृ० ७०७-८।

घटना बड़े महत्त्व की हुई। यद्यपि प्राचीन भारतवासियों का अरब और मिस्र तक जाना आना था, और कभी कभी उन के भूले भटके जहाज़ और आगे तक भी पहुँच जाते थे, और यद्यपि दारयहु का नावध्यक्ष स्कुलाक्स सिन्ध के मुहाने से स्वेज़ तक के रास्ते को टटोल चुका था, तो भी पिछले मौर्य युग में भारतवर्ष का माल सीधा मिस्र तक प्रायः कम जाता, वह जहाज़ों में फ़ारिस की खाड़ी तक पहुँचता और फिर सीरिया के स्थलमार्ग से पच्छिम जाता। उक्त तोलमाय के समय लाल समुद्र के तट के सरकारी कर्मचारी अलक्सान्द्रिया में एक भारतीय को लाये जिसे उन्हों ने अकेले एक नाव में भूखे प्यासे बहते पाया था। पहले तो वे कर्मचारी पहचान न पाये कि वह नाविक कौन है, किन्तु यूनानी भाषा कुछ सीख लेने पर उस ने अपना पूरा परिचय दिया। वह भारतवर्ष से एक जहाज़ में चला था, समुद्र में राह भूल जाने से उस का जहाज़ महीनों भटकता रहा और उस के साथी एक एक कर के सब भूख से मर गये थे। उस ने कहा कि यदि उसे एक जहाज़ दिया जाय तो वह मिस्र के यूनानियों को भारत पहुँचने का रास्ता दिखा सकता है। पच्छिम एशिया का एँवुदोक्स (Eudoxus) नामक एक पराक्रमी यूनानी भू खोजी तब मिस्र में ही था; और राजा एवुर्गेत ने उस भारतीय को एक जहाज़ दे कर एवुदोक्स को उस के साथ भेज दिया। अपना माल भारत में बेच कर उस के बदले में वे लोग रत्न और मसाले लाये, जिन्हें लालची एवुर्गेत ने ज़ब्त कर लिया। एवुर्गेत की मृत्यु के बाद ११२ ई० पू० में रानी क्लेओपात्रा ने एवुदोक्स को फिर एक बार भारत भेजा, पर उस बार लौटते समय वह लाल समुद्र में न घुस सका और बह कर अफ़रीका के तट पर जा लगा। उस के बाद अलक्सान्द्रिया पहुँच कर उस ने अफ़रीका का चक्कर लगाने का दो बार जतन किया, और उसी में उस की मृत्यु हुई। उस की दो यात्राओं के फल-स्वरूप मिस्र के यूनानियों के जहाज़ सीधे भारत जाने-आने लगे। उसी सिल-

खिले में अदन की खाड़ी के सामने एक द्वीप में यूनानियों ने अपना एक उपनिवेश बसाया जिसे इन्हों ने दिओस्कोरिद (Dioscorides) कहा। वही आजकल का सोकोतरा है। प्राचीन काल के अन्त—छठी शताब्दी ई०—तक वह यूनानी बस्ती बनी रही।

दूसरी शताब्दी ई० पू० में मध्य एशिया में जातियों की उथल-पुथल और सीरिया के यूनानी राज्य में अव्यवस्था रहने से भारतीय वाणिज्य मिस्र के साथ विशेष रूप से बढ़ता गया। मिस्र के और आगे भी कभी कभी भारतीय नाविक पहुँचते। १०० ई० पू० के करीब जब किन्तु मेतेल्लु केलेर (Quintus Metellus Celer) रोम की तरफ़ से गॉल (=आधुनिक फ्रांस) का उप-प्रमुख था, एॅल्ब नदी के मुहाने पर रहने वाली सुएव नामक जर्मन जाति के राजा ने उस के पास कुछ भारतीय वणिजों को पहुँचाया था, जिन के जहाज़ को एक तूफ़ान बहा कर जर्मनी के तट पर ले गया था[1]। वे व्यापारी रोम-सागर (तथा-कथित भूमध्यसागर) को 'हेरक्ले के थंभों' (आधुनिक जिब्राल्तर) पर लांघ कर अतलान्तिक सागर में निकले थे या अफ़रीका का चक्कर लगा कर, सो भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या है।

उ: रोम पार्थव भारत और चीन साम्राज्यों का स्थल-वाणिज्य

दूसरी शताब्दी ई० पू० में जब भारतवर्ष और यूनानी मिस्र के बीच इस प्रकार व्यापार चलता था, तब पच्छिम एशिया और पूरबी युरोप में एक नई राजनैतिक शक्ति का उदय हो रहा था। २०५ ई० पू० में मिस्र के रोम के संरक्षण में आने के बाद इन देशों में रोम की शक्ति लगातार

---

[1] मैक्रिंडल—एन्श्येंट इण्डिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर (प्राचीन भारत यूनानी-रोमन वर्णनानुसार) पृ० ११० पर प्लिनी का उद्धरण।

बढ़ती गई। सीरिया के जिस अन्तियोक (तीसरे) महान् ने इधर वाख्त्री पर चढाई और काबुल तक की यात्रा की थी,[1] उसी ने १९२ ई० पू० में यूनान पर चढ़ाई की—यूनान के छोटे छोटे नगरसंघों के पारस्परिक झगड़े में वह एक तरफ़ था, और रोम दूसरी तरफ़। १९१ ई० पू० में थर्मापली की प्रसिद्ध घाटी पर हार कर वह वापिस लौटा। दूसरे बरस रोमन वेड़े और रोमन सेना ने एशिया प्रान्त में उस की सेनाओं को हराया और उस का वेड़ा छीन लिया। फिर १७०-१६९ ई० पू० में अन्तिओक महान् के दूसरे बेटे अन्तिओक चौथे ने छठे सोलमाय फिलोमेतेर (१८१—१४७ ई० पू०) के राज्य पर चढ़ाई की तब रोमन दूतों की धमकी से उसे १६८ में एकाएक मिस्र से निकल जाना पड़ा। उस घटना से मिस्र और सीरिया दोनों यूनानी राज्यों की रोम के मुकाबले में निःशक्तता सिद्ध हुई। अगले बरस (१६७ ई० पू०) रोम ने मकदूनिया के राज्यवंश को समाप्त कर दिया, और फिर १४८-१४६ ई० पू० में मकदूनिया तथा यूनान को अपना प्रान्त बना डाला।

१३३ ई० पू० में एशिया के पच्छिम छोर पर पेर्गामुम् नामक यूनानी नगर का राजा मरा और वह अपना देश रोमन जनता को वसीयत कर गया। वह प्रदेश रोम का एशिया प्रान्त बना। रोम-सागर के इस पार रोम का पहला प्रदेश वही था। सीरिया का यूनानी राज्य तब स्वयं शीर्ण हो रहा था, और काले सागर और वर्कान सागर के बीच उस के भूतपूर्व सामन्त आर्मीनिया, पोन्तु आदि छोटे छोटे राज्य स्वतन्त्र हो गये थे। इन राज्यों से रोम की मुठभेड़ शुरू हुई; दूसरी तरफ़ पार्थव इन्हें अपना ग्रास समझते थे।

ठीक इसी समय तो पार्थव साम्राज्य भी अपने पूरे उत्कर्ष पर था, और उस के एक तरफ़ जहाँ यूनानी राज्यों को समाप्त करते हुए रोमन

[1] ऊपर § १४८—पृ० ७०७-८।

आ पहुँचे थे, वहाँ दूसरी तरफ़ भी एक यूनानी उपनिवेश को समाप्त कर रोमनों की भापा से मिलती-जुलती भापा बोलने वाले तुखार लोग आ बसे थे। दोनों के बीच पार्थव राज्य एक दृढ़ चट्टान की तरह डटा रहा जिस पर रोमन और तुखार समुद्रों की अनेक लहरें टकरा टकरा कर टूटती रहीं। कोई रोमन सेनापति सिकन्दर की तरह फ़ारिस को कभी न लाँघ सका; रोमनों की पार्थवों से लड़ाइयों का अन्तिम लक्ष फ़रात और दजला का दोआब—लातीनी शब्द मेसोपोतामिया का अर्थ ही दोआब है—और उस के उत्तर के काले सागर और वर्कान सागर के बीच के प्रदेश ही रहे; और उन लक्षों को पाने में भी वे प्रायः विफल ही होते रहे। उन प्रदेशों के लिए रोम का ललचाना मुख्यतः भारतीय उत्तरापथ और चीन के व्यापार के लिए था।

हम देख चुके हैं[1] कि चीन और पच्छिमी जगत् का सम्पर्क भी पहले पहल दूसरी शताब्दी ई० पू० के अन्तिम अंश में ही हुआ था। रोम का पूरब और चीन का पच्छिम फैलना साथ साथ की घटनायें थीं। मिथूदात दूसरे का पार्थव राज्य दोनों के बीच था। १२० ई० पू० में सम्राट् वू-ती के दूत मिथूदात के पास पहुँचे; उधर ९२ ई० पू० में पच्छिम एशिया के रोमन प्रदेश में सुल्ला नामक प्रसिद्ध रोमन प्रादेशिक अनुशासक था, उस के साथ भी तब मिथूदात की व्यापार-विपयक बातें हुईं। चीन का रोम के साथ व्यापार बहुत कुछ भारत द्वारा होता, किन्तु उस का एक अंश मध्य एशिया से सीधे वर्कान-सागर पहुँचता और आगे सीरिया की तरफ़। इस अंश को अपने काबू रखने को पार्थव राजा सदा सजग रहे, और रोमन इसी के लिए ललचाते रहे। यदि किसी तरह रोम-साम्राज्य की सीमा वर्कान-सागर तक भी

[1] ऊपर § १७९—पृ० ८०३-४।

पहुँच पाती तो चीन का माल मध्य एशिया द्वारा उस के पूरबी तट पर पहुँच उस सागर को पार कर पार्थवों को चुङ्गी दिये बिना सीधे रोमन साम्राज्य में पहुँच सकता। किन्तु रोम का साम्राज्य मुश्किल से काले सागर के दक्खिन तक पहुँच पाया, और उस के तथा वर्कान-सागर के बीच आर्मीनिया का पहाड़ी प्रदेश और कौकास (Caucasus) पर्वत थे, जो आधुनिक युग के रूसी और ब्रिटिश साम्राज्यों के बीच अफ़ग़ानिस्तान और हिन्दूकुश पर्वत की तरह थे। बहुत ही थोड़े समय के लिए एक आध बार रोम उन पर अधिकार कर सका।

पच्छिम एशिया में रोम के प्रवेश करने के बाद आधी-पौनी-शताब्दी तक तो काले सागर तट के पोन्तु तथा आर्मीनिया राज्यों के साथ रोम की मुठभेड़ रही। पोन्तु का राजा मिथ्रदात छठा (१२०—६३ ई० पू०) अपने अन्तिम समय तक रोमनों के दाँत खट्टे करता रहा। आर्मीनिया के तिग्रान पहले (९५-- ५५ ई० पू०) ने जो पार्थव मिथ्रदात दूसरे की मृत्यु (८८ ई० पू०) के बाद स्वतन्त्र हो कर राजाधिराज पद धारण कर बैठा था, पहले तो पोन्तु के मिथ्रदात को शरण दी, और सीरिया में अपनी सेना भेजी, पर ६८ ई० पू० में उस की हार हुई। इन से निपटने के बाद ६४-६३ ई० पू० में रोमनों ने सीरिया को अपना प्रान्त बना डाला; तब से रोमन और पार्थव साम्राज्य एक दूसरे के सीधा आमने-सामने हुए। ५३ ई० पू० में जब रोम का जगत्-प्रसिद्ध सेनापति युलिउ काएँसार (Julius Caesar) राइन नदी पार कर जर्मनी को जीत रहा था, उस का साथी क्रास्सु फ़रात पार कर पार्थवों के खिलाफ़ बढ़ा, और कार्हाए की लड़ाई में बुरी तरह हार कर मारा गया! ४१ ई० पू० में पार्थव सम्राट् पकुर ने सीरिया और एशिया पर चढ़ाई की, एक रोमन सेनापति उस के पक्ष में जा मिला था। ३९ ई० पू० में पकुर को फ़रात के पूरब लौटना पड़ा, और ३८ में वह लड़ता हुआ मरा; किन्तु जब दो बरस बाद युलिउ काएँसार का मित्र आन्तोनि कार्हाए का

बदला लेने के इरादे से आगे बढ़ा तब उसे हार कर भागना पड़ा। ३० ई० पू० में जब काएँसार के दत्तक पुत्र ओक्ताविओं से हारने पर आन्तोनि ने तथा उस के साथ उस की प्रेमिका और मिस्र के सोलमाय वंश की अन्तिम प्रतिनिधि क्रेओपात्रा ने आत्मघात कर लिया, तब मिस्र भी रोम के सीधे शासन में चला गया। तीन बरस पीछे विजेता ने औगुस्त पद धारण किया और रोम का गण-राज्य असल में एक एकराज्य बन गया। २० ई० पू० में औगुस्त स्वयं एशिया में आया, और पार्थवों ने काहांए के रणक्षेत्र में छीने रोमन झंडे उसे लौटा दिये। औगुस्त ने आर्मीनिया में अपना कठपुतली राजा खड़ा किया। किन्तु वह योजना निभ न सकी। पार्थवों ने रोम के खड़े किये हुए आर्मीनिया के राजाओं को अपना शिकार माना। सम्राट् नेरो के समय (५४—६८ ई०) रोम ने आर्मीनिया का राजा चुनने का दावा छोड़ दिया, और वेस्पासिआन् के समय (७०—७९ ई०) रोमन छावनियाँ आर्मीनिया की पच्छिम सीमा तक ही रह गईं।

यह तो उन जतनों का संक्षिप्त वृत्तान्त है जो रोम के अनुशासकों ने भारतीय उत्तरापथ और चीन का वाणिज्य अपने हाथ में लेने को किये। साधारण जनता में भी उस वाणिज्य के लिए बड़ी अभिरुचि थी। ईसाब्द के आरम्भ-वर्षों में इसिदोर नामक एक यात्री अपनी मातृभूमि सीरिया से वर्कान और पार्थव प्रदेशों को लाँघता हुआ हरउवती तक पहुँचा। रोमन जगत् के पूरबी स्थल-वाणिज्य-मार्ग को टटोलना उस की यात्रा का ध्येय था। हरउवती को वह सफ़ेद हिन्द कहता है; और वहाँ उसे चीनी व्यापारी भी मिले। पार्थव पड़ाव[1] नामक उस की लिखी पुस्तक विद्यमान है।

[1]शौफ़ द्वारा सम्पादित और अनूदित—दि पार्थियन स्टेशन्स आव दि इसिदोर आव खरक्स (खरक्स के इसिदोर के पार्थव पड़ाव); फ़िलेड-ल्फ़िया (अमरीका), १९१४।

.उधर यदि रोम चीन का रास्ता टटोलने को उत्सुक था, तो इधर चीन भी ता-चीन अर्थात् रोमन जगत् तक पहुँचने को वैसा ही आतुर था। चीन का पच्छिम तरफ़ पहला बढ़ना दूसरी शताब्दी ई० पू० के अन्त में हुआ, जिस का उल्लेख पीछे हो चुका है[1]। १०२ ई० पू० में खोकन्द (फ़र्ग़ाना) तक चीनी सेनायें पहुँचने के बाद चीन की वाणिज्य-धारा पच्छिमी देशों की तरफ़ बाकायदा बहने लगी। दूसरा बढ़ाव फिर सम्राट् हो-ती के राज्यकाल में सुप्रसिद्ध पान-छाओ की नायकता में हुआ (७३—१०२ ई०), उस का भी उल्लेख हो चुका है[2]। चीन का प्रभुत्व तब वर्कान सागर के पूरबी छोर तक पहुँच गया। पिछले हान इतिहास में लिखा है कि पान-छाओ ने ९७ ई० में दूत रूप से कान-मिंग् को ता-चीन की तरफ़ भेजा; कान-मिंग की मंडली जब बड़े समुद्र के तट पर पहुँची और जहाज़ पर चढ़ती, तब पार्थव नाविकों ने उन्हें बतलाया कि समुद्र बड़ा विस्तृत है, यदि वायु अनुकूल हो तो तीन मास लगेंगे और यदि प्रतिकूल हो तो दो बरस, यहाँ से जो लोग जाते हैं वे तीन बरस की रसद साथ ले कर चलते हैं, समुद्र में खतरा भी बहुत है। यह सुन कान-मिंग आगे न बढ़ा। बड़े समुद्र से पहले वर्कान-सागर समझा जाता था, पर अमरीकन विद्वान् हिर्थ ने सिद्ध किया है कि फ़ारिस की खाड़ी से अभिप्राय है, और वहाँ से स्वेज़ तक जाना ही कानमिंग् को अभीष्ट था।

भारतवर्ष के इतिहास में रोम और चीन के बीच के वाणिज्य का विशेष महत्त्व है। उस वाणिज्य में उपरले हिन्द की भारतीय बस्तियों का प्रमुख हिस्सा था। उस के अतिरिक्त, उपरले हिन्द को लाँघ कर काशगर से फ़र्ग़ाना होते हुए वर्कान सागर की तरफ़ सीधा पच्छिम को

---

[1] § १७५—पृ० ८०३-४।

[2] § १८० इ—पृ० ८४१-४२।

उस का एक अंश ही जाता; उस का मुख्य अंश तो काशगर या यारकन्द से कम्बोज देश में घुस कर वंक्षु की दून द्वारा या अफ़ग़ानिस्तान के रास्ते फ़ारिस-खाड़ी की तरफ़ जाता था। और जब पान-छाओ के बाद उपरला हिन्द और मध्य एशिया का बड़ा अंश भारतवर्ष के ऋषिक-तुखार राजाओं के अधिकार में रहा, तब तो वही उस वाणिज्य के मुख्य संरक्षक थे। और उन्हों ने जो अपने सोने के सिक्के चलाये उन का तोल उस समय पच्छिम एशिया में उपस्थित चाँदी और सोने के पारस्परिक अनुपात के अनुसार वाणिज्य की सुविधा करने के लिए निश्चित किया गया था,[1] जिस से यह प्रकट होता है कि पच्छिम एशिया और उत्तरपच्छिम भारत के बीच वाणिज्य की खुली धारा बहती थी, जिस से दोनों देशों में धातुओं का पारस्परिक अनुपात एक ही रहता।

माणिक्याला स्तूप के भीतर से रोमन गणराज्य के अन्तिम युग के सात चाँदी के सिक्के पाये गये हैं; उसी प्रकार जलालाबाद के पास अहिनपोश स्तूप के भीतर से कफ्स, कनिष्क और हुविष्क के सिक्कों के साथ साथ रोमन सम्राट् दोमीतिआन, त्रायान और हाद्रिआन के। इमारतों की बुनियाद में प्रचलित सिक्के रखने का रिवाज हमारे देश में अब तक है। हज़ारा रावलपिंडी कन्नौज इलाहाबाद मिर्ज़ापुर चुनार आदि के बाज़ारों से भी रोमन सिक्के पाये गये हैं[2]। इस से प्रतीत होता है कि पहली शताब्दी ई० में रोमन सिक्का उत्तरपच्छिम भारत में काफ़ी प्रचलित था। वह अवस्था सचेष्ट व्यापार के द्वारा ही हो सकती थी।

रोमन साम्राज्य का सब से अधिक विस्तार और गौरव सम्राट् त्रायान् (९८—११७ ई०) के समय रहा। ११४ ई० में त्रायान् ने

---

[1] ज० रा० ए० सो० १९१२, पृ० १००१ प्र।

[2] दे० सिवेल का लेख—भारत में प्राप्त रोमन सिक्के, ज० रा० ए० सो० १९०४, पृ० ५९१ प्र।

स्वयं पूरब चढ़ाई की और ११५ में वह दजला पार तक पहुँच गया, किन्तु पीछे विद्रोह हो जाने से उसे लौटना पड़ा, और लौटते हुए राह में ही मर गया। उस के उत्तराधिकारी हाद्रिआन् (११७—३८ ई०) ने शुरू में ही पार्थव राज्य से सन्धि कर ली, और आर्मीनिया तथा मेसोपोतामिया पर दावा छोड़ दिया। हाद्रिआन् के दूसरे उत्तराधिकारी मार्क औरेलि आन्तोनि (१६१—८० ई०) के राज्यकाल के आरम्भ में पार्थवों ने फिर लड़ाई छेड़ी, किन्तु पाँच बरस के युद्ध के बाद उन्हें मेसोपोतामिया और आर्मीनिया का अधिकार छोड़ना पड़ा।

ऋ. रोम-साम्राज्य और भारत का जल-वाणिज्य

रोमनों और पार्थवों की उक्त लड़ाइयों का जो भी परिणाम होता उस का चीन और भारतीय उत्तरापथ के स्थल-वाणिज्य पर तथा फ़ारिस-खाड़ी द्वारा होने वाले जल-वाणिज्य पर प्रभाव हो सकता था; किन्तु मिस्र के साथ जो भारतवर्ष का समुद्र-मार्ग से सीधा वाणिज्य चलता था उस पर इन युद्धों का कुछ भी प्रत्यक्ष प्रभाव न होता। १०० ई० पू० के करीब भारतीय वणिजों का भटक कर भी जर्मनी जा पहुँचना यह सूचित करता है कि दूसरी शताब्दी ई० पू० के अन्त में वे रोम-सागर में भी जाते आते थे।

रोम में साम्राज्य स्थापित होने और मिस्र के उस साम्राज्य में सम्मिलित होने के बाद से भारत और रोम का व्यापार और भी बढ़ा। औगुस्त के सम्राट् बनने की खबर भारत में शीघ्र पहुँच गई, और कई भारतीय राज्यों के दूत उसे बधाई देने पहुँचे। उन में से मुख्य एक बड़े राजा के दूत थे जिस का नाम स्त्राबो ने पोरु लिखा है, और दूसरे लेखकों ने पाण्ड्य। वह राजा 'छः सौ राजाओं का अधिपति' था; उस के दूत भरुकच्छ से २५ ई० पू० में रवाना हो कर चार बरस में औगुस्त के पास पहुँचे। उन्हें इतना समय लगने का कारण यह था कि वह रोम

के पहले सम्राट् को अजब अजब चीजें भेंट करने लाये थे—बाघ, भारी भारी कछुए, बाज के बराबर का एक कबूतर, एक लूला लड़का जो पैर से तीर चलाता था, इत्यादि! और यह सब सामान और कीमती भेंटें ढोते हुए वे फ़ारिस के आगे स्थल के रास्ते बढ़े थे। पाण्डय राजा छः सौ राजाओं का अधिपति कभी न था, इस लिए स्त्राबो का कथन ही ठीक है कि वे दूत राजा पोरु ने भेजे थे। अध्यापक रालिन्सन का कहना है कि वह पोरु कफ्स पहला अर्थात् राजा कुशाण था[1]; किन्तु कुशाण २५ ई० पू० तक एक साधारण सरदार था, और वह ६०० राज्यों का अधिपति कभी नहीं बना; तीसरे, भरुकच्छ उस के राज्य का बन्दरगाह नहीं था। वह सातवाहनों का बन्दरगाह था, और मुझे इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं है कि स्त्राबो का पोरु गौतमी बालश्री का पोता वासिष्ठीपुत्र पोलुमावि या पुळुमावि ही था। कुछ लेखकों ने जो पाण्ड्य नाम लिखा है वह भी पुळुमावि के दूसरे रूप पुदुमावि के यूनानी रूपान्तर का अपपाठ प्रतीत होता है। २७ ई० पू० में यदि औगुस्त रोम का पहला सम्राट् बना तो पुळुमावि ने भी तभी मगध-साम्राज्य को जीता था, और सातवाहन सम्राट् का रोम-सम्राट् से मैत्री का प्रस्ताव करना सर्वथा संगत था। और उस प्रस्ताव का उद्देश दोनों साम्राज्यों के वाणिज्य को बढ़ाना ही था। इसी युग में पच्छिमी जगत् में एक और घटना हुई जिस से यूनानी-रोमन जहाज़ों का भारतवर्ष आना जाना बहुत बढ़ गया। १०० ई० पू० तथा ५० ई० के बीच कभी—अधिक सम्भव है कि उस अवधि के अन्तिम अंश में—हिप्पाल नाम का एक नाविक हुआ जिसे यूनानी-रोमन जगत् में पहले-पहल भारतीय समुद्र की मानसून हवाओं की गति-विधि का पता मिला। तब तक मिस्र से भारत तक जहाज़ों के जाने आने में दो

---

[1] पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० १०७-८।

बरस लगा करते थे, तब से दो के बजाय एक बरस लगने लगा। इस प्रकार रोमन जहाज़ों का भारत आना बहुत बढ़ गया।

भारतवर्ष से समुद्र के रास्ते हाथीदाँत का सामान, अनेक प्रकार के गन्ध और औषध, मोती, वैदूर्य आदि रत्न, काली मिरच लौंग आदि मसाले, रेशमी और सूती कपड़े आदि बड़ी मात्रा में हर साल जाते और उनके बदले में मुख्यतः सोना आता था। सम्राट् दोमीतिआन (८१—९६ ई०) के समय रोम नगरी में एक मरिच-भण्डार स्थापित किया गया जिस में केरल से माल ला कर लगातार भर रक्खा जाता था। रोम में काली मिरच तब दो अशर्फ़ी की सेर बिकती, तो भी उस की बड़ी माँग रहती। राज्य को उस वाणिज्य से बडी चुंगी मिलती, और व्यापारियों को काम।

आधुनिक लाल सागर का पूरबी तट रोम-साम्राज्य में पहले सम्मिलित न था, त्रायान् के समय से उस का उत्तरी आधा हिस्सा जो फ़िलिस्तीन के ठीक दक्खिन लगा है रोम का अरब प्रान्त बना। रोम की सदा यह नीति रही कि भारतीय व्यापार लाल सागर के पच्छिम तट अर्थात् मिस्र द्वारा जाय, पूरबी तट से न जाने पाय, क्योंकि साम्राज्य को उस व्यापार की चुंगी से भारी आमदनी थी। लाल सागर और नील नदी को मिलाने वाली नहर का भी त्रायान् के समय खूब प्रयोग होता। नील-तट से लाल समुद्र तक कई सरकारी रास्ते भी थे। त्रायान् के समय अलक्सान्द्रिया में भारतीय व्यापारी अच्छी संख्या में रहते थे।

भारतवर्ष के नफ़ीस और बारीक कपड़े की रोम में बड़ी माँग रहती। ७७ ई० में प्लिनी नामक प्रसिद्ध रोमन लेखक ने लिखा कि भारतीय माल रोम में आ कर सौ गुनी कीमत पर बिकता है, उस के द्वारा भारतवर्ष रोम-साम्राज्य से हर साल ५$\frac{१}{२}$ करोड़ सेस्तर्के (=लगभग ६ लाख अशर्फ़ी) खींच ले जाता है, और यह कीमत हमें अपनी ऐयाशी और अपनी

स्त्रियों के लिए देनी पड़ती है ! पेत्रोनि नामक लेखक ने रोमन स्त्रियों की बेपर्दगी की शिकायत करते हुए लिखा है कि वे बुनी हुई हवा के जाले (भारतीय मलमल) पहन कर अपना सौन्दर्य दिखाती हैं ! संगम्-युग के तामिल साहित्य में उन्हीं कपड़ों को साँप की काँचली और दूध की भाप की उपमा दी गई है। उस में यह उल्लेख भी है कि मुसिरि (आधुनिक क्रांगानूर) बन्दरगाह पर यवनों के जहाज़ आते जो सोना दे कर मसाले और अन्य माल ले जाते थे[1] । केरल में कई स्थानों की खुदाई में रोम के सिक्कों के बड़े ढेर पाये गये हैं जिन से इन ऐतिहासिक निर्देशों की सचाई सिद्ध हुई है[2] ।

भारत और रोमन मिस्र के उस व्यापार का एक और विचित्र स्मारक चिन्ह मिला है। दूसरी शताब्दी ई० का पेड़ की छाल पर लिखा एक यूनानी प्रहसन मिस्र से पाया गया है, जिस में एक यूनानी महिला की कहानी है। जिस जहाज़ में वह यात्रा करने चली, वह विप्रणष्ट हो कर भारत के तट पर जा लगा, और उस महिला को वहाँ के राजा की सभा में पहुँचाया गया। राजा ने जो शब्द कहे वे यूनानी उच्चारण के अनुसार उसी की भाषा में उद्‌धृत किये गये हैं; आधुनिक विद्वानों की विवेचना से सिद्ध हुआ है कि वे शब्द संस्कृतमयी कनाडी के हैं। इस से प्रकट है कि उस राजा की राजधानी कर्णाटक में थी; सम्भवतः वह सातवाहनों का सामन्त वैजयन्ती का कोई राजा था।

लृ. सुवर्णभूमि और चीन से सम्बन्ध

एरुथ्र् सागर की परिक्रमा के अनुसार तामिल लोग अपने जहाज़ स्वयं बनाते थे। उन के जहाज़ दो किस्म के थे, एक तो छोटे जो दामिरिक

---

[1] बिगिनिंग्स् पृ० १३४-३९।

[2] ज० रा० ए० सो० १९०४, पृ० २०० प्र, ६११ प्र।

(द्राविड, तामिल) तट पर ही घूमते, दूसरे बहुत बड़े जो गंगा सुवर्ण-भूमि और मिस्र तक जाते आते। प्रो० कृष्णस्वामी ऐयंगर तामिल साहित्य के आधार पर कहते हैं कि उन जहाज़ों के लिए वहाँ के बन्दरगाहों में ज्योतिःस्तम्भ भी होते थे। एक वैसा स्तम्भ कावेरी के मुहाने के बड़े बन्दरगाह में था; या तो वह ईंटों की मीनार थी, या एक बड़ा ताड़ का थंभा जिस के ऊपर एक तेल का भारी दिया जलता रहता।

ध्यान रहे कि मिस्र और रोम से भारत का जो व्यापार था, वह उस व्यापार का एक अंश-मात्र था जो कि पूरबी द्वीपों और सुवर्णभूमि के साथ तथा आगे चीन के साथ था। उन द्वीपों और सुवर्णभूमि में भारतवर्ष के अपने उपनिवेश और अपनी बस्तियाँ थीं, जिस कारण उधर का व्यापार कहीं अधिक होना स्वाभाविक था। उस की चर्चा पीछे हो चुकी है।

चीन के इतिहास में इस बात का उल्लेख है कि १६६ ई० में चीन-सम्राट् के दरबार में ता-चिन के राजा अनतुन से भेंट लिये हुए दूत आनाम की तरफ़ से—अर्थात् समुद्र की राह से—आये, और कि "वह एकमात्र अवसर था जब ता-चिन और चीन के बीच सीधा सम्पर्क हुआ।" रोमन सम्राट् मार्क औरेलि आन्तोनि ने चीन को कोई दूत भेजे हों ऐसा उल्लेख रोम के इतिहास में नहीं है; इस लिए आधुनिक विवेचकों का कहना है कि वे दूत सीरिया या मिस्र के व्यापारियों के भेजे हुए होंगे। जो भी हो, पच्छिमी और पूरबी जगत् के बीच सीधे सम्पर्क का युग में वह एकमात्र अवसर था; अन्यथा साधारण दशा में सदा उन दोनों जगतों के बीच भारतवर्ष मध्यस्थ का काम करता; चीनी व्यापारी भारत के पच्छिम न जाते, और रोमन जगत् के व्यापारियों की पहुँच भारत के पूरब न होती, जब कि भारतीय नाविक और व्यापारी दोनों दिशाओं से सम्बन्ध रखते थे।

§ १९४. राज्यसंस्था

अ. मूल निकायों की राजनैतिक शक्ति

प्राचीन भारतीय राज्यसंस्था का विचार हम सदा ग्राम श्रेणि आदि निकायों से शुरू करते हैं, कारण कि उस राज्यसंस्था की बुनियाद आरम्भ से—अर्थात् वैदिक युग से—ही ग्रामों पर निर्भर थी,[1] और बाद—महाजनपद युग तक—ग्राम के नमूने पर जो श्रेणि निगम आदि निकाय बने,[2] वे समूचे प्राचीन काल में उस राज्यसंस्था का आधार रहे। हम ने देखा है कि नन्दों और मौर्यों की एकराज्य-साधना में इन बुनियादी समूहों की शक्तियाँ केन्द्र-राज्य के हाथ में ले लेने की नीति प्रकट हुई थी[3]। मौर्य साम्राज्य के उत्तराधिकारियों के समय में उस नीति का क्या हुआ सो हमें अब देखना है।

सब स्मृतियों में समय-भेद या संविद्-व्यतिक्रम अर्थात् ठहराव को तोड़ना एक अपराध है, और समय में ग्राम आदि का समय गिना गया है। मनु कहता है—"जो आदमी ग्राम-देश-संघों की शपथ-पूर्वक संविद् कर के फिर लोभ से उसे तोड़ दे, उसे देशनिकाला दे दे। उस समय-व्यभिचारी को गिरफ्तार कर के उस से चार सुवर्ण वाले छः निष्क और चाँदी का शतमान दिलवाय। धार्मिक राजा ग्राम-जाति-समूहों में

---

[1]ऊपर §§ ६७ इ, ऋ, ६६ अ—ऋ।

[2]ऊपर §§ ८४, ८५, १४४ अ—विशेष कर पृ० २३२-३३, ४४१-४२।

[3]ऊपर §§ १४२, १४३, विशेष कर § १४२ उ।

समय-व्यभिचारियों के लिए इस प्रकार दण्ड-विधान करे।"[1] ग्राम आदि समूहों की कानूनी हैसियत तो इस से प्रकट है; किन्तु प्रश्न होता है कि वह केवल आर्थिक और सामाजिक जीवन में थी, या उन के कुछ राजनैतिक अधिकार भी थे।

राजनैतिक अधिकारों में सब से पहला कानून बनाने का हो सकता था। हम देख चुके हैं[2] कि कौटिल्य के समय देश ग्राम जाति और कुल के संघातों का अपना अपना धर्म व्यवहार और चरित था। मनुस्मृति में उन समूहों के धर्मों का उल्लेख इस प्रकार है—

"धर्मवेत्ता (=राजकीय धर्मस्थ, न्यायाधीश) जाति-जानपद धर्मों को श्रेणी-धर्मों को और कुल-धर्मों को देख कर अपने धर्म का प्रतिपादन करे। ...सत्पुरुषों और धार्मिक द्विजों का जो आचरण हो, वह देश-कुल-जातियों के विरुद्ध न हो तो स्थापित किया जाय।"[3] स्पष्ट है कि यहाँ जातियों जनपदों श्रेणियों और कुलों के धर्मों का उल्लेख है, किन्तु ग्रामों के धर्मों का नहीं। ग्रामों को अपनी व्यवस्थायें स्वयं बनाने का अधिकार देना या तो मनु को अभीष्ट नहीं था, और या मनु के समय तक ग्राम संस्थाओं की व्यवस्थापक शक्ति समाप्त हो चुकी थी।

---

[1]यो ग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम्।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत्॥
निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम्।
चतु.सुवर्णान् षण्णिष्कांश्छतमानं च राजतम्॥
एतद्दण्डविधिं कुर्याद्धार्मिकः पृथिवीपतिः।
ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम्॥ —८.२१९—२१

[2]ऊपर § १४१—पृ० ६२४।

[3]जाति-जनपदान् धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत॥८.४१॥

अपनी व्यवस्थायें बनाने के अतिरिक्त अपना आन्तरिक प्रबन्ध या अनुशासन करने और अपने अन्दर के मामलों का फ़ैसला करने के अधिकार इन समूहों के हो सकते थे। मनुस्मृति के ग्रामिक या ग्रामाधिपति विषयक सन्दर्भ[1] से डा० रमेश मजूमदार की दृष्टि में ग्रामों के सामूहिक अधिकार सिद्ध होते हैं[2]। किन्तु उस सन्दर्भ में शायद उलटी बात है। ग्रामिक वहाँ ग्राम का चुना हुआ अधिकारी है या राजा का नियुक्त किया हुआ, और उस के अधिकार प्रजा की शक्ति को सूचित करते हैं या राजा की, सो स्पष्ट नहीं है। यों तो वहाँ स्पष्ट रूप से प्रत्येक ग्राम के ऊपर, और फिर दस बीस सौ और हज़ार ग्रामों के समुदाय पर, तथा प्रत्येक नगर पर राजकीय अधिकारी नियुक्त करने का उल्लेख है। किन्तु ग्रामिक की हैसियत दूसरे अधिकारियों से कुछ भिन्न प्रतीत होती है। सार यह कि मनुस्मृति ग्रामों के संघों को स्वीकार तो करती है, पर उन के हाथ में विशेष राजनैतिक अधिकार नहीं सौंपती। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में समूहों के दमन की तथा केन्द्रराज्य की शक्ति को राष्ट्र की जड़ तक पहुँचाने की जो नीति प्रकट हुई थी, वही मनुस्मृति में भी दिखाई देती है। वह शुंगों की राजकीय नीति थी कि नहीं, और थी तो भारतवर्ष के किस किस हिस्से में कहाँ तक सफल हुई, इन प्रश्नों का उत्तर देना कठिन है। ऐसा जान पड़ता है कि शुंगो ने इस अंश में मौर्य नीति का अनुसरण किया, और साम्राज्य के केन्द्र प्रदेशों में उन की नीति कम से कम ग्राम निकायों को दबाने में कुछ सफल हुई।

शक-युग और तुखार-युग के कुछ एक अभिलेखों और अवशेषों से

सद्भिराचरितं यत्स्यात् धार्मिकैश्च द्विजातिभिः।
तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ८.४६ ॥

[1] ७: ११५—२१।

[2] सा० जी०, पृ० १४१-४२।

भी ग्राम और नगर निकायों के विषय में कुछ पता चलता है। नासिक की लेण सं० १८ के दरवाजे के ऊपर मेहराब के नीचे लेख है—नासिककनं धंबिकगामस दानम्—नासिक लोगों के धंबिक ग्राम का दान[1]। वह मेहराब उस ग्राम का सामूहिक दान है, और कम से कम आर्थिक और सामाजिक जीवन में उस ग्राम के सामूहिक व्यक्तित्व को सिद्ध करता है। प्रयाग के निकट सहजाति के प्रसिद्ध भीटे में मिट्टी की चार मोहरें मिली हैं, जिन पर तुखार-युग की लिपि में निगमस अंकित है[2]। उन से भी उस निगम का केवल सामूहिक व्यक्तित्व सिद्ध होता है। डा० मजूमदार ने इसी प्रसंग में दो और अभिलेखों का निर्देश किया है; एक साँची के

---

[1]ए० इं० ८, पृ० ९२। अर्थात् नासिक एक जन या निकाय का नाम था, और धंबिक उस के एक अंश या खाँप का। यह मो० सेनार का अर्थ है। नासिक निकाय के नाम से पीछे उस बस्ती का नाम भी नासिक पड़ गया जिस में वह निकाय बसा था; इन अभिलेखों में उस बस्ती का नाम गोवर्धन है; और इन से मो० सेनार के अर्थ की पुष्टि होती है, क्योंकि नासिक शब्द निकाय का ही नाम प्रतीत होता है। दूसरा अर्थ जो पं० भगवानलाल इन्द्रजी ने किया था यों है कि नासिक के लोगों द्वारा धंबिक गाँव दिया गया। डा० मजूमदार ने सेनार के अर्थ के मुकाबले में भगवानलाल का अर्थ पसन्द किया है। किन्तु यदि गाँव दिया गया होता तो किसे दिया गया इस बात का उल्लेख तो ज़रूर होता। दान का विषय गाँव नहीं प्रत्युत वह मेहराब है जिस पर यह पंक्ति खुदी है। इस युग के ब्राह्मी और खरोष्ठी अभिलेखों में निकायों के नाम दर्ज करने की चाल सब जगह है, और इस पंक्ति में निकाय का नाम ठीक उस जगह है जहाँ साधारणतया अभिलेखों में होता है।

[2]आ० स० इं० १९११-१२, पृ० ५६, सा० जी० पृ० १४६ पर उद्धृत।

स्तूप सं० २ की वेदिका पर का जिस में पाडुकुलिका ग्राम का एक दान दर्ज है; दूसरा अमरावती स्तूप पर का अभिलेख जिस में धञकटक निगम का दान दर्ज है[1]। वे दोनों दान भी धंविक ग्राम के दान की तरह हैं, और उन से ग्रामों और निगमों का सामूहिक व्यक्तित्व मात्र सिद्ध होता है; उन के राजनैतिक अधिकारों पर उन से कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। हम ने देखा है कि मनुस्मृति में दूसरे निकायों के धर्मों का उल्लेख है, पर ग्राम-निकायों का नहीं। मुझे यह प्रतीत होता है कि इस युग में ग्राम-निकायों की स्थिति दूसरे निकायों से भिन्न थी, और इसी लिए हमें ग्रामों और निगमों को इस युग में एक दर्जे की संस्थायें मान कर उन के विषय में इकट्ठा विचार न करना चाहिए। सामूहिक व्यक्तित्व तो सब का था—ग्रामों का भी बना हुआ था, किन्तु राजनैतिक शक्ति अब शायद ग्रामों के हाथ में पहले से कुछ भिन्न रूप में थी।

मथुरा के सं० ४ और ८४ के दो जैन अभिलेखों[2] का जिन में ग्रामियों का उल्लेख है, डा० मजूमदार ने निर्देश किया है[3]। वे लेख स्पष्टतः कनिष्काब्द के हैं। उन में से पहले में एक स्त्री का उल्लेख है जो ग्रामिक की भार्या तथा ग्रामिक की पतोहू थी। इस से प्रतीत होता है कि ग्रामिक का पद वहाँ वंशानुगत था। किन्तु एक ही अभिलेख के केवल इतने निर्देश से कोई परिणाम नहीं निकाला जा सकता; वह आकस्मिक घटना हो सकती है। तब ग्रामिक की हैसियत इस युग में क्या थी? वह ग्राम के लोगों द्वारा चुना हुआ होता था, या वंशानुगत, या राजा द्वारा नियुक्त? वंशानुगत होते हुए भी वह जनता या राजा का स्वीकृत हो सकता था; पर उस दशा में और जनता या राजा के

---

[1] ए० इं० २, पृ० ११०; १५, पृ० २६३; सा० जी० पृ १४५-४६।

[2] लु० सू० के ४८ और ६६ अ।

[3] सा० जी० पृ० १४५।

अपने चुनाव-अधिकार का खुला प्रयोग करने में अन्तर है। और यदि वह वंशानुगत या राजा द्वारा नियुक्त होता तो भी ग्राम-सभा के सहयोग से ग्राम का शासन करता था या अकेले ? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हमारे पास कुछ भी अभिलेख सामग्री उपस्थित नहीं है; और इस विषय में हम जो कुछ जान पाते हैं केवल स्मृतियों से।

उषवदात के ऊपर[1] उद्धृत अभिलेख से निगम-सभा अर्थात् नगर-संस्था की बड़ी ताकत सिद्ध होती है, क्योंकि उस से प्रकट है कि राजकीय दान भी निगम-सभा के फलकवार (लेखा-दफ़्र) में निबद्ध (रजिस्टर्ड) होते थे। यह बात इस युग के इतिहास में बड़े महत्त्व की है, तो भी इस से जो परिणाम निकलता है वह नगर-संस्थाओं के ही विषय में, ग्राम-संस्थाओं से इस का कोई वास्ता नहीं है; क्योंकि जैसा की अभी कहा गया है, ग्राम निकायों और निगम-निकायों को इस युग में हमें एक पाये पर न समझना चाहिए।

महाभारत के राजधर्म में ठीक मनुस्मृति के शब्द दोहराते हुए प्रत्येक ग्राम पर एक ग्रामिक तथा दस बीस सौ और हज़ार गाँवों पर राजकीयअधिकारी नियुक्त करने का उपदेश दिया है[2]। वहाँ भी ग्रामिक के राजकर्मचारी होने का सन्देह होता है। किन्तु श्रेणि-निकायों की शक्ति महाभारत में भी बड़ी दीख पड़ती है। डा० मजूमदार ने आश्रमवासिक पर्व से तीन श्लोक उद्धृत किये हैं[3], जिन में राजा को पाँच प्रकार की सेनायें लेने का उपदेश दिया है। वे पाँच प्रकार ये हैं—मौल, मित्र बल, श्रेणिबल, भृत बल, और अटवीबल। इन में से पहले दो को एक बराबर का कहा है, और दूसरे दो को फिर एक बराबर। इस से प्रकट होता है कि कौटिल्य

---

[1]ऊपर § १६२ इ—पृ० ६५० ।

[2]म० भा० १२. ८७. ३—५ ।

[3]सा० जी० पृ० ४२ ।

के समय की तरह पहली दूसरी शताब्दी ई० में भी श्रेणियों की सेनायें होती थीं, और उन की शक्ति वैतनिक सेनाओं के बराबर गिनी जाती थी। राजधर्म-पर्व में दण्डनीति के विषयों का वर्णन करते हुए परराष्ट्र-पीडन के प्रसंग में श्रेणिमुख्योपजाप अर्थात् श्रेणियों के मुखियों को फोड़ने का भी उल्लेख है[1]। इस से प्रकट है कि वह उस युग के राजनीतिशास्त्र के प्रसिद्ध विषयों में से एक था। वहीं धर्माधर्म का उपदेश करते हुए भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि जाति-श्रेणि-अधिवासों के धर्म को और कुलधर्म को जो छोड़ देते हैं उन का कोई धर्म नहीं है[2]। श्रेणिनिकायों के अपने धर्म थे, और वे पवित्र माने जाते थे, सो इस से स्पष्ट सिद्ध है। वनपर्व में जहाँ दुर्योधन के गान्धर्वों से हार कर आने का वर्णन है, वहाँ वह कहता है कि मैं अपनी पुरी को लौट कर जाऊँगा तो ब्राह्मण और श्रेणिमुख्य मुझे क्या कहेंगे, और मैं उन से किस मुँह से बात कर सकूँगा![3] श्रेणिमुख्यों की राज्यों में कितनी शक्ति थी, उस का यह बहुत अच्छा प्रमाण है।

याज्ञवल्क्यस्मृति के समूहों विषयक नियमों में मनुस्मृति के नियमों से कुछ अन्तर दीखता है। किसी के ग्राम पूग या देश का क्षेप अर्थात् निन्दा करना कौटिल्य की तरह याज्ञवल्क्य के समय भी अपराध था[4]; इस से प्रकट है कि भारतवर्ष की जनता में अपने अपने ग्रामों

---

[1]म० भा० १२. ५८. ५१-५२।

[2]वहीं १२. ३५. १६।

[3]वहीं ३. २५०. १६।

[4]त्रैविद्यनृपदेवानां क्षेप उत्तमसाहसः।
मध्यमो जातिपूगानां प्रथमो ग्रामदेशयोः॥ २. २११॥

मिलाइए ऊपर § १४२ अ—पृ० ६२६-२८।

और जनपदों की भक्ति का भाव पहले की तरह चला आता था। याज्ञवल्क्य कहता है कि कुलों जातियों श्रेणियों और जानपद गणों को राजा अपने अपने धर्म में स्थापित रक्खें[1]। राजा के अपने धर्म के अविरुद्ध जो सामयिक धर्म हो उस की भी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए[2]। समूहों के प्रतिनिधि जब राजा के यहाँ आवें, उन का कार्य कर के उन्हें दान-मान-सत्कार के साथ लौटाना चाहिये[3], और उन समूहों में भेद (फूट, महाभारत के शब्दों में उपजाप) न पड़ने पाय इस का राजा को ख्याल रखना चाहिये। इन समूहों में, जिन के अपने अपने सामयिक धर्म थे, याज्ञवल्क्य श्रेणि नैगम पाषण्डी और गणों का उल्लेख करता है[4]। श्रेणियाँ शिल्पियों के समूह थीं, नैगम नगरों के, पाषण्डियों अर्थात् बौद्धों जैनों के अपने धार्मिक समूह थे, और गणों से अभिप्राय शायद जानपद गणों से है जिन का १.३६१ में भी उल्लेख आया है। ग्राम-समूहों के अपने धर्मों का याज्ञवल्क्य में भी कहीं नाम नहीं है।

किन्तु ग्रामों को कम से कम न्याय-सम्बन्धी अधिकार थे, सो उस से सूचित होता है। याज्ञवल्क्य की व्यवहारविधि (न्यायपद्धति) के अनुसार सब से बड़े व्यवहारदर्शी (न्यायलय) राजा के नियुक्त किये होते

---

[1]कुलानि जातीः श्रेणींश्च गणान् जानपदानपि।
स्वधर्माच्चलितान् राजा विनीय स्थापयेत्पथि॥ १. ३६१॥
[2]निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत्।
सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः॥ २. १८६॥
इस श्लोक के अन्तिम भाग की व्याख्या नीचे ऋ में देखिये।
[3]२. १६८।
[4]श्रेणिनैगमपाषण्डिगणानामप्ययं विधिः।
भेदं चैषां नृपो रक्षेत् पूर्ववृत्तिं च पालयेत्॥ २. १६२॥

थे, फिर पूग, फिर श्रेणियाँ और सब से नीचे कुल[1]। पूग का अर्थ किया गया है—भिन्न जाति वाले भिन्न वृत्ति (जीविका) वाले एक स्थान पर रहने वालों के समूह जैसे ग्राम नगर आदि[2]। यदि यह अर्थ ठीक हो, और पूग में नगर और ग्राम दोनों निकाय गिने जाते हों, तो कहना होगा कि याज्ञवल्क्य श्रेणि ग्राम और नगर सब की अदालतें स्वीकार करता है। अगले श्लोक में याज्ञवल्क्य इन सब व्यवहारदार्शियों के नियन्त्रण के लिए एक साधारण नियम स्थापित करता है—बलात्कार से या उपाधि (भय आदि) से निपटे हुए व्यवहार रद्द माने जाँय; उसी प्रकार स्त्रियों द्वारा, रात के समय, अन्तरागार (मकान के भीतर जहाँ सर्वसाधारण का प्रवेश न हो), (गाँव आदि के) बाहर तथा शत्रुओं के किए हुए व्यवहार भी। महाजनपद-युग की ग्राम-सभाओं में स्त्रियाँ भी होतीं थीं[3]; पर याज्ञवल्क्य के समय उन्हें इस अधिकार से वञ्चित करने का जतन किया गया, इस से जान पड़ता है कि तब तक उन के राजनैतिक अधिकार चले आते थे। याज्ञवल्क्य के इस विषय के बाकी सब नियम बहुत ही युक्ति-संगत तथा आधुनिक युग में भी मान्य हैं।

इस प्रकार याज्ञवल्क्य-स्मृति में नई बात हमें केवल इतनी मिली कि वह ग्राम-सभाओं के न्याय-संबंधी अधिकारों को भी स्वीकार करती है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि मनु को या राजधर्मपर्व के लेखक को वे अधिकार अस्वीकृत हैं; हम केवल इतना कह सकते हैं कि वे उन का स्पष्ट उल्लेख नहीं करते। इस भेद का कारण यह भी हो सकता है

---

[1]नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च।
पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम्॥ २. ३०॥

[2]उपर्युक्त पर विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा टीका।

[3]ऊपर § ८४ अ—पृ० ३२३।

कि याज्ञवल्क्य सदा स्पष्ट और परिमित बात कहता है; एक कानूनकार की हैसियत से वह मनु से कहीं ऊँचा है।

सामान्य रूप से हम मौलिक समूहों की शक्ति इस युग में पहले से भी अधिक परिपक्व देखते हैं। श्रेणियाँ अब बैंकों का काम करने लगती हैं,—वह एक आर्थिक शक्ति थी; किन्तु राज्य के संचालन में भी श्रेणि-मुख्यों का बड़ा प्रभाव था, और श्रेणियों के सब अधिकार पहले की तरह बने थे। व्यवहार और कारोबार में लेख की नई प्रथा चल पड़ी थी, और उन लेखों के निबन्धापन के कार्य से निगमसभाओं अर्थात् नगर-संस्थाओं के हाथ में एक नई राजनैतिक शक्ति आ गई थी। किन्तु ग्रामों को हम पहले अधिकारों से कुछ वञ्चित क्यों पाते हैं ? इस का उत्तर एक तो यह हो सकता है कि ग्रामों का व्यक्तित्व अब जनपदों के व्यक्तित्व में लीन होता जाता था, और ग्रामों के धर्म जानपद धर्मों में। याज्ञवल्क्य जानपद गणों के जिन धर्मों का उल्लेख करता है उन्हीं में ग्रामों के धर्म सम्मिलि हो जाते होंगे। दूसरा उत्तर यह हो सकता है कि नन्दों मौर्यों और शुंगों का एकराज्यवाद या राष्ट्रीयतावाद ग्राम निकायों को नष्ट करने में सफल हुआ, यद्यपि श्रेणि आदि समूह उसी एकराज्यवाद से पुष्ट हुए। इस भेद का कारण यह था कि ग्राम जहाँ जन-साधारण के समूह थे, जिन से समूचा राष्ट्र बना था, वहाँ श्रेणि और निगम विशेष धन्धा करने वाले अल्पसंख्यक लोगों के समूह थे, जिन की विशेष क्षमता राष्ट्र की आर्थिक शक्ति की बुनियाद थी। इस प्रकार राष्ट्रीयता और एक-राज्य के परिपक्व होने से जहाँ ग्रामों के सरल निकाय, जो सब निकायों का आदिम नमूना थे, बड़े जनपद निकाय में लीन हो गये, वहाँ श्रेणि आदि विशेष कार्य करने वाले पेचीदा निकाय पहले से अधिक पुष्ट हो गये। पहले और दूसरे उत्तर वास्तव में एक ही बात के दो पहलू हैं, क्योंकि ग्रामों का जनपद में लीन होना और एकराष्ट्रीयता का विकास

वस्तुतः एक ही बात थी। हम देखेंगे कि जनपद भी अब पहले से बड़े बन रहे थे।

इ. एकराज्यों और संघराज्यों में जनपद की राजनैतिक शक्ति

मनु और याज्ञवल्क्य के उपर्युक्त उद्धरणों से प्रकट होता है कि उन की दृष्टि में जनपद भी श्रेणि ग्राम निगम आदि की तरह एक निकाय था। देशों के भी संघ थे, और उन संघों की संविदें होती थीं[1]; देशों या जनपदों की उक्त संविदों के अतिरिक्त जनपदों के अपने धर्म—जानपद धर्म भी थे[2]। किसी देश का क्षेप या निन्दा करना एक अपराध था[3]; जानपद गणों के अपने धर्म थे[4]; और उन गणों को फूट से बचाना राजा का कर्त्तव्य था। संविद् या समय और धर्म शब्द जब एक दूसरे के मुकाबले में रक्खे जाते हैं, जैसे जानपद धर्म और जानपद (या देश-) संघ की संविद्, तब धर्म का अर्थ परम्परागत आचार-सम्बन्धी विधि-नियम-प्रतिषेध, और संविद् या समय का अर्थ किसी संघ की बैठक में किये हुए ठहराव प्रतीत होता है[5]। इस प्रकार इस युग में जनपदों का अपना अपना व्यक्तित्व बना हुआ था, और उन में नियम बनाने वाली—ठहराव करने वाली—कोई सार्वजनिक संस्थायें थीं, यह परिणाम उक्त प्रतीकों से स्पष्ट निकलता है।

अभिलेखों और साहित्य से इस परिणाम की पुष्टि होती है। खारवेल अपने अभिलेख में पौर और जानपद को अनुग्रह देने की बात कहता है[6]।

---

[1] मनु ८. २१९।

[2] वही ८. ४१।

[3] याज्ञ० २. २११।

[4] वहीं १: ३६१।

[5] मनु और याज्ञ०, पृ० ७७।

[6] ऊपर § १५१—पृ० ७१७।

रुद्रदामा कहता है कि उस ने पौर-जानपद जन को कर विष्टि प्रणय आदि से पीडित नहीं किया, और कि उस ने आनर्त्त और सुराष्ट्र में पौरजानपद जन के अनुग्रह के लिए अमात्य सुविशाख को नियुक्त किया[1]। पुरिका-ग्राम-जानपद की जो गुप्त-युग की मोहर नालन्दा से पाई गई है, उस से जानपद का एक निकाय होना पूरी तरह सिद्ध हो गया है[2]। वह मोहर स्पष्टतः एक छोटे जनपद के निकाय की थी, इस बात को पहचानते हुए जायसवाल जी उस के बारे में लिखते हैं कि सम्भवतः केन्द्रिक जानपद स्थानीय जानपदों के प्रतिनिधियों से बनता था[3]। किन्तु बड़े बड़े साम्राज्यों में कोई केन्द्रिक जानपद रहा हो, इस के लिए कोई प्रमाण नहीं है; उलटा जो प्रमाण हैं वे इसी बात के कि एक राज्य के अन्दर भी विभिन्न जनपदों की अलग अलग संस्थायें ही थीं। रुद्रदामा के उक्त अभिलेख से स्पष्ट है कि उस के समूचे राज्य में एक जानपद होने के बजाय आनर्त्त और सुराष्ट्र का एक जानपद था। मौर्य युग के वाङ्मय से भी वही बात सिद्ध होती है सो हम देख चुके हैं[4]। किन्तु रुद्रदामा के लेख से यह भी अवश्य प्रकट होता है कि जनपद अब पहले से बड़े थे; आकर अवन्ति अनूप नीवृत् आनर्त्त सुराष्ट्र आदि को उस लेख में विषय अर्थात् प्रदेश कहा गया है न कि

---

[1] ऊपर § १८३—पृ० ८४७।

[2] ऊपर ॐ १९—पृ० ४६१। इस मोहर ने एपिग्राफ़िया इंडिका के विद्यमान सम्पादक डा० हीरानन्द शास्त्री को भी जायसवाल से सहमत कर दिया है; दे० ए० इं० १९३०, पृ० ८७ टि० १०। और स्वर्गीय राखालदास बैनर्जी ने भी खारवेल के अभिलेख में पोरजानपद का वह अर्थ करने में उन से मतभेद नहीं दिखाया।

[3] वहीं।

[4] ऊपर § १४२ आ—पृ० ६२५-२६।

जानपद; और आनर्त्त और सुराष्ट्र कम से कम इन दो विषयों में मिला कर एक ही जानपद संस्था थी सो भी उक्त लेख से सूचित है।

तामिल वाङ्मय से फिर इन परिणामों का आश्चर्यजनक समर्थन हुआ है। स्वर्गीय कनकसभै पिल्ले ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ तामिल्स एटीन हंड्रेड ईयर्स अगो (अठारह सौ बरस पहले के तामिल लोग) में प्राचीन तामिल साहित्य के अध्ययन के आधार पर लिखा था कि तामिल राज्यों में "राजा वंशानुगत होता। उस की शक्ति पाँच बड़ी सभाओं द्वारा नियन्त्रित होती। वे सभायें क्रमशः जनता के प्रतिनिधियों पुरोहितों वैद्यों ज्योतिषियों और मन्त्रियों की होतीं। जनता के प्रतिनिधियों की सभा जनता के अधिकारों की रक्षा करती; पुरोहित सब धार्मिक अनुष्ठान करवाते; वैद्य राजा और प्रजा के स्वास्थ्य से सम्बन्ध रखने वाली सब बातों का ध्यान रखते; ज्योतिषी राजकीय अनुष्ठानों के लिए मंगल-काल निश्चित करते और महत्त्व की घटनाओं की भविष्यवाणी करते; मन्त्री लोग मालगुज़ारी की वसूली और ख़र्च को नियन्त्रित करते तथा न्याय-व्यवहार देखते। राजधानी में इन में से प्रत्येक सभा के लिए अलग स्थान होता जहाँ इन की बैठकें होतीं। महत्त्व के अवसरों पर वे राजा के दरबार या जुलूस में सम्मिलित होतीं।······शासन की शक्ति सर्वथा राजा और पाँच बड़ी सभाओं में निहित थी। यह बात बड़े मार्के की है कि यह शासनपद्धति पाण्ड्य चोल चेर तीनों राज्यों में चलती थी, यद्यपि वे राज्य एक दूसरे से स्वतन्त्र थे।"[1]

यह उद्धरण दे कर डा० मजूमदार इस पर लिखते हैं—"मुझे ऐसा दीखता है कि तथाकथित पाँच सभायें एक ही सभा की पाँच समितियाँ होतीं थीं।" और वे पाँचों को मिला कर कौटिल्य या महाभारत की मन्त्रिपरिषद् के, और मन्त्रियों की सभा को कौटिल्य के मन्त्रिणः (= रुद्र-दामा के कर्मसचिवों) के समान मानते हैं[2]। डा० मजूमदार की यह

[1] पृ० १०९-१०।   [2] पृ० १२१।

व्याख्या स्पष्ट खींचातानी है; पाँच बड़ी सभाओं में से जनता के प्रतिनिधियों की सभा स्पष्ट ही जानपद संस्था थी, और मन्त्रियों की सभा मन्त्रिपरिषद् या मतिसचिवों का समूह। डा० मजूमदार को यह ख्याल न था कि किसी दिन जानपद संस्था की सत्ता सिद्ध हो जायगी, इसी लिए यह खींचातानी करनी पड़ी।

इस सम्बन्ध में एक सीधा प्रश्न उपस्थित होता है कि राजविप्लव होने पर, या एक देश के दूसरे देश के राजा द्वारा जीते जाने पर, जानपद संस्थाओं का क्या होता रहा? इस युग की घटनावली में भारतवर्ष के अनेक देशों में जो अनेक राजविप्लवों के अवसर आते रहे, उन में से प्रत्येक का उन संस्थाओं पर क्या प्रभाव हुआ? क्या उन्हों ने उन संस्थाओं को मिटा नहीं दिया? यद्यपि आर्य लोग धर्मयुद्ध के पक्षपाती थे, तो भी ज़रूरत पड़ने पर शत्रु को घेर कर भूखा मारना, उस के राष्ट्र को पीडित करना, उस के घास-अनाज-ईंधन को जला देना, पानी को दूषित करना और तालाबों को तोड़ देना आदि सभी उपाय उचित माने जाते थे[1]। उस दशा में जीते जनपदों की प्रजाकीय संस्थाओं की विजेता क्या कुछ परवा करते थे, या वे उन का सीधा दमन करते थे?

सौभाग्य से स्मृतियों में इस सम्बन्ध में स्पष्ट विधान हैं, और उन से यह सूचित होता है कि विजित देशों में भी जनता को भरसक रिझाने-मनाने और उन की संस्थाओं को बने रहने देने की नीति बर्ती जाती थी। लब्धप्रशमन अर्थशास्त्रों का एक पुराना विचारणीय विषय था, और इस युग की

---

[1] उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम्॥
भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा।

—मनु, ७. १९५-९६।

स्मृतियों ने उस पर अपने युग के अनुकूल विचार किया है। मनु कहता है[1] "जीतने के बाद (विजित देश के) देवताओं और धार्मिक ब्राह्मणों की पूजा करे; परिहार (ज़मीन की माफ़ियाँ या मालगुज़ारी की छूट) दे, और अभय की घोषणा करे। वे सब क्या करना चाहते हैं सो समास[2] से जान कर वहाँ उसी (पुराने राजा) के वंश के किसी व्यक्ति को स्थापित करे, और समयक्रिया (उन के साथ ठहराव) करे। उन के पिछले चले आते धर्मों को प्रमाणित करे; उस (नये राजा) का प्रधान पुरुषों सहित रत्नों से सत्कार करे।" इन आदेशों में कौटिल्य की शिक्षाओं का स्पष्ट अनुवाद है[3]। शुंग साम्राज्य के अनेक अधीन जनपदों में वहाँ के पुराने स्थानीय राजवंश बनाये रक्खे गये थे,[4] जिस से मनु के उक्त आदेशों की वास्तविकता सिद्ध होती है।

याज्ञवल्क्य इस विषय को और भी स्पष्ट कानूनी शब्दों में कहता है—"राजा का अपने राष्ट्र के परिपालन में जो कुछ धर्म है, पर-राष्ट्र को

---

[1]जित्वा सम्पूजयेद्देवान् ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान्।
प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च॥
सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम्।
स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम्॥
प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्या(मा)न् यथोदितान्।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह॥
—७. २०१-३।

[2]सर्वज्ञनारायण अपने मन्वर्थनिबन्ध में समासेन का अर्थ करता है—समुदायेन, इकट्ठा कर के, अर्थात् विजित देश के लोगों या प्रधान पुरुषों का एक इकट्ठ कर के।

[3]दे० ऊपर § १४२ ऋ।

[4]ऊपर § १५६—पृ० ७४०।

वश में लाने पर उसी समूचे को प्राप्त होता है। जिस देश में जो आचार व्यवहार और कुलस्थिति हो, जब वह वश में आ जाय तब उस का उन के अनुसार ही परिपालन करना चाहिए।"[1] याज्ञवल्क्य का आचार व्यवहार और कुलस्थिति कौटिल्य के धर्म व्यवहार और चरित्र का स्पष्ट शब्दानुवाद है।

याज्ञवल्क्य का विधान इतना स्पष्ट और सीधा है कि जान पड़ता है वह अनेक अवसरों के तजरबे के बाद, उन की ज़रूरतों का अनुभव कर के, स्थापित हुआ सिद्धान्त था। सम्भव है, कुछ विजेताओं ने कभी विजित राष्ट्रों की प्रजा का दमन करने की कोशिश की हो, और उन कोशिशों के जवाब के रूप में भयंकर विद्रोह हुए हों—ऐसे गहरे संघर्षों के बाद ही शायद यह साधारण सिद्धान्त स्थापित हुआ हो। वैसे दमन और पीडन और उन के परिणामों के ताज़ा अनुभव ही याज्ञवल्क्य के इस कथन की जड़ में दिखाई देते हैं कि "प्रजा-पीडन के सन्ताप से उठी हुई आग राजा के कुल श्री और प्राणों को जलाये बिना नहीं शान्त होती"[2]। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मनु की तरह याज्ञवल्क्य यह नहीं कहता कि जीते देश में पुराने राजा के वंश का व्यक्ति स्थापित किया जाय; उस के समय शकों पह्लवों और ऋषिक-तुखारों के युद्धों और विजयों की घटनायें ताज़ा थीं, और उन में वह रिवाज मिट चुका था। किन्तु जो प्रक्रिया याज्ञवल्क्य के समय जारी थी उसे उस ने स्पष्ट शब्दों में सूत्रित किया है। उषवदात और रुद्रदामा के लेखों में अपनी प्रजा

---

[1]य एव नृपतेर्धर्मः स्वराष्ट्रपरिपालने।
तमेव कृत्स्नमाप्नोति परराष्ट्रं वशे नयन्॥
यस्मिन् देशे य आचारो व्यवहारः कुलस्थितिः।
तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः॥ १. ३४२-४३॥

[2]प्रजापीडनसन्तापात्समुद्भूतो हुताशनः।
राज्ञः कुलं श्रियं प्राणाँश्चादग्ध्वा न निवर्त्तते॥ १. ३४१॥

को खुश करने की आकाङ्क्षा जो प्रत्येक शब्द से टपकती है, वह स्मृति के इन विधानों से स्पष्ट होती है। और प्रजापीडन से राजा के मारे जाने की उस की बात में मानो राजा विम की घटनाओं का निर्देश है[1]।

अब तक हम ने उन राज्यों के विषय में विचार किया है जिन में वंशानुगत राजा राज्य करते थे। किन्तु सातवाहन-युग में अनेक गण-राज्यों का पैदा होना और फलना फूलना इतिहास से प्रमाणित है, और उन का उल्लेख यथास्थान[2] हो चुका है। उन गण-राज्यों में स्पष्ट ही सभाओं का शासन चलता था। और जिस युग में गणराज्य रहे हों उस युग के एकराज्यों में भी वैसी जानपद सभाओं का होना सर्वथा संगत था।

मनुस्मृति गणों की स्पष्ट विरोधिनी है। वह लिच्छिवियों और मल्लों को पतित व्रात्यों में गिनती है[3]। कौटिल्य के संघ-राज्यों विषयक विचारों की पीछे[4] आलोचना की जा चुकी है। महाभारत के राजधर्म में गणों के सम्बन्ध में दो बड़े मनोरञ्जक सन्दर्भ हैं। उन की तरफ़ पहले पहल जायसवाल ने ध्यान दिलाया था, पीछे डा० मजूमदार आदि ने भी उन की विवेचना की है। ८१ वें अध्याय में भीष्म युधिष्ठिर को वासुदेव कृष्ण और नारद का संवाद उद्धृत कर सुनाते हैं—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
संवादं वासुदेवस्य महर्षेर्नारदस्य च ॥२॥

---

[1] ऊपर § १७६—पृ० ८२५।

[2] §§ १२७, १२८, १२९, १७१, १८४।

[3] १०. २२।

[4] § १४३ इ।

—"यहाँ (इस प्रसंग में) इस पुराने इतिहास को उद्धृत करते हैं (जो कि) वासुदेव का और महर्षि नारद का संवाद है।" भीष्म और युधिष्ठिर वासुदेव के समकालीन थे, किन्तु यहाँ भीष्म वासुदेव की बात को युधिष्ठिर को पुरातन इतिहास कह कर सुनाता है! स्पष्ट है कि सातवाहन युग का राजधर्म का लेखक यहाँ अपनी दृष्टि से उस संवाद को पुरातन इतिहास कह बैठा है, वह यह भूल गया है कि वह भीष्म के मुँह से यह कहलवा रहा है। और वह संवाद सचमुच एक पुरातन इतिहास —पुरानी चली आती ख्यात—जान पड़ता है; इस युग के सिक्कों अभिलेखों आदि में गण शब्द आता है, पर उस संवाद में पुराना संघ शब्द ही है जो अब बौद्ध संघ के लिए योगरूढ़ि हो चुका था; फिर उस संवाद में कृष्ण को एक सङ्घमुख्य रूप में अन्धक-वृष्णियों के जाति-सङ्घ या सजात संघ का संचालन करने में जो कठिनाइयाँ होती थीं उन का सच्चा सजीव चित्र है, जिस से यह कहना पड़ता है कि उस में वास्तविक पुराना इतिहास अंकित है; शायद वह ख्यात कृष्ण के समय से ही चली आती थी। वासुदेव नारद से कहता है—

"मैं ज्ञातियों का ईश्वर कहलाता हुआ उन की दासता करता हूँ; भोगों को आधा भोग पाता हूँ, वाणी की दुरुक्तियाँ मुझे सहनी पड़ती हैं। मानो कोई आग चाहने वाला वाणी से मेरे हृदय को अरणी की तरह मथता हो; वे दुरुक्त, देवर्षि मुझे सदा जलाते हैं। संकर्षण में सदा से बल है, गद में सुकुमारता है, प्रद्युम्न रूप से मत्त है। सो नारद, मैं असहाय हूँ, क्या करूँ? दूसरे अन्धक वृष्णि भी बड़भागी बलवान् दुरासद (मुश्किल से अपने पास किसी को पहुँचने देने वाले) और नित्य उत्थानसम्पन्न (खूब सचेष्ट उद्यमी, कभी बैठ न रहने वाले) हैं। जिस के वे न हों (बनें) वह रह नहीं सकता, जिस के हों—वही तो सब (कठिनाई है)! और इन दोनों सचेष्ट नेताओं में से मैं एक को भी नहीं वर पाता हूँ;— आहुक और अक्रूर जिस के बन जाँय, उस से बढ़ कर दुःख और क्या

हो सकता है ? और जिस के वे न बनें—उस से बढ़ कर दुःख और क्या होगा ! सो मैं जुआरियों की माँ की तरह हे महामुनि, दोनों में से न एक की जीत चाहता हूँ, ना दूसरे की हार !"

दलबन्दी से फटे हुए एक सजात संघ के मुखिया की कठिनाइयों का कैसा अच्छा सजीव चित्र है ! बिना स्वयं भोगे या अपनी आँखों से देखे क्या कोई ऐसा चित्र खींच सकता था ? कृष्ण के समय के अन्धक-वृष्णि आजकल के पठानों की तरह अनथक और सचेष्ट रहे दीखते हैं, और उन्हें वश में रखना और उन के नेताओं को परस्पर न लड़ने देना यही एक भारी समस्या थी ।

नारद जो उत्तर देता है, वह भी वैसा ही सच्चा और अनुभव-पूर्ण है। "कृष्ण वार्ष्णेय, आपत्तियाँ दो तरह की हैं, एक बाहरी दूसरी भीतरी, एक अपनी की हुई, दूसरी दूसरे की हुई। तुझ पर यह भीतरी आपत्ति आ पड़ी है··· ···अनायस(बगैर लोहे के), मृदु, हृदय छेदने वाले शस्त्र से क्षमा करते हुए इन सब की जीभ को निकाल डाल··· कड़वी और हलकी बातें कहना चाहने वाले ज्ञातियों के हृदय वाणी और मन को तू अपनी वाणी से शमन कर। कोई अमहापुरुष (छोटा आदमी) अनात्मवान् (अपने पर काबू न रखने वाला) सहायहीन बड़ी धुरी को ले कर छाती पर उठाये हुये नहीं चल सकता। बड़े बोझ को सम रास्ते पर तो सभी बैल ढो लेते हैं; पर कठिन ऊँचीनीची राह पर कोई परखा हुआ बैल ही उसे ढो पाता है। भेद से संघों का विनाश होता है, केशव, तू संघमुख्य है, जिस प्रकार तेरे हाथ में आ कर यह संघ कष्ट न पाय वैसा कर।······जिस प्रकार ज्ञातियों का विनाश न हो, धन यश और आयु की पुष्टि हो, अपना पक्ष ऊपर उठे, वैसा कर।·····यादव कुकुर भोज—सभी अन्धक और वृष्णि, और सब लोक और लोकेश्वर; महाबाहु, तुझ पर निर्भर हैं, वे सब तेरी बुद्धि की उपासना करते हैं।"

कृष्ण कैसा संघमुख्य और जननायक था, और उस का वास्तविक महापुरुषत्व किस बात में था, उस की स्पष्ट झलक भी इस में है। यह सन्दर्भ एक पुरानी ख्यात का अनुवाद है; किन्तु इस युग में उस ख्यात के अनूदित तथा उदाहृत किये जाने का विशेष अभिप्राय हैं।

उसी राजधर्म के १०७ वें अध्याय में फिर युधिष्ठिर भीष्म से कहता है[1]—"मतिमानों में श्रेष्ठ, मैं गणों की वृत्ति सुनना चाहता हूँ, जिस प्रकार गण बढ़ें और टूटे नहीं, शत्रुओं को जीतें और मित्रों को पांय। मेरा विचार है कि गणों का विनाश भेद के कारण ही होता है; मेरी सम्मति में बहुतों के बीच मन्त्र को छिपाये रखना कठिन है।......" भीष्म उत्तर देता है—"भारत-वंश में श्रेष्ठ, मनुष्यों के अधिपति, गणों और कुलों के राजाओं के वैर को दीप्त करने वाले ये दो हैं- लोभ और अमर्ष (असहिष्णुता)। एक लोभ कर बैठता है, तब (दूसरा) अमर्ष कहता है; तब अमर्ष से संयुक्त एक दूसरे पर सन्देह करते हुए चारों (गुप्तचरों) मन्त्रों और बल के सहारे साम दान और विभेद तथा क्षय व्यय और भय के उपायों से एक दूसरे को सताते हैं। गण संघात से जीते हैं, वे अदान (अनुदारता) से फूटते हैं; फूटने पर एक दूसरे से रूठे हुए भय से शीघ्र शत्रु के वश में हो जाते हैं। भेद से गण नष्ट होते हैं, भिन्न होने पर दूसरों से सुगमता से जीते जाते हैं, इस लिए गण सदा संघातयोग से बने रहें। संघात बल और पौरुष से अर्थों की प्राप्ति होती है; और वे संघातवृत्ति हों तो बाहर वाले भी उन से मैत्री करते हैं। (गणों के) ज्ञानवृद्ध (नेता) एक दूसरे की सेवा करते हुए प्रशंसा पाते हैं; अभिसंधान (शत्रु को घात लगाने) का मौका न देते हुए वे सुख से फलते फूलते हैं। और अच्छे गण धर्मिष्ठ व्यवहारों (कानून) को स्थापित करते हुए, और उन को ठीक ठीक देखते हुए

---

[1] श्लोक ६ प्र।

(व्यवहारों का दर्शन अर्थात् न्याय-संचालन करते हुए) बढ़ते हैं। बेटों और भाइयों को काबू रखते हुए और उन्हें सदा विनय (नियन्त्रण) सिखाते हुए, विनय से सध जाने पर उन्हें आगे बढ़ाते हुए अच्छे गण बढ़ते हैं। चारों और मन्त्र के विधान में और कोश के सञ्चय में सदा लगे हुए, हे महाबाहु, गण सब तरह से बढ़ते हैं। प्रज्ञासम्पन्न, बड़े उत्साह वाले, कार्यों में स्थिर-पौरुष चारों (कर्मचारियों) का मान करते हुए सदा युक्त (जुटे रहने वाले) गण बढ़ते हैं। द्रव्य वाले, शूर, शस्त्रज्ञ, शास्त्र के पारंगत वे गण कठिन आपत्तियों में संमूढ (गुम-होश) लोगों को भी पार लगा देते हैं। (प्रजा के प्रति) क्रोध, भेद, भय (त्रास फैलाना), दण्ड, कर्षण (पीछे पड़ कर सताना) निग्रह (कैद करना) और वध—ये बातें, हे भरतश्रेष्ठ, गणों को तुरत शत्रु के वश कर देती हैं। उन गणमुख्यों का विशेष कर मान करना चाहिये, क्योंकि हे राजन् उन्हीं पर सब लोकयात्रा (गण का चलना) निर्भर है। हे शत्रुओं का कर्षण करने वाले, प्रधानों में मन्त्रगुप्ति (होनी चाहिये), और चार (गुप्तचर-विभाग) भी उन्हीं के हाथ में रहना चाहिये; हे भारत, समूचे गणों का मन्त्र सुनना उचित नहीं है। और गणमुख्यों को इकट्ठे हो कर परस्पर मिल कर गण के हित के कार्य करना चाहिये। अन्यथा गण फूट कर बिखर जाता है, और तब उन के अर्थ (कार्य) बिगड़ते हैं और अनर्थ होने लगते हैं। जब वे एक दूसरे से फूट कर अपनी धींगाधांगी करने लगें तब ख़ास कर के पण्डितों को तुरत ही निग्रह (रोकथाम) करना चाहिये। कुलों में कलह पैदा हुए (और) कुल के बड़ों ने उस की उपेक्षा की, तो वे गोत्र का नाश कर देते हैं, जो फिर गणभेद का कारण होता है। भीतर के भय से बचाव करना चाहिये, बाहर का भय सारहीन होता है; राजन्, भीतर का भय तुरत ही जड़ें काट देता है। अकस्मात् क्रोध या मोह (मूर्खता) के कारण या स्वाभाविक लोभ से जो वे एक दूसरे से बोलना छोड़ देते हैं, वही

(उन के आने वाले) पराभव का लक्षण है। जाति (जन्म) से वे सब बराबर होते हैं, और कुल से भी बराबर होते हैं; पर उद्योग बुद्धि और रूप-द्रव्य में तो सब बराबर नहीं हो सकते। भेद और प्रदान (रिश्वत) से शत्रु गणों को झुकाते हैं, इस लिए संघात ही गणों की परम शरण है।"

यह भी कितना अनुभवपूर्ण उपदेश है ! प्राचीन काल में न केवल भारत में प्रत्युत समूचे जगत् में मन्त्र-गुप्ति गणों की मुख्य समस्या थी। मन्त्र के गुप्त न रहने से राज्य का काम नहीं चलता, और बहुत लोगों में मन्त्र गुप्त नहीं रह पाता—यही बहुतों के राज्य की सब से बड़ी कठिनाई थी। आजकल के प्रजातन्त्रों का जो तरीका है कि उन में सलाह का कार्य सब के हाथ में, पर कार्यसञ्चालन का थोड़े हाथों में, और वे कार्यसंचालन कार्य कर लेने के बाद सब के प्रति जवाबदेह,—यह तो अठारहवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं के आरम्भ का आविष्कार है। प्रजातन्त्र और चारतन्त्र (कर्मचारि-तन्त्र bureaucracy) के इस समन्वय को प्राचीन जगत् न जानता था। और यही तब गणराज्यों की कठिनाई थी। परस्पर अमर्ष (असहिष्णुता), अदान (अनुदारता) संघात का अभाव, शत्रु को अभिसन्धान का मौका देना यही गणों के टूटने के कारण होते। व्यवहार अर्थात् कानून का विधिवत् स्थापित न होना, और उस के अनुसार न्याय न किया जाना—अर्थात् धींगाधींगी चल पड़ना—उन के नाश का सब से बड़ा हेतु होता। तरुणों का—ख़ास कर नेताओं के बेटों और भाइयों का—अविनीत और अनियन्त्रित हो जाना सदा के गणराज्यों की सब से बड़ी समस्या रही है। कोश-सञ्चय और चार-विधान की उपेक्षा तथा प्रजा का कर्षण गणों की मृत्यु का प्रायः कारण होता। किन्तु इन सब बातों में सावधान गण उन कठिन आपत्तियों के भी पार लग जाते, जो एक राज्यों को संमूढ कर देतीं थीं, वह सातवाहन-युग की ठीक तजरबे की बात थी। मन्त्रगुप्ति

और चारों का संचालन केवल मुख्यों के हाथ में रहे, यह भी फिर बड़े तजरवे के बाद पाई हुई सीख थी। समानता का भाव बहुत अच्छा है, पर उद्योग और बुद्धि में तो सब समान नहीं हो सकते, इस लिए मुखियों को बड़ा मानना ही चाहिए, यह भी एक पते की बात है जो पूरे अनुभव के बाद कही गई है।

मौर्यों ने जो यवन आक्रान्ताओं पर कमाल के विजय पाये उस का परिणाम एकराज्य को दृढ करना हुआ था। दिमेत्र का हमला होने पर जो एकराज्य ने निःशक्तता दिखाई, तब यह अनुभव किया गया कि झूठे धर्म-विजय और क्षमा की नीति उस कमज़ोरी का कारण है; उस नीति की प्रतिक्रिया से अश्वमेध-पुनरुद्धार का आदर्श जागा; किन्तु उस आदर्श के पुजारी भी सब एकराज्य के ही पक्षपाती थे। पर शकों और तुखारों के हमलों में जब धर्मविजयवादियों की तरह अश्वमेध-पुनरुद्धारवादी भी टिक न सके, और यौधेय मालव कुनिन्द आदि गणों ने बार बार चोटें खा कर भी बने रहने की क्षमता दिखलाई, तब दण्डनीतिकारों ने अनुभव किया कि हठ-जीवी गणों के लिए कठिन आपत्तियों को तर जाना भी सुगम है, और उस अनुभव की प्रतिध्वनि उक्त सन्दर्भों में सुनाई देती है। तभी उस प्राचीन संघमुख्य कृष्ण की ख्याति का अनुवाद किया गया, और उसे भी राजधर्म में सम्मिलित किया गया। लम्बी कशमकशों में गण-राज्य सदा चमक उठते हैं, यह विश्व के समूचे इतिहास का तजरबा है।

उ. एकराज्य में राजा की हैसियत

मनुस्मृति के लेखक ने भारतवर्ष में पहले-पहल यह स्थापना चलानी चाही कि राजा देवताओं का अंश है। युद्ध के समय अथवा जनता के ठहराव द्वारा राजा के सृजे जाने के सिद्धान्त इस से पहले भी हमारे देश

में थे[1]। मनुस्मृतिकार ने एक नई कल्पना की—"इस अराजक लोक में चारों तरफ़ से पीड़ा होने पर इस की रक्षा के लिए प्रभु ने इन्द्र वायु यम सूर्य अग्नि वरुण चन्द्रमा और धनेश (कुबेर) की मात्रायें ले कर राजा की सृष्टि की। क्योंकि वह देवताओं की मात्राओं से बना है, इस लिए सब प्राणियों से उस का तेज अधिक है। वह आदित्य की तरह (लोगों की) आँखों और मनों को तपाता है............वह सब तेजों का पुञ्ज है।"[2]

मनुस्मृति के इन शब्दों की प्रतिध्वनि राजधर्मपर्व में भी सुन पड़ती है[3], पर पिछले किसी स्मृतिकार ने इस स्थापना को स्वीकार नहीं किया। और राजा के देव-मात्राओं से बनने की यह कल्पना राजा को देव-रूप मानने वाली युरोपी कल्पना से कई अंशों में भिन्न है। शुक्रनीति-सार के लेखक ने मनु की इस देव-मात्राओं वाली कल्पना का अच्छा व्यंग्य बनाया। उस के अनुसार अच्छा राजा देवांशमय है और बुरा मूर्त्त दैत्य[4]! इस प्रकार यह स्थापना प्रायः ठीक वैसी हो जाती है जैसे जरथुस्त्रियों का यह सिद्धान्त कि संसार की प्रत्येक बात में भले और बुरे का द्वन्द्व है, या सांख्यों का यह सिद्धान्त कि प्रत्येक वस्तु सत्त्व रज तम तीन गुणों के न्यूनाधिक मेल से बनी है। शुक्रनीति का मूल रूप पुराना है, पर उस का उपस्थित संस्करण पिछले मध्य काल (मुस्लिम

---

[1] ऊपर §§ २८, ६७ अ—पृ० १२५, १८१।

[2] ७. ३—११।

[3] ६७. ४० प्र; ६१. ४२—४५; ५८. ६—१०, १२६; १४२।

[4] यो हि धर्मपरो राजा देवांशोऽन्यश्च रक्षसाम्।
अंशभूतो धर्मलोपी प्रजापीडाकरो भवेत्॥
विपरीतस्तु रक्षोंऽशः स वै नरकभाजनः।
—१. ७०, ८७।

युग) का है। स्वयं मनु के भाष्यकार मेधातिथि ने अपनी व्याख्या में इस अभारतीय कल्पना को एकदम हलका कर दिया। मनु अपनी स्थापना के बाद कहता है—इस कारण राजा की आज्ञा का कोई उल्लंघन न करे; मेधातिथि इस पर कहता है—"राजा की वैसी आज्ञा का अतिक्रमण न करना चाहिए जैसे आज पुर में सब को उत्सव मनाना चाहिए, मन्त्री के घर में विवाहोत्सव है सब इकट्ठे हों, आज सैनिक पशुओं को न मारें...... इत्यादि।......किन्तु वर्णाश्रमियों के अग्निहोत्रादि धर्म की व्यवस्था देने की राजा की कोई मजाल नहीं है, क्योंकि दूसरी स्मृतियाँ इस के विरुद्ध हैं।"[1] इस प्रकार मेधातिथि की सम्मति में राजा अपनी स्वेच्छाचारिता तुच्छ बातों तक ही वर्त्त सकता, किसी महत्त्व के मामले में वह मनमानी न कर सकता था।

स्वयं मनु भी राजा को निरंकुश बनने का अधिकार नहीं देता। क्योंकि उसी प्रसंग में आगे वह कहता है कि ईश्वर ने राजा की खातिर सब प्राणियों के रक्षक अपने बेटे ब्रह्मतेजोमय दण्ड की सृष्टि की है (७. १४)। वह दण्ड ही असल राजा है, वह पुरुष—आत्मा—है, वह नेता है, वह शासिता है, चारों आश्रमों के धर्म का वही ज़ामिन है (१७)। दण्ड सब प्रजा का शासन करता है, दण्ड उन की रक्षा करता है, दण्ड सोतों में जागता है, दण्ड को बुद्धिमान लोग धर्म मानते हैं (१८)। उस दण्ड का ठीक प्रकार प्रणयन करते हुए राजा त्रिवर्ग से बढ़ता है; कामात्मा विषयी और क्षुद्र (राजा) दण्ड से ही मारा जाता है (२७)। दण्ड का बड़ा तेज है, अकृतात्मा (असंयत लोग) उसे धारण नहीं कर पाते; धर्म से विचलित राजा को वह बन्धु-बान्धव-सहित मार डालता है (२८)। असहाय (सहायकों—मन्त्रियों—से

[1] मनु ७. १३ पर।

रहित) मूढ लुब्ध अकृतबुद्धि और विषयासक्त (राजा) उस (दण्ड) का न्याय से संचालन नहीं कर सकता (३०)।

दण्ड का स्पष्ट अर्थ है राज्य का न्यायपूर्वक अनुशासन ; और वह अनुशासन ही असल राजा है; वह अनुशासन धर्म से विचलित राजा को भी मार डालता है। उस का संचालन अकेला राजा नहीं कर सकता। यदि राजा देवताओं के अंशों से बना है, तो दण्ड भी प्रजापति का आत्मज है ! और वह दण्ड राजा का नियन्त्रण करता है। "जो राजा मोह से या बेपरवाही से अपने राष्ट्र को सताता है, वह जल्द ही राज्य से च्युत होता है, और बान्धवों सहित जीवन से हाथ धो बैठता है। जैसे शरीर के कर्षण से प्राणियों के प्राण क्षीण हो जाते हैं, वैसे राजाओं के प्राण भी राष्ट्रकर्षण से क्षय पाते हैं।"[1] 'जिस राजा के भृत्यों-सहित देखते हुए चीखती-पुकारती प्रजाओं को दस्यु पकड़ते हैं, वह मरा है, जीता नहीं है।"[2]—यह शायद दिमेत्र की चढ़ाई की स्मृति है। "जो राजा प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता पर बलि का छठा भाग लेता है, उसे सब लोकों के समूचे मल को उठाने वाला कहते हैं।"[3] "जहाँ साधारण आदमी को एक कार्षापण दण्ड हो, वहाँ राजा को हज़ार दण्ड होना चाहिए।"[4]

इस प्रकार राजा को देवता बनाने के बवजूद भी मनुस्मृति न तो उसे अकेले अनुशासन करने का अधिकार देती है, न निरङ्कुश होने का और न कर्त्तव्य-पराङ्मुख होने का। हम देखेंगे कि वह उसे कानून बनाने का भी अधिकार नहीं देती।

याज्ञवल्क्य प्रायः अनेक अंशों में मनु के शब्दों को दोहराया या उन का सारानुवाद किया करता है। उस ने मनु की दण्ड की सृष्टि की बात तो

---

[1] ७. १११-१२। [2] ७. १४३। [3] ८. ३०८।
[4] ८. ३३६।

अपना ली है,[१] किन्तु राजा के देवता होने की कल्पना की बिलकुल उपेक्षा की है। उस के मत में "जो राजा अन्यायपूर्वक राष्ट्र से अपना कोश बढ़ाता है, वह जल्दी ही श्रीहीन हो कर बन्धु-सहित नष्ट हो जाता है। प्रजापीडन की जलन से उठी हुई आग राजा के कुल श्री और प्राणों को जलाये बिना नहीं रुकती।"[२] "अधर्मपूर्वक दण्ड देना स्वर्ग कीर्त्ति और परलोक का नाश करता है; उचित दण्ड देने से राजा को स्वर्ग कीर्त्ति और जय मिलती है। चाहे अपना भाई बेटा पूज्य गुरु श्वसुर या मामा भी क्यों न हो, यदि अपने धर्म से विचलित हो तो कोई राजा के लिए अदण्ड्य नहीं है।"[३] प्रजापीडक राजा नष्ट हो जाता है यह कहना पीडक राजा के विरुद्ध प्रजा के विद्रोह करने के अधिकार को स्वीकार करना है। वैसे विद्रोह की इजाज़त देना इन स्मृतियों को अभीष्ट प्रतीत होता है।

न्यायानुसार दण्ड-सञ्चालन के विषय में राजधर्मपर्व के लगभग वही शब्द हैं—"धर्मानुसार चलने वाले राजा के लिए माता पिता भाई भार्या पुरोहित कोई अदण्ड्य नहीं है'[४]। फिर वहाँ राजा के वेतन के पुराने[५] सिद्धान्त की घोषणा इन शब्दों में की है—'बलि के रूप में छठा अंश, (व्यापार पर) शुल्क, तथा अपराधियों के दण्ड (जुरमाने)—इसी शास्त्रा-नुसार वेतन से धन की आमदनी चाहना'[६]।

---

[१] १. ३५४-५५।

[२] १. ३४०-४१।

[३] १. ३५७-५८।

[४] १२१. ६०।

[५] ऊपर § १४१—पृ० ६२३।

[६] ७१, १०।

राजा के सहायक सचिव या मन्त्रियों का विधान मनु, राजधर्म-लेखक और याज्ञवल्क्य तीनों करते हैं। मनु का कहना है कि सात या आठ सचिव हों जिन के साथ प्रत्येक बात में परामर्श किया जाय; उन के अतिरिक्त और अमात्य भी आवश्यकतानुसार हों[1]। याज्ञवल्क्य साधारण रूप से मन्त्रियों की नियुक्ति की बात कहता है; कोई संख्या नहीं देता[2]। राजधर्म के अनुसार ४ ब्राह्मण, १८ क्षत्रिय, २१ वैश्य, ३ शूद्र और एक सूत पौराणिक—इतने (कुल ४७) अमात्य राजा को रखने चाहियें, और आठ मन्त्रियों के बीच राजा मन्त्र का धारण करे[3]। ये अमात्य और मन्त्री कौटिल्य के मन्त्रिपरिषद् और मन्त्रिणः[4] के समान हैं। वह बड़ी परिषद् केवल सलाह देने वाली संस्था थी। स्मृतियों की इन शिक्षाओं में देश की वास्तविक राज्यसंस्था का वर्णन है। मालविकाग्निमित्र में विदर्भ का राजा अग्निमित्र युद्ध और सन्धि की प्रत्येक बात में अमात्यपरिषद् या मन्त्रिपरिषद् की सलाह लेता है[5]। रुद्रदामा के अभिलेख में हम ने मतिसचिवों (सलाह देने वाले सचिवों) और कर्मसचिवों का उल्लेख देखा है[6]; वे मतिसचिव भी मन्त्रिपरिषद् ही थे।

ऋ. धर्म और व्यवहार तथा उन के आधार

हम देख चुके हैं कि कौटिल्य ने कानून के चार रूप कहे हैं—धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन[7]। धर्मों और व्यवहारों का उदय पहले पहल महाजनपद-युग और शैशुनाक-नन्द-युग में किस प्रकार हुआ सो भी हम ने देखा है[8]। धर्म भी पहले समय-मूलक थे, किन्तु बाद में किस प्रकार

---

[1] ७. ५४, ६०।
[2] १. ३१२।
[3] ८५. ७—१२।
[4] ऊपर § १४४ अ।
[5] पृ० १४६-४७।
[6] ऊपर § १८३—पृ० ८५७।
[7] ऊपर § १४१—पृ० ६२३-२४।
[8] ऊपर §§ ८६ उ. ११९।

उन का आधार समयों के स्थान में शास्त्र माने जाने लगे इस की व्याख्या भी पीछे की गई है[1]। मनुस्मृति के लेखक ने एक नई बात की, उस ने अर्थशास्त्र को धर्मशास्त्र में टाँक दिया; इस का यह अर्थ था कि उसने व्यवहार को धर्म का बँधुआ बनाना चाहा। वह कानून के आधार-रूप में राजशासन का कहीं उल्लेख नहीं करता। यद्यपि वह राजा को देवताओं का अंश मानता है, तो भी वह उसे धर्म के अनुसार अनुशासन करने का आदेश देता है, और धर्म का प्रवर्तक राजा कैसे हो सकता था? राजा के हाथ में वह शक्ति रहने से मनु की दृष्टि में उस का जो दुरुपयोग हो सकता था, उस का ताज़ा उदाहरण उपस्थित था। नास्तिक और शूद्र मौर्यों ने अपनी आज्ञा से वैदिक हिंसा को बन्द करने की चेष्टा की थी। मनु के अपने समकालीन राजा स्वयं ब्राह्मण और वैदिक थे। जब धर्म ही कानून का मुख्य आधार हो, उस धर्म का मुख्य प्रमाण वेद हो, और वेद की व्याख्या ब्राह्मणों के हाथ में हो, तब कानून उन के हाथ में था ही। राजा की हैसियत से उन्हें कानून की शक्ति अपने हाथ में रखने की ज़रूरत न थी। तो भी मनु चाहे जो कहे, यह असम्भव है कि राजशासन के रूप में कानून उस के समय लुप्त हो गया हो। इस अंश में, जैसे कि अन्य अनेक बातों में भी, मनुस्मृति एक नियमों का ग्रन्थ होने के बजाय केवल विवाद का ग्रन्थ है। वह वस्तुस्थिति को सूचित नहीं करता, विवाद के एक पक्ष को सूचित करता है। और यदि वह पक्ष कुछ काल के लिये वस्तुस्थिति बन भी गया हो तो यह नहीं हो सकता कि वह स्थिति अधिक काल तक जारी रही हो।

कानून का तीसरा आधार चरित्र या समूहों के समय थे। उन की सत्ता को मनु भी अस्वीकार नहीं कर सकता। इस प्रकार मनुस्मृति में

---

[1] § ११५—० ४५२-५४।

केवल दो प्रकार के कानून का उल्लेख है—एक धर्मशास्त्र के धर्म और दूसरे सामयिक धर्म।

फिर धर्म का मुख्य आधार भी मनु के अनुसार केवल वेद है—धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः[१]—धर्म के जिज्ञासुओं के लिए श्रुति अन्तिम प्रमाण है। स्मृति का प्रमाण भी वह स्वीकार करता है, किन्तु केवल वेदानुकूल स्मृतियों का[२]। धर्म मूलतः धार्मिक जीवन विषयक कानून था; अवैदिक स्मृतियाँ भी धार्मिक जीवन के विषय में अपने ढंग से नियम बना सकतीं थीं; उदाहरण के लिए बुद्ध ने अब्राह्मणों स्त्रियों और अविवाहितों के लिए भी संन्यास आश्रम खोल दिया था। इसी लिए मनु यह घोषणा करता है कि "जो वेद से बाहर की स्मृतियाँ हैं, और जो बुरे दर्शन हैं, वे सब अन्धकारमय और परलोक के लिए निष्फल हैं। वेद से भिन्न जो पन्थ पैदा होते और गिरते हैं वे सब अर्वाचीन होने के कारण निष्फल हैं और झूठ हैं।"[३] बौद्धों का मार्ग अर्वाचीन था, जब कि वैदिक धर्म शाश्वत[४] (सनातन) था; मनु की दृष्टि में वह अर्वाचीन पंथ मौर्यों के पतन के साथ गिर कर समाप्त भी हो चुका था, उस नये और अचिरस्थायी पन्थ के झूठ होने में फिर क्या सन्देह था? उपनिषदों बौद्धों जैनों आदि सभी का

---

[१] २. १३

[२] स्मृतिशीले च तद्विदाम्।—२. ६।

[३] या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥
—१२, ९५-९६।

[४] मनु ८.८।

वैदिक कर्मकाण्ड पर मुख्य आक्षेप यह था कि वे कर्म काम से—स्वार्थ-सुख की प्रेरणा से—किये जाते हैं, इसी लिए उन का फल नश्वर है। मनु उस का शुरू में ही उत्तर देता है—"कामात्मता प्रशंसनीय नहीं है, किन्तु बिलकुल अकामता— इच्छा हीनता— भी बुरी है, वेद का ज्ञान भी काम (इच्छा) से ही होता है, और कर्मयोग का सिद्धान्त भी वैदिक है। अकाम व्यक्ति कोई कार्य कर नहीं सकता; जो कुछ करता है सब काम (इच्छा) की प्रेरणा से ही करता है।"[1] बौद्धों के विरुद्ध अश्वमेध-पुनरुद्धार-युग की मुख्य प्रेरणा यही थी। वह उचित से अधिक वैराग्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी,—और उस में मुख्य सुर कर्मयोग की थी।

वेद को धर्म का मुख्य प्रमाण मानने पर यह प्रश्न बाकी रहता है कि जहाँ वेद के आदेशों में परस्पर विरोध हो वहाँ क्या किया जाय। पुराना उत्तर था कि तर्क और मीमांसा से काम लिया जाय[2]। मनु तर्क या हेतुशास्त्र के नाम से भी भड़कता है; इस प्रश्न का वह एक विचित्र फ़ैसला करता है—वहाँ दोनों श्रुतियाँ प्रमाण हैं ![3]

किन्तु इस प्रकार कानून के आधार को बिलकुल संकीर्ण करने से काम न चल सकता था। व्यवहार और राजशासन दोनों निषिद्ध, धर्म में भी अवैदिक धर्म को कोई स्थान नहीं, और अवैदिक तर्क की गुंजाइश नहीं,—ऐसी स्थिति से कानून केवल कुछ लोगों के हाथ की चीज़ रह जाती, जिसे कोई विचारशील व्यक्ति स्वीकार न कर सकता। इसी कारण मनु ने उसे एक विस्तृत बुनियाद पर स्थापित किया। वह बुनियाद थी सदाचार अर्थात् आर्यों का जीवित आचार। इस सम्बन्ध में उस ने जो लिखा है वह बहुत प्रसिद्ध है—

---

[1] २. २—४। [2] ऊपर § १४६ इ—पृ० ६६४।

[3] श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ॥ २ १४ ॥

"सरस्वती और दृषद्वती इन देवनदियों के बीच जो देवताओं का बनाया देश है उसे ब्रह्मावर्त्त कहते हैं। उस देश में वर्णों का और अन्तरालों (संकर वर्णों) का परम्परा-क्रमागत जो आचार है, वही सदाचार कहलाता है। कुरुक्षेत्र मत्स्य पञ्चाल और शूरसेन—यह ब्रह्मर्षि-देश ब्रह्मावर्त्त के बाद है। इस देश में पैदा हुए कुलीन लोगों के पास से पृथिवी में सब मनुष्य अपना अपना चरित्र सीखें।"[1]

दृषद्वती शायद पंजाब और अन्तर्वेद की सीमा की घग्घर नदी है; उस दशा में ब्रह्मावर्त्त का तंग दोआब कुरुक्षेत्र के ठीक पच्छिम का छोटा सा प्रदेश है। कुरुक्षेत्र बाँगरू बोली का क्षेत्र है, मत्स्य मेवाती-अहीरवाटी का, उत्तर पञ्चाल खड़ी बोली और दक्खिन पञ्चाल कनौजी का, तथा शूरसेन ब्रजभाखा का। मोटे तौर से आजकल के पछाँही हिन्दी के क्षेत्र में से बुन्देली का क्षेत्र निकाल देने से बाकी जो इलाका बचता है वह मनु का ब्रह्मावर्त्त+ब्रह्मर्षि-देश है। भूमिका-खण्ड[2] में जिसे हम ने अन्तर्वेद कहा है, उस का पूरब अंश—अवध और प्रयाग, या अवधी बोली का क्षेत्र—तथा पहाड़ी अंश निकाल देने से बाकी मनु का ब्रह्मावर्त्त-ब्रह्मर्षि-देश रह जाता है। इस प्रकार मनु व्रात्य-प्रधान और बौद्ध-प्रधान[3] मगध और पूरबी देशों के बजाय उस पच्छिमी अन्तर्वेद के सदाचार को आदर्श बतलाता है जिस में वेदों की रचना हुई थी,[4] और जो वैदिक धर्म-कर्म का आरम्भ से केन्द्र था। यह ध्यान रहे कि इस अंश में मनु की दृष्टि को हम संकीर्ण नहीं कर सकते; बौद्ध वाङ्मय के अनुसार भी कुरु प्रदेश का धर्म्म आदर्श धर्म था, और पृथिवी (भारतवर्ष) के दूसरे देशों के लोग उसे सीखने का जतन

---

[1] २. १७—२०। [2] § १० अ—पृ० ४२-४३।

[3] ऊपर § ८१—पृ० ३१२।

[4] ऊपर § ४७, § ७२ अ—पृ० २०८; ‡ ६—पृ० २४१।

करते थे[1]। भगवान् बुद्ध के गहन विषयों के प्रायः सब उपदेश उसी प्रदेश में दिये गये कहे जाते हैं। वैदिक काल से आज तक भारतवर्ष के समूचे इतिहास में पच्छिमी अन्तर्वेद की भाषा भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बनी रही है। उस प्रदेश ने अपनी छाप भारतवर्ष के समूचे इतिहास सभ्यता और संस्कृति पर लगाई है।

मनु अपनी दृष्टि से वैदिक धर्म का पुनरुद्धार करता है। "जिस किसी का जो कुछ धर्म मनु ने बतलाया है, वह सब वेद में कहा है, क्योंकि वह (वेद) सब ज्ञानों से भरा है।"[2] किन्तु वेद में अठारह व्यवहारपदों में से अधिकांश की और उन के सब नियमों की गन्ध भी नहीं है—वैदिक युग के आर्थिक जीवन में भूमि के क्रय-विक्रय रहन संविद्व्यतिक्रम आदि व्यवहार की अनेक बातों का किसी को सपना भी न आ सकता था। ये सब अर्थशास्त्र की विवेचना के विषय थे, जिन का उदय महाजनपद-युग से हुआ था। शायद इसी बात को अनुभव करते हुए मनु कहता है—'अनाम्नात (नहीं निर्धारित किये गये) धर्मों के विषय में कैसे हो, यह प्रश्न होने पर, जैसा शिष्ट ब्राह्मण कहें निःसन्देह वही धर्म हो।"[3] और आगे वह दस या तीन वृत्तस्थ ब्राह्मणों की दशावरा या त्र्यवरा परिषद् द्वारा धर्म का निर्णय कराने की योजना करता है[4]। यह परिषद् द्वारा धर्म-प्रतिपादन कराने की विधि पुरानी परिपाटी का ही अवशेष थी। सब धर्म मूलतः परिषदों के समय या

---

[1] ऊपर § ८२—पृ० ३१४-१५।

[2] २. ७।

[3] १२. १०८।

[4] १२. ११०।

ठहराव ही थे[1]। किन्तु वे परिषदें बड़े समूहों की होती थीं, और ये दशावरा और त्र्यवरा परिषदें केवल विशेषज्ञों की।

यह तो उन धर्मों की बात हुई जिन के विषय में वेद में कोई विधान नहीं है। किन्तु दूसरी बातों में भी मनु सदा वेद का अनुसरण करता है, सो नहीं कहा जा सकता। मोटे तौर से वह वैदिक क्रियाकलाप को बनाये रखने के पक्ष में है; बस। किन्तु साधारण जीवन के अनेक पहलुओं में समाज वैदिक युग से इतना आगे बढ़ चुका था कि वैदिक प्रथाओं का अनुसरण अब वह न कर सकता था। नमूने के लिए मनु नियोग का और विधवा-विवाह का बड़ा विरोध करता है, और यहाँ तक कहता है कि 'विवाह के मन्त्रों में नियोग का उल्लेख नहीं किया गया, विवाहविधि में कहीं विधवा का पुनर्विवाह नहीं कहा'[2]। किन्तु उस के कहने से कोई आधुनिक आलोचक इस बात को मान न लेगा; नियोग और विधवा-विवाह के विषय में वह जो कुछ कहता है सब सातवाहन युग के विचार हैं, और वैदिक युग के विचारों से वे बहुत दूर हैं।

याज्ञवल्क्य अन्य अनेक बातों की तरह कानून के आधारों की विवेचना में भी मनु जैसा कट्टर नहीं है। जहाँ तक धर्म और व्यवहार के एक दूसरे से बड़ा छोटा होने का प्रश्न है, वह मनु का अनुसरण करता है। मनु ने जो धर्मशास्त्र में व्यवहार को सम्मिलित करने की शैली चलाई, उसी शैली पर याज्ञवल्क्यस्मृति लिखी गई। इस का यह अर्थ है कि धर्मशास्त्र के विचारक्षेत्र के विषय में याज्ञवल्क्य मनु के मत को मानता है, और वह समूचे व्यवहार को धर्म के एक अंग के रूप में देखता है। वह दृष्टि मूलतः मनु की थी। याज्ञवल्क्य स्पष्ट शब्दों में भी कहता है कि 'अर्थशास्त्र से धर्मशास्त्र बल-

---

[1] ऊपर § ११९—पृ० ४९४।

[2] ९, ६५।

वान् है, यही स्थिति है।"[1] तो भी याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में व्यवहाराध्याय को आचाराध्याय और प्रायश्चित्ताध्याय से बिलकुल पृथक् रक्खा है—व्यवहार और धर्म के प्रश्नों को एक साथ मिला कर वह गोलमाल नहीं करता। सामयिक धर्म को तो प्रत्येक स्मृति स्वीकार करती ही है, उस के अतिरिक्त वह धर्मो राजकृतश्च यः[2]—जो राजा का बनाया धर्म है—उसे भी स्वीकार करता है; इस अंश में भी उस ने मनु का अनुवाद करने के बजाय वस्तु-स्थिति का अनुसरण किया है। धर्म के प्रमाणों में याज्ञवल्क्य न्याय और मीमांसा का उल्लेख करता है[3] किन्तु किसी विशेष देश के सदाचार का नाम नहीं लेता, कारण, उस के समय तक शूरसेन और कुरुक्षेत्र तो पहले शकों और फिर तुखारों के तथा समूचा अन्तर्वेद और मध्यदेश तुखारों के शासन में जा चुका था।

व्यवहार या कानून के विभिन्न अंशों की विशेष विवेचना करना यहाँ उचित और उपयुक्त न होगा। उस के कई अंशों की आलोचना पीछे इस युग के आर्थिक जीवन की जाँच में हो चुकी है और कइयों की अगले परिच्छेद में—सामाजिक जीवन के निदर्शन में—होगी। मौर्य युग के व्यवहार और दण्ड-विधान का दिग्दर्शन पीछे किया जा चुका है। मनु और याज्ञवल्क्य बड़े अंश में उसी का अनुसरण करते हैं। मनु का दण्डविधान कौटिल्य से अधिक कठोर है। वह भयंकर सुधारवादी और सदाचारवादी है, और दण्ड की कठोरता से सदाचार की स्थापना करना चाहता है। यद्यपि वह बौद्धों का विरोधी है, और अपने को वेद की अनुयायी कहता है, तो भी अनेक अंशों में उस की सुधार-प्रवृत्ति पर स्पष्ट बौद्ध छाप है। उदाहरण के लिए, वह राजा

---

[1] २. २१।

[2] २. १८६।

[3] १. ३।

के लिए शराब जुए और मृगया का सीधा निषेध करता है[१]। अशोक ने समाज (जानवरों की लड़ाइयों के तमाशे) बन्द करने की चेष्टा की थी; मनु उसी प्रेरणा में कहता है—"द्यूत और समाह्वय (जानवरों की लड़ाइयों पर बाज़ी लगाने) को राजा राष्ट्र से एक दम निकाल दे।......जो द्यूत या समाह्वय करें या करावें उन सब को राजा मरवा डाले।"[२]

मनु की एक दूसरी और मुख्य विशेषता यह है कि वह तमाम व्यवहार में वर्णभेद को खड़ा करना चाहता है। प्रत्येक अपराध में ब्राह्मण को और दण्ड है, क्षत्रिय को और, वैश्य को और तथा शूद्र को और। ब्राह्मण के तईं यदि क्षत्रिय वाक्पारुष्य करे तो उसे सौ पण दण्ड, वैश्य करे तो उसे डेढ़ सौ या दो सौ, और शूद्र करे तो उसे वध! दूसरी तरफ़ यदि ब्राह्मण क्षत्रिय के तईं वही अपराध करे तो उसे पचास दण्ड, वैश्य के पचीस और शूद्र के सिर्फ़ बारह। यदि सम वर्ण एक दूसरे के प्रति वही बात करें तो बारह[३]। शूद्र के दमन के लिए जो कुछ भी किया जा सके मनु की दृष्टि में थोड़ा है। राज्य की नियुक्तियों में, विशेष कर न्याय के आसनों पर, वह शूद्र को कोई स्थान नहीं देना चाहता। "अपने को ब्राह्मण कहने वाला और अपनी जाति-मात्र से जीविका चलाने वाला भले ही राजा का धर्म-प्रवक्ता (धर्मस्थ,न्यायाधीश) हो, किन्तु शूद्र किसी प्रकार न हो।"[४] फ़ौजदारी की तरह दीवानी कानून में भी मनु वर्ण का विचार रखना चाहता है। यहाँ

[१] ७, ५०।

[२] ९. २२१; २२४।

[३] ८, २६७-६९।

[४] ८. २०।

तक कि न्यायालय में 'कार्यियों के कार्य (मुकद्दमे वालों के मुकद्दमे) वर्णक्रम से देखे जाँय'[१]—पहले ब्राह्मणों की सुनवाई हो, फिर क्षत्रियों की, इत्यादि ।

किन्तु मनु पर ब्राह्मणों के पक्षपात का दोष लगाते समय हमें यह भी न भूलना चाहिए कि वह ब्राह्मणों पर अधिक ज़िम्मेवरी भी डालता है । और किसी प्रसंग में उस ज़िम्मेवरी का ख्याल करते हुए उस ने उल्टा ब्राह्मण के लिए अधिक दण्ड कहा है । "शूद्र को चोरी करने पर आठ गुना पाप होता है (जो चुराया हो उससे आठ गुना दण्ड), वैश्य को सोलह, क्षत्रिय को बत्तीस, ब्राह्मण को चौसठ, सौ, या चौंसठ का दुगुना— क्योंकि वह उस के दोष-गुण का जानकार होता है ।"[२]

राष्ट्र के वास्तविक जीवन में मनु की ये अभिलाषायें कहाँ तक चरितार्थ हो पातीं थीं सो कहना कठिन है ।

कौटिल्य की नीति जहाँ दासता को उठा देने की थी, वहाँ मनु की उसे फिर से स्थापित करने की है । शूद्र, उस की सम्मति में, ब्राह्मण की दासता के लिए ही रचा गया है; "स्वामी के छोड़ने से भी शूद्र दासत्व से मुक्त नहीं होता ; वह उस का सहज स्वभाव है, उसे कौन उस से हटा सकता है ?"[३]

याज्ञवल्क्य में मौलिकता नहीं है, किन्तु शुद्ध कानूनकार की हैसियत से उस का दर्जा मनु से कहीं ऊँचा है । उस का मुख्य कार्य व्यवहार का संशोधन था । दीवानी और फ़ौजदारी समूचे कानून का उस ने सुधार किया । वह एक सयाना और व्यावहारिक सुधारक है, कट्टरपन उसे छू नहीं गया । यदि एक तरफ वह सनातन प्रथा का

---

[१] ८, २४ ।

[२] ८, ३३७-३८ ।

[३] ८, ४१३-१४ ।

कट्टर पक्षपाती नहीं है, तो दूसरी तरफ़ उस की उदारता भी ऐसे आदर्शवाद तक नहीं पहुँचती कि विद्यमान प्रथा को जड़ से बदलने की चेष्टा करे। वस्तुस्थिति को खूब पहचान कर वह कानून को उस के अनुसार करता प्रतीत होता है। इसी लिए उस की स्मृति में हमें पिछले सातवाहन युग के असल समाज का चित्र देखना चाहिए। उस से प्रतीत होता है कि दण्डविधान उस युग तक मौर्य युग से भी अधिक परिष्कृत और मृदु हो चुका था। बहुत से अंग-वध के दण्ड खाली नाम के थे, क्योंकि उन के बदले में जुरमाने दिये जा सकते थे। इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखयोग्य है, कि शान्तिपर्व में मृत्यु-दण्ड को सर्वथा उठा देने का पक्ष लिया गया है[1]। ब्राह्मण के लिए दण्ड में जो विशेष रियायतों की और शूद्र के विशेष दमन की नीति मनु में है, वह याज्ञवल्क्य में बहुत कम रह गई है। भयंकर से भयंकर अपराध करने पर भी ब्राह्मण को वध-दण्ड न दिया जाय, यह मनु का स्पष्ट आदेश था। याज्ञवल्क्य उस की उपेक्षा करता है। वह शूद्र को प्रायश्चित्त का अधिकार भी देता है[2]। स्त्रियों के लिए दाय का अधिकार भी वह स्वीकार करता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी कन्या के दाय पाने का विधान था, याज्ञवल्क्य ने उसे विधवा पत्नी और माता के लिए भी कर दिया[3]। विधवा कौटिल्य के समय स्वतन्त्रता से पुनर्विवाह कर सकती थी, इस कारण उस समय उसे उस अधिकार की ज़रूरत न थी। अब जब उस का पुनर्विवाह रोका गया, उसे दाय का अंश मिलना सर्वथा युक्तिसंगत था। किन्तु

---

[1] २६७. १०—१६, मनु और याज्ञ० पृ० १७२-७३ पर उद्धृत।

[2] ३. २६२।

[3] अर्थ० ३. ५—पृ० १६० ; याज्ञ० २. १३५; मनु और याज्ञ० पृ० २३३ प्र ; ऊपर § १४५ अ—पृ० ६५२।

याज्ञवल्क्य के पिछले टीकाकारों ने उस अधिकार को परिमित कर डाला है।

लृ. एकराज्यों का केन्द्रिक अनुशासन

सातवाहन युग की राज्यसंस्था में एक तरफ़ छोटे निकायों और जनपद-निकाय की शक्ति का तथा दूसरी तरफ़ एक राज्य की केन्द्रिक शक्ति का आपेक्षिक सम्बन्ध क्या था सो हम ने देखा। जो काम जनता के निकाय न करते, उन्हें राज्य की केन्द्रिक शक्ति करती। सो किस प्रकार करती थी यही देखना बाकी है।

मनु राजा को आप्त पुरुषों द्वारा राष्ट्र से सांवत्सरिक (वार्षिक) बलि लेने का तथा विविध अध्यक्ष नियुक्त करने का आदेश देता है[1]। "दो तीन पाँच (गाँवों) के बीच एक गुल्म स्थापित करे, एवं सौ ग्राम के बीच—इस प्रकार राष्ट्र की रक्षा करे। एक ग्राम का अधिपति नियुक्त करे, फिर दस ग्राम का, फिर बीस, सौ और हज़ार का। ग्राम में जो दोष पैदा हों उन की खबर ग्रामिक दस ग्रामों के मुखिया के पास स्वयं भेजे···(इत्यादि)। ग्रामवासियों के जो राजा को देने के अनाज पान ईंधन आदि हों सो ग्रामिक प्राप्त करे। दशी (दस गाँवों का अध्यक्ष) एक कुल (गाँव का हिस्सा) को भोगे, विंशी पाँच कुलों को, सौ गाँवों का अध्यक्ष एक गाँव को, सहस्राधिपति एक पुर को। उन के ग्राम-सम्बन्धी कार्यों (मामलों) को तथा अन्य कार्यों को राजा का एक सचिव अतन्द्रित (जागरूक) हो कर देखे। एक एक नगर में एक ऊँची हैसियत वाले सर्वार्थचिन्तक को नियुक्त करे।"[2]

शुंगों की अनुशासन-प्रणाली का मोटा ढाँचा उक्त श्लोकों से प्रकट

---

[1] ७. ८०-८१।

[2] ७. ११४-२१।

होता है। एक गाँव से ले कर ऊपर तक राजकीय अध्यक्ष थे, उन्हें वेतन के बजाय जागीरें मिलतीं। किन्तु वेतन के प्रसंग में ग्रामिक का वेतन कुछ नहीं कहा, दशी से गिनती शुरू की है. इस से प्रतीत होता है कि ग्रामिक शायद राजकीय अधिकारी न था, वह ग्राम वालों का अपना आदमी होता। कर की वसूली, साधारण अनुशासन तथा सम्भवतः प्रजा के कार्य (मुकद्दमे) देखना भी इन अधिकारियों का काम था। राष्ट्र की रक्षा के लिए गुल्मों के अधिष्ठाता इन से अलग थे। वह पुलिस का महकमा था।

खेती के सिवाय शिल्प वाणिज्य आदि के शुल्कों से राज्य की आमदनी थी। कर-सम्बन्धी नीति बहुत उदार थी। "जिस प्रकार राजा और धन्दा करने वाले दोनों की पुष्टि हो, उस प्रकार देख कर राजा राष्ट्र में कर नियत करे। जैसे बछड़ा जोंक और भौंरा थोड़ा थोड़ा खाते हैं, उसी प्रकार राजा को थोड़ा थोड़ा वार्षिक कर लेना चाहिये। किन्तु राजा चाहे मर रहा हो तो भी श्रोत्रिय से कर न ले। उस के देश में श्रोत्रिय कभी भूख से कष्ट न पाय।"[१] बछड़े जोंक और भौंरे वाली बात का ठीक अनुवाद हम राजधर्म पर्व में भी पाते हैं[२]।

राज्य का मुख्य न्यायालय मनु के अनुसार राजा का होता, और राजा के बजाय उस में मुख्य अमात्य भी बैठता[३]। "वह तीन सभ्य से घिरा हुआ सभा में प्रविष्ट हो राजा के कार्य देखे (मुकद्दमे सुने)। जिस जगह तीन वेद जानने वाले विप्र बैठते हैं, और राजा का अधिकृत (नियुक्त) विद्वान्, वह मानों ब्रह्मा की सभा है।"[४] इस प्रकार सभा शब्द शुंगों के समय न्याय-मन्दिर के अर्थ में मुख्यतः बर्त्ता जाता और सभ्यों का काम उब्बहिका या जूरी का रह गया था। निचले न्यायालय

---

[१]७, १२८-२९ १३३। [२]८८, ४। [३]७, १४१।
[४]८, १०-११।

भी सम्भवतः इसी नमूने पर बनते। राजकीय अधिकारी उन में धर्मस्थ[1] या न्यायाधीश का काम करते होंगे, और ग्राम या बड़े प्रदेश की सभा उस में जूरी के रूप में बैठती होगी।

शूद्र धर्मप्रवक्ता न हो[2] तथा वर्णक्रम से कार्य देखे जाँय, इन विधानों का उल्लेख पीछे कर आये हैं। साक्षियों के विषय में विस्तृत नियम हैं। शूद्रों के साक्ष्य का कम मूल्य है, और गोपालन वाणिज्य शिल्प नाट्य घरेलू नौकरी तथा सूदखोरी से रोज़ी कमाने वाले ब्राह्मणों को भी साक्षी की हैसियत में शूद्रों के समान गिनने का आदेश है[3]। शपथ और दिव्य का भी विधान है; दिव्य अर्थात् देवों के साक्ष्य से सत्यासत्य का पता लगाने की शैली का प्रयोग सदा शपथ-पूर्वक किया जाता था—'यदि मैं झूठ बोलता हूँ तो मुझे आग जला दे' इत्यादि—, इस लिए दिव्य का उल्लेख सदा शपथ के प्रसंग में ही आता है[4]। अर्थशास्त्र उसे स्वीकार नहीं करता था, वह धर्मशास्त्र की ख़ास चीज़ थी।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में यह विधान था कि यदि राजा के धर्मस्थ या प्रदेष्टा अन्यायपूर्ण फ़ैसला करें तो उन्हें भी दण्ड दिया जाय; यह विधान मनुस्मृति में भी है, और फिर आगे याज्ञवल्क्यस्मृति में भी।[5]

राष्ट्र की रक्षा के लिए गुल्मों की स्थापना की बात ऊपर कही गई है। अनेक प्रकार के दुर्गों का भी मनु ने उल्लेख किया है। सेना में भरती करने के लिए 'कुरुक्षेत्र मत्स्य पञ्चाल और शूरसेन (अर्थात् पच्छिमी अन्तर्वेद) के लम्बे और हल्के'[6] योद्धा उसे विशेष पसन्द थे।

---

[1] ८. ५७।　[2] ८. २०—२२।　[3] ८. १०२।

[4] ८. १०९-१५।　[5] मनु ९. २३४; याज्ञ० २.४।

[6] ७. १९३।

वसूली, न्याय, सेना, गुप्तचर आदि विभागों के अतिरिक्त राज्य के कुछ व्यावसायिक महकमे भी थे, और 'आकरों तथा कर्मान्तों' को राजकीय अध्यक्ष चलाते[1]।

याज्ञवल्क्य-स्मृति की राज्य-अनुशासन-योजना जिस मुख्य अंश में मनुस्मृति की योजना से बदलती है, उस का उल्लेख हो चुका है। याज्ञवल्क्य स्पष्ट कहता है कि राजा के अधिकृत (राजा से अधिकार पाये हुए) न्यायालयों के नीचे पूगों (ग्रामों और नगरों) के न्यायालय थे, उन के नीचे श्रेणियों के और फिर कुलों के[2]। अधिकृत न्यायालयों के कई दर्जे रहे होंगे, किन्तु सब छोटे न्यायालय प्रजा के अपने निकायों के थे, और राजकीय न्यायालयों का ढाँचा उन्हीं की बुनियाद पर खड़ा होता था। इस अंश में, जैसे कि और अनेक बातों में भी, मनु और याज्ञवल्क्य का भेद शायद केवल इस कारण हो कि मनु का कथन केवल उस के अपने कट्टर पक्ष को सूचित करता हो, और याज्ञवल्क्य का ठीक वस्तुस्थिति को। इस दशा में यह कहना होगा कि शुंग-युग और पिछले सातवाहन-युग के वास्तविक अनुशासन में इस अंश में कोई भेद न था।

१६५. सामाजिक जीवन

अ. वर्ण और जाति-भेद

सातवाहन युग के अभिलेखों और वाङ्मय में चातुर्वर्ण्य अर्थात् चार वर्णों का विभाग बहुत कुछ परिपक्व रूप में पाया जाता है, यहाँ तक कि आर्यावर्त्ती समाज का निर्देश करने के लिए चातुर्वर्ण्य शब्द ही प्रायः बर्त्ता जाता है[3]। मनु कहता है—"मुँह बाँह जाँघ और पैर

[1]७. ६२। [2]२. ३०। [3]दे० ऊपर § १७०—पृ० ७७१. ७७८-७९।

से पैदा हुओं के बाहर जो जातियाँ हैं, चाहे वे म्लेच्छ वाणी बोलें चाहे आर्य वाणी, वे सब दस्यु हैं।"[1]—अर्थात् आर्यावर्त्त में बसे हुए शक यवन आदि चाहे आर्य भाषा बोलें (और आर्य धर्म भी अपना लें) तो भी वे दस्यु हैं, क्योंकि वे चातुर्वर्ण्य में सम्मिलित नहीं। इस प्रकार चातुर्वर्ण्य में होना आर्यत्व का सब से मुख्य लक्षण हो गया।

इस वर्णभेद का सब से पहला आधार जाति-भेद अर्थात् नस्ल-भेद था सो पीछे कहा जा चुका है। आर्य और दास का भेद आरम्भ में केवल नस्ल का भेद था[2]। दासों में से बहुत से आर्थिक और वैवाहिक सम्बन्धों से आर्यों के समाज में मिलते गये, उन्हीं का वर्ग शूद्र कहलाया[2]। कौटिल्य के समय आर्यप्राण दास और शुद्ध अनार्य दासों का भेद स्पष्ट था, और आर्य-प्राण दास को आर्य अर्थात् अदास बनाने के भरसक उपाय किये गये थे। द्विज और शूद्र के भेद की जड़ में यह नस्ल का भेद आरम्भिक शुंग-युग तक भी आँखों को दिखाई देता था इस का प्रमाण है। पतंजलि अपने महाभाष्य में कहता है—"और गोरा रंग, शुद्ध आचार, पिंगल (हलके रंग की) आँखें और कपिल (भूरे) केश ये भी ब्राह्मण के अन्दरूनी गुण होते हैं।"[3] मनु जब यह कहता है कि शूद्र दास्य के लिए ही रचा गया है, तब उस से यह सिद्ध होता है कि शूद्र और दास शब्द का एकार्थक

---

[1] १०. ४५।

[2] ऊपर §§ ६७ ल, ७१ इ; § ७६ अ—पृ० ३०२-३; § ८६ अ; § ११६—पृ० ४५६-५८; § १४६ ऋ।

[3] तथा गौरः शुच्याचारः पिङ्गलः कपिलकेश इत्येतानप्याभ्यन्तरान् ब्राह्मणे गुणान् कुर्वन्ति।—२. २, ६; मनु और याज्ञ० पृ० २८ पर उद्धृत।

होना तथा शूद्र का मूलतः और मुख्यतः दासजातीय अर्थात् अनार्य-जातीय होना भूला न गया था। आर्य और दास का मिश्रण चाहे शुंग-युग तक बहुत हो चुका था, तो भी वह जाति-भेद (नस्ल-भेद) उस मिश्रण से मिट न गया था; और वह कुछ फीका हो गया था तो भी उस की याद तो स्पष्ट बनी हुई थी। इस लिए इस कहने में कुछ ग़लती न होगी कि चार वर्णों में से कम से कम चौथे की बुनियाद जाति-मूलक या नस्ल-मूलक थी।

आर्यों के विशः में जो रथों महारथों पर चढ़ कर लड़ने वाले सरदार लोग थे, उन का धीरे धीरे सब से पहले एक अलग वर्ग बन जाना और उस वर्ग का अपने को सब से ऊँचा समझना तथा अपनी वंश-शुद्धि का विचार रखने लगना स्वाभाविक था। वह कैसे हुआ सो प्रक्रिया भी पीछे[1] देख चुके हैं। किन्तु वह क्षत्रिय वर्ग चारों तरफ़ से बन्द न था; उस में नये व्यक्ति भी धीरे धीरे शामिल होते तथा कुछ पुराने उस में से निकलते रहते होंगे। उन्हीं के नमूने पर ब्राह्मणों के निकाय या श्रेणि का भी उदय हुआ था। अरसे तक कुछ कुलों में ब्राह्मण का ही काम होता रहा जिस से ब्राह्मण भी धीरे धीरे एक जाति कहलाने लगे। क्षत्रियों और ब्राह्मणों की कल्पित जातियों का विचार पूर्व-नन्द-काल में प्रकट हुआ[2], और शुंग-युग तक काफ़ी परिपक्व हो चुका था। वैश्य शब्द विश् से बना है और उस का अर्थ है विशः अर्थात् जनसाधारण का आदमी; किन्तु अब ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियों तथा शूद्र जाति के नमूने पर वैश्य को अर्थात् तमाम आर्य कृषकों शिल्पियों और वणिजों के समुदाय को—भी स्मृतिकारों ने एक जाति बना डाला।

---

[1]ऊपर § ७१ इ; § ७६—पृ० ३०३; § ८६ अ—पृ० ३४०-४१।

[2]ऊपर § ११६—पृ० ४५६-५८।

अशोक ब्राह्मण वर्ग के लिए निकाय शब्द का प्रयोग करता है, और वह कहता है कि योनों को छोड़ कर और सब जगह—अर्थात् समूचे भारत में—ब्राह्मण और श्रमणों के निकाय पाये जाते हैं[1]। दूसरी तरफ़ पतंजलि कहता है कि अंग के पूरब के गावों से राजा की आज्ञा से भी ब्राह्मण नहीं लाये जा सकते, क्योंकि वहाँ ब्राह्मण मिलते नहीं[2]। इन दोनों कथनों में स्पष्ट विरोध दीखता है, और उस विरोध का समाधान यह प्रतीत होता है कि अशोक ने ब्राह्मण शब्द का प्रयोग जहाँ पुराने विस्तृत अर्थ में किया है, वहाँ पतञ्जलि ने उसे एक संकीर्ण अर्थ में बर्त्ता है। अशोक का अभिप्राय पठन-पाठन विद्या और खोज तप और साधना में लगे हुए एक विशेष प्रकार का सादा जीवन बिताने वाले आर्यों के समुदाय से है, जब कि पतंजलि का प्रयोजन पुराने और प्रसिद्ध ब्राह्मण-कुलों के समुच्चय से है। ब्राह्मण का लक्षण संकीर्ण हो जाने और उस के एक जाति बन जाने की प्रक्रिया इस एक उदाहरण से सूचित होती है।

किन्तु इस प्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य और शूद्र जातियों में जनता के बड़े अंश का बँटवारा कर लेने के बाद भी बहुत से समुदाय बचते जिन्हें इन चारों वर्णों में से किसी में न गिना जा सकता। और उन के लिए एक तो संकर जाति की कल्पना की गई, दूसरे यह कि कुछ जातियाँ मूलतः ब्राह्मण या क्षत्रिय थीं किन्तु व्रतों—नियमों—को छोड़ देने से पतित व्रात्य हो गईं! इन कल्पनाओं से भारतवर्ष में उपस्थित तमाम जातियों की व्याख्या कर दी गई। "ब्राह्मण से वैश्य कन्या में अम्बष्ठ पैदा होता है, ·····वैश्य से क्षत्रिय स्त्री में मागध और ब्राह्मण

---

[1]नथि चा पे जनपदे यता नथि इमे निकाया आनता योनेषु बंह्मने चा षमने चा—प्र. शि. १३, कालसी का पाठ, भा० अ० स० १, पृ० ४७, कालसी का ज अंश। दे० ऊपर § १४६ आ—पृ० ६६८।

[2]महाभाष्य ६, १, २ (वार्त्तिक ६)।

स्त्री में वैदेह,···ब्राह्मण से अम्बष्ठ कन्या में आभीर।···व्रात्य ब्राह्मण से (व्रात्य ब्राह्मणी में) भूर्जकण्टक, आवन्त्य···पैदा होते हैं; व्रात्य क्षत्रिय से झल्ल, मल्ल, निच्छिवि (=लिच्छिवि)···खस और द्राविड; वैश्य व्रात्य से···कारूष···सात्वत।"[1] "ये सब क्षत्रिय जातियाँ क्रियाओं के लोप से और ब्राह्मणों के अदर्शन से धीरे धीरे वृषल बन गईं—पौण्ड्रक, ओड्र[2], द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश।"[3]

इन कल्पनाओं की अनर्गलता और निरर्थकता 'हाथ पर पड़े आँवले की तरह' (हस्तामलकवत्) प्रकट है। जिन जातियों को इस प्रकार संकर वर्ण या व्रात्य कहा गया है, उन में से कई एक वास्तविक जातियाँ या जन अर्थात् एक नस्ल के लोगों के समूह थे, जैसे द्राविड यवन आभीर निषाद आदि; और उन में से कइयों के अपने अपने प्रदेश थे या रह चुके थे, जैसे, अम्बष्ठों[4] और आभीरों के—अर्थात् वे जातियाँ राष्ट्र थीं या उन जनों के जनपद भी थे। आवन्त्य मगध वैदेह का भी स्पष्ट अर्थ है अवन्ति मगध और विदेह के निवासी। इन जातियों का यह अपराध था कि ये मनु की चातुर्वर्ण्य-योजना में किसी प्रकार अँट न सकती थीं, और इसी लिए ये संकर वर्ण या व्रात्य कहलाईं। किन्तु जितने संकर मनु ने कहे हैं, उन के अतिरिक्त और किस्म के अनेक संकर हो सकते हैं, और यदि चार वर्णों को हम वास्तविक जातियाँ मान सकते तो यह पूछते कि उन उन संकरों की उपज क्या कहलाती। मनु को स्वयं अपना इस निर्बलता का आभास रहा प्रतीत होता है,

---

[1] मनु १०.८—२३।

[2] ओड्र के नाम से उड़ीसा का नाम पड़ा है।

[3] वहीं १०. ४३-४४।

[4] दे० ऊपर §§ ३४, १२४—पृ० १३२, ४४२।

और इसी लिए वह कहता है—"ऐसे आदमी को जो वर्ण से हीन हो (किसी वर्ण का न हो), जो जाना हुआ न हो, कलुषित जन्म का हो, चाहे वह आर्य-रूप हो तो भी अपने कर्मों से उसे अनार्य पहचान ले।"[1] फिर आगे वह शूद्रा के बेटे के ब्राह्मण बनने का उपाय बतलाता है, और अन्त में कहता है—"शूद्र ब्राह्मण बन जाता है और ब्राह्मण शूद्र; ऐसे ही क्षत्रिय से पैदा हुए को समझे और वैश्य से भी।"[2]

स्मृतिकारों की इन व्याख्याओं से ही प्रकट है कि यद्यपि उन की बड़ी कोशिश थी समाज को चार वर्णों में बाँटने की, तो भी वस्तुस्थिति में समाज में जातपाँत अभी जम न पाई थी; उस के जमने की तरफ़ कुछ रुझान ज़रूर था। संकर-वर्णों की कल्पना का सब आधुनिक विद्वानों ने मज़ाक उड़ा कर या उस की तरफ़ तुच्छता प्रकट कर छोड़ दिया है; किन्तु अमुक अमुक जातियों को क्यों संकर कहा गया है, और अमुक अमुक जाति को अमुक अमुक का ही संकर क्यों कहा गया है, इस की बारीकी से विवेचना करने की ज़रूरत है। उस प्रकार की विवेचना से प्रकट होगा कि उस समय के समाज में वस्तुतः कौन कौन वर्ग थे, और उन की पारस्परिक हैसियत क्या क्या थी। यह याद रखना चाहिए कि संकर जातियों का उल्लेख कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी है और धर्मसूत्रों में भी[3]; वह कल्पना पुरानी है, और उस की कुछ वास्तविक बुनियाद ज़रूर है। दायभाग के नियमों में सवर्ण और असवर्ण (संकर-जात) पुत्रों के हिस्सों की दर अलग अलग है, इस प्रकार वास्तविक कानून में भी इस बात का कुछ प्रभाव ज़रूर रहा दीखता है। वह क्या कुछ था, उस की स्पष्ट विवेचना नहीं की गई। तो भी

---

[1] १०.५७।

[2] १०.६५।

[3] अर्थ० ३. ७; गौत० ४. १४-१५।

जात-पाँत का बीज इस युग में कहाँ तक जम पाया था, उस का कुछ अन्दाज़ इन्हीं स्मृतियों से मिल सकता है।

जात-पाँत में सब से पहला विचार यह है कि भिन्न भिन्न जातों का भिन्न भिन्न पेशा है, अथवा ठीक ठीक कहें तो यह कि भिन्न भिन्न पेशे भिन्न भिन्न जातें हैं, क्योंकि जात की बुनियाद कुछ हद्द तक कर्म-भेद भी है। मनु विभिन्न वर्णों के विभिन्न कार्य ज़रूर बतलाता है, किन्तु वह आदर्श मात्र है। मनुस्मृति से ही सूचित होता है कि उस समय के ब्राह्मण अनेक दूसरे पेशे भी करते थे। मनु यह नियम करता है कि "देवताओं के कार्य में ब्राह्मण की परीक्षा करने की ज़रूरत नहीं, किन्तु पितरों के कार्य में बड़े प्रयत्न से परीक्षा करे"[1]। आगे वह विस्तार से उन ब्राह्मणों की सूची देता है जिन्हें श्राद्ध में नहीं बुलाना चाहिए, और उन्हें बुलाने के भयंकर परिणामों का पता देता है[2]। बुरे ब्राह्मणों का वह परिगणन उस समय की सामाजिक अवस्था पर बहुत कुछ प्रकाश डालता है। "जो चोर पतित नपुंसक और नास्तिक वृत्ति हैं, उन्हें मनु ने हव्य (देवताओं के कार्य) और कव्य (पितरों के कार्य) दोनों के अयोग्य कहा है (१५०)[3]। (ब्रह्मचारी की तरह) जटा धारण कर के (भी) न पढ़ने वाले को, दुर्बल को, कितव (जुआरी) को, तथा जो पूगों के यज्ञ कराते हैं उन्हें श्राद्ध में न खिलावे (१५१)। चिकित्सकों देवलकों (मन्दिरों में पूजा कराने वालों) और मांस बेचने वालों को भी। विपण (बुरे पण या वाणिज्य से जीविका करने वाले) हव्य और कव्य दोनों में वर्जित हैं (१५२)। ग्राम या राजा का हरकारा (प्रेष्य), ···जिस ने अग्नि छोड़ दी हो (अग्निहोत्र न करता हो), तथा सूद-

---

[1] ३. १४९।

[2] ३. १७० प्र।

[3] कोष्ठों में श्लोकों की संख्या है, सब श्लोक तीसरे अध्याय के हैं।

खोर (१५३),···पशुपालक···ब्राह्मणों का विरोधी···और जो गणों (के राज्य) के अन्तर्गत हो (१५४), कुशीलव (नट नर्त्तक गायक या चारण), वृषली का पति, पुनर्भू (पुनर्विवाहिता) का पुत्र··· (१५५), भृति ले कर पढ़ाने वाला,··शूद्र का शिष्य या गुरु,··· व्यभिचार से उत्पन्न (१५६),···पतित लोगों के साथ जिस के ब्राह्म (शिक्षा-विषयक) या योन (जन्मविषयक) सम्बन्ध हों (१५७),··· सोम बेचने वाला, समुद्र जाने वाला, बन्दी (स्तुतिपाठक), तेली··· (१५८), शराबी,···रस (विष) बेचने वाला (१५९), धनुष और बाण बनाने वाला···जुआरी···(१६०),···वेदनिन्दक (१६१), हाथी बैल घोड़े या ऊँट साधने वाला, नक्षत्रजीवी (ज्योतिष से रोज़ी करने वाला), पक्षिपोषक और युद्धाचार्य (युद्ध-कला-शिक्षक) (१६२),··· ··· गृह-संवेशक (वास्तुविद्या से गुज़ारा करने वाला अर्थात् स्थपति या सूत्रधार = इमारत-इंजीनियर), पेड़ रोपने की रोज़ी करने वाला (१६३), खिलाड़ी कुत्तों को पालने वाला, बाज़ पालने वाला,··गणों का पुरोहित (१६४)···भिखारी, कृषिजीवी,···(१६५),। मेढ़ों और भैंसों का रोज़गार करने वाला,·· मुर्दे ढोने वाला, इन सब से प्रयत्नपूर्वक बचना चाहिए (१६६)। इन सब गर्हित अपांक्तेय (पंक्ति के बाहर रहने योग्य) द्विजाधमों से दोनों (दैव और पित्र्य) कार्यों में बचे (१६७)। अनपढ़ ब्राह्मण घास की आग की तरह शान्त हो जाता है, उसे हव्य नहीं देना चाहिये, क्योंकि राख में आहुति नहीं दी जाती (१६८)। व्रतहीन अपांक्तेय द्विजों ने जो खाया, वह राक्षसों ने खाया (१७०)। अपाङ्क्त्य जितने पाङ्क्त्यों को खाते हुए देख लेता है, उन सब का फल मूर्ख दाता को नहीं मिलता (१७६)। शूद्र का पुरोहित जितने ब्राह्मणों को अंगों से छू ले, उतनों का फल दाता को नहीं होता (१७८)।"

इस से प्रकट है कि पढ़ना-पढ़ाना और यज्ञ करना-कराना यद्यपि

ब्राह्मण का मुख्य पेशा था, तो भी शूद्रों से पढ़ने और शूद्रों को पढ़ाने या यज्ञ कराने वाले, एवं ग्रामों और नगरों के या गणों के सामूहिक यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण बुरी दृष्टि से देखे जाते। ग्रामयाजकों पूग-याजकों और गणयाजकों के प्रति मनु का कोप शायद उस के गणतन्त्र-विरोधी होने के कारण रहा हो। पढ़ाने और यज्ञ कराने के सिवा चिकित्सा ज्योतिष स्थापत्य (इन्जीनियरी) और युद्ध-शिक्षण से ले कर कुत्ते और बाज़ पालने, मांस बेचने और मुर्दा ढोने तक के काम ब्राह्मण करते थे, सो भी उक्त नियमों से प्रकट है। प्रसंगवश यहाँ यह भी कह दें कि उस समय वकालत का पेशा भी था और उसे प्रायः ब्राह्मण करते थे। मिलिन्दपञ्हो में शाकल नगर के वर्णन में अनेक पेशों का उल्लेख करते हुए धम्मापणिक (कानून के सौदागरों !) का पेशा भी गिनाया है[1]। जायसवाल का कहना है कि मनु ८. १६९ में विप्र से भी वकील का अभिप्राय है।

किन्तु तुच्छ और गलीज़ धन्दों में लगे हुए ब्राह्मण किस बात के ब्राह्मण थे ? वे अपाङ्क्त्य हो जाते—उन की पँात नष्ट हो जाती—तो भी जात तो रहती थी ? कोई ऐसा काम, जो प्रधानतः ब्राह्मणों का माना जाता, न करने वाले लोग भी ब्राह्मण कहलाते इसी से क्या यह सिद्ध नहीं होता कि ब्राह्मणत्व जन्म से था ? इस का उत्तर यह है कि ब्राह्मण जाति के विचार का इस समय तक अवश्य उदय हो चुका था; बहुत से ऐसे पुराने कुल थे जिन में अनेक पुश्तों से अध्यापन याजन आदि का ही काम होता आता था; वे सब ब्राह्मण और उन का समूह ब्राह्मण जाति कहलाता। ब्राह्मण का ख़ास धन्दा छोड़ देने पर भी कुछ समय तक उन के वंशज ब्राह्मण कहलाते रहते। किन्तु देर तक वैसी बात होती रहती हो ऐसा नहीं प्रतीत होता। कारण कि पंक्ति से तो वे तुरत

---

[1] मनु और याज्ञ० पृ० २८८-९० पर उद्धृत।

ही निकाल दिये जाते, और हम अभी देखेंगे कि ब्राह्मणों के जो विशेष राजनैतिक अधिकार थे उन से भी वञ्चित कर दिये जाते; तब उन का ब्राह्मणपन केवल नाम को बचता और वह तभी बना रह सकता था यदि कम से कम उन के विवाह-सम्बन्ध ब्राह्मणों के अन्दर ही होते हों। किन्तु जैसा कि हम अभी देखेंगे, अनेक बन्धन लगाने के बावजूद भी असवर्ण विवाह की प्रथा इस युग तक बहुत काफ़ी थी; और विशेष कर ये अपाङ्क्त्य ब्राह्मण जो तेली कसाई आदि का पेशा करते, और जिन्हें श्रोत्रिय ब्राह्मण अपनी लड़कियाँ न देते होंगे, निचले वर्णों में ही विवाह करने को बाधित होते होंगे। इस प्रकार जात-पाँत इस युग में केवल इसी अंश तक बढ़ी दीखती है कि समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों में अपने को जाति मानने का झूठा विचार पहले से अधिक जम गया।

जैसे ब्राह्मणों के लिए अध्यापन और याजन आदर्श धन्दे थे, वैसे क्षत्रिय के लिए भी प्रजाओं का रक्षण आदर्श कार्य था। किन्तु वह केवल आदर्श ही रह सकता था। अनेक पुराने क्षत्रिय कुलों के लोग दूसरे धन्दे करते होंगे; उन में से बहुत से अच्छे धन्दे करने वाले क्षत्रिय का मुख्य पेशा छोड़ देने पर भी अरसे तक क्षत्रिय कहलाते रहते होंगे; और नीच धन्दों वालों का क्षत्रिय उद्भव भी कुछ समय तक उन के पड़ोसियों को याद रहता होगा। बस, यहीं तक इस युग की जात-पाँत परिपक्व हुई दीखती है। यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि जहाँ किसी वर्ण के लोगों का एक बड़ा समुदाय एक साथ अपने असल धन्दे को छोड़ किसी दूसरे अपनी हैसियत के अनुकूल धन्दे में लग जाता, वहाँ उस धन्दा-परिवर्त्तन के बावजूद भी उन की मूल जाति बनी रहती। किन्तु जहाँ अकेले-दुकेले या थोड़े आदमी कोई नया धन्दा अख़्तियार करते, या नया अख़्तियार किया हुआ धन्दा उस वर्ण की हैसियत के अनुकूल न रहता, वहाँ मूल जाति कुछ समय बाद नष्ट हो जाती होगी।

यही इस युग की जातियों या वर्णों की स्थिति प्रतीत होती है। उन के पत्थर की लकीरें बनने को अभी कई युग बाकी थे।

वैश्यों का मुख्य धन्दा कृषि गोपालन वाणिज्य और महाजनी था। किन्तु जो शूद्र-प्रधान देश थे, जिन की जनता में आर्य अंश कम था, उन में कृषक मुख्यतः शूद्र ही थे। हम अभी देखेंगे कि मनु गोपालक और कृषक ब्राह्मणों को शूद्र-समान गिनता है; उस से यह सूचित होता है कि किसी किसी जनपद में कृषि शूद्रों का मुख्य धन्दा गिनी जाने लगी थी।

आर्थिक जीवन में वर्ण-भेद या जाति-भेद का जो प्रभाव था सो हम ने देखा। क्या उस का प्रभाव राष्ट्र के राजनैतिक जीवन पर भी था? क्या विभिन्न वर्णों के राजनैतिक अधिकार और कर्त्तव्य अलग अलग थे? क्या धर्म और व्यवहार में अर्थात् राष्ट्र के कानून में भिन्न भिन्न वर्णों की भिन्न भिन्न हैसियत थी? यदि हाँ तो कहाँ तक?

इस सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है कि मनु समूचे धर्म और व्यवहार में वर्णभेद खड़ा करना चाहता है। उस की दृष्टि में, ब्राह्मण चाहे कोई भी पाप करे वह अवध्य है, उसे अधिक से अधिक देश निकाला दिया जा सकता है[1]; और दूसरी तरफ़ शूद्र दास्य के लिए ही सिरजा गया है[2]। वस्तुस्थिति में मनु का आदेश कहाँ तक माना गया था सो कहना कठिन है। सम्भवतः शुंगों के ब्राह्मण-राज्य में यह बात कुछ समय चली हो। याज्ञवल्क्य इस की तरफ़ निर्देश भी नहीं करता; मृच्छकटिक नाटक में अधिकरणिक (न्यायाधीश) ब्राह्मण चारुदत्त को सूली की सज़ा देने को विवश होता है, किन्तु वह उस व्यवहार की सचाई में सन्देह करता

---

[1] ८. १२३—२८, ३५०-८१।

[2] ८. ४१३।

करता है और चारुदत्त के ऊँचे चरित्र को देखते हुए राजा से सिफ़ारिश करता है कि मनु के कहने के अनुसार उस विप्र को सूली चढ़ाने के बजाय राष्ट्र से निर्वासित कर दिया जाय। तो भी राजा उस सिफ़ारिश को नहीं मानता, और सूली की सजा बहाल रहती है [1]।

दीवानी मामलों को भी वर्णक्रम से देखा जाय यह मनु को अभीष्ट था [2]। साक्षी के रूप में प्रतिष्ठित वर्णों के लोगों की हैसियत दूसरों से अधिक होना स्वाभाविक बात थी, किन्तु उस सम्बन्ध में मनु का यह कथन मनोरञ्जक है कि "गोरक्षक वणिज कारु (शिल्पी) कुशीलव (नट नर्त्तक गायक) प्रेष्य (हरकारे) और वृद्धिजीवी ब्राह्मणों को शूद्र के समान माने।" [3] इस से प्रकट है कि केवल जात के ब्राह्मणपन का मनु की दृष्टि में भी विशेष मूल्य न था।

धर्मस्थ अर्थात् न्यायाधीश का पद ब्राह्मण को देने और विशेष कर शूद्र को कभी न देने का मनु विशेष आग्रह करता है [4]। ब्राह्मणों के हाथ में वह अधिकार शायद इस कारण शुंग-युग के बाद भी बना रहा हो कि धर्म और व्यवहार का वे विशेष अध्ययन करते थे। याज्ञवल्क्य भी वह अधिकार ब्राह्मण को ही देना चाहता है [5]। किन्तु ब्राह्मण ही धर्मस्थ हो और क्षत्रिय ही राज्याधिकारी हो, इत्यादि सब विचारों को शक और तुखार आक्रमणों के राजविप्लवों ने झकझोर दिया था। शान्तिपर्व के राजधर्म में उस प्रश्न को सीधे शब्दों में उठा कर उत्तर दिया है कि "ब्राह्मण वैश्य या शूद्र जो कोई भी दस्युओं से प्रजा की

---

[1] नौवाँ अंक।

[2] ८. २४।

[3] ८. १०२।

[4] ८. ९, २०-२१।

[5] २. १, ३ १८९।

रक्षा करे वह धर्म दण्ड से धारण (राष्ट्र का अनुशासन) कर सकता है ।"[1]

इस आदेश से वर्ण-भेद और जाति-भेद की वही दशा सूचित होती है जो ऊपर कही गई है। आर्य और शूद्र में तो मूलतः जाति-भेद था ही, और आर्य राजा अथवा शूद्र राजा कहना तो सर्वथा संगत था। किन्तु ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य यदि मूलतः कार्यों के नाम थे, तो ब्राह्मण राजा और वैश्य राजा कहने में वदतोव्याघात था, क्योंकि ज्यों ही राजा बना कि वह ब्राह्मण और वैश्य नहीं रहा। किन्तु एक तरफ़ उन प्रयोगों का होना तथा दूसरी तरफ़ ब्राह्मण और वैश्य को राजा बनने का अधिकार देना यह सूचित करता है कि भिन्न भिन्न वर्ग अब जातियाँ मान लिए गये थे, किन्तु वे मानी हुई जातियाँ आर्थिक और राजनैतिक जीवन पर विशेष प्रभाव न डालतीं और कार्य बदल जाने पर कुछ काल बाद मिट भी जातीं थीं।

किन्तु वर्गों का ठीक जाति बनना आर्थिक और राजनैतिक अधिकारों और कर्त्तव्यों के भेद से वैसा न हो सकता था जैसा इस बात से कि विभिन्न वर्ग अपने अन्दर ही विवाह-सम्बन्ध करें। यही जात-पाँत का मुख्य चिह्न है। इस सम्बन्ध में उपस्थित वाङ्मय क्या कहता है? मनु बहुत चाहता है कि विवाह सवर्ण ही हों, किन्तु उस के विवाह-प्रकरण और दायभाग-प्रकरण से प्रतीत होता है कि असवर्ण विवाहों की बहुत चाल थी, और ब्राह्मणों और शूद्रों में भी परस्पर-सम्बन्ध काफ़ी होते थे। ब्राह्मणों और क्षत्रियों का शूद्र स्त्रियों से विवाह करना मनु को विशेष रूप से अनभीष्ट था[2]; इस से जान पड़ता है कि वैश्यों के शूद्राओं से विवाह अधिक साधारण थे; साथ ही ब्राह्मणों और क्षत्रियों

---

[1] ७८, २६, ऊपर § १६० इ में उद्धृत।

[2] ३, १४।

का भी शूद्राओं को व्याहना बिलकुल वर्जित न था[१]। अनुलोम (ऊँचे वर्ण के पुरुष का निचले वर्ण की स्त्री के साथ) की अपेक्षा प्रतिलोम (ऊँचे वर्ण की स्त्री का निचले वर्ण के पुरुष के साथ) विवाह अधिक बुरा माना जाता, किन्तु होते प्रतिलोम विवाह भी थे[२]। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों के अनुलोम विवाह होना तो बहुत साधारण बात थी[३]।

याज्ञवल्क्य के समय तक मनु के समय से जात कुछ अधिक परिपक्व हो चुकी दीखती है। वह द्विजातियों के शूद्रा से विवाह करने का एकदम निषेध करता है, किन्तु वह उसे अपने मत रूप में पेश करता है,[४] जिस का यह अर्थ है कि बहुत से आचार्य दूसरा मत मानने वाले भी थे।

खान-पान के सम्बन्ध में जात-पाँत का विशेष प्रभाव सातवाहन युग में नहीं दीख पड़ता। वास्तविक जाति-भेद का उस पर प्रभाव पहले से था; चाण्डाल निषाद आदि जो जातियाँ बहुत नीची गिनी जाती थीं उन के साथ खाने पीने का पहले भी कुछ परहेज़ था[५], और वह स्वाभाविक था। शुंग युग तक इस विषय के कुछ स्थिर रिवाज बने दीखते हैं; पतञ्जलि के महाभाष्य[६] से प्रतीत होता है कि कुछ शूद्र जातियाँ ऐसी थीं जो पात्र से निरवसित थीं—जिन के बर्तनों में आर्य लोग न खाते और जिन्हें वे अपने बर्त्तनों में न खिलाते थे; किन्तु उसी प्रकरण से यह भी सिद्ध होता है कि शक-यवनों की गिनती उन शूद्रों में न थी; वे चाहे शूद्र थे तो भी पात्र से निकाले हुए शूद्र न थे। आर्यों में परस्पर एक

---

[१] ३. १३।

[२] ६. ११ अ।

[३] ६. ६।

[४] १. ५६।

[५] ऊपर §§ ८६ अ, ११६—पृ० ३४१-२, ४५७।

[६] अष्टाध्यायी २. ४. १० पर।

दूसरे के हाथ का भोजन न करने की बात की उस युग में कहीं गन्ध भी नहीं थी।

३. आश्रम-धर्म

उत्तर वैदिक काल से आर्यों में चार आश्रमों का, अर्थात् शिष्ट मनुष्यों के जीवन के चार पड़ावों का, विकास हो चुका था। वह विचार भारतीय संस्कृति के बुनयादी विचारों में से है। संन्यास आश्रम पहले केवल ब्राह्मण पुरुषों के लिए था[1], बुद्ध ने उसे सब के लिए खोल दिया था। बौद्ध मार्ग ने संन्यास या प्रव्रज्या को बहुत अधिक प्रोत्साहना दी। मनुस्मृति में गृहस्थ आश्रम की बड़ी महिमा गायी गई है;—"जैसे वायु का आश्रय पा कर सब जन्तु जीते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रय पा कर सब आश्रम रहते हैं। क्योंकि तीन आश्रमियों का गृहस्थ ही प्रतिदिन ज्ञान और अन्न से धारण करता है, इस लिए यही ज्येष्ठ आश्रम है।"[2] फिर, "आश्रम से आश्रम को जा कर होम-हवन कर के जितेन्द्रिय पुरुष भिक्षा और बलि से थक कर प्रव्रज्या लेने वाला परलोक में बढ़ता है। तीन ऋणों को चुका कर मोक्ष में मन लगावे; चुकाये बिना मोक्ष की सेवा करने वाला नीचे गिरता है।...वेद पढ़े बिना, पुत्र पैदा किये बिना और यज्ञ किये बिना मोक्ष चाहने वाला द्विज नीचे गिरता है।"[3]

शान्तिपर्व में महाभारत-युद्ध के बाद युधिष्ठिर का अनुशोचन और निर्वेद दिखा कर और उस के मुँह से भिक्षु होने का प्रस्ताव करा के भिक्षुपन की और भी ज़ोरदार शब्दों में खिल्ली उड़ाई गई है। उस

---

[1] दे० ऊपर § ७६—पृ० ३०२।

[2] ३. ७७-७८।

[3] ६. ३४—३७।

प्रस्ताव को सुन कर पहले अर्जुन पापिष्ठा कापाली वृत्ति[1] की निन्दा करता है; पर जब उस से भी युधिष्ठिर का निर्वेद नहीं जाता तब भीमसेन संन्यास का मज़ाक बनाता है—"आपत्काल में संन्यास करना चाहिये, यही शिक्षा है; अथवा बुढ़ापा आ जाने पर, या शत्रुओं से दुर्गति किये जाने पर।...मौन धारण कर के केवल अपना भरण करते हुए धर्म का ढोंग रच कर गिरा जा सकता है, जिया नहीं। अकेला आदमी पुत्र पौत्रों देवताओं ऋषियों अतिथियों पितरों का भरण न करता हुआ जंगलों में सुख से जी सकता है। न तो ये मृग स्वर्ग को पाते हैं न सूअर न पक्षी......यदि संन्यास से कोई राजा सिद्धि पा सके तो पहाड़ और पेड़ तुरत ही सिद्धि पा लें। ये नित्य-संन्यासी निरुपद्रव अपरिग्रह वाले निरन्तर ब्रह्मचारी देखे जाते हैं।"[2] फिर अर्जुन कुछ तापसों और पक्षी बने हुए शक्र (इन्द्र) का एक पुरातन इतिहास सुनाता है—"जंगलों में इस तरह सुख से जिआ जा सकता है, यह सोच कर कुछ मन्द कुलीन अजातश्मश्रु (बग़ैर दाढ़ी-मूँछ के) द्विज घर-बार छोड़ कर संन्यासी हो गये।"[3]

मनु और राजधर्म-कार का इस प्रकार गृहस्थ, आश्रम के गुण गाना, उसे यों ही छोड़ देने वालों को शाप देना और उन की खिल्ली उड़ाना सर्वथा उचित था। अजातश्मश्रु तरुणों के हलकेपन से संन्यासी बन जाने की प्रवृत्ति बौद्धों ने जगा दी थी। मृच्छकटिक में जो हम एक जुआरी संवाहक (मालिश का धन्दा करने वाले) को भिक्षु बनता देखते हैं, सो समाज की वस्तु-स्थिति को सूचित करता है। संन्यासी बनने की उमग ने सामाजिक कर्त्तव्यों को छोड़ भागने की

---

[1] ८. ७।

[2] १०. १७, २१—२५।

[3] ११. १—२।

प्रवृत्ति को बहुत कुछ बढ़ा दिया था। उन कर्त्तव्यों को न पालना प्राचीन आर्यों की दृष्टि में ऋणों को न चुकाना था।

स्त्रियों का प्रव्रज्या लेना भी हमारे स्मृतिकारों को पसन्द नहीं प्रतीत होता। स्त्री-संग्रहण अर्थात् व्यभिचार की विभिन्न किस्मों के लिए जहाँ बड़े बड़े दण्ड कहे गये हैं, वहाँ प्रव्रजिता को दूषित करने वाले के लिए मनु 'कुछ थोड़े से जुरमाने' का विधान करता है[1]; और याज्ञवल्क्य भी उस अपराध को तुच्छ मानता है[2]। कानूनकारों की दृष्टि में भिक्षुणी स्त्रियाँ एक तुच्छ श्रेणी थीं।

उ. स्त्री-पुरुष-धर्म

प्राग्वैदिक से मौर्य-युग तक स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों में किस प्रकार उत्तरोत्तर परिष्कार होता गया, सो पीछे देखते आये हैं[3]। मनुस्मृति में विवाह को और परिष्कृत और नियमित करने का प्रयत्न किया गया है, और उस प्रयत्न में स्त्रियों पर कुछ ऐसे बन्धन भी लगाये गये हैं जो आज हमें न्यायसंगत नहीं प्रतीत होते। पुराने ज़माने में बहुत ढीलढाल थी इस का पता मनु को भी था (९. १९—२४), किन्तु उस का सब दोष स्त्रियों के मत्थे ही मढ़ा गया है (९.२—१८)। आगे वह वही पुराना प्रश्न उठाता है कि "पुत्र तो भर्त्ता का जाना जाता है, किन्तु भर्त्ता के विषय में श्रुति (अनुश्रुति) का द्वैध है— कोई उत्पादक को (भर्त्ता) कहते हैं, कोई क्षेत्री (खेत वाले) को। नारी खेत है और पुरुष बीज, क्षेत्र और बीज के समायोग से सब

---

[1] ८. ३६३।

[2] २. २९३।

[3] §§ ६७ उ. ७१ अ, ऋ १२, § ७७ इ, § ८९ अ—पृ० ३४२-४३, § ११९—पृ० ४५९-६०, § १४५ अ, १४६ ऋ—पृ० ६६६।

प्राणियों का जन्म होता है। कहीं (कइयों के मत में) बीज विशिष्ट होता है, कहीं (किन्तु दूसरों के मत में) स्त्री से पैदा होना; जहाँ दोनों बराबर हों वह पैदाइश प्रशंसनीय है।"[1] आगे वह बड़े जतन से यह दिखलाता है कि पराये खेत में बीज न बोना चाहिए। "भूमि के एक ही खेत में किसानों के बोये हुए बीजों के अनुसार नाना-रूप फल पैदा होते हैं;...एक चीज़ बोई गई, दूसरी पैदा हुई, सो नहीं होता;... जो ठूँठ काट कर पहले साफ़ करे उसी का खेत होता है, जो पहले तीर मारे उसी का मृग (शिकार) होता है। पूरा पुरुष (व्यक्ति) तो इतना होता है कि जाया (स्त्री) आत्मा (स्वयं) और प्रजा (सन्तान)।...... भर्त्ता और अंगना (मिल कर) एक ही कहे जाते हैं निष्क्रय (शुल्क-रूपी मूल्य जो कन्या के पिता को दिया गया था, लौटा देने) या छोड़ देने से भर्त्ता की भार्या मुक्त नहीं हो जाती...।...गाय घोड़ी ऊँटनी और दासी में उत्पादक (साँड आदि) की सन्तान नहीं होती (मालिक की होती है)। जो बिना खेत के बीज वाले दूसरे के खेत में बोते हैं उन्हें पैदा हुए सस्य में से कहीं कोई फल नहीं मिलता।"[2]

इस प्रकार मनु बड़े आग्रह से नियोग की प्रथा को रोकना चाहता है, और उस प्रसङ्ग में इस सिद्धान्त का विकास करता है कि स्त्री पुरुष और सन्तान मिल कर एक व्यक्ति है, और स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध कभी टूट नहीं सकता। आगे वह कहता है—"फल के विषय में यदि शर्त्त न की गई हो तो खेत वालों और बीज वालों में से प्रत्यक्ष ही खेत वालों का फल होता है...। किन्तु शर्त्त कर के बीज के लिए जो दिया जाता है, उस के भागी बीज वाला और खेत वाला दोनों देखे गये हैं।

[1] ६. ३२—३४।

[2] ६. ३८—४६।

पानी के वेग या वायु से ला फेंका हुआ बीज जिस के खेत में उगता है, उसी का होता है···।"[1] इससे प्रतीत होता है कि नियोग के घोर विरोधी होने के बावजूद भी विशेष दशा में, जहाँ पहले से अभिसंधान (शर्त) कर लिया गया हो, मनु को उस की इजाज़त देनी पड़ती है। शुंग-युग तक वह प्रथा बिलकुल बन्द न हो गई थी।

"इस के बाद अब स्त्रियों का आपद्-धर्म कहूँगा। बड़े भाई की जो भार्या है वह छोटे की गुरुपत्नी है; छोटे की जो भार्या है वह बड़े की स्नुषा[2] (पतोहू) है।"[3] इस लिए आपत्काल के बिना मनु उन से नियोग की इजाज़त नहीं देता, किन्तु "सन्तान का परिचय होने पर देवर या सपिण्ड से विधिवत् नियुक्त स्त्री को अभीष्ट सन्तान पानी चाहिए।"[4] आगे वह विधवा के लिए नियोग की बात करता है, और विशेष नियमों के पालनपूर्वक उस नियोग की इजाज़त देता है। वह विधवा के विवाह को केवल नियोग तक, उस नियोग को भी देवर और सपिण्ड तक, और उन के लिए भी एक या दो बार तक परिमित कर देता है; और आगे कहता है कि विवाह के मन्त्रों में विधवा का पुनर्विवाह कहीं नहीं कहा (६५); वह पशु-धर्म है; मनुष्य भी वैसा करते थे पर राजा वेन के समय (६६); उस कामोपहतचेतन राजा ने वर्णों का संकर कर डाला था (६७); इत्यादि।

विवाह के मन्त्रों में विधवा-विवाह नहीं कहा सो कह कर मनु ने अपनी तसल्ली भले ही कर ली, आज हमारी तसल्ली नहीं हो सकती, और पुराने समय में जो विधवा-विवाह होता था उस का दोष वेन के मत्थे

---

[1] ६. ५२—५४।

[2] पंजाबी—नूंः।

[3] ६. ५५-५६।

[4] ६. ५९।

मढ़ कर मनु ने छुट्टी पा ली। श्रुति और अनुश्रुति की वैसी खींचातानी को आज हम चाहे न पसन्द करें, तो भी नियोग को रोकना हमारी आधुनिक दृष्टि से भी अच्छा ही था; दत्तक पुत्र की प्रथा चल जाने के वाद उस की ज़रूरत भी नहीं रही, क्योंकि सन्तान के लिए ही वह उपाय वर्त्ता जाता था। किन्तु स्त्री और पति मिल कर एक व्यक्ति हैं, यह विचार मनु को विधवा-विवाह रोकने को वाधित करता है; एक व्यक्ति के अन्दर दूसरे को घुसने की गुँजाइश कहाँ होती ! किन्तु वह और भी आगे वढ़ जाता है—'कन्या का वाग्दान होने पर भी यदि पति मर जाय तो उस का उस के देवर के साथ ही विवाह हो' (६९)।

पति के मरने पर जैसे स्त्रियाँ पुनर्विवाह कर लिया करती थीं, वैसे पति के लम्बे प्रवास पर भी। मौर्य-युग तक वह प्रथा जारी थी। मनु इस विषय में कहता है कि जो प्रवास पर जाय, वह स्त्री की वृत्ति (जीविका) का प्रवन्ध कर के जाय। 'यदि धर्म-कार्य के लिए प्रवास पर गया हो तो आठ वरस उस की प्रतीक्षा की जाय; विद्या या यश के लिए गया हो तो तीन वरस' (७६)। उस के वाद क्या किया जाय सो नहीं कहा; स्पष्ट अर्थ यही है कि दूसरा विवाह कर लिया जाय। पुराना नियम वही था। परन्तु पिछले टीकाकार इस पर गोलमाल करते हैं; या चुप हैं; केवल टीकाकार नन्दन अपने अनुव्याख्यान में ठीक अर्थ देता है। वह कहता है—"वाद दूसरा पति लेने में दोष नहीं है, यह अभिप्राय है; और जो पति के मरने पर ब्रह्मचारिणी रहने को कहा है वह (केवल) अधिक (पुण्य-) फल चाहने वालियों के लिए, दूसरियों के लिए नहीं; इस प्रकार (दोनों वातों में) विरोध नहीं है।" जब प्रोषितभर्तृका के पुनर्विवाह को मनु स्पष्ट शब्दों में पूरी तरह नहीं रोक पाता, तव उस की विधवा-विषयक रोक को भी पक्का न मानना होगा। आधुनिक दृष्टि से हम

यह कहने के बजाय कि उस की विधवा-विषयक रोकथाम केवल फलातिशय चाहने वालियों के लिए थी, यों कहेंगे कि पुनर्विवाह को रोकने की उस ने बहुत कुछ चेष्टा की, किन्तु वह इतनी पुरानी प्रचलित और जमी हुई प्रथा थी कि उसे वह पूरी तरह न रोक पाया। साथ ही विशेष दशाओं में उस के औचित्य से मनु इनकार न कर सकता था, इसी कारण उस के कथनों में कुछ गोलमाल और ढीलापन है।

आगे त्याग के नियम हैं (७७—८३)। वे कौटिल्य के मोक्ष (तलाक) के नियमों में उलटफेर कर बनाये गये हैं। कौटिल्य का भी यह कहना था कि 'धर्म-विवाहों में मोक्ष उचित नहीं है,'[१]। धर्मशास्त्र क्योंकि धर्म-विवाहों को ही स्वीकार करता है, इस लिए उस में मोक्ष का नाम भी नहीं है। पुरुष स्त्री का त्याग कर सकता है, तो भी वह की भार्या बनी रहती है। किन्तु स्त्री को अधिकार नहीं दिया गया कि वह पुरुष को त्याग सके। तो भी मनु के ये नियम स्त्री के अधिकारों का कुछ ध्यान अवश्य रखते हैं। 'उन्मत्त पतित नपुंसक वीर्यहीन या घोर रोगी (पति) के साथ द्वेष करने वाली स्त्री का भी त्याग नहीं किया जा सकता' (७९)। 'जो स्त्री रोगिणी हो, किन्तु हिती करने वाली और शील वाली हो, उस से इजाज़त ले कर अधिवेदन (दूसरा विवाह) करना चाहिए, उस का कभी निरादर न करना चाहिए' (८२)। टीकाकार सर्वज्ञ-नारायण अपने मन्वर्थनिबन्ध में इस पर मनमानी हाँकता है कि 'यदि वह इजाज़त न दे तो उस की अनुमति के बिना ही'! प्रतिषेध के बावजूद भी उत्सवों पर मद्य पीने वाली और प्रेक्षा और समाजों में जाने वाली स्त्री के लिए जुरमाने का विधान है (८४), किन्तु कौटिलीय अर्थशास्त्र अकारण डाँटने या पीटने वाले पति के लिए जो दण्ड-विधान था, उस के मुकाबले का मनुस्मति में कुछ नहीं है।

---

[१]अमोक्षो धर्मविवाहानामिति।—अर्थ० ३. ३—पृ० १५५।

कन्या के लिए उत्कृष्ट अभिरूप और सदृश वर खोजना माता-पिता का कर्त्तव्य कहा गया है (८८)। 'भले ही कन्या मरने तक घर में बैठी रहे, किन्तु उसे कभी गुणहीन के हाथ मत दे' (८९)। 'कुमारी ऋतुमती होने पर तीन बरस प्रतीक्षा करे; उस के बाद सदृश पति को वर ले' (९०)। 'यदि (माता-पिता द्वारा किसी पति को) न दी जाती हुई वह स्वयं पति को पा ले, तो उसे कुछ पाप नहीं लगता और न उसे जिसे वह पाती है' (९१)। 'पति के लिए भार्या देवताओं का देन होती हैं—अपनी इच्छा भर से वह नहीं पायी जाती; देवताओं का प्रिय आचरण करते हुए उस का सदा भरण करे' (९५)। 'शूद्र भी लड़की देते हुए शुल्क न ले; शुल्क लेने वाला छिपे ढंग से लड़की की बिक्री करता है' (९८)। 'हम ने यह बात पूर्व जन्मों में (पूर्वजों के विषय में) कभी नहीं सुनी कि शुल्क नाम के मूल्य से लड़की की छिपी बिक्री की जाय' (११०)। 'एक दूसरे के तईं मरते दम तक सच्चा बर्ताव हो, यही संक्षेप से स्त्री-पुरुष का परम धर्म है' (१०१);—इस समूची विवेचना का अन्तिम परिणाम यही है, और इस में कोई-सन्देह नहीं कि स्त्री-पुरुष-धर्म का यही सर्वोत्कृष्ट सनातन आदर्श है।

साधारण रूप से स्त्रियों के विषय में मनु की दृष्टि बाद के धर्म-शास्त्रकारों की अपेक्षा यथेष्ट उदार है। आधुनिक आलोचक उस पर यही एक आपत्ति कर सकता है कि जब वह पति के मरने पर भी स्त्री को पुनर्विवाह की इजाज़त देने में आनाकानी करता है, तब पति को उस के त्याग और अधिवेदन का अधिकार क्यों देता है। किन्तु मनु का यह विचार था कि " पति भार्या में प्रवेश कर गर्भ बन कर पैदा होता है; जाया (पत्नी) का जायापन यही है कि उस में फिर जन्म पाता है।"[1]—पति क्योंकि पत्नी के गर्भ में प्रवेश कर जाता है; इस कारण

[1] ९, ८।

पत्नी के दूसरा विवाह करने से संकर हो जाता; इस लिए यदि बाधित होकर नियोग किया भी जाय तो केवल देवर या सपिण्ड से। वंश-शुद्धि-विषयक इस जननशास्त्रीय विचार ने मनु को स्त्री को पुनर्विवाह के अधिकार से वञ्चित करने को बाधित किया। अन्यथा उस के विचार उदार हैं। और पुरानी शिथिलता को दूर कर स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों का पूरा संशोधन करने का श्रेय मनुस्मृति के प्रवक्ता को है।

सातवाहन भारत के समकालीन रोमन समाज के पतन के मुख्य कारणों में एक रोमन स्त्रियों के आचरण की शिथिलता गिनी जाती है। रोम से कहीं अधिक समृद्ध भारतवर्ष में स्त्रियों का आचरण संयत रह सका, इस का श्रेय भारतवर्ष के धर्मप्रवक्ताओं को मिलना चाहिए।

मनुस्मृति में सुजनन-सम्बन्धी कुछ नियम भी हैं (३. ५—१०, ४५—५०)। उन में से जो असपिण्ड-असगोत्र-विवाह के नियम हैं, वे तो कानून हैं, उन के उल्लंघन से किया विवाह व्यभिचार माना जाता होगा। बाकी पति-पत्नी के साहचर्य विषयक नियम उपदेश-परक हैं। सन्तान के लिङ्ग भेद के जो कारण कहे गये हैं, वे अनेक दीर्घकालिक तजरबों से जाने गये प्रतीत होते हैं। भारतवर्ष में जनन-शास्त्र का अध्ययन बहुत पुराना था,[1] पाश्चात्य जगत् में वह अब शुरू हुआ है। उस विषय के महत्त्व को न जानते हुए आधुनिक राजनीति-शास्त्र के पिता (प्रमुख आचार्य) ब्लण्ट्श्ली ने मनु के ऋतु-काल विषयक उपदेश (३. ४६) को राज्य की तरफ़ से पति और पत्नी के निजी जीवन में अनुचित हस्तात्तेप का उदाहरण बना डाला था![2] प्राचीन भारतवासी निकट सम्बन्धियों में विवाह करने के बुरे

---

[1] दे० ऊपर § ७८—पृ० २६८।

[2] थियरी आव दि स्टेट (राज्य-शास्त्र, ब्लण्ट्श्ली के जर्मन ग्रन्थ का अंग्रेज़ी अनुवाद), औक्सफ़र्ड, ३ संस्क०, पृ० २०१।

परिणामों को जानते थे; पाश्चात्य जगत उन्हें मुश्किल से अब पहचानने लगा है। हिन्दू संस्कृति की जड़ तक असपिण्ड-असगोत्र-विवाह का विचार बैठ चुका है। दूसरी जातियों का इस सम्बन्ध में अन्यथा व्यवहार हमें घृणास्पद और ग्लानिकर प्रतीत होता है; नमूने के लिए जब हम रोम-साम्राज्य के औगुस्त से नेरो तक पहले पाँच सम्राटों के वंशक्रम और विवाह-सम्बन्धों पर विचार करते हैं तो हमें कै आती मालूम होती है !

याज्ञवल्क्य-स्मृति के समय तक स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध विषयक नियम और अधिक परिष्कृत प्रतीत होते हैं। कौटिल्य और मनु की तरह वह भी आठ प्रकार के विवाह गिनाता है, जिन में से पहले चार अच्छे माने जाते थे। पिता को और उस के अभाव में अन्य सम्बन्धियों को कन्या का दान (विवाह) करना चाहिए, और दाता के अभाव में कन्या स्वयं वर कर ले (१. ६४)। 'कन्या एक ही बार दी जाती है', किन्तु यदि विवाह सम्पूर्ण होने से पहले और अच्छा वर मिल जाय तो पहले वाग्दान को तोड़ने में कोई दोष नहीं (६५)। जिस का दूसरी बार संस्कार हो, चाहे वह अक्षत रही हो या क्षत हो, वह पुनर्भू कहलाती है (६७);—इस से यह सिद्ध होता है कि स्मृतिकारों के उपदेशों के बावजूद भी पुनर्भू स्त्रियाँ होती थीं जो पति की मृत्यु के बाद या किसी अन्य कारण से भी पुनर्विवाह करतीं थीं। 'पति के जीते जी या मरने के बाद भी जो दूसरे के पास नहीं जाती, वह इस लोक में कीर्त्ति पाती है, और (परलोक में) उमा के साथ सुख पाती है' (७५);—इस का यही स्पष्ट अभिप्राय है कि स्त्री का पुनर्विवाह अभीष्ट न था, तो भी उस का स्पष्ट निषेध भी न था।

दूसरी तरफ़ पुरुष के लिए याज्ञवल्क्य का यह आदेश है कि वह पत्नी के मरने पर उस की अन्त्येष्टि कराने के बाद 'बिना विलम्ब दूसरा विवाह करे' (८९)!

यह जननशास्त्रीय विश्वास कि पति स्त्री के गर्भ में प्रवेश करता है, याज्ञवल्क्य का भी प्रतीत होता है। इसी लिए वह नियम करता है कि 'व्यभिचार के बाद मासिक ऋतु हो जाने पर शुद्धि हो जाती है, किन्तु गर्भ रहते (व्यभिचार करने पर) त्याग किया जाता है' (७२)।

नियोग याज्ञवल्क्य के समय में भी था, किन्तु केवल देवर या सपिण्ड से (६८-६९)।

त्याग का अधिकार केवल पुरुष को दिया गया है, किन्तु उस पर कई बन्धन लगाये गये हैं। 'दोषहीन स्त्री को त्यागने वाले को दण्ड मिलना चाहिये, (६६) शराब पीने वाली, रोगिणी, ...बाँझ...स्त्री का अधिवेदन (उस के रहते दूसरा विवाह) करना चाहिए' (७३)। किन्तु अधिविन्न स्त्री का भरण-पोषण करना चाहिए, नहीं तो बड़ा पाप होता है (७४)। 'आज्ञाकारिणी चतुर वीरप्रसू और प्रियवादिनी स्त्री को त्यागने वाले से (उस की कुल जायदाद का) तीसरा अंश दिलवाना चाहिए; यदि वह द्रव्यहीन हो तो स्त्री का खर्चा' (७६)।

मनु ने स्त्री-पुरुष का परम धर्म यह कहा था दोनों एक दूसरे के प्रति सच्चा आचरण रक्खें, याज्ञवल्क्य उस के बजाय कहता है—'स्त्री को पति का वचन पालना चाहिये, यही स्त्री का परम धर्म है' (७७);—और याज्ञवल्क्य के समय से वही हिन्दू स्त्री का परम धर्म चला आता है। उस का एक अंश में एक अपवाद भी वह कहता है। यदि पुरुष कोई महापातक कर बैठे तो जब तक वह प्रायश्चित द्वारा अपनी शुद्धि न कर ले, स्त्री उस का वचन मानने को बाधित नहीं है, तब तक वह प्रतीक्षा करती रहेगी (७७)।

दोनों स्मृतियों से बड़े संयुक्त परिवारों का रिवाज खूब प्रचलित प्रतीत होता है।

ऋ: खान-पान वेषभूषा विनोद-व्यसन

समूचे सामाजिक जीवन के साथ साथ भारतवासियों के खान-पान खेल-विनोद आदि में भी परिष्कार होता गया। बौद्ध और जैन सुधार ने विहिंसा रोकने का कार्य बहुत कुछ किया था। मनुस्मृति में यों तो भक्ष्याभक्ष्य का एक पूरा प्रकरण है, कई प्रकार के शाक मांस आदि अभक्ष्य कहे गये हैं, किन्तु वैदिकी हिंसा का बलपूर्वक समर्थन किया गया है। कच्चा मांस खाने वाले, मैला खाने वाले, तथा अन्य कई प्रकार के ग्रामीण जन्तुओं के मांस को जो वर्जित किया है,[1] सो स्वास्थ्य और सफ़ाई के विचार से प्रतीत होता है। आगे कहा है—"प्रशस्त मृग और पक्षी यज्ञ के लिए ब्राह्मणों को मारने चाहिएँ, एवं भृत्यों की वृत्ति के लिए; अगस्त्य ने पुराने ज़माने में ऐसा ही किया था। पुराने ब्राह्मणों और क्षत्रियों के यज्ञों में भक्ष्य मृगों और पक्षियों के पुरोडाश (हवि) होते थे।"[2] यज्ञ का शेष मांस खाना चाहिए, और ब्राह्मणों की इच्छा हो तब; तथा जब यथाविधि खाने को प्रेरित किया जाय, या प्राणों का संकट उपस्थित हो (२७)। प्रजापति ने जो कुछ स्थावर और जंगम रचा है सब प्राणों का अन्न—भोजन—है (२८)। चरों के अन्न अचर हैं, दाढ़ वालों के अन्न बिना दाढ़ के; हाथ वालों के हाथ-हीन तथा शूरों के भीरु (२९)। खाने योग्य प्राणियों को रोज़ रोज़ खा कर खाने वाला दूषित नहीं होता; विधाता ने ही खाने वाले और खाने योग्य प्राणी बनाये हैं (३०)। यज्ञ के लिए मांस का खाना यह दैव विधि कही गई है (३१)। विधि को जानने वाला द्विज आपत्ति के बिना अविधि से माँस न खाय; अविधि से मांस खा कर परलोक में उन्हीं से

[1] ५. ११—१८।

[2] ५. २२—२३।

खाया जाता है (३२)। धन के लिए मृग मारने वाले को वैसा पाप नहीं होता जैसा वृथा मांस खाने वाले को (३४)। (श्राद्ध आदि में खाने के लिए) कहा जाने पर भी जो आदमी मांस नहीं खाता, वह मर कर इक्कीस जन्म तक पशु बनता है (३५)। आगे फिर वृथा हत्या का निषेध किया है (३७)। वृथा पशु मारने वाला जितने उस पशु के रोम हैं परलोक में उतने जन्मों में मारा जाता है (३८)। यज्ञ के लिए स्वयंभू ने स्वयं पशु रचे हैं ··इस लिए यज्ञ में किया हुआ वध वध नहीं है (३९)।

यों एक तरफ़ तो यज्ञ और श्राद्ध के लिए हत्या पर बल दिया गया है, दूसरी तरफ़ वृथा हिंसा रोकी गई है। पहले अंश में जहाँ बौद्धों का विरोध है वहाँ दूसरे में स्पष्ट बौद्धों और अन्य अहिंसावादियों का प्रभाव झलकता है। अगले श्लोकों में अहिंसा पर उतना ही बल दिया गया है, और अन्त में यह परिणाम निकाला है कि 'मांस-भक्षण में दोष नहीं,···वह जन्तुओं की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, किन्तु उस के परहेज़ का बड़ा फल है' (५६)।

याज्ञवल्क्य भी मनु की बातें दोहराता है, और वृथा-मांस का निषेध करता है (१. १६७)। उस के समय तक श्रोत्रिय का आतिथ्य करने के लिए बैल मारने, या उस का बहाना करने, की प्रथा बची हुई थी (१. १०९)।

सौत्रामणि यज्ञ में सुरा पीने की चाल पुरानी थी। पतंजलि उस का मज़ाक उड़ाने वालों का एक श्लोक उद्धृत कर के उस का प्रत्याख्यान करता है[1]। श्लोक यों हैं—यदि गूलर के रंग की सुराहियों का ढेर पी लेने से स्वर्ग नहीं मिलता, तो क्रतु (यज्ञ) में उसी के पीने से कैसे मिल सकता है? यज्ञ की मज़ाक उड़ाने वालों का प्रत्याख्यान

---

[1] महाभाष्य, प्रथम आह्निक।

करना तो अश्वमेध-पुनरुद्धार-युग के लिए संगत था, पर उतने से ही पुरानी प्रथाओं का पूरा पुनरुज्जीवन हो गया हो सो सम्भव नहीं है।

द्यूत या जुआ खेलना और समाह्वय अर्थात् जानवरों को लड़ाना तथा उस पर बाज़ी लगाना भारतवासियों के पुराने व्यसन थे। अशोक ने समाज अर्थात् समाह्वय रोकने की चेष्टा की थी। मनु द्यूत और समाह्वय को एक दम बन्द करने का आदेश देता है (९. २२१—२८)। याज्ञवल्क्य वैसा आदर्शवादी नहीं है, और कौटिल्य की तरह वह उन का राजकीय नियन्त्रण चाहता है। उस के अनुसार विशेष निश्चित स्थानों में सरकारी निरीक्षण में ही द्यूत होना चाहिए, और जुआरियों से फ़ी सदी कर सभिक को ले कर राजा के पास पहुँचाना चाहिए (२. १९९—२०३)। यही वास्तविक अवस्था रही प्रतीत होती है। मृच्छकटिक के पात्रों में जुआरी और उन्हें खिलाने वाला एक सभिक भी है।

लाव-कुक्कुट-मेष-युद्धों का उल्लेख वात्स्यायन के कामसूत्र[1] में भी है। किन्तु उन के अतिरिक्त अनेक प्रकार के समाज और उत्सव ऐसे भी होते जिन में जानवरों की लड़ाई से कुछ मतलब न होता। विशेष तिथियों पर सरस्वती के भवन में समाज जुटते, जिन में नृत्य गीत आदि होते, या आगन्तुक (बाहर से आये हुए) कुशीलव (नट) नागरकों (शहर के शौकीन लोगों) को प्रेक्षणक देते अर्थात् नाटक दिखाते[2]। उन के अतिरिक्त अनेक प्रकार की उद्यान-क्रीड़ाओं उद्यान-यात्राओं गोष्ठियों और आपानकों अर्थात् पानगोष्ठियों आदि का कामसूत्र में वर्णन है। वे सब सामूहिक विनोद के उपाय थे। याज्ञवल्क्य १. ८४ से सूचित होता है कि गेंद आदि के खेलों और समाजों उत्सवों आदि में स्त्रियाँ भी भाग लेतीं थीं। कामसूत्र से अनेक ललित

---

[1] १. ४. २१।

[2] वहीं, २७ प्र।

कलाओं की बड़ी उन्नति प्रतीत होती है, स्त्रियाँ भी उन में निपुण होतीं। वाणिज्य से समृद्ध नगरियों में छैले नागरकों का एक अच्छा समुदाय उठ खड़ा हुआ था, जिन के पास रहने को बगीचों-युक्त मकान थे और जिन का बहुत सा समय खेल और विनोद में बीतता था। किन्तु उन में शिष्टता और संस्कृति भी काफ़ी थी, और वे एकदम धर्म-विमुख न थे।

सातवाहन-युग का भारतवर्ष जब कि रोम की सभ्य-मंडली को पहनने का कपड़ा पहुँचाता था तब उस की अपनी वेष-भूषा भी निश्चय से बहुत परिष्कृत थी। इस युग में पूर्वोल्लिखित मूर्त्त दृश्यों[1] में उस वेषभूषा का नमूना मिलता है। प्रायः खुले और ढीले कपड़े पहनने का रिवाज था, और समूचे देह को छिपाना अभीष्ट न माना जाता। सिले कपड़ों का विशेष रिवाज नहीं दीखता। किन्तु श्रेष्ठियों और अन्य धनाढ्य व्यक्तियों के मस्तक सुन्दर रत्नखचित पगड़ियों से ढके रहते, और स्त्रियाँ भी वैसी पगड़ियाँ पहनतीं। ऋषिक लोग जो अपने साथ मध्य एशिया का वेष—लम्बा चोगा—लाये, उस का उल्लेख ऊपर[2] हो चुका है। वह चोगा अनेक युगों में धीरे धीरे परिवर्त्तित होते हुए आज तक भारतवर्ष में चला आता है[3]।

§ १९६. पौराणिक धर्म का उदय और विकास

मौर्यों के पतन और शुंगों के उत्थान के साथ साथ बौद्ध धर्म का पतन और वैदिक धर्म का पुनरुद्धार सहज ही हुआ था। यों ही जिस

---

[1]ऊपर § १९१ उ।

[2]ऊपर § १७८—पृ० ८२२।

[3]दे० राय कृष्णदास का लेख—अकबर-काल का हिन्दू पहनावा और उस की परम्परा, हिन्दुस्तानी (हिन्दुस्तानी-एकाडमी का त्रैमासिक) १९३१ पृ० २२० प्र।

प्रकार अपने को और अपनी नीति को निकम्मा सिद्ध कर के अन्तिम मौर्य विदा हुए, उस से उन के धर्म और उन की धम्मविजय-नीति का लोगों की दृष्टि में कम से कम उस समय गिर जाना स्वाभाविक था। उस के अतिरिक्त पुष्यमित्र ने यत्नपूर्वक भी बौद्धों का दमन किया। मनुस्मृति में जहाँ जुआरियों को राष्ट्र से निकालने का विधान है, वहाँ उसी प्रसंग में 'कुशीलवों क्रूरों पाषाण्डस्थों बुरे काम करने वालों और शराब बेचने वालों' के भी निर्वासन का उपदेश है (९. २२५)। "ये सब छिपे चोर राष्ट्र में रहते हुए बुरे कामों से राजा की भली प्रजा को सताया करते हैं" (२२६)। बौद्ध वाङ्मय इस बात की गवाही देता है कि पुष्यमित्र ने इस नीति को चरितार्थ किया था। भारतवर्ष के इतिहास में वह एक विलक्षण बात थी, क्योंकि यहाँ राजाओं की दृष्टि सब धर्मों के लिए सदा एक सी रहती रही है। और पुष्यमित्र ने भी धर्मान्धता से प्रेरित हो कर ही एक पन्थ का दमन किया हो सो बात शायद नहीं थी। उसे राष्ट्र की राजनैतिक दृढता के लिए वह दमन करना पड़ा। बाहरी शत्रु के दरवाजे पर ठोकरें लगाते समय जो घर का आदमी क्षमा और शान्ति की बातें करता है, उस भीतरी शत्रु का पहले दमन आवश्यक होता है। अपने सांसारिक कर्त्तव्यों से बचने के लिए भिक्षु बनने वाले निठल्लों की संख्या जो उचित से कहीं अधिक बढ़ गई थी, उस के बोझ से राष्ट्र को उबारना भी शायद उस समय राष्ट्र की सुरक्षा के लिए आवश्यक था। शुंगों की नीति लगातार बौद्धों के दमन करने की नहीं रही। भारहुत-स्तूप का प्रसिद्ध तोरण सुगनं रजे (शुंगों के राज्य में) ही बना था[1]।

वैदिक धर्म का सीधा विरोध करने वाले बौद्ध जैन आदि नास्तिक मार्गों के विरुद्ध जहाँ एक स्पष्ट प्रतिक्रिया पैदा हो गई, वहाँ वे आस्तिक

---

[1] ऊपर § १९४—पृ०—७२८।

मार्ग जो अपने को वेद का अनुयायी मानने के बावजूद वैदिक यज्ञ-धर्म के स्थान में भक्ति और पूजा-धर्म की स्थापना कर रहे थे, चुपचाप उस का स्थान लेते गये। भागवत धर्म अथवा वासुदेव कृष्ण की पूजा का उल्लेख पीछे[1] कर चुके हैं। पतंजलि के महाभाष्य (२. २. ३४) में लिखा है कि धनपति, राम और केशव के मन्दिरों में अमुक अमुक बाजे बजते हैं। राम यानी बलराम और केशव अथवा संकर्षण और वासुदेव के मन्दिरों की सत्ता हम पिछले मौर्य युग में भी देख चुके हैं। इस के अलावा महाभाष्य (५. ३. ९९) में शिव, स्कन्द और विशाख की प्रतिमाओं की चर्चा है। शिव यों तो वैदिक देवता था, किन्तु अब उस की प्रतिमायें बनने और पुजने लगीं। वही नहीं, भागवत पन्थ की तरह एक शैव पन्थ अर्थात् शिव के ही विशेष उपासकों का पन्थ भी इस समय के लगभग चल पड़ा। उस पन्थ का प्रवर्त्तक लकुलीश नामक व्यक्ति था जो पुराण के अनुसार शिव का अवतार था, और लाट देश (दक्खिनी गुजरात) में भरुकच्छ के पास कायावरोहण या कारोहण नामक स्थान पर प्रकट हुआ था। उस के चार शिष्य थे, जिन्हों ने शैव मत की भिन्न भिन्न शाखाओं का प्रवर्त्तन किया; उन शाखा-पन्थों में एक पाशुपत भी था। लकुलीश का ग्रन्थ पंचाध्यायी या पंचार्थविद्य नाम का था, और उस का समय सर रामकृष्ण गो० भण्डारकर के मत से अन्दाज़न दूसरी शताब्दी ई० पू० था। महाभाष्य (५. २. ७६) में भी शिवभागवताः अर्थात् शिव को भगवान् मानने वाले पन्थ का निर्देश आया है।

वैदिक देवताओं का इस प्रकार या तो नया पौराणिक रूपान्तर होता जाता, या उन की नये देवताओं से अनन्यता मान ली जाती।

---

[1] ऊपर §§ ७०, ११२, १४६ उ—पृ० १९९-२००, ४३५-३६, ६६६-६७।

उदाहरण के लिए वैदिक सृष्टि-विचारकों ने एक सुनहरे अण्ड की कल्पना की थी जो अज (स्वयम्भू) की नाभि में आरम्भिक आपः (जलों) के ऊपर प्रकट हुआ था, और जिस से सब सृष्टि उत्पन्न हुई थी[1]। उत्तर वैदिक युग में ब्राह्मण ग्रन्थों में वही पुरुष नारायण और सब से बड़ा देवता बन गया था[2]। किन्तु घोसुंडी मन्दिर के समय तक, अर्थात् पिछले मौर्य-युग तक, उस की ऐतिहासिक देवता वासुदेव से अनन्यता स्थापित हो चुकी थी। तो भी अभी तक नारायण का वैदिक रूप भूला न गया था। मनुस्मृति १.१० में उसी वैदिक कल्पना की तरफ़ निर्देश है। महाभारत और पुराणों में उस नारायण का स्वर्ग श्वेत द्वीप कहा है, और नारायण की जनार्दन अर्थात् वासुदेव से पूरी अभिन्नता मान ली है।

वेद के दो पक्षियों वाले आलंकारिक वर्णन के आधार पर नारायण के साथ साथ नर को भी एक देवता का पद मिल गया था। महाभारत के तमाम मंगलाचरणों में नारायण और नर को नमस्कार किया है, जिस से शुंग-सातवाहन-युग में उन देवताओं की बड़ी प्रसिद्धि सूचित होती है।

मनुस्मृति ८.९२ में यम वैवस्वत को प्रत्येक पुरुष के हृदय में स्थित देवता कहा है—वह तो वैदिक यम ही था। वहीं फिर गंगा और कुरु-देश को पुण्य-धर्म के लिए जाने की बात है। इस प्रकार शुंग-युग में गंगा और कुरुक्षेत्र की तीर्थयात्रा भी प्रचलित थी।

---

[1]ऊपर § ७०—पृ० १९८।

[2]शत० १२. ३. ४. १, २; १३. ६. १. १; १३. ६. २. १२। तै० आ० १०. १०।

[3]द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
ऋ. १.१६४,२०; अथ० ९.९.२०।

नानाघाट के एक अभिलेख[1] के मंगलाचरण में संकर्षण और वासुदेव को प्रणाम किया गया है। नानाघाट के अभिलेख पहले तीन-चार सातवाहन राजाओं के समय के हैं। फिर वेसनगर वाले पूर्वोक्त गरुडध्वज पर के हेलिउदोर यवन के अभिलेख से सिद्ध होता है कि दूसरी शताब्दी ई० पू० के अन्त में उत्तरापथ में भी भागवत धर्म या वासुदेव पन्थ खूब प्रचलित था।

यह एक उल्लेखयोग्य बात है कि इस अभिलेख के बाद लगातार साढ़े चार शताब्दियों तक मूर्त्तियों मन्दिरों अथवा अभिलेखों के रूप में पौराणिक धर्म का कोई अवशेष नहीं पाया गया; जो भी धार्मिक अवशेष मिले हैं सब बौद्धों या जैनों के हैं। इस की व्याख्या क्या है? निद्देस और मेगास्थेने के समय से[2] दूसरी शताब्दी ई० पू० के अन्त तक भागवत धर्म लगातार बना हुआ था, उस के बाद चार शताब्दियों के लिए उस के डुबकी लगा जाने का क्या अर्थ है? अंग्रेजी लेखक इस बात को यों कहते हैं कि इन चार शताब्दियों में ब्राह्मणिक अवशेष नहीं मिलते, केवल बौद्ध-जैन अवशेष मिलते हैं। किन्तु ब्राह्मणिक में वैदिक और पौराणिक दोनों मार्ग सम्मिलित हैं, और वह ब्राह्मणिक धर्म किसी रूप में तो इस युग में उपस्थित था ही। और नहीं तो उषवदात के पहले अभिलेख[3] से ही प्रकट है। यदि यज्ञ-प्रधान ब्राह्मणिक धर्म इस युग में बना रहा हो तो उन यज्ञों का कोई मूर्त्त अवशेष आज तक बचा न रह सकता था। पौराणिक धर्म के अवशेषों के इस अभाव की व्याख्या कहीं अश्वमेध के पुनरुद्धार से तो न करनी चाहिए? क्योंकि यज्ञों और वैदिक मार्ग के पुनरुद्धार के पक्षपातियों के लिए जैसे बौद्ध और जैन

---

[1] लु० सू० का १११२।

[2] ऊपर §§ ११३, १४६ उ—पृ० ४३९, ६६६।

[3] ऊपर § १६६—पृ० ७५९-६०।

मार्ग थे, वैसे ही कर्मकाण्ड का विरोधी अहिंसा-मूलक भागवत धर्म था। और एक अरसे के लिए वैदिक यज्ञ-मार्ग को उस के विरुद्ध भी सफलता मिली हो सो सम्भव है। स्मृतियों में जो देवलकों अर्थात् मन्दिरों के पुजारी ब्राह्मणों को निन्दित और अपाङ्क्त्य कहा है, उस में भी वैदिक प्रथा के पक्षपातियों की प्रतिमा-पूजा के विरुद्ध वही घृणा प्रकट हुई है।

किन्तु पौराणिक धर्म इस अरसे में भी बिलकुल दब न गया था। यौधेयों और कौशाम्बों के सिक्कों पर स्कन्द की और नन्दी-सहित शिव की मूर्त्तियाँ अंकित हैं। संगम्-साहित्य के आधार पर प्रो० कृष्णस्वामी ऐयंगर ने पहली-दूसरी शताब्दी ई० के तामिल समाज का जो चित्र खींचा है, उस में पौराणिक धर्म बौद्ध जैन और वैदिक के साथ साथ फलता फूलता दिखलाई देता है। उन के अनुसार करिकाल ने कावेरी के बन्दर पर जो नई नगरी बसाई थी, उस में बौद्ध के विहारों के अतिरिक्त कल्पवृक्ष, ऐरावत हाथी, वज्रायुध (इन्द्र के वज्र), बलदेव, सूर्य, चन्द्र, शिव, सुब्रह्मण्य, सातवाहन, जिन या निर्ग्रन्थ, काम और यम की भी पूजा के स्थान या मन्दिर थे। यम का मन्दिर नगर के बाहर था[1]। इस प्रकार तामिल भारत में पहली-दूसरी शताब्दी ई० में शैव और भागवत दोनों धर्म बौद्ध जैन और वैदिक मार्गों के साथ साथ उपस्थित थे। उन के अतिरिक्त जड-जन्तु-पूजा भी काफी थी; पट्टिनी देवी नाम की एक सती की पूजा बहुल प्रचलित थी[2]। तामिल देश में भागवत मार्ग सम्भवतः नानाघाट-अभिलेख-युग के बाद महाराष्ट्र से गया होगा। सातवाहन या ऐयनार की पूजा क्या सातवाहनों के कुल-देवता की पूजा

---

[1] बिगिनिंग्स्, पृ० १४४।

[2] वहीं पृ० १४९।

थी या सम्राट् की पूजा, जैसी कि रोम-साम्राज्य के प्रान्तों में औगुस्त के समय से चलाई गई थी ?

महाभारत के पिछले धर्मपरक सन्दर्भों के लिखे जाने के समय तक वासुदेव-पूजा या भागवत पन्थ में एक और धारा आ मिली। विष्णु वैदिक युग में आदित्य का एक रूप था; और गृह्यसूत्रों के युग तक वह एक घरेलू देवता बन चुका तथा देवताओं में प्रमुख पद पा चुका था[1]। अब उस की वासुदेव कृष्ण से अभिन्नता हो गई। अनुगीता[2] में वह विचार है, भगवद्गीता में उस की गन्ध भी नहीं है। महाभारत के धार्मिक सन्दर्भों में नारायण ही वासुदेव का मुख्य नाम है, और विष्णु बहुत ही कम। कई अंशों में तो कृष्ण को देवता कहा ही नहीं गया, उस का उल्लेख साधारण मनुष्य की तरह है। वे अंश पुराने और ऐतिहासिक हैं। वासुदेव की देवता-रूप में पूजा मेगास्थेने के समय तक केवल सात्वतों में प्रचलित थी, दूसरी जातियों के लिए वह एक ऐतिहासिक महापुरुष-मात्र था। बाद उस की पूजा दूसरी जातियों में भी फैल गई; और सृष्टि के दार्शनिक-विचार-मूलक देवता नारायण की तथा वैदिक प्रकृति-देवता विष्णु की पूजा करने वालों ने पहले नारायण की और फिर विष्णु की भी वासुदेव से अभिन्नता मान ली। इस प्रकार तीन पृथक् पृथक् पूजाओं की धारायें मिल कर एक हो गईं। सर रामकृष्ण भण्डारकर का कहना है कि महाभारत के धार्मिक सन्दर्भ उस युग को सूचित करते हैं जब कि यह प्रक्रिया जारी थी—जब कि वासुदेव-पूजा को सात्वतों से दूसरी जातियाँ ले रही थीं। इसी कारण महाभारत के कुछ अंशों में कृष्ण को साधारण मनुष्य माना है, कुछ में देवता; कुछ में उसे

---

[1] ऊपर §§ ७०, ११३-पृ० १६५, ४४०।

[2] म. भा अश्वमेधिक पर्व, अ० १७–६५।

नारायण कहा है और कुछ में वासुदेव नारायण और विष्णु तीनों की अभिन्नता प्रकट की है।

अमरकोश में, जो कि एक बौद्ध लेखक की कृति है, देवताओं के नामों में सब से पहले बुद्ध के नाम हैं, फिर ब्रह्मा और विष्णु के[1]। विष्णु के नामों के बाद संकर्षण; प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के नाम हैं। पिछले भागवत धर्म के अनुसार वे वासुदेव के ही व्यूह अथवा रूप थे। महाभारत के नारायणीय प्रकरण[2] में, जहाँ सात्वत धर्म का विस्तृत वर्णन और व्याख्यान है, चार व्यूहों की कल्पना यों दी है कि स्वयं वासुदेव परमात्मा है, सब जीवात्मा संकर्षण हैं, वासुदेव का पुत्र प्रद्युम्न मन या बुद्धि है, और उस का पुत्र अनिरुद्ध चित्-शक्ति। ये चारों एक ही के चार व्यूह हैं। हम देख चुके हैं कि निद्देस के समय से नानाघाट-अभिलेख के समय तक वासुदेव और संकर्षण दो की ही पूजा प्रचलित थी, किन्तु अब पहली शताब्दी ई० पू० के बाद उस के चार व्यूहों की पूजा होने लगी। नारायणीय में नारायण के व्यूहों के अतिरिक्त अवतार भी कहे हैं। उन में राम दाशरथि का नाम भी है। अमरकोश वाले विष्णु के ३९ नामों में रामचन्द्र का नहीं है, जिस का यह अर्थ है कि उस के समय तक राम को विष्णु का अवतार न माना गया था। अमरकोश इस प्रकार नारायणीय से पहले का है। अवतारों की संख्या बाद में बढ़ती गई। नारायणीय में जो अवतार गिनाये गये हैं, उन सब की पूजा उस युग में होते रहने का कोई प्रमाण नहीं है; विशेष कर रामचन्द्र की पूजा प्राचीन काल में न थी।

इस प्रकार नारायणीय ऋषिक-सातवाहन-युग की रचना सिद्ध होती है। शान्तिपर्व के अन्तर्गत तीन पर्व हैं— राजधर्म-पर्व, आपद्धर्म-पर्व

---

[1] १. १. १८ प्र।

[2] शान्तिपर्व अ० ३४४—६१।

और मोक्षधर्म-पर्व। नारायणीय तीसरे का अंश है। हम देख चुके हैं कि राजधर्म ऋषिक-सातवाहन-युग का है; अब नारायणीय भी उसी युग का निकला। राजधर्म आपद्धर्म और मोक्षधर्म तीनों का उपदेश भीष्म के मुंह से युधिष्ठिर को दिलाया गया है। शर-शय्या पर पड़े हुए भीष्म के मुँह से अपने सब अभीष्ट उपदेश कहला देना शान्तिपर्व के लेखक या लेखकों की अच्छी सूझ थी। और इस योजना की एकता से सूचित होता है कि समूचा शान्तिपर्व एक ही समय की रचना है।

नारायणीय में पाशुपतों का भी उल्लेख है। वे शैवों का एक भेद थे। शिव की मूर्त्ति की पूजा और एक शैव पन्थ की सत्ता दूसरी शताब्दी ई० पू० से थी, सो अभी कह चुके हैं। इन प्राचीन शैवों के ग्रन्थ आगम कहलाते। ऋषिक राजा विम सिक्कों पर अपने को माहेश्वर अर्थात् शैव कहता, और नन्दी के साथ त्रिशूलधारी शिव की मूर्त्ति छापता है[1]। किन्तु पतंजलि ने प्रतिमाओं के जो नाम गिनाये हैं, उन में लिंग का नहीं है, और न विम के सिक्कों पर ही लिंग का चिन्ह रहता है। लिंग-पूजा का उल्लेख पहले-पहल महाभारत अनुशासन-पर्व में उपमन्यु-संवाद[2] में है। महादेव को प्रसन्न कर कोई भी वर पाया जा सकता है, और वैसे वर पाने वालों में उपमन्यु शाकल्य का नाम दिया है। उमा और महादेव सृष्टि के जन्मदाता हैं, और महादेव ने जब सृष्टि की रचना बन्द की तब उन का लिंग भूमि में स्थापित हो गया और उस की पूजा होने लगी। वैदिक युग से ही रुद्र-शिव वनों और वनेचरों के अधिष्ठातृ-देव थे। सर रामकृष्ण भण्डारकर का मत है, और वह मत बहुत युक्तिसंगत प्रतीत होता है, कि आर्यों ने यह लिंग-पूजा किसी वनेचर जाति से ही ली थी।

---

[1] ऊपर § १७८—पृ० ८२० ।

[2] अ० ४५ ।

गृह्यसूत्रों के समय तक आर्यों में शक्ति या देवी की पूजा नहीं थी। रुद्राणी भवानी आदि देवियों के नाम उस समय भी थे, पर वे केवल रुद्रभव आदि देवों की स्त्रियाँ थीं; उसी प्रकार उमा भी। किन्तु महाभारत भीष्म-पर्व के २३वें अध्याय में दुर्गा की स्तुति है। उसे सातवाहन-युग का माना जाय या गुप्त-युग का, सो भी कहना कठिन है। उस में देवी के अनेक नाम—कुमारी, काल, कापाली, महाकाली, चण्डी, कात्यायनी, कराला, कौशिकी आदि दिये हैं। देवी-पूजा को सातवाहन-युग के बाद का मानना ही उचित होगा।

याज्ञवल्क्य-स्मृति में गणपति-पूजा और ग्रह-पूजा का विधान है। पर उस समय तक गणपति एक बुरा देवता था, जिस से पीछा छुड़ाना ही उस पूजा का अभीष्ट होता।

स्कन्द या विशाख की प्रतिमा पतंजलि के समय में भी पूजी जाती थी। उसे कहीं अग्नि का और कहीं शिव का पुत्र माना है; शिव और अग्नि की अनन्यता के आधार पर उस के जन्म की कहानी बनी होगी। स्कन्द युद्ध का देवता था, और यौधेय अपने सिक्कों पर उसे अंकित करते थे, सो कहा जा चुका है[1]। कनिष्क ने भी अपने सिक्कों पर स्कन्दो महासेनो कोमारो और बिज़ागो (विशाख) की मूर्त्तियाँ अंकित की हैं।

सर रामकृष्ण भण्डारकर का मत था कि पहली शताब्दी ई० पू० तक कृष्ण को गोपाल रूप में चित्रित न किया जाता था, और महाभारत के दक्खिनी संस्करणों में सभापर्व के ४१वें अध्याय में जो गोकुल और पूतनावध का उल्लेख है, वह स्पष्ट पीछे मिलाया हुआ है। गोविन्द शब्द गीता और महाभारत में है, पर वह इन्द्र का वैदिक विशेषण था जिस का अर्थ था गौवें ढूँढ लाने वाला; और बाद में गाय का अर्थ

---

[1] ऊपर § १८४ पृ० ८६२।

पृथ्वी कर के वराह-रूप में विष्णु का वही नाम पड़ा। गोपाल की कहानी और पूजा भण्डारकर के मत में मूलतः आभीरों की थी जो कि पच्छिम राजपूताना की एक वनेचर जाति थे। किन्तु जब वे आभीर आर्यों में सम्मिलित हुए, और उन्हों ने वासुदेव की पूजा अपनाई, तब उन्हों ने अपने गोपाल देवता से वासुदेव की अनन्यता स्वीकार कर ली, और उन की गोप-कृष्ण-विषयक मनोरञ्जक कहानियाँ सब जगह फैल गईं। गोपीलीला की कहानियों की व्याख्या फिरन्दर आभीरों के शिथिल स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों और रिवाजों से ही करनी चाहिये। दूसरी शताब्दी ई० की अन्तिम चौथाई में हम ने आभीरों को ऊँचे राजकीय पदों पर देखा है[1]; आभीरों का उदय उस से अन्दाज़न एक शताब्दी पहले हुआ होगा। गोपी-लीला की बात महाभारत में नहीं है, और वह पीछे प्रकट हुई, सो ठीक है। किन्तु कृष्ण की गोपाल में कल्पना ही पहली शताब्दी ई० की या बाद की है, सो मानने में मुझे कई कठिनाइयाँ दीखतीं हैं।

इस युग की एक और उल्लेखयोग्य धार्मिक लहर थी जो कि उत्तर और पच्छिम भारत में ईरान से आई। भारतवर्ष में सूर्य की उपासना वैदिक युग से थी, किन्तु उस के लिए मन्दिरों की स्थापना न की जाती थी। सूर्य-मन्दिरों की प्रथा भारत में ईरान के मग पुजारी लाये। मूल-स्थानपुर अर्थात् मुलतान का सूर्यमन्दिर सब से पुराना है। उस की कहानी भविष्यपुराण[2] में यों दी है कि कृष्ण और जाम्बवती के पुत्र साम्बने चन्द्रभागा के तट पर सूर्यमन्दिर स्थापित किया, किन्तु कोई स्थानीय ब्राह्मण उसे पुजारी बनाने को न मिला। तब उस ने शाकद्वीप से मग बुलाये। उन मगों का पुराना वृत्तान्त यों था कि सुजिह्व नाम का एक मिहिर-गोत्री ब्राह्मण था; उस की बेटी निक्षुभा पर सूर्य-भगवान्

[1] ऊपर § १८७—पृ० ८८१।

[2] खण्ड १, अ, ४८ प्र।

मोहित हो गये। उन का पुत्र जरशब्द या जरशस्त हुआ, और उस के वंशज ही मग हैं। वे लोग अव्यंग मेखला पहनते हैं। अव्यंग अवस्ता की ऐव्याओङ्घन है, जिसे आजकल के पारसी गुजराती में कुस्ति कहते हैं। इन अव्यंग पहनने वाले मग ब्राह्मणों ने सातवाहन-युग में ही भारत में आ कर सूर्य-मन्दिरों की पहले पहल स्थापना की। पच्छिम भारत में वैसे मन्दिरों के अवशेष मिले हैं। कनिष्क के सिक्कों में मिइरो अर्थात् मिहिर की मूर्त्ति वाले भी हैं, वह मिहिर ईरानी मिह्र का रूपान्तर है। सम्भव है कनिष्क के ही समय में मग लोग भारत में आये हों। उन का धर्म भारतीय धर्म के बहुत अनुरूप होने से यहाँ शीघ्र अपना लिया गया। सूर्य की मूर्त्तियाँ हमारे देश में जो मिलती हैं, उन के घुटनों तक इरानी ढंग से जूता पहनाया रहता है। शाकद्वीपी मग ब्राह्मणों के वंशज हमारे देश में अब भी बहुत हैं। तीसरी शताब्दी के अन्त में रोम के सम्राट् दियोक्लेतिआन (२८५—३०५ ई०) ने भी मिह्र-पूजा को रोम का राजधर्म बना दिया, और वह पन्थ रोम-साम्राज्य में भी खूब फैला। रोम की सेनाओं द्वारा ब्रिटेन तक मिथ्र या मिहिर की पूजा पहुँची।

दूसरी शपाब्दी ई० में सीरिया से कुछ ईसाई भी मलबार आये थे, और तब से भारत के एक कोने में ईसाई पन्थ भी उपस्थित था।

वैदिक देवताओं की नये रूपों की यज्ञों के बजाय मन्दिरों में पूजा करने वाले तथा अवतारों की उपासना के इस नये पौराणिक धर्म की मूल प्रेरणा क्या थी? और इस ने जनता के जीवन पर क्या प्रभाव डाला? सातवाहन-युग के धार्मिक जीवन के असल प्रश्न यही हैं। हम ने देखा है कि पौराणिक धर्म अश्वमेध-पुनराहरण की—वैदिक धर्म को पुनरुज्जीवित करने की—चेष्टा से प्रकट हुआ। किन्तु वैदिक धर्म वैदिक समाज के साथ था; न वह समाज वापिस आ सकता था, और न वह धर्म अपने पुराने रूप में लौट सकता था। बौद्ध धर्म ने जनता

के विचारों में जो परिवर्त्तन कर दिया उसे मिटाया न जा सकता था। वैदिक कर्मकाण्ड दार्शनिक विवाद और कृच्छ्र तप का पुराना धर्म जब केवल ऊँचे लोगों की वस्तु बन गया था, तब बुद्ध ने जनसाधारण को एक नये धर्म की ज्योति दिखाई थी; सदाचार और सम्यक् जीवन ही वास्तविक धर्म है यह विचार उस ज्योति में जागृत हुआ था। जनता की उस जागृति की उपेक्षा न की जा सकती थी। वैदिक धर्म के पुनराहरण की जो लहर उठी, वह इसी कारण बौद्ध सुधार की सब मुख्य प्रवृत्तियों को अपनाये हुई थी। बौद्ध धर्म यदि जनता के लिए था तो वैदिक धर्म का यह नया रूप उस से बढ़ कर जनता की वस्तु था। बौद्ध धर्म आचार-प्रधान था; परमेश्वर के लिए उस में जगह न थी, और देवता तो उस में पूजे जाने के बजाय स्वयं उस के उपासक थे[१]! जनसाधारण ने बुद्ध की शिक्षाओं को मान लिया, पर देवताओं के बिना जनसाधारण का गुज़ारा चलना कठिन था। आर्यों के निचले दर्जों और अनार्य जातियों में अनेक प्रकार की जड़-पूजायें प्रचलित थीं; बहुत से स्थानीय देवी-देवताओं की गद्दियाँ जगह-ब-जगह जमी हुई थीं। कई स्थानों में जनता के ऊँचे दर्जों में भी अपने पुरखों का सम्मान पूजा का रूप पा चुका था; शूरसेन देश की वासुदेव-पूजा उस प्रवृत्ति की सब से मुख्य और प्रसिद्ध अभिव्यक्ति थी। वैदिक धर्म के पुनराहरण की लहर ने इन में से प्रत्येक जड़ देवता और मनुष्य-देवता में किसी न किसी वैदिक देवता का आत्मा फूँक दिया! वनेचरों के भयंकर देवी-देवता काली और रुद्र के रूप बन गये, वासुदेव विष्णु का अवतार माना गया। इस प्रकार समूची पृथ्वी में जितने देवता पूजे जाते थे, वे शिव विष्णु सूर्य स्कन्द आदि की भिन्न भिन्न शक्तियों के सूचक रूप बन गये;

---

[१]दे० §§ ८६ इ, ६०—पृ० ३४७-४८, ३६०।

जहाँ किसी पुराने पुरखा की पूजा होती थी, उस के अन्दर भी भगवान् का अवतार किया गया। वह एक भारी समन्वय की लहर थी, जिसने जहाँ कहीं भी पूज्य भाव या दिव्य भाव किसी रूप में पाया उस में किसी न किसी वैदिक देवता का संकेत रख दिया—प्रत्येक पूज्य पदार्थ को किसी न किसी देव-शक्ति का प्रतीक बना डाला। देव-ज्योति को मानों उस ने ऊँचे स्वर्ग से और वैदिक कवियों के *कल्पना-जगत्* से उतार कर *भारतवर्ष* के कोने कोने में पहुँचा दिया, जिस से जनसाधारण की सब पूजायें आर्यप्राण हो उठीं, और उन के जड देवता भी वैदिक देवताओं के भाव-मय आत्माओं से अनुप्राणित हो उठे! यही नया पौराणिक धर्म था, जिस का सातवाहन युग में साधारण जनता को जगाने वाली एक भारी प्रेरणा के रूप में उदय हुआ। वैदिक यज्ञों के स्थान में इस में अवतार मन्दिर और मूर्त्तियाँ थीं; पर अभी तक वे मन्दिर उन की मूर्त्तियाँ और उन की पूजा बहुत सादी थीं। मूर्त्तियाँ दिव्य शक्तियों का केवल प्रतीक या संकेत थीं, जिन दिव्य शक्तियों के आवाहन से उन जड मूर्त्तियों में जान पड़ जाती। यज्ञों के बड़े आडम्बर में दबे हुए उत्तर वैदिक युग के धार्मिक जीवन और आरम्भिक सरल वैदिक धर्म में जितना अन्तर था, मध्य-कालीन विशाल मन्दिरों के सिंहासनों पर बैठने वाले स्वर्ण-रत्नों से अलंकृत देवताओं की पेचीदा क्रिया-कलापमयी और व्रतों उपवासों और जपों के गोरखधन्दे में लिपटी हुई पौराणिक पूजा में और सातवाहन युग के आरम्भिक सरल पौराणिक धर्म में भी उतना ही अन्तर था। उस युग तक वह धर्म जनता के धार्मिक भाव को उद्दीप्त करने वाला और उसे पूजा का एक सरल रूप सिखाने वाला था।

और जो प्रवृत्तियाँ उस में प्रकट हुईं, उन्हीं प्रवृत्तियों ने बौद्ध मार्ग में प्रकट हो कर महायान को जन्म दिया। शुंग-युग में वैदिक धर्म के पुनरुद्धारकों और बौद्धों के बीच चाहे जैसा संघर्ष रहा हो, पिछले समूचे सातवाहन युग में वे दोनों धर्म साथ साथ फलते-फूलते रहे।

ग्रन्थनिर्देश

मनु और याज्ञ० से प्रायः इस समूचे प्रकरण में सहायता ली गई है; आर्थिक जीवन विषयक परिच्छेद में सा० जी० से, तथा धर्म-विषयक परिच्छेद में वै० शै० से भी। अन्य ग्रन्थों का निर्देश या संकेत यथा-स्थान कर दिया गया है।

टिप्पणियाँ

* २७. खारवेल-युग के इतिहास की समस्यायें

कुछ बरस पहले तक खारवेल-युग के इतिहास में कई ऐसी जटिल समस्यायें उपस्थित थीं जिन के कारण उस की काल-गणना की धुरी ही एक शताब्दी आगे-पीछे डोला करती थी। अब वह धुरी अपने ठीक स्थान पर बैठ चुकी है। तो भी पुराने विवादों से उड़ी हुई धूल अभी तक आसमान में है, और कुछ विद्वानों को अपने पुराने मत छोड़ना दूभर लग रहा है, इस लिए उन विवाद-विषयों का निर्देश मात्र यहाँ किया जाता है।

अ. खारवेल और सातकर्णि का काल-निर्णय

सब से पहली और सब से मुख्य समस्या थी खारवेल के काल की। उस के अभिलेख से उस की सातकर्णि से समकालीनता सिद्ध है। इस बात पर सब विद्वानों की सहमति रही कि वह पहला सातकर्णि है। तो भी पहले सातकर्णि के समय के विषय में भी विवाद था। पुराणों के अनुसार आन्ध्र राजाओं का कुल राज्यकाल लगभग ४५० बरस है; आन्ध्रों का अन्त २४० ई० के करीब हुआ, इस से उन का आरम्भ लग० २१० ई० पू० में आता है, और पहला सातकर्णि क्योंकि पहले आन्ध्र राजा का भतीजा था इस लिए उस का काल दूसरी शताब्दी ई० पू० की पहली चौथाई में। परन्तु इस में विवाद की गुँजाइश यों उपस्थित हो जाती कि वायुपुराण के एक सन्दर्भ में आन्ध्रों का कुल राज्यकाल तीन सौ बरस लिखा है। वि० स्मिथ

ने इस की व्याख्या यों की कि साढ़े चार सौ बरस मगध-साम्राज्य से आन्ध्रों के स्वतन्त्र होने के समय से, और तीन बरस मगध में सौ आन्ध्रों की प्रभुता होने के समय से। किन्तु सर रामकृष्ण गो० भण्डारकर ने सो न माना; उन का कहना था कि पुराण के ३० आन्ध्र नामों में से कई परस्पर-समकालीन वंश की विभिन्न शाखाओं के विभिन्न प्रदेशों के राजा रूप में रहे। इस प्रकार उन के मत में आन्ध्र राज्य का उदय ७५ ई० पू० के करीब हुआ, और पहले सातकर्णि तथा खारवेल का काल पहली शताब्दी ई० पू० के मध्य में। खारवेल से हारने वाला सातकर्णि उन के मत में वही था जिस के आवेशनि ने साँची स्तूप का दक्खिनी तोरण बनवाया। सर रामकृष्ण के सुपुत्र डा० देवदत्त रा० भण्डाकर की और डा० रायचौधरी की ऊपर निर्दिष्ट कृतियों में इसी मत का अनुसरण किया गया है। श्रीयुत रमाप्रसाद चन्द भी इस के कट्टर पक्षपाती हैं।

इस विवाद का फ़ैसला हातीगुम्फा-अभिलेख के द्वारा करने की चेष्टा कई बार की गई। उस की १६ वीं पंक्ति में मुरियकाल शब्दों के बाद भगवानलाल इन्द्रजी पण्डित ने ऐसे शब्द पढ़े थे जिन से यह अर्थ निकलता था कि वह लेख मौर्य-काल के १६५ वें बरस का है। भगवानलाल ने अशोक के कलिंग-विजय से मौर्य-काल गिना, पर दूसरे उसे चन्द्रगुप्त के अभिषेक से गिनते। एक अरसे तक यह मत प्रचलित रहा। डा० फ़्लीट ने भगवानलाल के पाठ को गलत सिद्ध किया। उन्हों ने कहा १६वीं पंक्ति में मौर्य काल का कोई संवत् नहीं है, प्रत्युत मौर्य काल में उच्छिन्न जैन अंगों की बात है। डा० फ़्लीट ने एक और बात से अभिलेख का समय निश्चित किया। लेख की छठी पंक्ति में लिखा है कि नंद-राज-ति-वस-सत-ओघाटित नहर को खारवेल अपनी नगरी में लाया। फ़्लीट ने इस का अर्थ किया—नन्द राजा के १०३ बरस बाद। सन् १९१७ में जायसवाल और राखालदास बैनर्जी ने फिर से उस अभिलेख को पढ़ा। उन्हों ने मौर्यकाल १६४ फिर

पढ़ा; नंद-राज-ति-वस-सत...का अर्थ किया नन्द राजा के ३०० बरस पीछे, और नन्द राजा से उन्हों ने पूर्व नन्द—नन्दिवर्धन—माना। तीसरे, १२ वीं पंक्ति में उन्हों ने मागध राजा बहसतिमित का नाम पढ़ा, और बृहस्पतिमित्र को पुष्यमित्र का पर्याय माना। इन तीनों बातों से लेख का समय लग० १६१ ई० पू० निश्चित हुआ। वि० स्मिथ० ने अपनी अर्ली हिस्टरी के चौथे संस्क० में ये बातें मान लीं। पर पूर्वोक्त विद्वानों ने मौर्य-काल वाला पाठ स्वीकृत न किया; नंद राज का अर्थ नव नन्द कर के उस के ३०० बरस बाद अर्थात् लग० ५० ई० पू० में खारवेल को रक्खा; और बृहस्पतिमित्र का अर्थ पुष्यमित्र स्वीकार न किया। ति-वस-सत का अर्थ सन्दिग्ध सा था; इस लिए लेख की लिपि के आधार पर भी उस का काल-निर्णय करने की चेष्टा की गई। उस की लिपि नानाघाट-अभिलेखों के सदृश है; किन्तु उन का काल तो स्वयं विवादग्रस्त था। बुइलर ने उन अभिलेखों की लिपि को दूसरी शताब्दी ई० पू० के पर्वार्ध का माना था। किन्तु चन्द का कहना है कि बुइलर का मत हाती-गुम्फा-अभिलेख के भगवानलाल वाले पुराने पाठ—मौर्य काल १६५—के आधार पर था, न कि लिपि की स्वतन्त्र समीक्षा पर। चन्द के मत में नानाघाट-अभिलेखों की लिपि भागवत शुंग के बेसनगर-अभिलेख के बाद की है[1]। दूसरी तरफ़ राखालदास लिपि के ही आधार पर उसे और पहले का मानते; उन का मत है कि वह २०० ई० पू० से पहले का नहीं है और १०० ई० पू० के बाद का नहीं।

'मौर्य काल १६४' वाले पाठ को जायसवाल और बैनर्जी ने और ध्यान से पढ़ने के बाद स्वयं छोड़ दिया। नंद-राज-ति-वस-सत-ओघाटित

---

[1]मेमोयर्स आव आर्कियोलोजिकल सर्वे आव इंडिया (भारतीय पुरातत्त्व-पड़ताल के निबन्ध) सं० १, पृ० १४-१९।

का अर्थ डा० स्टेन कोनौ[1] ने किया 'नन्द राजा ने संवत् १०३ में खुदवाई'; कोनौ ने बृहस्पतिमित्र का अर्थ पुष्यमित्र स्वीकार किया। नंदराज ...इत्यादि का अर्थ जायसवाल अब स्वयं भी यह करते हैं कि 'नन्द राजा के संवत् १०३ में खोदी गई'; इस प्रकार लेख में कोई तिथि न निकली। किन्तु जायसवाल और राखालदास सन् १९१७ से १९३० तक इस अभिलेख को पढ़ने में जुटे रहे और धीरे धीरे उन्हों ने एक एक सन्दिग्ध अक्षर का उद्धार कर लिया। आठवीं पंक्ति में उन्हों ने यवनराज दिमित[2] का नाम पढ़ा, और उसी से अब उस अभिलेख का काल निश्चित होता है। कोनौ ने इस पाठ को तुरन्त स्वीकार कर लिया। अब वह पाठ सर्वसम्मत हो गया है। तो भी चन्द महाशय की तसल्ली अभी नहीं हुई। इं० हि० क० १९२९ वाले पूर्व-निर्दिष्ट लेख में वे कहते हैं कि यवनराजा दिमित कौन है सो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वहाँ यह तो नहीं लिखा कि एवुथिदिम का बेटा दिमित! किन्तु यदि खारवेल ने दिमित के बाप का नाम भी खुदवा दिया होता तब भी क्या सन्देह करने वाले यह न कहते कि उस के दादा का नाम तो उस ने नहीं लिखा? अपने मत को छोड़ना सचमुच बहुत कठिन होता है।

इस समस्या के साथ साथ एक दूसरी समस्या यह थी कि मगध पर आक्रमण करने वाला यवन राजा कौन था—दिमेत्र या मेनन्द्र? स्त्राबो ने दोनों के विजयों का एक साथ उल्लेख किया है, इस लिए उस से कुछ निश्चय नहीं होता। किन्तु जुस्तिन नामक दूसरे यूनानी लेखक ने लिखा है कि दिमेत्र जब भारत में राजा था, तभी एवुक्रतिद बाख्त्री में, और मिथ्रदात पार्थव में। मिथ्रदात (पहले) का

---

[1] ऐ० ओ० १ पृ० १२ प्र।

[2] राखालदास ने दिमित पढ़ा था, जायसवाल डिमित पढ़ते हैं।

समय १७१—१३६ ई० पू० अन्दाज़ किया गया है; और इस लिए दिमेत्र का भी वही समय माना गया है। सिक्कों के क्रम के आधार पर मेनन्द्र का समय दूसरी शताब्दी ई० पू० के अन्तिम भाग में निश्चित होता है। जायसवाल का कहना है कि युगपुराण का धर्ममीत भी दिमेत्र ही है। इस विषय में यदि कुछ सन्देह बाकी भी रहा हो तो अब वह हातीगुम्फा अभिलेख के पाठोद्धार से दूर हो गया है। तो भी श्रीयुत चन्द की तसल्ली अभी नहीं हुई।

रायचौधुरी अपने ग्रन्थ में लिखते हैं कि दिमेत्र या दत्तमित्र द्वारा सौवीर देश में बसाई गई दात्तामित्री नगरी का उल्लेख महाभाष्य में है। इस के लिए उन्होंने इं० आ० १९११ में भण्डारकर के प्रसिद्ध लेख हिन्दू जनता में विदेशी अंश का हवाला दिया है। भण्डारकर ने उस लेख में वह बात लिखते हुए पाश्चात्य प्राच्यविदों के सन् १८७४ के लंडन वाले दूसरे प्राच्यविद्या-सम्मेलन (इन्टरनैशनल कांग्रेस आव ओरिएंटलिस्ट्स) में पढ़े गये अपने पिता के लेख का हवाला दिया है। किन्तु महाभाष्य में दात्तामित्री शब्द होना तो दूर, जिस सूत्र का वह उदाहरण है वह सूत्र ही नहीं है! और न सर रामकृष्ण ने कभी यह कहा था कि वह है। उस लेख में उन्हों ने यह लिखा है कि सिद्धान्तकौमुदी में स्रोपु सौवीरशाल्वप्राक्षु सूत्र (४. २. ७६) के उदाहरण में दात्तामित्री नाम दिया है[1]। यह भ्रान्ति फैलाने का श्रेय देवदत्त महाशय को है।

इ. पुष्यमित्र वाली राज्यक्रान्ति, और उस के राज्य की पच्छिमी सीमा

इस युग के इतिहास में अब जो सब से बड़ी समस्या बची है वह यह कि पुष्यमित्र ने किन दशाओं में मगध की गद्दी छीनी। आश्चर्य की बात है कि अनेक विद्वानों को यह नहीं सूझा कि यह भी कोई समस्या है।

---

[1] उक्त कांग्रेस के ट्रान्सैक्शन्स (कार्यविवरण), पृ० ३४९।

हातीगुम्फा-अभिलेख वाला वहसतिमित पुष्यमित्र ही है, यह बात उस अभिलेख के विद्वान् पाठोद्धारकों और सम्पादकों ने स्वयं अपने अन्तिम लेख में दृढतापूर्वक नहीं कही। तो भी साधारण रूप से अब उस युग का घटनाक्रम यों समझा जाता है कि लग० १८५ ई० पू० में पुष्यमित्र ने मौर्य राजा को मार कर मगध की गद्दी हथिया ली; १७५—१७० ई० पू० के बीच कभी दिमेत्र ठीक उस की राजधानी पर चढ़ आया; खारवेल ने तब दिमेत्र को भगाया, और बारहवें बरस फिर मगध के राजा को—जो कि पुष्यमित्र ही होना चाहिए—अपने पैरों गिरवाया। और इस के बावजूद पुष्यमित्र ने दो बार अश्वमेध किया, और वह अश्वमेध-पुनराहर्ता माना गया! श्रीयुत चन्द इसी कारण खारवेल और दिमेत्र को पुष्यमित्र का समकालीन नहीं मानना चाहते कि वैसा होने से पुष्यमित्र का दो बार अश्वमेध करना संगत नहीं होता।

रूपरेखा में समूचा घटनाक्रम यों माना गया है।—दिमेत्र ने भारतवर्ष पर जो चढ़ाई की वह अन्तिम मौर्य राजा के समय। उस से पहले एवुथिदिम ने हेरात कपिश हरउवती और ज़रंक जीते—उन भारतीय प्रदेशों को जीतने में उसे शायद बरस-दो बरस लगे हों। मौर्य राजा के कान पर तब तक जूं न रेंगी। उस के बाद जब दिमेत्र ने मद्र देश और सौवीर देश जीते तथा मध्यमिका पर चढ़ाई की, तब भी वह कर्त्तव्य-विमुख रहा। अन्त में दिमेत्र ने मथुरा ले ली, और साकेत को घेर कर ठेठ पाटलिपुत्र पर धावा बोल दिया। जब उस समय भी नपुंसक मौर्य से कुछ करते न बना तब सेनापति पुष्यमित्र ने समूची सेना के सामने उसे काट डाला, और राजहीन राज्य की राजधानी में अन्तिम समय यवनों का मुकाबला किया। मगध को मुर्दा देख खारवेल उधर बढ़ा, तब दिमेत्र भाग गया। पुष्यमित्र ने उस के बाद मगध की राजशक्ति हथिया ली, तो भी उस ने राजा-पद धारण न किया। उसे अपनी शक्ति संगठित करने में समय लगा होगा। इसी बीच खारवेल ने पंजाब पर

चढ़ाई कर यवनों को वहाँ से खदेड़ा, और भारतवर्ष का वह त्राता जब मगध होते हुए लौटा तब मगध के नये उठे राजा को उस के सामने झुकना पड़ा, और उस झुकने में उस की कुछ हेठी भी न हुई। धीरे धीरे पुष्यमित्र ने भी अपनी शक्ति संगठित कर ली; खारवेल की मृत्यु के बाद वह उत्तर भारत का सम्राट् बन गया, और उस ने यवनों को अटक पर हरा कर अश्वमेध किया।

इस स्थापना पर दो आपत्तियाँ की जायँगी सो मुझे मालूम हैं। पहली बात यह कही जायगी कि पतञ्जलि के उदाहरण अरुणद्यवनः साकेतम् और इह पुष्यमित्रं याजयामः यह सूचित करते हैं कि जब अश्वमेध हो रहा था तभी यवन हमला हुआ। यदि पुष्यमित्र महामूर्ख होता तभी ऐसी बात हो सकती थी, तो भी अनेक विद्वान् यही मानते आते हैं। किन्तु अरुणत् में लङ् लकार, है लट् नहीं; और उस का यह अर्थ है कि घटना कहने वाले के जीवन-काल में हुई थी जिसे कि वह देख सकता था;—वह अश्वमेध से भले ही २०-३० बरस पहले हुई हो। दूसरी आपत्ति यह की जायगी कि दिमेत्र मिथूदात का समकालीन था, इस लिए उस की चढ़ाई लग० १७० ई० पू० में हुई। किन्तु यह कौन कहता है कि वह आँधी की तरह आया और बिगोले की तरह चला गया? यदि १८८ या १८५ ई० पू० में उस ने मगध पर चढ़ाई की हो तो भी १७० ई० पू० तक हिन्द में—अर्थात् अफ़ग़ानिस्तान पंजाब या सिन्ध में, अथवा प्राचीन सिन्धु देश में—उस का राज्य रहा हो सकता है।

इस के अतिरिक्त एक स्पष्ट प्रमाण मेरी स्थापना के पक्ष में है। हातीगुम्फा-अभिलेख के विद्वान् सम्पादकों ने बड़े कौशल से दिमेत्र के राजा बनने का काल निश्चित करने का जतन किया है। अन्तियोक महान् ने जब बाख्त्री के युद्ध के अन्त में २०६ ई० पू० में दिमेत्र को अपनी बेटी ब्याह दी तब वह नौजवान था—अन्दाज़न २० बरस का होगा।

दिमेत्र के जो सिक्के पाये गये हैं उन पर उस का चेहरा ३०-३५ बरस के आदमी का लगता है। इस लिए २०६ ई० पू० के १०-१५ बरस बाद वह राजा बना, अर्थात् १९६—१९१ ई० पू० के बीच कभी। इस प्रकार १८८ या १८५ ई० पू० में उस का मगध पर चढ़ाई करना सर्वथा संगत है; और १७० ई० पू० के करीब स्पष्टतः असंगत है, क्योंकि जो काम दिमेत्र के पिता ने ही शुरू कर रक्खा था उसे दिमेत्र ने राज्य पाते ही आगे बढ़ाया होगा।

पुष्यमित्र ने कौन सी सिन्धु के दक्षिणरोधसि यवनों को हराया, यह प्रश्न बाकी है। यदि डा० मजूमदार वाले अर्थ —दाहिने किनारे—पर यह आपत्ति की जाय कि संस्कृत साहित्य में नदी का दाहिना-बाँया किनारा कहने की शैली नहीं है, तो भी कुछ नहीं बिगड़ता। क्योंकि अटक का दक्खिन किनारा, यह अर्थ भी किया जा सकता है। अटक के प्रसिद्ध घाट के ८ मील नीचे आज भी सिन्ध १० मील तक पूरब-पच्छिम बहता है, वहाँ उस के किनारे उत्तर-दक्खिन हैं ही। पुराने घाट ओहिन्द और अटक के बीच भी वैसी स्थिति है।

* २८. युइशि = ऋषिक

युइशि के मूल आर्य नाम का पता महाभारत सभापर्व में अर्जुन के उत्तर-दिग्विजय में मिला है। उस की तरफ़ मेरा ध्यान यह देखने के लिए गया कि कम्बोज की जो शिनाख्त मैंने की है, वह उस प्रसंग में भी ठीक उतरती है कि नहीं। वह तो ठीक निकली ही, साथ ही उस प्रसंग का अध्ययन करने के बाद कई और नामों की छाप भी मेरे मन पर रह गई। और विचार करने पर मुझे यह सूझा कि उन्हीं में एक नाम युइशि का है। अर्जुन के रास्ते में उत्सवसंकेतों का नाम है, और उन का नाम रघु के उत्तर-दिग्विजय में भी है। अर्जुन का मार्ग टटोलने में मुझे इस कारण सुविधा हुई कि मैं रघु का समूचा मार्ग पहले टटोल

चुका था। इसी कारण यहाँ भी पहले रघु का मार्ग अंकित किया जाता है।

अ. रघु के उत्तर-दिग्विजय के देश—किरात उत्सवसंकेत किन्नर

रघु का दिग्विजय रघुवंश के चौथे सर्ग में अंकित है। उस के पूरबी दक्खिनी और पच्छिमी मार्ग के देशों और स्थानों में से प्रत्येक की पहचान पहले विद्वान कर चुके हैं। उत्तर-दिग्विजय का रास्ता कम्बोज की पहचान होने तक धुँधला था। कम्बोज की पहचान होने से उस के पड़ोस की गंगा की स्थिति भी प्रकट हो गई। उन दोनों की विवेचना ऊपर (* १७) हो चुकी है। वहाँ हम ने देखा है कि वह गंगा कारकोरम जोत के आसपास होनी चाहिये[1]। गंगा की हवा खाने के बाद रघु की सेना किरातों के देश में पहुँची (७६)[2]। यहाँ किरात जाति का उल्लेख हिमालय में है, किन्तु हमारे वाङ्मय में अन्य स्थानों पर भारत के पूरबी छोर के म्लेच्छों को किरात कहा है[3]। सुप्रसिद्ध किरातार्जुनीय काव्य में भी किरात को हिमालय का निवासी बताया है। किरात जाति का घर दोनों जगह था—भारत के उत्तर भी और पूरब भी। स्पष्ट ही वह शब्द आधुनिक तिब्बतवर्मी के अर्थ में वर्त्ता जाता था। कारकोरम जोत के पड़ोस के ये किरात लदाख या मर-युल (= मक्खन का देश) के तिब्बती ही थे। मरयुल के अतिरिक्त दूसरा तिब्बती इलाका वहाँ अब बोलौर का है, किन्तु वहाँ की मूल जनता दरद है; तिब्बती वहाँ आठवीं शताब्दी ई० में—कश्मीर के राजा ललितादित्य के ठीक पहले—आये हैं[4]। इसी लिए कालिदास का किरात से अभिप्राय लदाख से ही है।

---

[1]ऊपर पृ० ४७५-७६। [2]कोष्ठों में रघुवंश सर्ग ४ की श्लोक-संख्या।

[3]ऊपर § २२-पृ० ८२-८३।

[4]ऊपर §§ ७ अ, १० उ (२ ख)।

किरातों का देश लाँघने के बाद रघु की 'पर्वतीय गणों से घोर लड़ाई हुई' जिस में 'उत्सवसंकेतों को विरतोत्सव कर के उस ने किन्नरों से अपने विजय-गीत गवाये'; उस के बाद वह कैलाश पर्वत गये बिना हिमालय से उत्तर आया (७७—८०)। अन्तिम बात से सूचित होता है कि किन्नरों का देश हिमालय की गर्भ-शृङ्खला में और कैलाश के पच्छिम था। वह लदाख के परली तरफ़ भी नहीं हो सकता। महाभारत में अर्जुन के उत्तर-दिग्विजय में भी किम्पुरुषों अर्थात् किन्नरों के देश के बाद गुह्यकों का हाटक देश आता है, और फिर मानस सर। इस प्रकार किन्नरों की स्थिति आधुनिक कनौर[1] से ठीक मिलती है।

उक्त निर्देश के अनुसार किन्नर किरातों से भिन्न थे। भारतीय वाङ्मय में उन का नाम यक्षों और गन्धर्वों के साथ आता है। कनौरी अब एक किरात (तिब्बतबर्मी) बोली है; किन्तु किरात वंश में वह उस सर्व-नामख्यातिक वर्ग की है जिस में स्पष्ट अ-किरात लक्षण हैं; और उन लक्षणों में वह वर्ग ठीक आग्नेय भाषाओं का अनुसरण करता है[2]। उस वर्ग के पूरबी उपवर्ग में एक बोली याखा नाम की अब भी है। अर्थात् कनौरी और याखा अब भी एक ही वर्ग की बोलियाँ हैं, और एक ऐसे वर्ग की जिस में स्पष्ट आग्नेय तलछट है। शताब्दियों किरात भाषाओं से घिरे रहने के बावजूद भी उन बोलियों में आग्नेय लक्षण बने रहने से यह परिणाम निकलता है कि वे मूलतः आग्नेय थीं, और पीछे किरात ढाँचे में ढल गई हैं। यह प्रक्रिया हिमालय की कई भाषाओं में हमारे देखते चल रही है। सन् १८४७ में जब कि हौग्सन नामक अंग्रेज़ ने नेपाल में रह कर वहाँ की भाषाओं का अध्ययन किया, पूरबी नेपाल को सुनवार बोली आग्नेय भाषाओं की तरह

---

[1] ऊपर § ५ इ—(२) पृ० १९-२०।

[2] दे० ऊपर §§ १९, २२—पृ० ७४, ७९।

सर्वनामाख्यातिक थी, अब वह असर्वनामाख्यातिक हो गई है ![1] इस से यह परिणाम निकाला गया है कि किरात वंश की हिमालयी भाषाओं में से जो अब असर्वनामाख्यातिक हैं[2], वे भी पहले सर्वनामाख्यातिक थीं।

पुराण-महाभारत में यक्ष-किन्नर हिमालय के निवासी बताये जाते हैं, किन्तु हम ने देखा है कि पालि वाङ्मय उन्हें हिमालय के साथ साथ सिंहल में और पूर्वी सागर के द्वीपों में भी रखता है[3]। पार्जीटर का कहना है कि हिमालय और पूर्वी भारत का सम्बन्ध पुराणों में भी परिचित है[4]। फलतः हमारे पूर्वजों की दृष्टि में सिंहल और पूर्वी द्वीपों के निवासी तथा हिमालय के कुछ हिस्सों के निवासी एक ही जाति के थे; यक्ष शब्द शायद वे उस समूची जाति या उस के अनेक अंशों के लिए एक व्यापक नाम के रूप में वर्त्तते थे। इसी प्रकार शबर शब्द वैसे ही व्यापक अर्थ में भारत तथा सुवर्णभूमि की कई जातियों के लिए वर्त्ता जाता था, सो हम देख चुके हैं[5]। सार यह कि हिमालय की कुछ जातियों के साथ आग्नेय देशों और द्वीपों की जातियों की सगोत्रता प्राचीन भारतवासियों को मालूम थी। प्राचीन काल में वह सगोत्रता रही भी आज से अधिक होगी। और उस सगोत्रता को पहचानने वालों के लिए किन्नर और किरात का भेद पहचानना सहज ही था।

थेरी-गाथा[6] में जिन थेरियों की वाणियाँ हैं, उन में से एक का नाम सामा है। थेरी-अपदान[6] के अनुसार वह पहले एक जन्म में किन्नरी थी।

---

[1] भा० भा० प० १, १, पृ० ४६।

[2] ऊपर §§ २२, १३६ इ—पृ० ७९, ४६४-६५।

[3] ऊपर §§ ८२, ८४ उ, १३६ इ—पृ० ३१८, ३२६-३०, ४६४-६५।

[4] प्रा० अ० पृ० २६७।

[5] ऊपर § १६—पृ० ७३।

[6] ऊपर § ९३—पृ० ३६४; परि० इ १ ख—पृ० ३७८, ३८०।

वहाँ उस सम्बन्ध में जो गाथायें दी हैं, उन से किन्नरों का देश कनौर होना सर्वथा असन्दिग्ध हो जाता है। पहली ही गाथा यों है—

चन्दभागानदीतीरे अहोसिं किन्नरी तदा।
अथऽद्दसं देवदेवं चङ्कमन्तं नरासभम्॥[1]

चन्द्रभागा का स्रोत कनौर के ठीक पच्छिम किनारे है।

उत्सवसंकेतों का उल्लेख कालिदास ने किन्नरों के साथ किया है, तथा किरातों और किन्नरों के बीच। इस से मैं यह परिणाम निकालता हूँ कि वे लदाख और कनौर के बीच की कनौर-दार्मा उपवर्ग[2] की छोटी छोटी बोलियाँ—कनाशी, चम्बा-लाहुली, मनचाटी, बुनान, रंगलोई—बोलने वालों के पूर्वज थे। पार्जीटर ने रघुवंश की एक टीका से उस शब्द की जो व्याख्या उद्धृत की है[3], उस से प्रकट होता है कि उत्सव-संकेत एक संज्ञा नहीं प्रत्युत समाजशास्त्रीय परिभाषा है, जो उन जातियों के लिए प्रयुक्त होती जिन में विवाह-बन्धन स्थापित न होते और खुली प्रमिश्रणा या अनावरण[4] जारी रहता—संकेत करने से कोई स्त्री या पुरुष उत्सव के लिए आ सकता! विवाह-बन्धन की शिथिलता उन जातियों में आज तक है; और उस से उक्त पहचान का समर्थन होता है।

इ: अर्जुन के उत्तर-दिग्विजय के देश—
कुलिन्द से प्राग्ज्योतिष

अर्जुन की उत्तर-दिग्विजय-यात्रा दिग्विजयपर्व के पहले तीन—

---

[1] परमत्थदीपनी (=थेरीगाथा पर धम्मपाल की अत्थकथा) पृ० ४५-४६ (पालि टेक्स्ट सोसाइटी का रोमन संस्करण) पर उद्धृत।

[2] ऊपर § २२—पृ० ७६।

[3] मा० पु० अनुवाद, पृ० ३१६।

[4] इस शब्द के लिए दे० ऊपर ❀ १३—पृ० २७०।

समापर्व के २७—२९ वें अध्यायों में है। २७ वें अध्याय में कुलिन्द से प्राग्ज्योतिष तक उस की विजययात्रा का वर्णन है। कुम्भकोणम्-संस्करण में कुलिङ्ग पाठ है, किन्तु गणपत कृष्णाजी गुर्जर के बम्बई वाले संस्करण में उस की जगह कुलिन्द है। कुनिन्द गण का देश पाण्डवों के राज्य इन्द्रप्रस्थ के ठीक उत्तर था[1], इस लिए अर्जुन का वहीं से अपनी यात्रा शुरू करना संगत था। प्राग्ज्योतिष आसाम और उस के उत्तर के हिमालय-प्रदेश का प्रसिद्ध नाम है। इस प्रकार इस पहली यात्रा की दिशा निश्चित है; और इस में के सब देश क्यूँठल और भूटान के बीच होने चाहिएँ। उन के बीच केवल तीन देशों का उल्लेख है—पहला साल्वपुर जिस का राजा साल्वराज द्युमत्सेन था, दूसरा कट-देश जिस पर सुनाभ राज्य करता था, और तीसरा शाकलद्वीप जिस में सात द्वीप (=दोआब) शामिल थे और अनेक राजा राज्य करते थे। शाकल-द्वीप इस प्रकार एक लम्बा देश था। कटदेश क्या आधुनिक गढ़देश उर्फ़ गढ़वाल है? यदि वैसा हो तो शाकलद्वीप में कुमाऊँ और नेपाल सम्मिलित थे, और साल्व = जौनसार। प्राचीन कुनिन्द की पूरबी सीमा टौंस नदी थी, और वहीं से जौनसार शुरू होता है[2]। यदि साल्व जौनसार हो तो उस का नाम कुलिन्द के ठीक बाद आना सर्वथा संगत है।

उ. अन्तर्गिरि बहिर्गिरि उपगिरि

अर्जुन की दूसरी यात्रा, जिस का २८ वें अध्याय में वर्णन है, कुलिन्द से उत्तरपच्छिम की है, क्योंकि उस में कश्मीर काम्भोज आदि नाम हैं। शुरू में ही कहा है कि उस ने अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि और उपगिरि को जीता (श्लोक ३)। मेरे विचार में ये जातिवाची शब्द हैं

---

[1] ऊपर § १२८—पृ० ७३७-३८।

[2] ऊपर §§ ५ इ (३), १२८—पृ० २०, ७३७-३८।

जो हमारी आधुनिक परिभाषाओं—हिमालय की गर्भ-शृङ्खला, मध्य शृङ्खला और वाह्य शृङ्खला—के ठीक समानार्थक हैं। आधुनिक भू-वेत्ताओं ने भी जो हिमालय की तीन शृङ्खलाओं को पहचाना है, सो भारतीय पहाड़ियों के परम्परागत ज्ञान का अनुसरण करते हुए ही। नेपाली लोग मधेस (मध्यदेश) के तीन विभाग करते हैं—मधेस, भीतरी मधेस, पहाड़ी मधेस। मधेस मैदान है; भीतरी मधेस चूड़िया चौकी से महाभारत शृङ्खला तक है। चूड़िया चौकी नेपाल की वाह्य शृङ्खला का पहाड़ है, और वहीं की मध्य शृङ्खला का नाम महाभारत है। पहाड़ी मधेस महाभारत के उत्तर सनातन हिम के पहाड़ों तक है। हमारे पहाड़ियों को अपने साधारण जीवन में भी इन शृङ्खलाओं के ज्ञान से वास्ता पड़ता है। उन्हें यह भली प्रकार मालूम है कि यदि नेपाल से कुमाऊँ या काँगड़ा जाना हो तो तीन रास्तों से जा सकते हैं—एक तो नेपाल से सीधे कुमाऊँ-काँगड़ा की तरफ़ मुँह किया जाय और पहाड़ी मधेस के रास्ते महाभारत शृङ्खला के उत्तर उत्तर चला जाय; दूसरे, उस शृङ्खला के दक्खिन उतर कर भीतरी मधेस में पच्छिम मुँह फेरा जाय; और तीसरे, चूड़िया चौकी के दक्खिन उतर कर मधेस के रास्ते जाया जाय। दूसरे रास्ते से जाने पर बीच में कई पहाड़ भले ही चढ़ने उतरने होंगे, पर उन में से कोई भी महाभारत पहाड़ के जोड़ का न होगा, किन्तु कुमाऊँ की उपत्यका में पहुँचने पर फिर उस पहाड़ के नमूने के एक पहाड़ पर चढ़ना होगा, इसी प्रकार चूड़िया चौकी के दक्खिन मैदान मैदान जाने से अन्त में फिर उस के तथा महाभारत के नमूने के दो पहाड़ चढ़ने होंगे, यह ज्ञान हमारे पहाड़ियों को खूब स्पष्ट रूप में है, और यही हिमालय की तीन शृङ्खलाओं का वास्तविक ज्ञान है। अन्तर्गिरि, वहिर्गिरि, उपगिरि शब्दों से भी वही ज्ञान सूचित होता है। उन का उल्लेख भूमिका रूप से है, आगे विवरण है।

ॠ. 'उलूक' से लोहित तक

वह विवरण यों है कि पहले उस ने एक भारी युद्ध के बाद उलूक-वासी बृहंत को जीता (श्लोक ५—९)। फिर सेनाबिंदु के राज्य को आसानी से अधीन कर (श्लोक १०), तथा मोदापुर और सुदामा सुसंकुल को ले कर वह उत्तर उलूक देश को पहुँचा (श्लोक ११), जहाँ छावनी डाल कर उस ने अपने आदमियों को पञ्च गणों को जीतने भेजा (श्लोक १२)। फिर सेनाबिंदु की राजधानी देवप्रस्थ को लौट कर वहाँ छावनी डाली (श्लोक १३),—स्पष्ट है कि देवप्रस्थ की बस्ती उत्तर दक्खिन उलूक के बीच कहीं थी। वहाँ से अर्जुन ने राजा पौरव के किले पर चढ़ाई की (श्लोक १४), और वीर पहाड़ियों को हरा कर उसे जीता (श्लोक १५)। तब सात दस्यु उत्सव-संकेत गणों को काबू किया (श्लोक १६), और कश्मीर तथा लोहित के दस मंडलों के विजय के लिये प्रस्थान किया (श्लोक १७)।

उक्त नामों में से उत्सव-संकेत हमारे पूर्व-परिचित हैं; वे लाहुल प्रदेश और उस के पड़ोस को सूचित करते हैं। उत्सव-संकेत और उलूक के बीच केवल पौरव का गढ़ था, इस लिए उलूक देश उत्सव-संकेत के पास ही कहीं था। सन् १९३० के अन्त में इस विषय की विवेचना करते हुए[1] मैंने यह लिखा था कि उलूक अपपाठ है कूलूत का, जिस का अर्थ है कुल्लू। सन् १९३१ के अन्त में सुना गया कि नेपाल में महाभारत की एक ताड़पत्रों पर लिखी पुरानी प्रति पाई गई है। १९३२ के मार्च में मेरा नेपाल जाना हुआ। वह प्रति नेपाल के श्री ६ मान्यवर राजगुरु हेमराज पंडित ज्यू को मिली थी, और पूना की भंडारकर-संस्था को सौंपने से पहले उस के सब पाठभेद

---

[1]पटना ओरियंटल कान्फ़रेंस में भेजे लेख तथा भारतभूमि पृ० ३१२ में।

उन्हों ने अपने पास दर्ज कर लिये थे। वे सब उन्हों ने मुझे देखने देने की कृपा की। उस पुरानी प्रति में उलूक के बजाय सब जगह कुलूत पाठ ही निकला!

सुदामा पर्वत का नाम वाल्मीकि-रामायण मे भी, अयोध्या से केकय देश जाने संदेशहरों की यात्रा के प्रसंग में, आया है[1]। उस से प्रतीत होता है कि वह व्यास नदी के नज़दीक कहीं था। हमारे हिसाब से भी उसे वहीं होना चाहिए। सुसंकुलम् का असल रूप कहीं सुसंकटम् तो नहीं है? संकट माने पहाड़ की जोत या घाटा[2]।

कश्मीर और लोहित के रास्ते में त्रिगर्त्त दार्व और कोकनद ने स्वयं अर्जुन की अधीनता मान ली (श्लो० १८), पर अभिसारी और उरगा मुकाबले के बिना अधीन न हुए (१९), और सिंहापुर तो भारी युद्ध के बाद हाथ आया (२०)। त्रिगर्त्त (=कांगड़ा)[3] दार्व (=डुगर)[4] और अभिसारी (=छिभाल)[5] सुपरिचित नाम हैं। उरगा स्पष्ट ही उरशा (=हज़ारा)[6] का अपपाठ है; उरशा

---

[1]ययुर्मध्येन वाल्हीकान् (वाहीकान्?) सुदामानं च पर्वतम्।
विष्णोः पदं प्रेक्षमाणा विपाशां चापि शल्मतीम्॥

—२. ६८. १८।

विष्णुपद वह पहाड़ था जिस पर महरौली वाली राजा चंद्र की लोहे की लाट पहले गाड़ी गई थी।

[2]रा० त० ७. ११६।

[3]दे० ऊपर § ६४—पृ० १६५।

[4]ऊपर § ५ इ (१)—पृ० १८।

[5]ऊपर §§ ६४, १२०—पृ० १६८, ५३५-३६।

[6]ऊपर § ५ इ (१)—पृ० १७।

अभिसार के ठीक साथ लगा ही है। सिंहपुर य्वान च्वाङ के समय भी नमक-पहाड़ों के प्रदेश की राजधानी थी[1]। कोकन्द की पहचान नहीं हो सकी।

लोहित मेरे विचार में रोह या अफ़ग़ानिस्तान है, क्योंकि आगे वाल्हीक अर्थात् बलख का उल्लेख है (श्लो० २२), और बलख का रास्ता रोह में से ही हो सकता था। संवत् १४४५ वि० के काठियावाड़ के एक अभिलेख में रोहेला राजपूतों की कीर्त्ति गाई गई है, जिसे मैंने अन्यत्र[2] उद्धृत किया है। युग-पुराण में लोहितादि के योधाओं द्वारा पृथ्वी को लाल करने का वर्णन है[3]; उस के विद्वान् सम्पादक और अनुवादक ने उस पर लिखा है कि लोहितादि का स्थान निश्चित नहीं किया जा सकता[3]। वह लोहितादि तथा हमारा यह लोहित एक ही है, और दोनों का अर्थ है अफ़ग़ानिस्तान।

लृ. सुम्ह और चोल

आगे सुम्हों और चोलों के विजय का ज़िक्र है (श्लोक २१), और फिर वाह्लीक या बलख के। पटना ओरियंटल कान्फ़्रेंस में भेजे अपने लेख में पहले मैंने लिखा था कि सुम्ह और चोल का इस प्रसंग में उल्लेख एक स्पष्ट गलती है। क्योंकि सुम्ह बंगाल के मेदिनीपुर और उस के पड़ोसी ज़िलों का प्रसिद्ध प्राचीन नाम है,[4] और चोल सुदूर दक्खिन के द्रविड देश के पूर्वी भाग का। किन्तु बाद में मुझे यह सूझा कि गलती महाभारत में न थी, मेरे अपने अल्प ज्ञान में थी, और मैंने उस लेख

---

[1] य्वान च्वाङ १, पृ० २४८-४९।

[2] ना० प्र० प० ३, पृ० ३५३।

[3] पंक्ति ४७-४८, ज० बि० ओ० रि० सो० पृ० ४०३-४, ४१८।

[4] ऊपर § ४१—पृ० १४०।

का एक परिशिष्ट भेज कर उस गलती को ठीक किया। बलख के पच्छिम-दक्खिन रेतीली पहाड़ियों का प्रदेश अब भी चोल कहलाता है। वाह्लीक के बाद तो अर्जुन का रास्ता निश्चय से उत्तर-पूरब था ही, वाह्लीक से पहले ही उस का उत्तरपूरब रुख कर लेना सर्वथा संगत है। इस प्रकार चोल आधुनिक चोल है। बाकी रहा सुम्ह, सो ठेठ अफ़गानिस्तान मे चोल के रास्ते पर होना चाहिए। वह या तो बामियाँ दून हो, और या चरीकर-काओशां के बीच का परवाँ-प्रदेश। हम देख चुके हैं कि पहली शताब्दी ई० पू० में ऋषिकों के पाँच सरदारों के राज्य इन्हीं प्रदेशों में थे, और उन के जो नाम चीनी ऐतिहासिकों ने लिखे हैं,[1] उन में से कोई एक सुम्ह का चीनी रूप हो सो बहुत संभव है। संस्कृत और चीनी तुलनात्मक भाषाविज्ञान के कोई पंडित इस विषय पर प्रकाश डाल सकेंगे।

ए. परम कांभोज और ऋषिक

बलख से पूरब फिर कर अर्जुन के दरदों और कांभोजों को अधीन करने का उल्लेख है (श्लोक २३)। आगे स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि उस ने उत्तरपूरब के जंगलों में रहने वाले दस्युओं को जीता (श्लोक २५), जिन में लोह, परम काम्भोज और ऋषिक के नाम दिये हैं। ऋषिकों के देश में बहुत ही भयानक लड़ाई हुई; और वहाँ से अर्जुन 'तोते के पेट जैसे' घोड़े लाया (२७)।

लोह कौन थे मैं नहीं कह सकता, पर कांभोज हमारे परिचित हैं। इस लिए यहाँ हम रास्ता नहीं भूल सकते। परम काम्भोज बहुत संभवतः ज़रफशां नदी[2] के स्रोत पर रहने वाले यग़नोबी[3] नाम की ग़ल्चा बोली

---

[1] ऊपर § १७७—पृ० ८१२-१३।

[2] दे० ऊपर § ७ उ—पृ० ३०।

[3] भा० भा० प०, जि० १०, पृ० ४५५।

बोलने वाले ताजिकों के पूर्वज थे। पामीरों में जो ग़ल्चा बोली का मुख्य क्षेत्र है उस के उत्तर-पच्छिमी, तथा बदख्शां के उत्तर-पूर्वी, छोर से आमू नदी के उत्तरी मोड़ के उत्तरी किनारे से गल्चा-भाषी ताजिकों की वह बस्ती ज़रफ़्शां नदी की दून के साथ साथ अकेली उत्तर-पच्छिम बढ़ी हुई है[1]; उस के तथा बदख्शां के बीच आमू नदी के मैदान में उज़बकों की बस्ती एक फाने की तरह घुस गई है। सब से दूर उत्तर का ग़ल्चा-क्षेत्र वही है, इस लिए परम काम्बोज अर्थात् परला कम्बोज वही होना चाहिए।

ऋषिक का देश इस वर्णन के अनुसार ठीक उपरले हिन्द में पड़ता है—अर्थात् युइशि के पुराने अभिजन में। हम देख चुके हैं कि मार्कार्ट के मत में चीनी लेखकों के युइशि और यूनानी-रोमन लेखकों के असि या असियान एक ही जाति है; और त्रोगु के इस कथन को कि असियान तुखारों के राजा बन गये, वे चीनी ऐतिहासिकों के इस कथन का अनुवाद मानते हैं कि युइशि ताहिया के राजा बन गये[2]। हम ने यह भी देखा है कि तुखारों की भाषा का नाम उस भाषा के लेखों में डा० सीग ने आर्शी ढूँढ निकाला है[2]। युइशि या असि का नाम तुखारों की भाषा पर चिपक जाना कुछ विचित्र न था। इतिहास में वैसे अनेक दृष्टान्त हैं। उदाहरण के लिए त्यूतनी फ्रांक कबीले के नेता जब केल्त वंश की गाल जाति के राजा बने तब उस कबीले के नाम से वह जाति फ्रांसीसी कहलाने लगी, यद्यपि ख़ास फ्रांक लोग केल्त नहीं प्रत्युत त्यूतन

---

[1]दे० बोमैन की दि न्यू वर्ल्ड—प्रॉब्लेम्स् इन पोलिटिकल जिऑग्रफी (नया संसार—राजनैतिक भूविभाग की समस्यायें; लंडन १९२२) पृ० ४७६ पर रूसी भाषा की एशियाई रूस की ऐटलस से उद्धृत रूसी तुर्किस्तान की जातियों का नक़्शा।

[2]ऊपर § १६१ तथा १९-२० प्रकरणों का प्र० नि।

या जर्मन थे; इसी प्रकार त्यूतनी रोस कबीले के नाम से एक बड़ी स्लाव जाति का नाम रूसी पड़ा। भाषा का नाम आर्शी पाया जाने पर जर्मन विद्वान् मुइलर ने कहा कि वह नाम युइशि के मूल शब्द से ही बना है। अब महाभारत के इस सन्दर्भ में ठीक युइशि के अभिजन को ऋषिकों का देश कहने से इस विषय में कोई सन्देह न रहना चाहिए कि आर्शी या आर्षी तद्धित रूप ऋषि से ही बना है, और युइशि भी उसी आर्य नाम का चीनी उच्चारण है।

भारतभूमि में पहले-पहल ये बातें प्रकाशित होने के बाद डा० स्टेन कोनौ ने[1] आरज़ी तौर पर तथा श्रद्धेय ओझा जी और जायसवाल जी ने[2] निश्चित रूप से यह स्वीकार कर लिया है कि महाभारत में ऋषिक का अर्थ युइशि ही है। किन्तु डा० कोनौ का कहना है कि युइशि शब्द ऋषि का रूपान्तर नहीं हो सकता, और जायसवाल जी का भी वही मत प्रतीत होता है। तब—यदि युइशि का मूल शब्द कोई दूसरा ही है तो—ऋषिक शब्द कहाँ से आ गया? डा० कोनौ अपनी चिट्ठी में लिखते हैं कि वह किसी भारतीय पण्डित ने आर्शी नाम की व्याख्या करने को गढ़ा होगा! यह क्लिष्ट कल्पना है। और फिर उस शब्द को गढ़ने वाला उसे तुखारों के अर्थ में बर्त्त सकता था, न कि युइशि के अर्थ में, क्योंकि आर्शी भाषा तुखारों की थी, न कि युइशि की। जो भी हो, इतनी बात तो मानी गई कि ऋषिक शब्द युइशि का वाचक है, इस लिए भारतीय भाषाओं में हम उसे बेखटके उस अर्थ में बर्त्त सकते हैं। और ऋषिक का ही रूपान्तर युइशि है कि नहीं, यह प्रश्न मैं संस्कृत

---

[1]ओस्लो (नौर्वे) से मेरे नाम भेजी १० जनवरी १९३२ की निजी चिट्ठी में।

[2]ज० बि० ओ० रि० सो० १९३२, पृ० ६७।

और चीनी भाषाविज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन करने वालों को सौंपता हूँ। उन विद्वानों में से कम से कम मुइलर का मत मेरे अनुकूल था।

* २९. शक-सातवाहन इतिहास की उलझनें

शक इतिहास के सब पुराने विवादों को यहाँ उद्धृत करना न तो अभीष्ट है, और न थोड़े स्थान में वैसा करना सम्भव है। पुराने विवादों की कुछ एक बहुत मोटी बातों का संकेत मात्र यहाँ प्रसंगवश किया जायगा। रूपरेखा में वह इतिहास जिस रूप में पेश किया जा रहा है, उस के ढाँचे की आधार-शिलाओं को स्पष्ट करना और उस में कहाँ कहाँ किस अंश तक सन्देह और विवाद की गुंजाइश बाकी है सो सूचित करना ही इस टिप्पणी का उद्देश है।

शक इतिहास के विषय में सब से पहले एक बड़ी समस्या यह रही कि शक लोग किस रास्ते भारत में आये। इस का ठीक समाधान डा० टामस ने किया। क्योंकि काबुल दून से पाये गये हज़ारों प्राचीन सिक्कों में शकों का एक भी नहीं है, प्रत्युत वहाँ राजा कुशाण के समय तक यवन राज्य का बना रहना सिक्कों से सूचित होता है, इस लिए यह निश्चित है कि शक आक्रमण हिन्दूकुश के घाटों और काबुल दून के रास्ते नहीं हुआ। यह पहली स्थापना थी जिस ने शक इतिहास को बहुत कुछ सुलझाया। तो भी शकों की एक छोटी शाखा का सुग्ध से—चाहे कम्बोज के रास्ते—कपिश आना मानना पड़ता है, क्योंकि चीनी इतिहास किपिन के शक राज्य का पहली शताब्दी ई० पू० में उल्लेख करता है।

फिर यह विचार बहुत समय तक उपस्थित रहा कि मिथ्रदात प्रथम ने भारत पर चढ़ाई की थी, और शक शायद उसी के सामन्त रूप में भारत आये। यूनानी ऐतिहासिक ओरोसि के एक कथन का यह अर्थ माना जाता था कि मिथ्रदात का राज्य वितस्ता तक था, और उसी

के आधार पर यह कल्पना खड़ी हुई थी। किन्तु कैं० इ० में यह बतलाया गया कि जिसे वितस्ता का यूनानी नाम माना गया था वह वास्तव में पच्छिम एशिया की एक नदी का नाम है। वहीं यह स्थापना की गई कि शकों का भारत में राजाधिराज पद धारण करना मिथ्रदात दूसरे के बाद ही हो सकता था।

शक इतिहास के कालनिर्णय की समस्या सब से जटिल रही है। दूसरे शकाब्द से पहले के सभी शक लेखों में एक ही पुराना शक-संवत् है यह बात भी अब कही जाने लगी है। राखालदास बैनर्जी ने अपने पूर्व-निर्दिष्ट लेख में प्राचीन शक-संवत् विषयक उस समय उपस्थित सब स्थापनाओं का वर्गीकरण और विवेचन किया, और स्वयं यह स्थापना की कि लग० १०० ई० पू० में सम्भवतः वनान ने उस संवत् को चलाया। उस से पहले कई नमूने की स्थापनायें थीं। एक वर्ग उन स्थापनाओं का था जो शक-संवत् के वर्षों को कलियुग-संवत्, सेॅलेउकी संवत् आदि का इस रूप में मानतीं कि उन संवतों के हज़ार या सैकड़े के अंक छोड़ दिये गये हैं। भारत में शकों का आना १६५ ई० पू० से—जब कि ऋषिकों ने सीर काँठे में उन पर हमला किया—पहले का नहीं हो सकता; और कुशाण-वंश का अन्तिम राजा वासुदेव सम्राट् समुद्रगुप्त से पीछे का नहीं हो सकता;—उन दोनों अवधियों के बीच घटनाओं को आगे-पीछे खसकाने की बहुत गुंजाइश थी। डा० फ़्लीट कनिष्काब्द को विक्रमाब्द मानते और कनिष्क और उस के उत्तराधिकारियों को कुशाण और विम से पीछे का। यह विवाद एक अरसे तक बड़े ज़ोरों पर रहा। डा० बार्नेट सन् १९२४ में भी उसे ज़िन्दा मानते थे,[1] और शायद अब तक मानते हों।

---

[1] कलकत्ता रिव्यू १९२४, पृ० २९१-९२ में उन की रा० इ० की आलोचना।

भण्डारकर कनिष्क के वर्षों को दो सैकड़े छोड़े हुए पिछला शकाब्द मान कर उसे तीसरी शताब्दी ई० में रखते। इन सब विवादों का अब अन्त हुआ मानना चाहिए, क्योंकि जहाँ राजाओं का क्रम अभिलेखों आदि में पाई जाने वाली सूचनाओं से निश्चित न भी हो पाया, वहाँ भी वह तक्षशिला जैसे स्थानों की खुदाई में भूमि के स्तर-निवेशन से और भिन्न भिन्न स्तरों में पाये जाने वाले सिक्कों आदि के क्रम से निश्चित हो चुका है। कनिष्क की तिथि के विषय में, जैसा कि वि० स्मिथ ने सन् १९१९ में अपनी आक्सफ़र्ड हिस्टरी आव इंडिया में लिखा था, इतना ही असल विवाद बाकी रहा है कि वह ७८ ई० में गद्दी पर बैठा या उसके प्राय: ४० बरस पीछे।

पुराने शक-संवत् की समस्या फिर भी अधिक जटिल रही। जैसा कि अभी कहा गया, सब पुराने अभिलेखों में एक ही संवत् होने की बात भी हाल तक न पहचानी गई थी। सिक्कों के क्रम से तक्षशिला में शक राजा मोग का उत्तराधिकारी अय सूचित होता था; एक अय को मोग-वंश का शक और दूसरे अय को वनान-वंश का पह्लव कह के और दोनों को परस्पर-सम्बद्ध मान कर बड़ा गोलमाल किया जाता रहा। तक्षशिला की रजतपत्री वाले अभिलेख का आरम्भ यों होता है—सं० १३६ अयस अषडस मसस; मार्शल ने इस का अर्थ किया 'अय के (चलाये) संवत् का १३६ वाँ वर्ष...'। और क्योंकि अय का समय उन के ढाँचे में पहली शताब्दी ई० पू० के मध्य के करीब आता था इस लिए उन्हों ने कहा कि वही विक्रम-संवत् का प्रवर्त्तक है। किन्तु अभिलेखों में संवत्-प्रवर्त्तक का नाम इस प्रकार कहने की शैली कहीं नहीं है। उदाहरण के लिए रुद्रदामा के अभिलेख[1] में 'रुद्रदामा के ७२ वें वर्ष में' का यह अर्थ नहीं होता

[1] ऊपर § १८३—पृ० ८५५।

कि 'रुद्रदामा के चलाये संवत् के ७२ वें वर्ष में' प्रत्युत यह कि 'रुद्रदामा के राज्यकाल में, सं० ७२ में,। अयस अषडस का ठीक अर्थ है—आयस्य आषाढस्य—पहले आषाढ़ के,—उस बरस दो आषाढ़ थे।

रैप्सन ने ७८ संवत् वाले पतिक के तक्षशिला-अभिलेख[1] का विचार करते हुए कैं० ५० में लिखा कि उस में मास पार्थव है, इस वर्ष भी पार्थव होगा; सम्भवतः मिथूदात प्रथम के बाद सकस्तान में एक पृथक् राज्य शुरू होने से १५० ई० पू० के करीब वह संवत् शुरू हुआ होगा। उस हिसाब से वह लेख ७२ ई० पू० का हुआ। उस लेख में मोग का नाम है, जिस का समय अन्दाज़ से वही होना चाहिए। मार्शल ने इस पर यह कहा कि पतिक वाला अभिलेख ७२ वि० के मथुरा के अमोहिनी-अभिलेख से केवल २०-३० वर्ष पहले का होना चाहिए[2], इस लिए वह लग० १७ ई० पू० का है; और १३६ सं० वाला लेख जैसे अय के संवत् का है, उसी प्रकार ७८ संवत् का यह लेख मोग के संवत् का है; इस लिए प्राचीन शक संवत् का प्रवर्त्तक मोग लग० ९५ ई० पू० में हुआ। किन्तु वह लेख राजा मोग के समय का संवत् ७८ का है, न कि मोग के चलाये संवत् के ७८ वें वर्ष का।

पहले-पहल राखालदास ने सब शक लेखों को एक संवत् के क्रम में लाने की चेष्टा की थी, और फिर कोनो ने निश्चित रूप से यह कहा कि शक-पह्लवों के सब खरोष्ठी अभिलेख एक संवत् के हैं। उन्हों ने एक तरफ़ रैप्सन के इस सिद्धान्त को बुनियाद बनाया कि मिथूदात दूसरे की मृत्यु (८८ ई० पू०) के बाद ही भारत के सीमान्त पर शक राजाधिराज

[1]ऊपर § १६४—पृ० ७७०।

[2]ऊपर § १६७—पृ० ७६६।

हुए, और दूसरी तरफ़ मार्शल को इस बात को कि ७८ संवत् का पतिक का लेख १७ ई० पू० से पहले का नहीं है; और इन आधारों पर उन्हों ने कहा कि ८८ ई० पू० से पहले शक-संवत् शुरू नहीं हुआ, उस के शीघ्र बाद हुआ। उन के हिसाब से मोग ८८—७८=१० ई० पू० के लगभग था, और गुदुव्हर संवत् १०३ में अर्थात् मोग के २५ वर्ष पीछे =लगभग १५ ई० में। दोनों के बीच अय-अयिलिष हुआ जो कि एक ही व्यक्ति है। किन्तु १०३ संवत् वाले गुदुव्हर के लेख में संवत् २६ भी है,[1] और वह दूसरा संवत् सम्भवतः अय का स्थापित किया है; इस लिए अय हुआ लगभग ११ ई० पू० में। तब अय और मोग साथ साथ कैसे? इस का उत्तर यह है कि अय था पेशावर में और मोग तक्षशिला में; ८८ ई० पू० के करीब जो शक राज्य सकस्तान में स्थापित हुआ था, ११ ई० पू० के करीब उस का पच्छिमी अंश पह्लव अय ने जीत लिया।

यह कहा जा चुका है कि अमोहिनी-अभिलेख के और क्षहरात क्षत्रपों के वर्षों को कोनौ ने पुराने शक-संवत् का नहीं माना। क्षहरातों के वर्षों को वे पिछले शकाब्द का मानते हैं, और भूमक क्षहरात को चष्टन के बाप ज़ामोतिक से अभिन्न व्यक्ति।

जायसवाल का कहना है कि दूसरे शकाब्द से पहले के शक-पह्लवों के न केवल सब खरोष्ठी लेखों प्रत्युत मथुरा और महारष्ट्र के उन के ब्राह्मी अभिलेखों में भी एक ही संवत् के वर्ष हैं; और कि वह संवत् ८३ ई० पू० में नहीं प्रत्युत प्रायः ४० वर्ष पहले शुरू हुआ। रैप्सन की यह बात सिद्धान्त है कि भारत में ८८ ई० पू० से पहले शक राजाधिराज नहीं बने, पर इस का यह अर्थ नहीं कि उस से पहले उन का संवत् न चला था। उलटा, कोनौ ने यह मान कर कि ८८ ई० पू० के करीब

---

[1] ऊपर § १७२—पृ० ७८६।

शक-संवत् शुरू हुआ; रैप्सन के उस सिद्धान्त को ही काट डाला है जिस की बुनियाद पर कि वे खड़े होने लगे थे ! क्योंकि उन के हिसाब से मोग का समय १० ई० पू० के बाद आता है, जब कि रैप्सन का यह कहना था कि उस का समय ८८ ई० पू० के करीब होना चाहिए। स्पष्ट है कि यदि मोग के लेख पुराने संवत् की स्थापना के तुरत बाद के —पहले वर्षों के—होते तो रेप्सन और कोनौ की बातों में सामञ्जस्य होता; किन्तु उस के नाम का पहला अभिलेख ५८ वें वर्ष का है, जिस से सूचित है कि शक राजाधिराज का भारत में सिर उठाना संवत् स्थापन के प्रायः ५० बरस पीछे हुआ। १२३ ई० पू० के पक्ष में और युक्तियाँ ऊपर[1] दी जा चुकी हैं। जायसवाल की कोनौ के मत पर एक बड़ी आपत्ति यह है कि सिक्कों के क्रम को देखते हुए मोग का समय १० ई० पू० कभी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह गान्धार में यवन राजाओं का ठीक उत्तराधिकारी था।

नहपान की समस्या को सुलझाने का विशेष श्रेय जायसवाल को है। जैन अनुश्रुति के नहवाण से उस की अभिन्नता मानते हुए हमें यह कहना होगा कि पुराने शक-संवत् का आरम्भ ४६+५७ ई० पू० = १०३ ई० पू० से पीछे न होना चाहिए। इस दृष्टि से हम यह मान कर चल सकते हैं कि उस संवत् का आरम्भ १२३—१०५ ई० पू० के बीच कभी हुआ।

अब कुछ और कसौटियाँ हैं जिन पर हमें इस मत को परखना होगा।

गुदुव्हर के समय ईसू-मसीह के प्रधान शिष्यों में से एक—सन्त थोमास—के भारत आने की अनुश्रुति सीरिया के ईसाई ग्रन्थों में है। तब गुदुव्हर को ईसाब्द के आरम्भिक वर्षों में होना चाहिए। किन्तु सं० १२२ में पंजतार में और सं० १३६ में तक्षशिला में कुशाण का

---

[1] §§ १६३, १६४।

राज्य था, जो जायसवाल के हिसाब से १ ई० पू० और १३ ई० बनते हैं। गुदुव्हर वाली बात पर एक तो वे यह पूछ सकते हैं कि वह अनुश्रुति कहाँ तक ठीक है; और दूसरे यह कह सकते हैं कि पंजतार-पेशावर से गुदुव्हर का राज्य उठ जाने के बाद भी कुछ अन्य प्रदेशों में बना रहा हो। यदि हम संवत् आरम्भ को १०-१२ वर्ष और पीछे रक्खें तो यह समस्या और सुगमता से सुलझ जाती है।

दूसरे, एक बड़े महत्त्व की कसौटी चीनी इतिहास उपस्थित करता है। दूसरे हान-इतिहास में यह लिखा है कि ताहिया में युइशि की स्थापना के बाद १०० से ऊपर बरस बीतने पर कुशाण ने पाँच सरदारों के राज्यों को एक किया। ताहिया में युइशि कब स्थापित हुए? १६५ ई० पू० में वे कुलजा-प्रदेश से चले, इस लिए निश्चय से उस के बाद। जायसवाल कहते हैं कि चांग-खिएन के आने से पहले वे ताहिया के स्वामी बन चुके थे, इस लिए अन्दाज़न १३५ ई० पू० में बने[1]। कोनौ हान इतिहास के शब्दों को यों पेश करते हैं कि 'ताहिया में युइशि के स्थानान्तरित होने के बाद'; और वे कहते हैं कि चांग-खिएन के समय वे वंक्षु के उत्तर थे, ठीक बाद उन्हों ने ताहिया अर्थात् बलख को दखल किया[2]। इस सम्बन्ध में तीन प्रश्न उपस्थित होते हैं—(१) मूल चीनी लेख का अर्थ क्या है—ताहिया पर युइशि का प्रभुत्व होने के बाद या वहाँ उन का दखल होने के बाद? (२) ताहिया से अभिप्राय वहाँ साधारण रूप से तुखार-देश से है या विशेष रूप से बलख से? (३) चांग-खिएन के समय तक युइशि बलख के केवल अधिपति थे या उसे दखल कर चुके थे?—पहले प्रश्न का उत्तर चीनवेत्ता ही दे सकते हैं; खेद है कि किसी

[1]ज० बि० ओ० रि० सो० १९३०, पृ० २४३।

[2]भा० अ० स० २, १, भूमिका पृ० ६२।

भारतीय ने चीनी से उस ग्रन्थ का सीधा अनुवाद नहीं किया। दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में मुझे यह कहना है कि वहाँ ताहिया शब्द का प्रयोग धुँधले अर्थ में हो सकता है; क्योंकि वहीं जब लिखा है कि ताहिया में युइशि की पाँच रियासतें थीं, तब उन पाँच रियासतों में समूचे तुखार-देश या बलख को नहीं बाँट डाला। तीसरे के सम्बन्ध में;—हिर्थ ने जो चांग-खिएन के वृत्तान्त का अनुवाद दिया है, उस में स्पष्ट ही लिखा है कि युइशि तब ताहिया को दखल कर चुके थे[1]; और इस सम्बन्ध में सिल्वाँ लेवी का कहना है कि पहले प्रभुता जमाने और फिर दखल करने का अलग अलग समय निश्चित नहीं किया जा सकता। जो भी हो, यदि २५ ई० पू० के बजाय १२ ई० पू० में भी पाँच युइशि रियासतों का एक होना माना जाय, तो भी शक-संवत्-आरम्भ को उतने वर्ष पीछे सरकाने की गुंजाइश हमारे पास है।

किन्तु २ ई० पू० से पहले युइशि राज्य एक हो चुका था, क्योंकि उस वर्ष युइशि राजा की तरफ़ से चीन में बौद्ध सुत्त पहुँचा था। कोनौ इस बात की सर्वथा उपेक्षा करते हैं।

इस प्रसंग में उन का मुख्य युक्ति और है। दूसरे हान इतिहास का लेखक कहता है कि मैं २५ ई० के बाद की घटनायें दर्ज करूँगा; और क्योंकि यह राजा कुशाण का वृत्तान्त लिखता है, इस लिए कुशाण २५ ई० से पीछे का। किन्तु सिंहावलोकन के रूप में फ़ान-ये ने युइशि के मूल प्रवास का वृत्तांत भी लिखा है; तब क्या उसे भी २५ ई० के [illegible] की बात माना जाय?

तीसरी परख। विम की मृत्यु पुराने संवत् के १८४ या १८७ वें वर्ष के बाद हुई। यदि ११० ई० पू० में पुराना संवत् चला हो, तो वह घटना ७४ या ७७ ई० के करीब हुई। यदि कनिष्क-संवत् दूसरा

---

[1] ज० अ० ओ० सो० ३८, पृ० ९४।

शक-संवत् ही हो तो विम और कनिष्क के बीच व्यवधान मुश्किल से बरस भर का रहे। उस दशा में पुराने संवत् का आरम्भ ११० ई० पू० से पीछे हो ही नहीं सकता, और यदि खलचे-अभिलेख १८४ का हो तो १०६ ई० पू० से पर वैसा मानने से भी व्यवधान कुछ न बचेगा। किन्तु यदि १०७ या १०६ ई० पू० तक पुराने संवत् के आरम्भ को खसकाना ज़रूरी हो, और इधर विम और कनिष्क में व्यवधान मानना भी ज़रूरी हो, तब क्या हम कनिष्काब्द और दूसरे शकाब्द की अभिन्नता-स्थापना को त्याग नहीं सकते? तब (१) दूसरे शकाब्द का प्रवर्त्तक कौन? और (२) कनिष्काब्द का आरम्भ कब? पहले प्रश्न का उत्तर—राजा शालिवाहन विक्रमादित्य, जैसा कि ब्रह्मगुप्त और अल्बेरुनी कहते हैं। दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में हमें कनिष्क को पीछे रखने की युक्तियों पर ध्यान देना होगा।

डा० कोनौ की युक्तियाँ इस सम्बन्ध में ये हैं—(१) तिब्बती में अनूदित खोतनी अनुश्रुति[1] के अनुसार खोतन के राजा विजयसिंह की रानी ने शू-लिक अर्थात् काशगर में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। क्लैप्रोथ नामक फ्रांसीसी चीनवेत्ता ने चीनी इतिहास के आधार पर दिखलाया है कि १२० ई० के करीब युइशि राजा ने काशगर के राजा को पदच्युत किया था, और तभी वहाँ की प्रजा बौद्ध बनी थी। फलतः विजयसिंह १२० ई० में था। उस के बेटे के साथ मिल कर कनिष्क ने भारत पर चढ़ाई की थी।

(२) १२५ ई० तक चीनियों का उपरले हिंद से घनिष्ठ सम्पर्क था, उस के बाद न रहा। चीनी इतिहासों में कनिष्क का कहीं उल्लेख नहीं, इस लिए वह १२५ ई० के बाद का।

---

[1] रौकहिल—बुद्ध, पृ० २४०।

३) २३० ई० में भारत के युइशि राजा
में दूत भेजे थे। लुइडर्स का कहना है कि पो-तिआओ
चीनी भाषा जाने बिना इन बातों की विवेच
थक है। मैं इस टिप्पणी को एक प्रश्न से स
शकाब्द का प्रवर्त्तक शालिवाहन को ही माना जाय
मृत्यु और कनिष्क के बीच ५० बरस का व्यवधान

IS PAKISTAN NECESSARY

BY

V. B. KULKARNI